जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क २३

□ निर्देशन
महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

□ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

□ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

□ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

□ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाण संवत् २५११
वि. सं. २०४२
ई. सन् १९८५

□ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन-समिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

□ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

□ मूल्य : [illegible]) रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

Śayyambhava's

DASHAVAIKĀLIK SŪTRA

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Inspiring Soul
Up-pravartaka Shasansevi (Late) Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Siddhantacharya Sadhwi Pushpavati

Chief Editor
Pt. Shobha Chandra Bharill

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj)

Jinagam Granthmala Publication No. 23

- **Direction**
  Sadhwi Umrovakunwar 'Archana'

- **Board of Editors**
  Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
  Sri Devendra Muni Shastri
  Sri Ratan Muni
  Pt. Shobhachandra Bharill

- **Managing Editor**
  Srichand Surana 'Saras'

- **Promotor**
  Munisri Vinayakumar 'Bhima'
  Sri Mahendramuni 'Dinakar'

- **Date of Publication**
  Vir-nirvana Samvat 2511
  Vikram Samvat 2041; August, 1985

- **Publisher**
  Sri Agam Prakashan Samiti,
  Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.) [India]
  Pin 305 901

- **Printer**
  Satish Chandra Shukla
  Vedic Yantralaya
  Kesarganj, Ajmer

- **Price** Rs. 45/-

संशोधित [illegible] मूल्य

समर्पण

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य श्री जयमलजी महाराज के तृतीय पट्ट पर विराजमान होकर जिन्होंने धर्मशासन के उन्नयन में महत्त्व-पूर्ण योगदान किया,

जिन्होंने धार्मिक तथा आध्यात्मिक पद्य-रचनाओं द्वारा साहित्य-समृद्धि में वृद्धि की,

जो संयम और तप की साधना के क्षेत्र में नूतन मान स्थापित करने में प्रमुख रहे, उन

आचार्यश्री आसकरणजी महाराज

की पवित्र स्मृति में

सादर सविनय सभक्ति समर्पित

प्रकाशकीय

हर्ष का विषय है कि जिनागम-ग्रन्थमाला की २३ वीं मणि के रूप में श्रीदशवैकालिकसूत्र पाठकों के कर-कमलों में अर्पित किया जा रहा है। प्रस्तुत सूत्र चार मूल सूत्रों में परिगणित है और साधु-आचार का प्रतिपादक प्रमुख आगम है। प्रायः सभी को प्रव्रज्याग्रहण से पूर्व ही अथवा तत्काल पश्चात् इसका अध्ययन करना आवश्यक है। वस्तुतः इस आगम को हृदयंगम किए विना श्रमणाचार का यथावत् परिपालन होना संभव नहीं है। इस दृष्टि से इस आगम की उपयोगिता और महत्ता निर्विवाद है।

प्रस्तुत आगम का प्रकाशन अब से बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था, मगर कतिपय विवशताओं से विलम्ब हो गया। फिर भी आशा नहीं, विश्वास है कि इस संस्करण का अवलोकन करके आगमरसिक महानुभाव अवश्य सन्तुष्ट होंगे।

दशवैकालिक का अनुवाद एवं सम्पादन साहित्यवाचस्पति विद्वद्वर्य श्री देवेन्द्रमुनिजी म. की गृहस्थावस्था की भगिनी परमविदुषी महासती श्री पुष्पवतीजी म. ने करके प्रस्तुत प्रकाशन कार्य में जो महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है, समिति उसके लिए अतीव आभारी है। श्रीदेवेन्द्रमुनिजी का अमूल्य सहयोग तो प्रारम्भ से प्राप्त हो रहा है। तथ्य यह है कि आपका सहयोग प्राप्त होने से ही आगम-प्रकाशन की गति त्वरित हो सकी है। आपके सहयोग को व्यक्त करने के लिए शब्द पर्याप्त नहीं हैं। प्रस्तुत आगम की भी विशद, विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना आपने ही लिखी है।

आशा है दशवैकालिकसूत्र का यह संस्करण पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। इस संस्करण को विशेष समृद्ध बनाने में आचार्य पूज्यश्री आत्मारामजी म., युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ (मुनि श्री नथमल जी म.), श्रीसन्तबालजी म. आदि द्वारा पूर्व में सम्पादित संस्करणों का यत्र-तत्र उपयोग किया गया है, इन सब महानुभावों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना समुचित ही होगा।

अन्य जिन-जिन महानुभावों से हमें सहयोग मिला, उन सभी के प्रति भी हम आभारी हैं।

रतनचंद मोदी	**जतनराज मेहता**	**चांदमल विनायकिया**
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामंत्री	मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

सम्पादकीय

आगम जैन साहित्य की अनमोल निधि और उपलब्धि है। अक्षर-देह से वह जितना अधिक विशाल और विराट् है, उससे भी अधिक अर्थ-गरिमा की दृष्टि से व्यापक है। भगवती,[1] अनुयोगद्वार[2] और स्थानांग[3] में 'आगम' शब्द शास्त्र के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। वहाँ पर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार प्रमाण बताए हैं। आगम के भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किए हैं। लौकिक आगम महाभारत, रामायण प्रभृति ग्रन्थ हैं तो लोकोत्तर आगम आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा आदि हैं।[4]

श्रमण भगवान् महावीर के पावन प्रवचनों को सूत्र रूप में संकलन और आकलन गणधरों ने किया।[5] वह आगम अंगसाहित्य के नाम से विश्रुत हुआ। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है—अंगप्रविष्ट वह है, जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में निर्मित हो, जो गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित हो और जो शाश्वत सत्यों से सम्बन्धित होने से ध्रुव व दीर्घकालीन हो।[6] अंगबाह्य आगम वह है, जो स्थविरकृत हो और जो बिना प्रश्न किए तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित हो।

वक्ता के भेद की दृष्टि से आगम-साहित्य अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य इन दो भागों में विभक्त किया है।[7] आचार्य पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' में वक्ता के (१) तीर्थंकर, (२) श्रुतकेवली, (३) आरातीय आचार्य, ये तीन प्रकार बताए हैं।[8] आचार्य अकलङ्क ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में लिखा है—आरातीय आचार्यों द्वारा निर्मित आगम अंगप्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंगबाह्य हैं।[9] नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगमों की एक लम्बी सूची दी है। अंगबाह्य आगमों के आवश्यक, आवश्यक-व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक भेद किए हैं।[10]

दशवैकालिक, यह अंगबाह्य आगम है और उत्कालिक है। जब आगमों के अंग, उपांग, मूल और छेद, ये चार विभाग किए गए तब दशवैकालिक को मूल सूत्रों में स्थान दिया गया और इसका अध्ययन सर्वप्रथम आवश्यक माना गया है। दशवैकालिक का महत्त्व, वह कहाँ से निर्यूढ किया गया है, उसका नामकरण प्रभृति विषयों पर श्री देवेन्द्रमुनि जी ने अपनी प्रस्तावना में चिन्तन किया है, अतः प्रबुद्ध पाठक उसका अवलोकन करें।

---

१. भगवती ५।३।१९२

२. अनुयोगद्वार

३. स्थानांग ३३८-२२८

४. नन्दीसूत्र ७१-७२

५. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १९२

६. विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५५२

७. नन्दी सूत्र ४३

८. सर्वार्थसिद्धि १।२० पूज्यपाद

९. तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२०

१०. नन्दी सूत्र ७९-८४

दशवैकालिक में दस अध्ययन हैं। यह आगम विकाल में रचा गया जिससे इसका नाम दशवैकालिक रखा गया। श्रुतकेवली आचार्य शय्यंभव ने अपने पुत्र शिष्य मणक के लिए इस आगम की रचना की। वीरनिर्वाण ८० वर्ष के पश्चात् इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की रचना हुई। इसमें श्रमणजीवन की आचारसंहिता का निरूपण है और यह निरूपण वहुत संक्षेप में किया गया है पर श्रमणाचार की जितनी भी प्रमुख बातें हैं, वे सभी इसमें आ गई हैं। यही कारण है कि उत्तरवर्ती नवीन साधकों के लिए यह आगम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस आगम की रचना चम्पा में हुई है।

प्रथम अध्ययन का नाम द्रुमपुष्पिका है। पांच गाथाओं के द्वारा धर्म की व्याख्या, प्रशंसा और माधुकरी वृत्ति का निरूपण किया गया है। अतीत काल से ही मानव धर्म के सम्वन्ध में चिन्तन करता रहा है। धर्म की शताधिक परिभाषाएँ आज तक निर्मित हो चुकी हैं। विश्व के जितने भी चिन्तक हुए उन सभी ने धर्म पर चिन्तन किया पर जितनी व्यापक धर्म की परिभाषा प्रस्तुत अध्ययन में दी गई है, अन्यत्र दुर्लभ है। धर्म वही है जिसमें अहिंसा, संयम और तप हो। ऐसे धर्म का पालन वही साधक कर सकता है, जिसके मन में धर्म सदा अंगड़ाइयाँ लेता हो। धर्म आत्मविकास का साधन है। यही कारण है सभी धर्मप्रवर्त्तकों ने धर्म की शरण में आने की प्रेरणा दी—'धम्मं सरणं गच्छामि', 'धम्मं सरणं पवज्जामि', 'मामेकं शरणं व्रज'। क्योंकि धर्म का परित्याग कर ही प्राणी अनेक आपदाएं वरण करता है। शान्ति का आधार धर्म है। जन्म, जरा और मृत्यु के महाप्रवाह में वहते हुए प्राणियों की धर्म रक्षा करता है। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, जीर्ण होती है और नष्ट होती है। परिवर्तन का चक्र सतत चलता रहता है, किन्तु धर्म अपरिवर्तनीय है। वह परिवर्तन के चक्रव्यूह से व्यक्ति को मुक्त कर सकता है। कविवर रवीन्द्रनाथ टैगौर ने इसीलिए कहा था कि धर्म को पकड़ो। धर्म कभी भी अहित नहीं करता। धर्म से वैमनस्य, विरोध, विभेद आदि पैदा नहीं होते, वे पैदा होते हैं—सांप्रदायिकता से। सम्प्रदाय अलग है, धर्म अलग है। धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।

इस अध्ययन में माधुकरी वृत्ति का सुन्दर विवेचन हुआ है। जीवन-यात्रा के लिए भोजन आवश्यक है। यदि मानव पूर्ण रूप से निराहार रहे तो उसका जीवन टिक नहीं सकता। उच्च साधना के लिए और कर्त्तव्य-पालन के लिए मानव का जीवित रहना आवश्यक है। जीवन का महत्त्व सभी चिन्तकों ने स्वीकार किया है। जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। किन्तु आत्मतत्त्व का पारखी साधक शरीर-यात्रा के लिए भोजन करता है। वह अपवित्र, मादक, तामसिक पदार्थों का सेवन नहीं करता। श्रमण का जीवन त्याग-वैराग्य का जीवन है। वह स्वयं सांसारिक कार्यों से सर्वथा अलग-थलग रहता है। वह स्वयं भोजन न वनाकर भिक्षा पर ही निर्वाह करता है। जैन श्रमण की भिक्षा सामान्य भिक्षुकों की भांति नहीं होती। उसके लिए अनेक नियम और उपनियम हैं। वह किसी को भी विना पीड़ा पहुंचाये शुद्ध सात्विक नव कोटि परिशुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है। भिक्षाविधि में भी सूक्ष्म अहिंसा की मर्यादा का पूर्ण ध्यान रखा गया है।

द्वितीय अध्ययन का नाम श्रामण्यपूर्वक है। इस अध्ययन में ग्यारह गाथाएं हैं, जिनमें संयम में धृति का और उसकी साधना का निरूपण है। धर्म विना धृति के स्थिर नहीं रह सकता। इस अध्ययन की प्रथम गाथा में कामराग के निवारण पर वल दिया है। आत्मपुराण में लिखा है—काम ने ब्रह्मा को परास्त कर दिया, काम से शिव पराजित हैं, विष्णु भी काम से पराजित हैं और इन्द्र को भी काम ने जीत लिया है।[११] कवीर ने भी

११. कामेन विजितो ब्रह्मा, कामेन विजितो हरिः।
कामेन विजितो विष्णुः, शक्रः कामेन निर्जितः।

लिखा है—'विषयन वश तिहुं लोक भयो, जती सती संन्यासी'। इसके पार पहुंचना योगी और मुनियों के लिए भी सहज नहीं है। कुछ ही व्यक्ति इसके अपवाद हैं, जो काम-ऊर्जा को ध्यान में रूपान्तरित करते हैं। भोगी और रोगी की शक्ति का व्यय काम की ओर होता है। वायुविकार आदि शारीरिक कारणों से वासनाएं उद्दीप्त होती हैं और वह मानव अब्रह्मचर्य की ओर प्रवृत्त होता है। काम एक आवेग है। उस पर नियन्त्रण किया जा सकता है। उसके लिए भारतीय चिन्तकों ने विविध उपाय बताए हैं। फ्रायड, जो सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक है, उसका भी मन्तव्य है कि कामशक्ति को अन्य शक्तियों में रूपान्तरित किया जा सकता है। एक चित्रकार अपनी कमनीय कला में, संगीतकार संगीत में, लेखक लेखन में, वक्ता वक्तृत्वशक्ति में और योगी योग में काम को रूपान्तरित कर सकता है। काम विशुद्ध प्रेम के रूप में रूपान्तरित हो सकता है। वासना उपासना में बदल सकती है। 'काम जीवन की एक अनिवार्यता है, जैसे भूख और प्यास' जो इस प्रकार की धारा रखते हैं, वह उचित नहीं है, क्योंकि अनिवार्य वह है जिसके बिना मानव जी न सके। बिना खाये-पीए मनुष्य जी नहीं सकता पर काम-सेवन के बिना जीवित रह सकता है। इसलिए काम अनिवार्य और वास्तविक नहीं है। प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण रथनेमि को साध्वी राजीमती कामविजय का उपदेश देती है। वह कामवासना की भर्त्सना करती है, जिससे रथनेमि काम पर विजय प्राप्त करते हैं।

तृतीय अध्ययन का नाम क्षुल्लकाचारकथा है। इस अध्ययन में १५ गाथाएं हैं। उनमें आचार और अनाचार का विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण ज्ञान का सार आचार है, जिस साधक में धृति होती है वही साधक आचार और अनाचार के भेद को समझ सकता है और आचार को स्वीकार कर अनाचार से बचता है। जो साधना मोक्ष के लिए उपयोगी है, वह आचार है और जो कार्य मोक्ष-साधना में बाधक है, वह अनाचार है। श्रमण के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—ये पांच आचरण करने योग्य हैं, इसीलिए इन्हें पंचाचार कहा है। प्रस्तुत अध्ययन में अनाचारों की सूची दी गई है। उनकी संख्या के संबंध में प्रस्तावना में विस्तृत चर्चा की गई है। सारांश यह है कि जितने भी अग्राह्य, अभोग्य और अकरणीय कार्य हैं, वे अनाचार हैं। साधकों को उन अनाचारों से बचने का संकेत आगमकार ने किया है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम धर्मप्रज्ञप्ति या षड् जीवनिका है। इस अध्ययन में सूत्र २३ हैं और गाथाएं २८ हैं। इस अध्ययन में जीवसंयम और आत्मसंयम पर चिन्तन किया गया है। वही साधक श्रमणधर्म का पालन कर सकता है जो जीव और अजीव के स्वरूप को जानता है। इसलिए आचार-निरूपण के पश्चात् इस अध्ययन में जीव-निकाय का निरूपण किया गया है। यह बात स्पष्ट है कि अजीव का साक्षात् निरूपण इस अध्ययन में नहीं है। इसमें जीव-निकाय का निरूपण है। जीव के साथ अजीव का निरूपणं इसलिए आवश्यक है क्योंकि उसको बिना जाने जीव का शुद्ध स्वरूप जाना नहीं जा सकता। जो भी दृश्यमान जगत् है वह सब पुद्गल है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के जो शरीर दिखाई देते हैं, वे पुद्गलों से निर्मित हैं। जब उनमें से जीव पृथक् हो जाता है, तब वह जीव मुक्त शरीर कहलाता है। इसीलिए 'अन्नत्थ सत्थपरिणएणं' वाक्य का प्रयोग है। इस वाक्य से दोनों दशाओं का निदर्शन किया गया है। शस्त्रपरिणति के पूर्व पृथ्वी, पानी आदि सजीव होते हैं और शस्त्रपरिणति के पश्चात् वे निर्जीव बन जाते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में महाव्रतों का निरूपण है। महाव्रत के पांच प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। इनमें मुख्य अहिंसा है, शेष उसी का विस्तार है। मन, वाणी और शरीर से क्रोध, लोभ, मोह और भय आदि से दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा किसी भी प्राणी को शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाना हिंसा है। इस प्रकार हिंसा से बचना अहिंसा है। हिंसा और अहिंसा की आधारभूमि मुख्य रूप से भावना है। यदि मन में हिंसक भावना चल

रही है पर बाहर से हिंसा न भी हो तो भी वह हिंसा ही है। यदि मन पावन है, उसमें विवेक का आलोक जगमगा रहा है और यदि बाहर हिंसा होती हुई दिखलाई देती है तो भी वह अहिंसा ही है। स्नेह, करुणा और कल्याण की मंगलमय भावना से गुरु कदाचित् शिष्य की कठोर शब्दों के द्वारा भर्त्सना करता है, दोष लगने पर उसे प्रायश्चित्त और दण्ड देता है, तो भी वह हिंसा नहीं है। जैन श्रमण का जीवन पूर्ण अहिंसक है। वह अहिंसा का देवता है। उसके समस्त जीवन-व्यापारों में अहिंसा, करुणा, दया का अमृत व्याप्त रहता है। उसकी अहिंसा व्रत नहीं महाव्रत है, महान् प्रण है। उक्त महाव्रत के लिए प्रस्तुत अध्ययन में 'सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं' वाक्य का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ है—मन, वचन और कर्म से न हिंसा स्वयं करना, न दूसरों से करवाना और न हिंसा करने वालों का अनुमोदन करना।

द्वितीय महाव्रत सत्य है। मन, वाणी और कर्म से यथार्थ चिन्तन करना, आचरण करना और बोलना सत्य है। जिस वाणी से अन्य प्राणियों का हनन होता हो, दूसरों के हृदय में पीड़ा उत्पन्न हो, वह सत्य नहीं है। जैन श्रमण अत्यन्त मितभाषी होता है। उसकी वाणी में अहिंसा की स्वरलहरियां झनझनाती हैं। उसकी वाणी में स्व और पर के कल्याण की भावना अठखेलियाँ करती है। जैन श्रमण के लिए हँसी और मजाक में भी झूठ बोलने का निषेध है। वह प्राणों पर संकट आने पर भी सत्य से विमुख नहीं होता। इस प्रकार उसके सत्य महाव्रत के लिए 'सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं' वाक्य का प्रयोग हुआ है।

तृतीय महाव्रत अचौर्य है। अचौर्य अहिंसा और सत्य का ही एक रूप है। किसी की वस्तु को बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। यहाँ तक कि दांत कुरेदने के लिए तिनका भी ग्रहणं नहीं करना चाहिए। अचौर्यव्रत की रक्षा के लिए श्रमणों को जो भी वस्तु ग्रहण करनी हो, उसके लिए आज्ञा लेने का विधान है। इस महाव्रत के लिए 'सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं' वाक्य का प्रयोग है।

चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य एक आध्यात्मिक शक्ति है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक प्रभृति सभी पवित्र आचरण ब्रह्मचर्य पर ही निर्भर हैं। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोकना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल उपस्थ-इन्द्रिय-संयम ही नहीं है परन्तु सर्वेन्द्रिय-संयम है। जो पूर्ण जितेन्द्रिय होता है वही साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। ब्रह्मचारी साधक ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाले पदार्थों का सेवन नहीं करता। कामोद्दीपक दृश्यों को निहारता नहीं है और न इस प्रकार की वार्ताओं को सुनता है। न मन में कुविचार ही लाता है। वह पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता है, इसलिए 'सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं' का प्रयोग हुआ है।

पांचवें महाव्रत का नाम अपरिग्रह है। धन, सम्पत्ति, भोगसामग्री आदि पदार्थों का ममत्वमूलक संग्रह परिग्रह है। वर्तमान युग में समाज की दयनीय स्थिति चल रही है। उसके अन्तस्तल में आवश्यकता से अधिक संग्रह का भयंकर विष रहा हुआ है। एक के पास सैकड़ों विशाल भवन हैं तो दूसरे के पास छोटी सी झोपड़ी भी नहीं है। एक के पास अन्न के अम्बार लगे हुए हैं तो दूसरा व्यक्ति अन्न के एक-एक दाने के लिए तरस रहा है। एक के पास बहुमूल्य वस्त्रों के सन्दूक भरे पड़े हैं और दूसरे को लज्जानिवारणार्थ कोपीन भी नसीब नहीं है। इस प्रकार सामाजिक विषमता से समाज ग्रस्त है, जिससे आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती और न भौतिक उन्नति ही संभव है। यह विषमता अतीत में भी थी। इस विषम स्थिति को सम करने के लिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का मूलमंत्र प्रदान किया। गृहस्थों के लिए जहाँ परिग्रह की मर्यादा का विधान है, वहीं श्रमणों के लिए पूर्ण अपरिग्रही जीवन जीने का संदेश दिया गया है। परिग्रह का मूल मोह, मूर्च्छा और आसक्ति है। प्रस्तुत

आगम में परिग्रह की बहुत ही सुन्दर परिभाषा की गई है—मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। कोई भी वस्तु, चाहे बड़ी हो छोटी हो, जड़ हो या चेतन हो, अपनी हो या पराई हो, उसमें आसक्ति रखना परिग्रह है। परिग्रह सबसे बड़ा विष है। श्रमण उस विष से मुक्त होता है। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन में 'सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं' पाठ प्रयुक्त हुआ है। महाव्रतों के साथ ही रात्रिभोजन का भी श्रमण पूर्ण रूप से त्यागी होता है। महाव्रतों का सम्यक् पालन वही कर सकता है जिसे पहले ज्ञान हो। ज्ञान के अभाव में दया की आराधना नहीं हो सकती और बिना दया के अन्य व्रतों का पालन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यह अध्ययन अत्यन्त प्रेरणादायी सामग्री से भरा हुआ है।

पाँचवें अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। यह अध्ययन दो उद्देशकों में विभक्त है। प्रथम उद्देशक में सौ गाथाएं हैं तो द्वितीय उद्देशक में पचास गाथाएं हैं। इस अध्ययन में भिक्षा संबंधी गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का वर्णन है। इसलिए इस अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। भिक्षा श्रमण की कठोर चर्या है, उस चर्या में निखार आता है—दोषों को टालने से। भिक्षु निर्दोष भिक्षा ग्रहण करे। प्रस्तुत अध्ययन में किस प्रकार भिक्षा के लिए प्रस्थान करे ? चलते समय उसे किन-किन बातों की सावधानी रखनी चाहिए ? वर्षा बरस रही हो, कोहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो और मार्ग में तिर्यक् सम्पातिम जीव छा रहे हों तो भिक्षु भिक्षा के लिए न जाए। ऐसे स्थानों पर न जाए जहाँ जाने से संयम-साधना की विराधना संभव हो। मल-मूत्र की बाधा हो तो उसे रोककर भिक्षा के लिए न जाय क्योंकि उससे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। किस प्रकार भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ? आदि विषयों पर बहुत ही विस्तार से विवेचन किया है। भिक्षा के लिए चलते हुए जो भी घर आ जाए, बिना किसी भेदभाव के वहाँ से भिक्षा ले। स्वादु भोजन की तलाश न करे किन्तु स्वास्थ्य की उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। उसकी भिक्षा सामान्य भिक्षा न होकर विशिष्ट भिक्षा होती है।

छठे अध्ययन का नाम महाचार कथा है। इसमें ६८ गाथाएं हैं। तृतीय अध्ययन में क्षुल्लक-आचार कथा है तो इस अध्ययन में महाचार की कथा है। क्षुल्लक-आचार कथा में अनाचारों का संकलन है, सामान्य निरूपण है, उसमें केवल उत्सर्ग मार्ग का ही निरूपण है, जबकि इस अध्ययन में उत्सर्ग और अपवाद दोनों का ही निरूपण है। दोनों ही मार्ग साधक की साधना को लक्ष्य में रखकर बनाए गए हैं। एक नगर तक पहुंचने के दो मार्ग हैं, वे दोनों ही मार्ग कहलाते हैं; अमार्ग नहीं। वैसे ही उत्सर्ग भी साधना का मार्ग है और अपवाद भी। उदाहरण के रूप में बाल, वृद्ध, रोगी श्रमणों के लिए अठारह स्थान वर्ज्य माने हैं। उन अठारह स्थानों में सोलहवां स्थान 'गृहान्तरनिषद्यावर्जन' है, जिसका अर्थ है—गृहस्थ के घर में नहीं बैठना। इसका अपवाद भी इसी अध्ययन की ५९ वीं गाथा में है कि जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर बैठ सकता है। क्षुल्लक-आचार कथा का प्रस्तुत अध्ययन में सहेतु निरूपण हुआ है।

सातवें अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। इस अध्ययन में ५७ गाथाएं हैं, जिसमें भाषा-विवेक पर बल दिया है। जो आचारनिष्ठ होगा उसकी वाणी में विवेक अवश्य होगा। जैन श्रमणों के लिए गुप्ति, समिति और महाव्रत का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। महाव्रत में द्वितीय महाव्रत भाषा से सम्बन्धित है तो गुप्ति और समिति में भी द्वितीय गुप्ति और द्वितीय समिति भाषा से ही संबंधित है। वचन-गुप्ति में मौन है और समिति में विचार युक्त वाणी का प्रयोग है। जिसमें श्रमण कर्कश, निष्ठुर, अनर्थकारी, जीवों को आघात और परिताप देने वाली भाषा का प्रयोग नहीं करता। वह अपेक्षा दृष्टि से प्रमाण, नय और निक्षेप से युक्त हित, मित, मधुर और सत्य भाषा बोलता है। वाणी का विवेक सामाजिक जीवन के लिए भी आवश्यक है।

पाश्चात्य विचारक बर्क का मन्तव्य है—संसार को दुःखमय बनाने वाली अधिकांश दुष्टताएं शब्दों से ही उत्पन्न होती हैं। श्रमण, जो साधना की उच्चतम भूमि पर अवस्थित है, उसे अपनी वाणी पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए। यहाँ तक कि श्रमण जो भाषा सत्य होते हुए भी बोलने योग्य नहीं है, वह न बोले और न मिश्र भाषा का ही प्रयोग करे। जो भाषा व्यावहारिक है, सत्य है, पापरहित, अकर्कश और सन्देहरहित है, उसी भाषा का प्रयोग करे। निश्चयकारी भाषा का प्रयोग इसीलिए निषिद्ध किया गया है कि वह भाषा अहिंसा और अनेकान्त की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। साधक के जीवन में वाक्यशुद्धि का कितना महत्त्व है, यह बताने के लिए प्रस्तुत अध्ययन है।

आठवें अध्ययन का नाम आचारप्रणिधि है। इस अध्ययन में ६३ गाथाएँ हैं। इस अध्ययन में आचार का नहीं अपितु आचार की प्राणधि या आचार सम्बन्धी प्रणिधि का निरूपण है। आचार एक महान् निधि है। उस निधि को पाकर श्रमण किस प्रकार चले, उसका दिग्दर्शन इस अध्ययन में किया गया है। प्रणिधि का अपर अर्थ एकाग्रता स्थापना और प्रयोग है। श्रमण को इन्द्रियों के विकारों के प्रवाह में प्रवाहित न होकर, आत्मस्थ होना चाहिए। अप्रशस्त प्रयोग न कर प्रशस्त प्रयोग करने चाहिए। इसकी शिक्षा इस अध्ययन में दी गई है। इस अध्ययन में क्रोध-मान-माया-लोभ जो पाप को बढ़ाते हैं, पुनर्जन्मरूपी वृक्ष का सींचन करते जाते हैं, उन कषायों को जीतने का संदेश दिया है। शान्तिमार्ग के पथिक साधक के लिए कषाय का त्याग आवश्यक है। कषाय मानसिक उद्वेग हैं, आवेग हैं। एक कषाय में भी इतना सामर्थ्य है कि वह साधना को विराधना में परिवर्तित कर सकता है तो चारों कषाय साधना का कितना अधःपतन कर सकते हैं, यह सहज ही समझा जा सकता है। क्रोध की अग्नि सर्वप्रथम क्रोध करने वाले को ही जलाती है। मान प्रगति का अवरोधक है। माया अविद्या और असत्य की जननी है और कुल्हाड़े के समान—शीलरूपी वृक्ष को नष्ट करनेवाली है। लोभ ऐसी खान है जिसके खनन से समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। यह ऐसा दानव है जो समस्त सद्गुणों को निगल जाता है। यह सारे दुःखों का मूलाधार है और धर्म और कर्म के पुरुषार्थ-मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। इस प्रकार आचरणीय अनेक साधना के पहलुओं पर इस अध्ययन में प्रकाश डाला है।

नौवें अध्ययन का नाम विनय-समाधि है। इस अध्ययन में ६२ गाथाएं हैं तथा सात सूत्र और चार उद्देशक हैं जिनमें विनय का निरूपण किया गया है। विनय का वास्तविक अर्थ है—वरिष्ठ एवं गुरुजनों का सम्मान करते हुए, उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए अनुशासित जीवन जीना। विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय और अहंकार में ताल-मेल नहीं है, दोनों की दो विपरीत दिशाएं हैं। अहंकार की उपस्थिति में विनय केवल औपचारिक होता है। अहं का विसर्जन ही विनय है। अहं के शून्य होने से ही मानसिक, वाचिक और कायिक विनय प्रतिफलित होता है। इसके बिना व्यक्ति का रूपान्तर असंभव है। भगवान् महावीर ने कहा—बिना अहंकार को जीते साधक विनम्र नहीं बन सकता। जब साधक अहं से पूर्ण मुक्त हो जाता है तभी वह समाधि को प्राप्त करता है। विनीत व्यक्ति गुरु के अनुशासन को सुनता है, जो गुरु कहता है—उसे स्वीकार करता है, उनके वचन की आराधना करता है और अपने मन को आग्रह से मुक्त रखता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में विविध दृष्टियों से विनय-समाधि का निरूपण हुआ है। इसमें यह बताया है कि यदि शिष्य अनन्त ज्ञानी भी हो जाये तो भी वह आचार्यो की उसी तरह आराधना करता है जैसे पहले करता था। जिसके पास धर्म का अध्ययन किया उसके प्रति शिष्य को मन, वचन और कर्म से विनीत रहना चाहिए। जो शिष्य विनीत होता है, वही गुरुजनों के स्नेह को प्राप्त करता है, अविनीत शिष्य विपदा को आमन्त्रित करता है। विनीत शिष्य ही ज्ञान-सम्पदा को प्राप्त कर सकता है। इस अध्ययन में विनय, श्रुत, तप और आचार, इन चारों समाधियों का वर्णन भी है और वे समाधियां किस तरह प्राप्त होती हैं, इसका भी निरूपण है।

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु है। इस अध्ययन की इक्कीस गाथाओं में भिक्षु के स्वरूप का निरूपण है। भिक्षा से जो अपना जीवनयापन करता हो वह भिक्षु है। सच्चा और अच्छा श्रमण भी 'भिक्षुक' संज्ञा से ही अभिहित किया जाता है और भिखारी भी। पर दोनों की भिक्षा में बहुत बड़ा अन्तर है, दोनों के लिए शब्द एक होने पर भी उद्देश्य में महान् अन्तर है। भिखारी में संग्रहवृत्ति होती है जबकि श्रमण दूसरे दिन के लिए भी खाद्य-सामग्री का संग्रह करके नहीं रखता। भिखारी दीनवृत्ति से मांगता है पर श्रमण अदीनभाव से भिक्षा ग्रहण करता है। भिखारी देने वाले की प्रशंसा करता है पर श्रमण न देने वाले की प्रशंसा करता है और न अपनी जाति, कुल, विद्वत्ता आदि बताकर भिक्षा मांगता है। भिखारी को भिक्षा न मिलने पर वह गाली और शाप भी देता है किन्तु श्रमण न किसी को शाप देता है और न गाली ही। श्रमण अपने नियम के अनुकूल होने पर तथा निर्दोष होने पर ही वस्तु को ग्रहण करता है। इस प्रकार भिखारी और श्रमण भिक्षु में बड़ा अन्तर है। इसीलिए अध्ययन का नाम सभिक्षु या सद्भिक्षु दिया है। पूर्ववर्ती नौ अध्ययनों में जो श्रमणों की आचार-संहिता बतलाई गई है, उसके अनुसार जो श्रमण अपनी मर्यादानुसार अहिंसक जीवन जीने के लिए भिक्षा करता है—वह भिक्षु है। इस अध्ययन की प्रत्येक गाथा के अन्त में सभिक्खु शब्द का प्रयोग हुआ है। भिक्षुचर्या की दृष्टि से इस अध्ययन में विपुल सामग्री प्रयुक्त हुई है। भिक्षु वह है जो इन्द्रियविजेता है, आक्रोश-वचनों को, प्रहारों को, तर्जनाओं को शान्त भाव से सहन करता है, जो पुनः-पुनः व्युत्सर्ग करता है, जो पृथ्वी के समान सर्वंसह है, निदान रहित है, जो हाथ, पैर, वाणी, इन्द्रिय से संयत है, अध्यात्म में रत है, जो जाति, रूप, लाभ व श्रुत आदि का मद नहीं करता, अपनी आत्मा को शाश्वत हित में सुस्थित करता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण के उत्कृष्ट त्याग की झलक दिखाई देती है।

दस अध्ययनों के पश्चात् प्रस्तुत आगम में दो चूलिकाएं भी हैं। प्रथम चूलिका का नाम रतिवाक्या है। इसमें अठारह गाथाएं हैं तथा एक सूत्र है। इसमें संयम में अस्थिर होने पर पुनः स्थिरीकरण का उपदेश दिया गया है। असंयम की प्रवृत्तियों में सहज आकर्षण होता है, वह आकर्षण संयम में नहीं होता। जिनमें मोह की प्रबलता होती है, उन्हें इन्द्रियविषयों में सुखानुभूति होती है। उन्हें विषयों के निरोध में आनन्द नहीं मिलता। जिन के शरीर में खुजली के कीटाणु होते हैं, उन्हें खुजलाने में सुख का अनुभव होता है किन्तु जो स्वस्थ हैं उन्हें खुजलाने में आनन्द नहीं आता और न उनके मन में खुजलाने के प्रति आकर्षण ही होता है। जब मोह के परमाणु बहुत ही सक्रिय होते हैं तब भोग में सुख की अनुभूति होती है पर जो साधक मोह से उपरत होते हैं उन्हें भोग में सुख की अनुभूति नहीं होती। वह भोग को रोग मानता है। कई बार भोग का रोग दब जाता है किन्तु परिस्थितिवश पुनः उभर आता है। उस समय कुशल चिकित्सक उस रोग का उपचार कर ठीक करता है, जिससे वह रोगी स्वस्थ हो जाता है। जो साधक मोह के उभर आने पर साधना से लड़खड़ाने लगता है, उस साधक को पुनः संयम-साधना में स्थिर करने का मार्ग इस चूलिका में प्रतिपादित है। इस चूलिका के वाक्यों से साधक में संयम के प्रति रति उत्पन्न होती है, इसीलिए इस चूलिका का नाम रतिवाक्या है। इसमें जो उपदेश प्रदान किया गया है, वह बहुत ही प्रभावशाली और अनूठा है।

दूसरी चूलिका विविक्तचर्या है। इस चूलिका में सोलह गाथाएं हैं। इसमें श्रमण के चर्या गुण और नियमों का निरूपण है, इसलिए इसका नाम विविक्तचर्या रखा गया है। संसारी जीव अनुस्रोतगामी होते हैं। वे इन्द्रिय और मन के विषय-सेवन में रत रहते हैं, पर साधक प्रतिस्रोतगामी होता है। वह इन्द्रियों की लोलुपता के प्रवाह में प्रवाहित नहीं होता। वह जो भी साधना के नियम-उपनियम हैं, उनका सम्यक् प्रकार से पालन करता है। पांच महाव्रत मूलगुण हैं। नवकारसी, पौरसी आदि प्रत्याख्यान उत्तरगुण हैं। स्वाध्याय, कायोत्सर्ग

आदि नियम हैं, जो इनका जागरूकता के साथ पालन करता है वह प्रतिबुद्ध-जीवी कहलाता है। वर्तमान समय में चर्या का नियमन करने वाले आगम हैं। इसलिए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग पर चले 'सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू'। सूत्र का गम्भीर अर्थ—विधि और निषेध, उत्सर्ग और अपवाद आदि को अनेकान्त दृष्टि से जानकर आचरण करे। चूलिका के अन्त में यह महत्त्वपूर्ण संदेश दिया गया है कि सभी इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। कितने ही विचारकों का यह अभिमत है कि आत्मा को गवांकर भी शरीर की रक्षा होनी चाहिए, शरीर आत्मसाधना का साधन है किन्तु यहाँ इस विचारधारा का खण्डन किया गया है और आत्मरक्षा को ही सर्वोपरि माना गया है। आत्मा की रक्षा का अर्थ है—संयम की रक्षा और संयमरक्षा के लिए बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना आवश्यक है।

इस प्रकार दशवैकालिक सूत्र में श्रमणाचार का बहुत ही व्यवस्थित निरूपण है। जैन श्रमण बाह्य रूप से समस्त पापकारी वृत्तियों से बचे और आन्तरिक रूप से समस्त राग-द्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठे। संक्षेप में कहा जाय तो पांचों इन्द्रियों और मन को संयम में रखे और निरन्तर संयम-साधना के पथ पर आगे बढ़े।

दशवैकालिक आगम अतीव महत्त्वपूर्ण है। श्रमण को सर्वप्रथम अपने आचार का ज्ञान आवश्यक है। दशवैकालिक की रचना से पूर्व आचारांग का अध्ययन-अध्यापन होता था पर दशवैकालिक की रचना के बाद आचारबोध के लिए सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन आवश्यक माना गया। दशवैकालिक के निर्माण के पूर्व आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन से श्रमणों को महाव्रतों की विभागतः उपस्थापना की जाती थी किन्तु दशवैकालिक के निर्माण के बाद दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन से महाव्रतों की उपस्थापना की जाने लगी। अतीतकाल में श्रमणों को भिक्षाग्राही बनने के लिए आचारांग सूत्र के दूसरे अध्ययन के लोकविजय के पांचवें उद्देशक को जानना आवश्यक था। पर जब दशवैकालिक का निर्माण हो गया तो उसके पांचवें अध्ययन पिण्डैषणा को जानने वाला श्रमण भी भिक्षाग्राही हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि दशवैकालिक का कितना अधिक महत्त्व है। इस पर अनेक व्याख्याएं हुई हैं, विवेचन लिखे गए हैं।

स्वर्गीय युवाचार्य पं. प्रवर श्री मधुकर-मुनि जी महाराज की प्रबल प्रेरणा से आगम-बत्तीसी का मंगलमय कार्य प्रारम्भ हुआ। मेरे लघु भ्राता श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री का स्नेह भरा आग्रह था कि मुझे दशवैकालिक सूत्र का सम्पादन करना है, उस पर विवेचन आदि भी लिखना है। छोटे भाई के प्रेम भरे आग्रह को मैं कैसे टाल सकती थी ? मैंने इस महान् कार्य को करने का संकल्प किया, पर शुभ कार्य में विघ्न आते ही हैं। मुझे भी इस कार्य को सम्पन्न करने में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। मेरे संयमी जीवन की आधारस्तम्भ, जिनके कारण मैं सदा निश्चिन्तता का अनुभव करती रही, जिनकी छत्रछाया में मेरे जीवन की सुखद घड़ियां बीतीं, वे थीं—प्रतिभामूर्ति मातेश्वरी महासती प्रभावती जी, जिनका २७ जनवरी १९८२ को संथारे के साथ स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास से मन को भारी आघात लगा, मेरा भी स्वास्थ्य शिथिल ही रहा, इसलिए न चाहते हुए भी विलम्ब होता ही चला गया।

इसका संपादन मैंने उदयपुर वर्षावास में सन् १९८० में प्रारम्भ किया। डूंगला वर्षावास में प्रवचन आदि अन्य आवश्यक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण कार्य में प्रगति न हो सकी, जोधपुर और मदनगंज के वर्षावास में उसे सम्पन्न किया।

आगम का सम्पादनकार्य अन्य सम्पादन कार्यों से अधिक कठिन है, क्योंकि आगम की भाषा और भावधारा वर्तमान युग के भाव और भाषा-धारा से बहुत ही पृथक् है। जिस युग में इन आगमों का संकलन-

आकलन हुआ उस युग की शब्दावली में जो अर्थ सन्निहित था, आज उन शब्दों का वही अर्थ हो, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शब्दों के मूल अर्थ में भी कालक्रमानुसार परिवर्तन हुए हैं। इसलिए मूल आगम में प्रयुक्त शब्दों का सही अर्थ क्या है? इसका निर्णय करना कठिन होता है, अतः इस कार्य में समय लगना स्वाभाविक था। तथापि परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्यायप्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज तथा भाई महाराज श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री के मार्गदर्शन से यह दुरूह कार्य सहज सुगम हो गया। यदि पूज्य गुरुदेवश्री का हार्दिक आशीर्वाद और देवेन्द्रमुनि जी का मार्गदर्शन प्राप्त नहीं होता तो सम्पादन कार्य में निखार नहीं आता। उनका चिन्तन और प्रोत्साहन मेरे लिए संबल के रूप में रहा है। मैं इस अवसर पर त्याग-वैराग्य की जीती-जागती प्रतिमा स्वर्गीया बालब्रह्मचारिणी परम-विदुषी चन्दनबाला श्रमणीसंघ की पूज्य प्रवर्तिनी महासती श्री सोहनकुंवर जी म. को विस्मृत नहीं कर सकती, जिनकी अपार कृपादृष्टि से ही मैं संयम-साधना के महामार्ग पर बढ़ी और उनके चरणारविन्दों में रहकर आगम, दर्शन, न्याय, व्याकरण का अध्ययन कर सकी। आज मैं जो कुछ भी हूं, वह उन्हीं का पुण्य-प्रताप है।

प्रस्तुत आगम के सम्पादन, विवेचन एवं लेखन में पूजनीया माताजी महाराज का मार्गदर्शन मुझे मिला है। प्रेस योग्य पाण्डुलिपि को तैयार करने में पण्डितप्रवर मुनि श्री नेमिचन्द्र जी ने जो सहयोग दिया है वह भी चिरस्मरणीय रहेगा। श्री रमेशमुनि, श्री राजेन्द्रमुनि, श्री दिनेशमुनि प्रभृति मुनि-मण्डल की सत्प्रेरणा इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने के लिए मिलती रही तथा सेवामूर्ति महासती चतरकुंवर जी की सतत सेवा भी भुलाई नहीं जा सकती, सुशिष्या महासती चन्द्रावती, महासती प्रियदर्शना, महासती किरणप्रभा, महासती रत्नज्योति, महासती सुप्रभा आदि की सेवा-शुश्रूषा इस कार्य को सम्पन्न करने में सहायक रही है। ज्ञात और अज्ञात रूप में जिन महानुभावों का और ग्रन्थों का मुझे सहयोग मिला है, उन सभी के प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करती हूं।

—जैन साध्वी पुष्पवती

महावीर भवन,
मदनगंज-किशनगढ़
दि. ४-५-८४

प्रस्तावना

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम : साहित्य

आत्मा और अनात्मा संबंधी भावनाओं की यथातथ्य अभिव्यक्ति साहित्य है। साहित्य किसी भी देश, समाज या व्यक्ति की सामयिक समस्याओं तक ही सीमित नहीं है, वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक सत्य-तथ्य पर आधृत है। साहित्य, सम्प्रदाय-विशेष में जन्म लेकर भी सम्प्रदाय के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं होता। फूल मिट्टी में से जन्म लेकर भी मिट्टी से पृथक् होता है और सौरभ फूल में उत्पन्न होकर भी फूल से पृथक् अस्तित्व रखता है। यही स्थिति साहित्य की है। साहित्य मानव के विमल विचारों का अक्षय कोष है। साहित्य में जहाँ उत्कृष्ट आचार और विचार का चित्रण होता है वहाँ उत्थान-पतन, सुख-दुःख, आशा-निराशा की भी सहज अभिव्यक्ति होती है। यदि हम विश्व-साहित्य का गहराई से पर्यवेक्षण करें तो स्पष्ट परिज्ञात होगा कि सौन्दर्य सुषमा को निहार कर मानव पुलकित होता रहा है तो कारुण्यपूर्ण स्थिति को निहार कर करुणा की अश्रु-धारा भी प्रवाहित करता रहा है। जहाँ उसने जीवन-निर्माण के लिए अनमोल आदर्श उपस्थित किए हैं, वहाँ जीवन को पतन से बचाने का मार्ग भी सुझाया है। जीवन और जगत् की, आत्मा और परमात्मा की व्याख्याएँ करना साहित्य का सदा लक्ष्य रहा है। इस प्रकार साहित्य में साधना और अनुभूति का, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का अद्भुत समन्वय है। साहित्यकार विचार-सागर में गहराई से डुबकी लगाकर चिन्तन की मुक्ताएँ बटोर कर उन्हें इस प्रकार शब्दों की लड़ी की कड़ी में पिरोता है कि देखने वाला विस्मित हो जाता है। जीवन की नश्वरता और अपूर्णता की अनुभूति तो प्रायः सभी करते हैं, पर सभी उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाते। कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही शब्दों के द्वारा उस नश्वरता और अपूर्णता को चित्रित कर एवं जन-जन के अन्तर्मानस में त्याग और वैराग्य की भावना उद्बुद्ध कर उन्हें आत्मदर्शन के लिए उत्प्रेरित करते हैं। चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से होती है।

वैचारिक क्रान्ति का जीता-जागता प्रतीक : प्राकृत साहित्य

प्राकृत साहित्य का उद्भव जन-सामान्य की वैचारिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ है। श्रमण भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध के समय संस्कृत भाषा आभिजात्य वर्ग की थी। वे उस भाषा में अपने विचार व्यक्त करने में गौरवानुभूति करते थे। जन बोली को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। ऐसी स्थिति में श्रमण भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ने उस युग की जन-बोली प्राकृत और पाली को अपनाया। यही कारण है, जैन आगमों की भाषा प्राकृत है और बौद्ध त्रिपिटकों की भाषा पाली है। दोनों भाषाओं में अद्भुत सांस्कृतिक ऐक्य है। दोनों भाषाओं का उद्गम-बिन्दु भी एक है, प्रायः दोनों का विकास भी समान रूप से ही हुआ है। समवायाङ्ग[1]

---

१. समवायाङ्ग सूत्र, पृष्ठ ६०

और औपपातिक[2] सूत्र के अनुसार सभी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में ही उपदेश करते हैं। चारित्र धर्म की आराधना और साधना करने वाले जिज्ञासु मन्दबुद्धि स्त्री-पुरुषों पर अनुग्रह करके जन-सामान्य के लिए सिद्धान्त सुबोध हो, इसलिए प्राकृत में उपदेश देते हैं।[3] आचार्य जिनदास गणी महत्तर अर्धमागधी का अर्थ दो प्रकार से करते हैं—यह भाषा मगध के एक भाग में बोली जाती थी, इसलिए अर्द्धमागधी कहलाती है, दूसरे इस भाषा में अट्ठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो मागधी और देशज शब्दों का इस भाषा में मिश्रण होने से यह अर्धमागधी कहलाती है।[4] अर्धमागधी को ही सामान्य रूप से प्राकृत कहते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने आगम साहित्य की भाषा को आर्ष प्राकृत कहा है। चिन्तकों का अभिमत है कि आगमों की भाषा में भी दीर्घकाल में परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के रूप में आचार्य शीलांक ने सूत्रकृताङ्ग की टीका में स्पष्ट रूप से लिखा है कि सूत्रादर्शों में अनेक प्रकार के सूत्र उपलब्ध होते हैं, पर हमने एक ही आदर्श का स्वीकार कर विवरण लिखा है। यदि कहीं सूत्रों में विसंवाद दृग्गोचर हो तो चित्त में व्यामोह नहीं करना चाहिए।[5] कहीं पर 'य' श्रुति की प्रधानता है तो कहीं पर 'त' श्रुति की, कहीं पर ह्रस्व स्वर का प्रयोग है तो कहीं पर ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर का प्रयोग है। आगमप्रभावक श्री पुण्यविजय जी महाराज ने बृहत्कल्पसूत्र[6], कल्पसूत्र[7] और अंगविज्जा[8] ग्रन्थों की प्रस्तावना में इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है।

आगमों का वर्गीकरण

आगमों का सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण है—अंग, उपांग, मूल और छेद। आचार्य देववाचक ने जो आगमों का वर्गीकरण किया है उसमें न उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है और न ही मूल और छेद शब्दों का ही। वहाँ पर अंग और अंगबाह्य शब्द आया है। तत्त्वार्थभाष्य[9] में सर्वप्रथम अंगबाह्य आगम के अर्थ में उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् सुखबोधा समाचारी,[10] विधिमार्गप्रपा,[11] वायनाविही[12] आदि में उपांग विभाग का उल्लेख है। किन्तु मूल और छेद सूत्रों का विभाग किस समय हुआ, यह अभी अन्वेषणीय है। दशवैकालिक की निर्युक्ति, चूर्णि, हारिभद्रीया वृत्ति और उत्तराध्ययन की शान्त्याचार्य कृत बृहद्वृत्ति में मूल सूत्र के सम्बन्ध में कुछ भी चर्चा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'मूल सूत्र' यह विभाग

---

२. औपपातिक सूत्र

३. दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति

४. मगद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारस देसीभासाणिमयं वा अद्धमागहं। —निशीथचूर्णि

५. सूत्रकृताङ्ग, २/२-३९, सूत्र की टीका

६. बृहत्कल्पसूत्र, भाग ६, प्रस्तावना, पृष्ठ ५७

७. कल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ ४-६

८. अंगविज्जा, प्रस्तावना, पृष्ठ ८-११

९. तत्त्वार्थभाष्य १/२०

१०. सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ १३४

११. विधिमार्गप्रपा के लिए देखिए —जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, प्रस्तावना पृ. ३८

१२. वायनाविही, पृष्ठ ६४

नहीं हुआ था। विक्रम संवत् १३३४ में प्रभावकचरित्र[13] में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद यह विभाग प्राप्त होता है। इसके बाद 'समाचारी-शतक' में भी उपाध्याय समयसुन्दर गणी ने इसका उल्लेख किया है।

मूलसूत्र संज्ञा क्यों ?

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि को मूल सूत्र संज्ञा क्यों दी गई है ? इस सम्बन्ध में विज्ञों में विभिन्न मत हैं। पाश्चात्य विज्ञों ने भारतीय साहित्य का जिस गहराई, रुचि और अध्यवसाय से अध्ययन किया है वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। कार्य किस सीमा तक हुआ है ? कितना उपादेय है ? यह प्रश्न अलग है, पर उन्होंने कठिन श्रम और उत्साह के साथ जो प्रयत्न किया है, यह भारतीय चिन्तकों के लिए प्रेरणादायी है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध प्राच्य अध्येता प्रो. शर्पेन्टियर ने उत्तराध्ययनसूत्र की प्रस्तावना में लिखा है कि मूल सूत्र में भगवान् महावीर के मूल शब्द संगृहीत हैं जो स्वयं भगवान् महावीर के मुख से निसृत हैं।[14]

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. वाल्टर शुब्रिंग ने Lax Religion Dyaina (जर्मन भाषा में लिखित) पुस्तक में लिखा है कि मूल सूत्र नाम इसलिए दिया गया ज्ञात होता है कि श्रमण और श्रमणियों के साधनामय जीवन के मूल में—प्रारम्भ में उनके उपयोग के लिए इनका निर्माण हुआ।

इटली के प्रोफेसर गेरीनो ने एक विचित्र कल्पना की है। उस कल्पना के पीछे उनके मस्तिष्क में ग्रन्थ के 'मूल' और 'टीका' ये दो रूप मुख्य रहे हैं। इसलिए उन्होंने मूल ग्रन्थ के रूप में मूल सूत्र को माना है क्योंकि इन आगम-ग्रन्थों पर निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि विपुल व्याख्यात्मक साहित्य है। व्याख्या साहित्य में यत्र-तत्र मूल शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी वे टीकाएँ और व्याख्याएँ हैं। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर विपुल व्याख्यात्मक साहित्य है, इसलिए इन आगमों को मूल सूत्र कहा गया है। टीकाकारों ने मूल ग्रन्थ के अर्थ में मूल सूत्र का प्रयोग किया है, संभव है उसी से यह आगम मूल सूत्र कहे जाने लगे हों।

पाश्चात्य मूर्धन्य मनीषियों ने मूल सूत्र की अभिधा के लिए जो कल्पनाएँ की हैं, उनके पीछे किसी अपेक्षा का आधार अवश्य है, पर जब हम गहराई से चिन्तन करते हैं तो उनकी कल्पना पूर्ण रूप से सही नहीं लगती। प्रो. सरपेन्टियर ने भगवान् महावीर के मूल शब्दों के साथ मूल सूत्रों को जोड़ने का जो समाधान किया है, वह उत्तराध्ययन के साथ कदाचित् संगत हो तो भी दशवैकालिक के साथ उसकी संगति बिल्कुल नहीं है। यदि हम भगवान् महावीर के साक्षात् वचनों के आधार पर 'मूल सूत्र' मानते हैं तो आचारांग, सूत्रकृतांग प्रभृति अंग ग्रन्थ, जिन का सम्बन्ध सीधा गणधरों से रहा है मूलसूत्र कहे जाने चाहिए। पर ऐसा नहीं है, इसलिए प्रो. सरपेन्टियर की कल्पना घटित नहीं होती।

डॉ. वाल्टर शुब्रिंग के मतानुसार मूल सूत्र के लिए श्रमणों के मूल नियम, परम्पराओं एवं विधि-निषेधों की दृष्टि से मूल सूत्र की अभिधा दी गई। पर यह समाधान भी पूर्ण रूप से सही नहीं है। दशवैकालिक में तो यह बात मिलती है पर अन्य मूल सूत्रों में अनेक दृष्टान्त जैन धर्म-दर्शन सम्बन्धी अनेक पहलुओं पर विचार किया गया है। इसलिए डॉ. शुब्रिंग का चिन्तन भी एकांगी पहलू पर ही आधृत है।

प्रो. गेरिनो ने मूल और टीका के आधार पर 'मूल सूत्र' अभिधा की कल्पना की है, पर उनकी यह कल्पना बहुत ही स्थूल है। इस कल्पना में चिन्तन की गहराई का अभाव है। मूल सूत्रों के अतिरिक्त अन्य

१३. प्रभावकचरित्र, आर्यरक्षित प्रबन्ध, श्लोक २४१

१४. The Uttradhyayana Sutra, page 32

आगमों पर भी अनेक टीकाएँ हैं। उन टीकाओं के आधार से ही किसी आगम को मूल सूत्र की संज्ञा दी गई हो तो वे सभी आगम 'मूल सूत्र' कहे जाने चाहिए।

हमारी दृष्टि से जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमण के आचार सम्बन्धी मूल गुणों—महाव्रत, समिति, गुप्ति, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का निरूपण है और जो श्रमण-जीवनचर्या में मूल रूप से सहायक बनते हैं और जिन आगमों का अध्ययन सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूल सूत्र कहा गया है।

हमारे प्रस्तुत कथन का समर्थन इस बात से होता है कि पहले श्रमणों का अध्ययन आचारांग से प्रारम्भ होता था। जब दशवैकालिक सूत्र का निर्माण हो गया तो सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके पश्चात् उत्तराध्ययन सूत्र पढ़ाया जाने लगा।[१५]

पहले आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन से शैक्षिकी उपस्थापना की जाती थी, जब दशवैकालिक की रचना हो गई तो उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।[१६]

मूल सूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। तथापि यह पूर्ण सत्य है कि सभी विज्ञों ने दशवैकालिक को मूल सूत्र माना है। चाहे समयसुन्दर गणि हों,[१७] चाहे भावप्रभसूरि हों,[१८] चाहे प्रोफेसर वेवर और प्रोफेसर बूलर हों, चाहे डॉ. सार्पेन्टियर या डॉ. विन्टरनिज हों, चाहे डॉ. गेरिनो या डॉ. शुब्रिंग हों—सभी ने प्रस्तुत आगम को मूल सूत्र माना है।[१९]

दशवैकालिक का महत्त्व

मूल आगमों में दशवैकालिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य देववाचक ने आवश्यक-व्यतिरिक्त के कालिक और उत्कालिक ये दो भेद किए हैं। उन भेदों में उत्कालिक आगमों की सूची में दशवैकालिक प्रथम है।[२०] यह आगम अस्वाध्याय समय को छोड़कर सभी प्रहरों में पढ़ा जा सकता है। चार अनुयोगों में दशवैकालिक का समावेश चरणकरणानुयोग में किया जा सकता है। यह निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु[२१] और

---

१५. आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उवरिं इयाणिं किं तेन होवंती उ॥ —व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गा. १७६

१६. पुव्वं सत्थपरिण्णा, अधीय पढियाइ होइ उवट्ठवणा।
इण्हिच्छज्जीवणया, किं सा उ न होउ उवट्ठवणा॥ —व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गा. १७४

१७. समाचारीशतक

१८. अथ उत्तराध्ययन-आवश्यक-पिण्डनिर्युक्ति ओघनिर्युक्ति-दशवैकालिक-इति चत्वारि मूलसूत्राणि
—जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लोक ३० की स्वोपज्ञवृत्ति।

१९. ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृ. ४४-४५, ले. एच. आर. कापड़िया

२०. से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा-दसवेयालियं०। —नन्दी सूत्र ७१

२१. अपुहुत्तपुहुत्ताइं निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरणकरणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति॥ —दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ४

अगस्त्यसिंह स्थविर[२२] का अभिमत है। इसमें चरण[२३](मूलगुण) व करण[२४] (उत्तरगुण) इन दोनों का अनुयोग है। आचार्य वीरसेन के अभिमतानुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।[२५] ज्ञानभूषण के प्रशिष्य शुभचन्द्र के अभिमतानुसार दशवैकालिक का विषय गोचरविधि और पिण्डविशुद्धि है।[२६] आचार्य श्रुतसागर के अनुसार इसमें वृक्ष-कुसुम आदि का भेदकथक और यतियों के आचार का कथक कहा है।[२७]

दशवैकालिक में आचार-गोचर के विश्लेषण के साथ ही जीव-विद्या, योग-विद्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा भी की गई है। यही कारण है इस आगम की रचना होने के पश्चात् अध्ययन-क्रम में भी आचार्यों ने परिवर्तन किया, जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं।

व्यवहारभाष्य के अनुसार अतीत काल में आचारांग के द्वितीय लोकविजय अध्ययन के ब्रह्मचर्य नामक पांचवें उद्देशक के आमगंध सूत्र को बिना जाने-पढ़े कोई भी श्रमण और श्रमणी पिण्डकल्पी अर्थात् भिक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं हो सकता था। जब दशवैकालिक का निर्माण हो गया तो उसके पिण्डैषणा नामक पांचवें अध्ययन को जानने व पढ़ने वाला पिण्डकल्पी होने लगा। यह वर्णन दशवैकालिक के महत्त्व को स्पष्ट रूप से उजागर करता है।[२८]

दशवैकालिक के रचनाकार का परिचय

प्रस्तुत आगम के कर्त्ता आचार्य शय्यम्भव हैं। वे राजगृह नगर के निवासी थे। वत्स गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म वीर निर्वाण ३६ (विक्रम पूर्व ४३४) में हुआ। वे वेद और वेदांग के विशिष्ट ज्ञाता थे। जैनशासन के प्रबल विरोधी थे, जैनधर्म के नाम से ही उनकी आंखों से अंगारे बरसते थे। जैनधर्म के प्रबल विरोधी उस प्रकाण्ड विद्वान् शय्यम्भव को प्रतिबोध देने के लिए आचार्य प्रभव के आदेश से दो श्रमण शय्यम्भव के यज्ञवाट में गए और धर्मलाभ कहा। श्रमणों का घोर अपमान किया गया। उन्हें बाहर निकालने का

---

२२. अगस्त्यसिंह स्थविर : दशवैकालिकचूर्णि

२३. चरणं मूलगुणाः।
वय-समणधम्म संयम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
णाणाइतियं तव, कोहनिग्गहाई चरणमेयं॥ —प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५५२

२४. करणं उत्तरगुणाः।
पिंडविसोही समिई भावण पडिमा इ इंदियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु॥ —प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५६३

२५. दसवेयालियं आयार-गोयर-विहिं वण्णेइ। —षट्खंडागम, सत्प्ररूपणा १-१-१, पृ. ९७

२६. जदि गोचरस्स विहिं, पिंडविसुद्धिं च जं परूवेहि।
दसवेआलियसुत्तं दहकाला जत्थ संवुत्ता॥ —अंगपण्णत्ती ३/२४

२७. वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकं च दशवैकालिकम्।
—तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरीया, पृ. ६७

२८. वितितंमि बंभचेरे पंचम उद्देसे आमगंधम्मि।
सुत्तंमि पिंडकप्पो इह पुण पिंडेसणाए ओ॥
—व्यवहारभाष्य, उ. ३, गा. १७५

उपक्रम किया गया। श्रमणों ने कहा—'अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते न हि'—अहो! खेद की बात है, तत्त्व नहीं जाना जा रहा। श्रमणों की बात शय्यम्भव के मस्तिष्क में टकराई पर उसने सोचा—यह उपशान्त तपस्वी झूठ नहीं बोलते।[29] हाथ में तलवार लेकर वह अपने अध्यापक के पास पहुंचा और बोला—तत्त्व का स्वरूप बताओ, यदि नहीं बताओगे तो मैं तलवार से तुम्हारा शिरच्छेद कर दूंगा। लपलपाती तलवार को देखकर अध्यापक काँप उठा। उसने कहा—अर्हत् धर्म ही यथार्थ धर्म और तत्त्व है। शय्यम्भव अभिमानी होने पर भी सच्चे जिज्ञासु थे। वे आचार्य प्रभव के पास पहुंचे। उनकी पीयूषस्रावी वाणी से बोध प्राप्त कर दीक्षित हुए। आचार्य प्रभव के पास उन्होंने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रुतधरपरम्परा में वे द्वितीय श्रुतधर हुए।

जब शय्यम्भव दीक्षित हुए तब उनकी पत्नी गर्भवती थी।[30] ब्राह्मणवर्ग कहने लगा—शय्यम्भव बहुत ही निष्ठुर व्यक्ति है जो अपनी युवती पत्नी का परित्याग कर साधु बन गया।[31] स्त्रियाँ शय्यम्भव की पत्नी से पूछतीं—क्या तुम गर्भवती हो? वह संकोच से 'मणयं' अर्थात् मणाक शब्द का प्रयोग करती। इस छोटे से उत्तर से परिवार वालों को संतोप हुआ। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम माता द्वारा उच्चरित 'मणयं' शब्द के आधार पर 'मनक' रखा गया।[32] वह बहुत ही स्नेह से पुत्र मनक का पालन करने लगी। बालक आठ वर्ष का हुआ, उसने अपनी माँ से पूछा—मेरे पिता का नाम क्या है? उसने सारा वृत्त सुना दिया कि तेरे पिता जैन मुनि बने और वर्तमान में वे जैन संघ के आचार्य हैं। माता की अनुमति लेकर वह चम्पा पहुंचा। आचार्य शय्यम्भव ने अपने ही सदृश मनक की मुख-मुद्रा देखी तो अज्ञात स्नेह बरसाती नदी की तरह उमड़ पड़ा। बालक ने अपना परिचय देते हुए कहा—मेरे पिता शय्यम्भव हैं, क्या आप उन्हें जानते हैं? शय्यम्भव ने अपने पुत्र को पहचान लिया। मनक को आचार्य ने कहा—मैं शय्यम्भव का अभिन्न (एक शरीरभूत) मित्र हूं। आचार्य के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर मनक आठ वर्ष की अवस्था में मुनि बना। आचार्य शय्यम्भव ने बालक मनक की हस्तरेखा देखी। उन्हें लगा—बालक का आयुष्य बहुत ही कम है। इसके लिए सभी शास्त्रों का अध्ययन करना संभव नहीं है।[33]

दशवैकालिक का रचना काल

अपश्चिम दशपूर्वी विशेप परिस्थिति में ही पूर्वों से आगम निर्यूहण का कार्य करते हैं।[34] आचार्य शय्यम्भव चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होंने अल्पायुष्क मुनि मनक के लिए आत्म-प्रवाद से दशवैकालिकसूत्र का

---

२९. तेण य सेज्जंभवेण दारमूले ठिएणं तं वयणं सुअं, ताहे सो विचिंतेइ—एए उवसंता तवस्सिणो असच्चं ण वयंति। —दशवै. हारि. वृत्ति, पत्रांक १०-११

३०. जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था। —दशवै. हारि. वृत्ति, पत्रांक ११ (१)

३१. अहो शय्यम्भवो भट्टो निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुरः।
स्वां प्रियां यौवनवतीं सुशीलामपि योऽत्यजत्॥ ५७॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

३२. मायाए से भणिअ 'मणग' ति तम्हा मणओ से णामं कयंति। —दशवै. हारि. वृत्ति, पत्रांक ११ (२)

३३. एवं च चिन्तयामास शय्यम्भवमहामुनिः।
अत्यल्पायुरयं बालो भावी श्रुतधरः कथम्॥८२॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

३४. अपश्चिमो दशपूर्वी श्रुतसारं समुद्धरेत्।
चतुर्दशपूर्वधरः पुनः केनापि हेतुना॥८३॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

निर्यूहण किया।[३५] छह मास व्यतीत हुए और मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। शय्यम्भव श्रुतधर तो थे पर वीतराग नहीं थे। पुत्रस्नेह उभर आया और उनकी आँखें मनक के मोह से गीली हो गईं। यशोभद्र प्रभृति मुनियों ने खिन्नता का कारण पूछा।[३६] आचार्य ने बताया कि मनक मेरा संसारपक्षी पुत्र था; उसके मोह ने मुझे कुछ विह्वल किया है। यह बात यदि पहले ज्ञात हो जाती तो आचार्यपुत्र समझ कर उससे कोई भी वैय्यावृत्य नहीं करवाता, वह सेवाधर्म के महान् लाभ से वंचित हो जाता। इसीलिए मैंने यह रहस्य प्रकट नहीं किया था। आचार्य शय्यम्भव २८ वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। अतः दशवैकालिक का रचनाकाल वीर-निर्वाण संवत् ७२ के आस-पास है। उस समय आचार्य प्रभवस्वामी विद्यमान थे,[३७] क्योंकि आचार्य प्रभव का स्वर्गवास वीर निर्वाण ७५ में होता है।[३८] डॉ. विन्टरनित्ज ने वीरनिर्वाण के ९८ वर्ष पश्चात् दशवैकालिक का रचनाकाल माना है,[३९] प्रो. एम. वी. पटवर्द्धन का भी यही अभिमत है।[४०] किन्तु जब हम पट्टावलियों का अध्ययन करते हैं तो उनका यह कालनिर्णय सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि आचार्य शय्यम्भव वीरनिर्वाण संवत् ६४ में दीक्षा ग्रहण करते हैं।[४१] उनके द्वारा रचित या निर्यूहण की हुई कृति का रचनाकाल वीरनिर्वाण संवत् ९८ किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि संवत् ६४ में उनकी दीक्षा हुई और उनके आठ वर्ष पश्चात् उनके पुत्र मनक की दीक्षा हुई।* इसलिए वीरनिर्वाण ७२ में दशवैकालिक की रचना होना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ पर जो उन्हें आचार्य लिखा है, वह द्रव्यनिक्षेप की दृष्टि से है।

दशवैकालिक एक निर्यूहण-रचना है

रचना के दो प्रकार हैं—एक स्वतन्त्र और दूसरा निर्यूहण। दशवैकालिक स्वतन्त्र कृति नहीं है अपितु निर्यूहण-कृति है। दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य शय्यम्भव ने विभिन्न पूर्वों से इसका निर्यूहण किया। चतुर्थ अध्ययन आत्म-प्रवाद पूर्व से, पाँचवाँ अध्ययन कर्म-प्रवाद पूर्व से, सातवाँ अध्ययन—सत्य-प्रवाद पूर्व से और अवशेष सभी अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किए गए हैं।[४२]

---

३५. (क) सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्यः शय्यम्भवस्तदा।
दशवैकालिकं नाम श्रुतस्कन्धमुदाहरत् ॥८५॥
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

(ख) दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति, पत्र १२

३६. आणंद-अंसुपायं कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा अ विआलणा संघे ॥
—दशवै. निर्युक्ति ३७१

३७. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३१४

३८. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ ५१

३९. A History of Indian Literature, Vol. II, Page 47, F. N. I

४०. The Dasavaikalika Sutra : A Study, Page 9

४१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, पृष्ठ ३१४

* दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र—११-१२

४२. आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १६-१७

दूसरा मन्तव्य यह है कि दशवैकालिक का निर्यूहण गणिपिटक द्वादशांगी से किया गया है।[४३] यह निर्यूहण किस अध्ययन का किस अंग से किया गया इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है, तथापि मूर्धन्य मनीषियों ने अनुमान किया है कि दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन में विषय-वासना से बचने का उपदेश दिया गया है, उस संदर्भ में रथनेमि और राजीमती का पावन प्रसंग भी बहुत ही संक्षेप में दिया गया है। उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्ययन में यह प्रसंग बहुत ही विस्तार के साथ आया है। दोनों का मूल स्वर एक सदृश है। तृतीय अध्ययन का विषय सूत्रकृताङ्ग १।९ से मिलता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृताङ्ग १।११।७-८ और आचारांग १।१।११; २।१५ से कहीं पर संक्षेप में और कहीं पर विस्तार से लिया गया है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के उत्तरार्द्ध में भगवान् महावीर द्वारा गौतम आदि श्रमणों को उपदिष्ट किए गए पांच महाव्रतों तथा पृथ्वीकाय प्रभृति षड्जीवनिकाय का विश्लेषण है। संभव है इस अध्ययन से चतुर्थ अध्ययन की सामग्री का संकलन किया गया हो। पांचवें अध्ययन का विषय आचारांग के द्वितीय अध्ययन लोकविजय के पांचवें उद्देशक और आठवें, नौवें अध्ययन के दूसरे उद्देशक से मिलता-जुलता है। यह भी संभव है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा है अतः पांचवां अध्ययन उसी से संकलित किया गया हो। छठा अध्ययन समवायाङ्ग के अठारहवें समवाय के 'वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं। परियंक निसिज्जा य, सिणाणं सोभवज्जणं' गाथा का विस्तार से निरूपण है। सातवें अध्ययन का मूलस्रोत आचारांग १।१।६।५ में प्राप्त होता है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन का नाम भाषाजात है, उस अध्ययन में श्रमण द्वारा प्रयोग करने योग्य और न करने योग्य भाषा का विश्लेषण है। संभव है इस आधार से सातवें अध्ययन में विषय-वस्तु की अवतारणा हुई हो। आठवें अध्ययन का कुछ विषय स्थानांग ८।५९८, ६०९, ६१५, आचारांग और सूत्रकृतांग से भी तुलनीय है।[४४] नौवें अध्ययन में विनयसमाधि का निरूपण है। इस अध्ययन की सामग्री उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन की सामग्री से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। संभव है इस अध्ययन का मूल स्रोत उत्तराध्ययन का प्रथम अध्ययन रहा हो। दसवें अध्ययन में भिक्षु के जीवन और उसकी दैनन्दिनी चर्या का चित्रण है, तो उत्तराध्ययन का पन्द्रहवां अध्ययन भी इसी बात पर प्रकाश डालता है। अतः संभव है, यह अध्ययन उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन का ही रूपान्तरण हो, क्योंकि भाव के साथ ही शब्दरचना और छन्दगठन में भी दोनों में प्रायः एकरूपता है।

---

४३. बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ।
एअं किर णिज्जढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए॥ —दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १८

४४. (क) संतिमे तसा पाणा तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया समुच्छिमा उब्भिया ओववाइया।
—आचारांग १।१।१८

तुलना करें—
अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया।
—दशवैकालिक अध्ययन ४, सूत्र ९

(ख) ण मे देंति ण कुप्पेज्जा —आचारांग २।१०२
तुलना करें—
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा —दशवैकालिक ५।२।२८

(ग) सामायिकमाहु तस्स तं जं गिहिमत्तेऽसणं ण भक्खति। —सूत्रकृतांग १।२।२।१८
तुलना करें—
सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए। —दशवैकालिक ३।३

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पहली चूला, १ व ४ अध्ययन से क्रमशः ५ वें और ७ वें अध्ययन की तुलना की जा सकती है। दशवैकालिक के २, ९ व १० वें अध्ययन के विषय की उत्तराध्ययन के १ और १५ वें अध्ययन से तुलना कर सकते हैं।[४५]

दिगम्बर परम्परा में दशवैकालिक का उल्लेख धवला, जयधवला, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थ-श्रुतसायरीया वृत्ति प्रभृति अनेक स्थलों में हुआ है और 'आरातीयैराचार्यैर्नियूं ढं' केवल इतना संकेत प्राप्त होता है।

सर्वार्थसिद्धि में लिखा है—जब कालदोष से आयु, मति और बल न्यून हुए, तब शिष्यों पर अत्यधिक अनुग्रह करके आरातीय आचार्यों ने दशवैकालिक प्रभृति आगमों की रचना की। एक घड़ा क्षीर-समुद्र के जल से भरा हुआ है, उस घड़े में अपना स्वयं का कुछ भी नहीं है। उसमें जो कुछ भी है वह क्षीर-समुद्र का ही है। यही कारण है कि उस घड़े के जल में भी वही मधुरता होती है जो क्षीरसमुद्र के जल में होती है। इसी प्रकार जो आरातीय आचार्य किसी विशिष्ट कारण से पूर्व-साहित्य में से या अंग-साहित्य में से अंग-बाह्य श्रुत की रचना करते हैं, उसमें उन आचार्यों का अपना कुछ भी नहीं होता। वह तो अंगों से ही गृहीत होने के कारण प्रामाणिक माना जाता है।[४६]

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य[४७] में, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार[४८] में दशवै-कालिक को अंग-बाह्य श्रुत लिखा है। वीरसेनाचार्य ने जयधवला[४९] में दशवैकालिक को सातवां अंग-बाह्य श्रुत लिखा है। यापनीय संघ में दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन अच्छी तरह से होता था। यापनीय संघ के सुप्रसिद्ध आचार्य अपराजितसूरि ने भगवती आराधना की विजयोदया वृत्ति में दशवैकालिक की गाथाएं प्रमाण रूप में उद्धृत की हैं।[५०]

यहां पर यह भी स्मरण रखना होगा कि दशवैकालिक सूत्र की जब अत्यधिक लोकप्रियता बढ़ी, तो अनेक श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दशवैकालिक की गाथाओं को उद्धरण के रूप में उट्टङ्कित किया। उदाहरणार्थ आवश्यकनिर्युक्ति[५१], निशीथचूर्णि,[५२] उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति[५३] और उत्तराध्ययन चूर्णि[५४] आदि ग्रन्थों को देखा जा सकता है।

---

४५. दशवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका, पृ. १२

४६. आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। तत्प्रमाण-मर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णव-जलं घटगृहीतमिव। —सर्वार्थसिद्धि १।२०

४७. तत्त्वार्थभाष्य १।२०

४८. दसवेयालं च उत्तरज्झयणं। —गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६७

४९. कषायपाहुड (जयधवला सहित) भाग १, पृ. १३।२५

५०. मूलाराधना, आश्वास ४, श्लो. ३३३, वृत्ति पत्र ६११

५१. देखें—आवश्यकनिर्युक्ति गा. १४१, वृ. पत्र १४९

५२. निशीथचूर्णि—१।७; १।१३; १।१०६; १।१६३, २।१२५, २।२६, २।३५९; २।३६३; ३।४८३, ३।५४७, ४।३१, ४।३२, ४।३३, ४।१४३, ४।१५७; ४।२७२

५३. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति—१।३१, वृत्ति ५९, २।१३।९४, ३।१३।१८६, ५।३११।२५४, १५।२।४१५;

५४. उत्तराध्ययन चूर्णि—१।३४ पृ. ४०, २।४१।८३, ५।१८।१३७

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में दशवैकालिक का उल्लेख व वर्णन होने पर भी पं. नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि आरातीय आचार्य कृत दशवैकालिक आज उपलब्ध नहीं है और जो उपलब्ध है वह प्रमाण रूप नहीं है।[५५] दिगम्बर परम्परा में यह सूत्र कब तक मान्य रहा, इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। हमारी दृष्टि से जब दोनों परम्पराओं में वस्त्रादि को लेकर आग्रह उग्र रूप में हुआ, तब दशवैकालिक में वस्त्र का उल्लेख मुनियों के लिए होने से उसे अमान्य किया होगा।

नामकरण

प्रस्तुत आगम के 'दसवेयालिय'[५६] (दशवैकालिक) और 'दसवेकालिय'[५७] ये दो नाम उपलब्ध होते हैं। यह नाम दस और वैकालिक अथवा कालिक इन दो पदों से निर्मित है। सामान्यतः दस शब्द दस अध्ययनों का सूचक है और वैकालिक का सम्बन्ध रचना निर्यूहण या उपदेश से है। विकाल का अर्थ संध्या है। सामान्य नियम के अनुसार आगम का रचनाकाल पूर्वाह्ण माना जाता है किन्तु आचार्य शय्यम्भव ने मनक की अल्पायु को देखकर अपराह्ण में ही इसकी रचना या निर्यूहण प्रारम्भ किया और उसे विकाल में पूर्ण किया। ऐसी भी मान्यता है कि दस विकालों या संध्याओं में रचना-निर्यूहण या उपदेश किया गया, इस कारण यह आगम 'दशवैकालिक' कहा जाने लगा। स्वाध्याय का काल दिन और रात में प्रथम और अन्तिम प्रहर है। प्रस्तुत आगम विना काल (विकाल) में भी पढ़ा जा सकता है। अतः इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है। अथवा आचार्य शय्यम्भव चतुर्दशपूर्वी थे, उन्होंने काल को लक्ष्य कर इसका निर्माण किया, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है। एक कारण यह भी हो सकता है कि इसका दसवां अध्ययन वैतालिक नाम के वृत्त में रचा हुआ है, अतः इसका नाम दसवेतालियं भी संभव है।[५८]

हम यह लिख चुके हैं कि आचार्य शय्यम्भव ने अपने वालपुत्र मनक के लिए दशवैकालिक का निर्माण किया। मनक ने दशवैकालिक को छह महीने में पढ़ा, श्रुत और चारित्र की सम्यक् आराधना कर वह संसार से समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुआ। आचार्य शय्यम्भव ने संघ से पूछा—अब इस निर्यूढ आगम का क्या किया जाय? संघ ने गहराई से चिन्तन करने के वाद निर्णय किया कि इसे ज्यों का त्यों रखा जाय। यह आगम मनक जैसे अनेक श्रमणों की आराधना का निमित्त वनेगा। इसलिए इसका विच्छेद न किया जाय।[५९] प्रस्तुत निर्णय के पश्चात् दशवैकालिक का जो वर्तमान रूप है उसे अध्ययनक्रम से संकलित किया गया है। महानिशीथ के अभिमतानुसार पांचवें आरे के अन्त में पूर्ण रूप से अंग साहित्य विच्छिन्न हो जायेगा तब दुप्पसह मुनि दशवैकालिक के आधार पर संयम की साधना करेंगे और अपने जीवन को पवित्र वनायेंगे।[६०]

चूलिका के रचयिता कौन ?

दस अध्ययनों और दो चूलिकाओं में यह आगम विभक्त है। चूलिका का अर्थ शिखा या चोटी है। छोटी चूला (चूडा) को चूलिका कहा गया है, यह चूलिका का सामान्य शब्दार्थ है। साहित्यिक दृष्टि से चूलिका

---

५५. जैन साहित्य और इतिहास पृ. ५३, सन् १९४२, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय वम्बई
५६. (क) नन्दीसूत्र ४६ (ख) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६
५७. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १, ७, १२, १४, १५
५८. दशवैकालिक : अगस्त्य सिंह चूर्णि, पुण्यविजय जी म. द्वारा सम्पादित
५९. 'विचारणा संघ' इति शय्यम्भवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा संघे—कालह्रासदोषात् प्रभूतसत्वानामिदमेवोपकारकमतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंभूता स्थापना ।
—दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २८४
६०. महानिशीथ अध्ययन ५ दुःषमाकरक प्रकरण।

का अर्थ मूल शास्त्र का उत्तर भाग है। यही कारण है कि अगस्त्यसिंह स्थविर ने और जिनदासगणी महत्तर ने दशवैकालिक की चूलिका को उसका 'उत्तर-तंत्र' कहा है। तंत्र, सूत्र और ग्रन्थ ये सभी शब्द एकार्थक हैं। जो स्थान आधुनिक युग में ग्रन्थ के परिशिष्ट का है, वही स्थान अतीतकाल में चूलिका का था। निर्युक्तिकार की दृष्टि से मूल सूत्र में अवर्णित अर्थ का और वर्णित अर्थ का स्पष्टीकरण करना चूलिका का प्रयोजन है। आचार्य शीलांक के अनुसार चूलिका का अर्थ अग्र है और अग्र का अर्थ उत्तर भाग है। दस अध्ययन संकलनात्मक हैं, किन्तु चूलिकाओं के सम्बन्ध में मूर्धन्य मनीषियों में दो विचार हैं। कितने ही विज्ञों का यह अभिमत है कि वे आचार्य शय्यम्भवकृत हैं। दस अध्ययनों के निर्यूहण के पश्चात् उन्होंने चूलिकाओं की रचना की। सूत्र और चूलिकाओं की भाषा प्रायः एक सदृश है इसलिए अध्ययन और चूलिकाओं के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। कितने ही विज्ञ इस अभिमत से सहमत नहीं हैं। उनका अभिमत है कि चूलिकाएं अन्य लेखक की रचनाएं हैं जो बाद में दस अध्ययनों के साथ जोड़ दी गईं।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'परिशिष्ट-पर्व' ग्रन्थ में लिखा है कि आचार्य स्थूलभद्र की बहिन साध्वी यक्षा ने अपने अनुज मुनि श्रीयक को पौरुषी, एकाशन और उपवास की प्रबल प्रेरणा दी। श्रीयक ने कहा—बहिन! मैं क्षुधा की दारुण वेदना को सहन नहीं कर पाऊँगा। किन्तु बहिन की भावना को सम्मान देकर उसने उपवास किया पर वह इतना अधिक सुकुमार था कि भूख को सहन न कर सका और दिवंगत हो गया। मुनि श्रीयक का उपवास में मरण होने के कारण साध्वी यक्षा को अत्यधिक हार्दिक दुःख हुआ। यक्षा ने मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिए अपने को दोषी माना। श्रीसंघ ने शासनदेवी की साधना की। देवी की सहायता से यक्षा साध्वी महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी की सेवा में पहुंची। सीमंधर स्वामी ने साध्वी यक्षा को निर्दोष बताया और उसे चार अध्ययन चूलिका के रूप में प्रदान किए। संघ ने दो अध्ययन आचारांग की तीसरी और चौथी चूलिका के रूप में और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक चूलिका के रूप में स्थापित किए।[६१]

दशवैकालिक निर्युक्ति की एक गाथा में इस प्रसंग का उल्लेख मिलता है।[६३] आचार्य हरिभद्र ने दूसरी चूलिका की प्रथम गाथा की व्याख्या में उक्त घटना का संकेत किया है[६४] पर टीकाकर ने निर्युक्ति की गाथा का

---

६१. श्री संघायोपदां प्रेपीन्मन्मुखेन प्रसादभाक्।
श्रीमान्सीमन्धर स्वामी चत्वार्यध्ययनानि च॥
भावना च विमुक्तिश्च रतिकल्पमथापरम्।
तथा विचित्रचर्या च तानि चैतानि नामतः॥
अप्येकया वाचनया मया तानि धृतानि च।
उद्गीतानि च संघाय तत्तथाख्यानपूर्वकम्॥
आचारांगस्य चूले द्वे आद्यमध्ययनद्वयम्।
दशवैकालिकस्यान्यदथ संघेन योजितम्॥ —परिशिष्ट पर्व, ९।९७-१००, पृ. ९०

६३. आओ दो चूलियाओ आणीया जक्खिणीए अज्जाए।
सीमंधरपासाओ भवियाण विबोहणट्ठाए॥ —दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. ४४७

६४. एवं च वृद्धवादः—कयाचिदार्ययाऽसहिष्णुः कुरगडुकप्रायः संयतश्चातुर्मासिकादावुपवासं कारितः, स तदाराधनया मृत एव, ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्ना सा तीर्थंकरं पृच्छामीति गुणावर्जितदेवतया नीता श्रीसीमन्धरस्वामिसमीपं, पृष्टो भगवान्, अदुष्टचित्ताऽघातिकेत्यभिधाय भगवतेमां चूडां ग्राहितेति।
—दशवै. हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २७८-२७९

अनुसरण नहीं किया, इसलिए कितने ही विज्ञ दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथा को मूलनिर्युक्ति की गाथा नहीं मानते।[65] आचारांगचूर्णि में उल्लेख है कि स्थूलभद्र की बहिन साध्वी यक्षा महाविदेह क्षेत्र में भगवान् सीमंधर के दर्शनार्थ गई थीं लौटते समय भगवान् ने उसे भावना और विमुक्ति ये दो अध्ययन प्रदान किए।[66] आवश्यकचूर्णि में भी दो अध्ययनों का वर्णन है। प्रश्न यह है कि आचार्य हेमचन्द्र ने चार अध्ययनों का उल्लेख किस आधार से किया ? आचारांगनिर्युक्ति में इस घटना का किञ्चिन्मात्र भी संकेत नहीं है तथापि आचारांगचूर्णि और आवश्यक चूर्णि में यह घटना किस प्रकार आई, यह शोधार्थियों के लिए अन्वेषणीय है।

ग्रन्थ-परिमाण

दशवैकालिक के दस अध्ययन हैं, उनमें पांचवें अध्ययन के दो और नौवें अध्ययन के चार उद्देशक हैं, शेष अध्ययनों के उद्देशक नहीं हैं। चौथा और नौवां अध्ययंन गद्य-पद्यात्मक है, शेप सभी अध्ययन पद्यात्मक हैं। टीकाकार के अभिमतानुसार दशवैकालिक के पद्यों की संख्या ५०९ है और चूलिकाओं की गाथासंख्या ३४ है। चूर्णिकार ने दशवैकालिक की पद्यसंख्या ५३६ और चूलिकाओं की पद्यसंख्या ३३ बताई है। पुण्यविजय जी महाराज द्वारा संपादित 'दसकालियसुत्त' में दशवैकालिक की गाथाएं ५७५ बताई हैं।[67] मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' ने दशवैकालिक-संक्षिप्तदर्शन में लिखा है 'इसमें पद्यसूत्र गाथायें ५६१ हैं और गद्यसूत्र ४८ हैं।'[68] आचार्य तुलसी ने[69] 'दसवेआलियं' ग्रन्थ की भूमिका में दशवैकालिक की श्लोक-संख्या ५१४ तथा सूत्र संख्या ३१ लिखी है। इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में गाथासंख्या और सूत्रसंख्या में अन्तर है।

धर्म : एक चिन्तन

दशवैकालिक का प्रथम अध्ययन 'द्रुमपुष्पिका' है। धर्म क्या है ? यह चिर-चिन्त्य प्रश्न रहा है। इस प्रश्न पर विश्व के मूर्धन्य मनीषियों ने विविध दृष्टियों से चिन्तन किया है। आचारांग में स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर की आज्ञाओं के पालन में धर्म है।[71] मीमांसादर्शन के अनुसार वेदों की आज्ञा का पालन ही धर्म है।[72] आचार्य मनु ने लिखा है—राग-द्वेष से रहित सज्जन विज्ञों द्वारा जो आचरण किया जाता है और जिस आचरण को हमारी अन्तरात्मा सही समझती है, वह आचरण धर्म है।[73] महाभारत में धर्म की परिभाषा इस प्रकार प्राप्त है—जो प्रजा को धारण करता है अथवा जिससे समस्त प्रजा यानी समाज का संरक्षण होता है, वह धर्म है।[74] आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म को भौतिक और आध्यात्मिक अभ्युदय का साधन

---

६५. दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ५२

६६. सिरिओ पव्वइतो अब्भत्तट्ठेणं कालगतो महाविदेहे य पुच्छिका गता अज्जा दो वि अज्झयणाणि भावणा विमोत्ती य आणिताणि। —आवश्यक चूर्णि, पृ. १८८

६७. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, जैन आगम ग्रन्थमाला ग्रन्थांक १५, पृष्ठ ८१

६८. दशवैकालिकसूत्र मूल, प्रकाशक—आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद १३, पृ. पांच

६९. भूमिका, पृष्ठ २८-२९, प्र. जैन विश्वभारती, लाडनूं

७१. आचारांग, १।६।२।१८१

७२. मीमांसादर्शन, १।१।२

७३. मनुस्मृति, २।१

७४. महाभारत, कर्ण पर्व, ६९।५९

माना है।[७५] आचार्य कार्तिकेय ने वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है,[७६] जिससे स्वभाव में अवस्थिति और विभाव दशा का परित्याग होता है। चूंकि स्व-स्वभाव से ही हमारा परम श्रेय सम्भव है और इस दृष्टि से वही धर्म है। धर्म का लक्षण आत्मा का जो विशुद्ध स्वरूप है और जो आदि-मध्य-अन्त सभी स्थितियों में कल्याणकारी है—वह धर्म है।[७७] वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है—जिससे अभ्युदय और निश्रेयस् की सिद्धि होती है—वह धर्म है।[७८]

इस प्रकार भारतीय मनीषियों ने धर्म की विविध दृष्टियों से व्याख्या की है, तथापि उनकी यह विशेषता रही है कि उन्होंने किसी एकांगी परिभाषा पर ही बल नहीं दिया, किन्तु धर्म के विविध पक्षों को उभारते हुए उनमें समन्वय की अन्वेषणा की है। यही कारण है कि प्रत्येक परम्परा में धर्म की विविध व्याख्याएँ मिलती हैं। दशवैकालिक में धर्म की सटीक परिभाषा दी गई है—अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है। वही धर्म उत्कृष्ट मंगल रूप में परिभाषित किया गया है। वह धर्म विश्व-कल्याणकारक है।[७९] इस प्रकार लोक-मंगल की साधना में व्यक्ति के दायित्व की व्याख्या यहाँ पर की गई है। जिसका मन धर्म में रमा रहता है, उसके चरणों में ऐश्वर्यशाली देव भी नमन करते हैं।

धर्म की परिभाषा के पश्चात् अहिंसक श्रमण को किस प्रकार आहार-ग्रहण करना चाहिए, इसके लिए 'मधुकर' का रूपक देकर यह बताया है कि जैसे मधुकर पुष्पों से रस ग्रहण करता है वैसे ही श्रमणों को गृहस्थों के यहाँ से प्रासुक आहार-जल ग्रहण करना चाहिए। मधुकर फूलों को बिना म्लान किए थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, जिससे उसकी उदरपूर्ति हो जाए। मधुकर दूसरे दिन के लिए संग्रह नहीं करता, वैसे ही श्रमण संयमनिर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो उतना ग्रहण करता है, किन्तु संचय नहीं करता। मधुकर विविध फूलों से रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्रमण विविध स्थानों से भिक्षा लेता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में अहिंसा और उसके प्रयोग का निर्देश किया गया है।

भ्रमर की उपमा जिस प्रकार दशवैकालिक में श्रमण के लिए दी गई है, उसी प्रकार बौद्ध साहित्य में भी यह उपमा प्राप्त है[८०] और वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी इस उपमा का उपयोग हुआ है।[८१]

संयम में श्रम करने वाला साधक श्रमण की अभिधा से अभिहित है। श्रमण का भाव श्रमणत्व या श्रामण्य कहलाता है। बिना धृति के श्रामण्य नहीं होता, धृति पर ही श्रामण्य का भव्य प्रासाद अवलम्बित है। जो धृतिमान् होता है, वही कामराग का निवारण करता है। यदि अन्तर्मानस में कामभावनाएं अंगड़ाइयाँ

---

७५. अमोलकसूक्तिरत्नाकार, पृष्ठ २७

७६. कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा, ४७८

७७. अभिधानराजेन्द्र कोष, खण्ड ४, पृष्ठ २६६९

७८. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। —वैशेषिकदर्शन १।१।२

७९. (क) दशवैकालिक १।१
(ख) योगशास्त्र ४।१००

८०. धम्मपद ४।६

८१. यथामधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्याद् अविहिंसया। —महाभारत, उद्योग पर्व, ३४।१७

ले रही हैं, विकारों के सर्प फन फैलाकर फूत्कारें मार रहे हैं; तो वहाँ श्रमणत्व नहीं रह सकता। रथनेमि की तरह जिसका मन विकारी है और विषयसेवन के लिए ललक रहा है वह केवल द्रव्यसाधु है, भावसाधु नहीं। इस प्रकार के श्रमण भर्त्सना के योग्य हैं। जब रथनेमि भटकते है और भोग की अभ्यर्थना करते हैं तो राजीमती संयम में स्थिर करने हेतु उन्हें धिक्कारती है। काम और श्रामण्य का परस्पर विरोध है, जहाँ काम है, वहाँ श्रामण्य का अभाव है। त्यागी वह कहलाता है—जो स्वेच्छा से भोगों का परित्याग करता है। जो परवशता से भोगों का त्याग करता है, उसमें वैराग्य का अभाव होता है, वहाँ विवशता है, त्याग की उत्कट भावना नहीं। प्रस्तुत अध्ययन में कहा गया है—जीवन वह है जो विकारों से मुक्त हो। यदि विकारों का धुँआ छोड़ते हुए अर्ध-दग्ध कण्डे की तरह जीवन जीया जाए तो उस जीवन से तो मरना ही श्रेयस्कर है। एक क्षण भी जीओ—प्रकाश करते हुए जीओ किन्तु चिरकाल तक धुँआ छोड़ते हुए जीना उचित नहीं। अगन्धन जाति का सर्प प्राण गँवा देना पसन्द करेगा किन्तु परित्यक्त विष को पुनः ग्रहण नहीं करेगा। वैसे ही श्रमण परित्यक्त भोगों को पुनः ग्रहण नहीं करता है। विषवन्त जातक में इसी प्रकार का एक प्रसंग आया है—सर्प आग में प्रविष्ट हो जाता है किन्तु एक बार छोड़े हुए विष को पुनः ग्रहण नहीं करता।[८२] इस अध्ययन में भगवान् अर्हत् अरिष्टनेमि के भ्राता रथनेमि का प्रसंग है जो गुफा में ध्यानमुद्रा में अवस्थित हैं, उसी गुफा में वर्षा से भीगी हुई राजीमती अपने भीगे हुए वस्त्रों को सुखाने लगी, राजीमती के अंग-प्रत्यंगों को निहार कर रथनेमि के भाव कलुषित हो गये। राजीमती ने कामविह्वल रथनेमि को सुभाषित वचनों से संयम में सुस्थिर कर दिया। निर्युक्तिकार का अभिमत है कि द्वितीय अध्ययन की विषय-सामग्री प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय वस्तु से ली गई है।[८३]

आचार और अनाचार

तृतीय अध्ययन में क्षुल्लक आचार का निरूपण है। जिस साधक में धृति का अभाव होता है वह आचार के महत्त्व को नहीं समझता, वह आचार को विस्मृत कर अनाचार की ओर कदम बढ़ाता है। जो आचार, मोक्ष-साधना के लिए उपयोगी है, जिस आचार में अहिंसा का प्राधान्य है, वह सही दृष्टि से आचार है और जिसमें इनका अभाव है वह अनाचार है। आचार के पालन से संयम-साधना में सुस्थिरता आती है। आचार-दर्शन मानव को परम शुभ प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। कौनसा आचरण औचित्यपूर्ण है और कौनसा अनौचित्यपूर्ण है, इसका निर्णय विवेकी साधक अपनी बुद्धि की तराजू पर तौल कर करता है। जो प्रतिषिद्ध कर्म, प्रत्याख्यातव्य कर्म या अनाचीर्ण कर्म हैं, उनका वह परित्याग करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य जो आचरणीय हैं उन्हें वह ग्रहण करता है। आचार, धर्म या कर्त्तव्य है, अनाचार अधर्म या अकर्त्तव्य है। प्रस्तुत अध्ययन में अनाचीर्ण कर्म कहे गये हैं। अनाचीर्णों का निषेध कर आचार या चर्या का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इस अध्ययन का नाम आचारकथा है। दशवैकालिक के छठे अध्ययन में 'महाचार-कथा' का निरूपण है। उस अध्ययन में विस्तार के साथ आचार पर चिन्तन किया गया है तो इस अध्ययन में उस अध्ययन की अपेक्षा संक्षिप्त में आचार का निरूपण है। इसलिए इस अध्ययन का नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' दिया गया है।[८४]

---

८२. धिरत्थु तं विसं वन्तं, यमहं जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वरं॥ —जातक, प्रथम खण्ड, पृ. ४०४

८३. सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥ —निर्युक्ति गाथा १७

८४. एएसि महंताणं पडिवक्खे खुड्डया होंति॥ —निर्युक्ति गाथा १७८

प्रस्तुत अध्ययन में अनाचारों की संख्या का उल्लेख नहीं हुआ है और न अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में और न जिनदासगणी महत्तर ने अपनी चूर्णि में संख्या का निर्देश किया है। समयसुन्दर ने दीपिका में अनाचारों की ५४ संख्या का निर्देश किया है।[८५] यद्यपि अगस्त्यसिंह स्थविर ने संख्या का उल्लेख नहीं किया है तो भी उनके अनुसार अनाचारों की संख्या ५२ है, पर दोनों में अन्तर यह है कि अगस्त्यसिंह ने राजपिण्ड और किमिच्छक को व सैन्धव और लवण को पृथक्-पृथक् न मानकर एक-एक माना है। जिनदासगणी ने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक न मानकर अलग-अलग माना है तथा सैन्धव और लवण को एवं गात्राभ्यंग और विभूषण को एक-एक माना है। दशवैकालिक के टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने तथा सुमति साधु सूरि ने अनाचारों की संख्या ५३ मानी है, उन्होंने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक तथा सैन्धव और लवण को पृथक्-पृथक् माना है। इस प्रकार अनाचारों की संख्या ५४, ५३ और ५२ प्राप्त होती है। संख्या में भेद होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। अनाचारों का निरूपण संक्षेप में भी किया जा सकता है, जैसे सभी सचित्त वस्तुओं का परिहार एक माना जाए तो अनेक अनाचार स्वतः कम हो सकते हैं। जो वातें श्रमणों के लिए वर्ज्य हैं वस्तुतः वे सभी अनाचार हैं। प्रस्तुत अध्ययन में बहुत से अनाचारों का उल्लेख नहीं है किन्तु अन्य आगमों में उन अनाचारों का उल्लेख हुआ है। भले ही वे वातें अनाचार के नाम से उल्लिखित न की गई हों, किन्तु वे वातें जो श्रमण के लिए त्याज्य हैं, अनाचार ही हैं। यहाँ एक बात का ध्यान रखना होगा कि कितने ही नियम उत्सर्गमार्ग में अनाचार हैं, पर अपवादमार्ग में वे अनाचार नहीं रहते, पर जो कार्य पापयुक्त हैं, जिनका हिंसा से साक्षात् सम्बन्ध है, वे कार्य प्रत्येक परिस्थिति में अनाचीर्ण ही हैं। जैसे—सचित्त भोजन, रात्रिभोजन आदि। जो नियम संयम साधना की विशेष विशुद्धि के लिए बनाए हुए हैं, वे नियम अपवाद में अनाचीर्ण नहीं रहते। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से गृहस्थ के घर पर बैठने का निषेध किया गया है। पर श्रमण रुग्ण हो, वृद्ध या तपस्वी हो तो वह विशेष परिस्थिति में बैठ सकता है। उसमें न तो ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न होती है और न अन्य किसी भी प्रकार की विराधना की ही संभावना है। इसलिए वह अनाचार नहीं है।[८६] जो कार्य सौन्दर्य की दृष्टि से शोभा या गौरव की दृष्टि से किए जायें वे अनाचार हैं पर वे कार्य भी रुग्णावस्था आदि विशेष परिस्थिति में किये जायें तो अनाचार नहीं हैं। उदाहरण के रूप में नेत्र-रोग होने पर अंजन आदि का उपयोग। कितने ही अनाचारों के सेवन में प्रत्यक्ष हिंसा है, कितने ही अनाचारों के सेवन से वे हिंसा के निमित्त बनते हैं और कितने ही अनाचारों के सेवन में हिंसा का अनुमोदन होता है, कितने ही कार्य स्वयं में दोषपूर्ण नहीं हैं किन्तु बाद में वे कार्य शिथिलाचार के हेतु बन सकते हैं, अतः उनका निषेध किया गया है। इस प्रकार अनेक हेतु अनाचार के सेवन में रहे हुए हैं।

जैन परम्परा में जो आचारसंहिता है, उसके पीछे अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का दृष्टिकोण प्रधान है। अन्य भारतीय परम्पराओं ने भी न्यूनाधिक रूप से उसे स्वीकार किया है।

स्नान

तथागत बुद्ध ने पन्द्रह दिन से पहले जो भिक्षु स्नान करता है उसे प्रायश्चित्त का अधिकारी माना है। यदि कोई भिक्षु विशेष परिस्थिति में पन्द्रह दिन से पहले नहाता है तो पाचित्तिय है। विशेष परिस्थिति यह

---

८५. सर्वमेतत् पूर्वोक्तचतुःपञ्चाशद्भेदभिन्नमौद्देशिकतादिकं यदनन्तरमुक्तं तत् सर्वमनाचरितं ज्ञातव्यम्।

—दीपिका (दशवैकालिक), पृ. ७

८६. तिण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पइ। जराए अभिभूयस्स, वाहियस्स तवस्सिणो॥

—दशवैकालिक ६।५९

है—ग्रीष्म के पीछे के डेढ़ मास और वर्षा का प्रथम मास, यह ढाई मास और गर्मी का समय, जलन होने का समय, रोग का समय, काम (लीपने-पोतने आदि का समय) रास्ता चलने का समय तथा आंधी-पानी का समय।[८७]

भगवान् महावीर की भांति तथागत बुद्ध की आचारसंहिता कठोर नहीं थी। कठोरता के अभाव में भिक्षु स्वच्छन्दता से नियमों का भंग करने लगे, तब बुद्ध ने स्नान के सम्बन्ध में अनेक नियम बनाये।

एक बार तथागत बुद्ध राजगृह में विचरण कर रहे थे। उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते हुए शरीर को वृक्ष से रगड़ते थे। जंघा, बाहु, छाती और पेट को भी। जब भिक्षुओं को इस प्रकार कार्य करते हुए देखते तो लोग खिन्न होते, धिक्कारते।

तथागत ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ ! नहाते हुए भिक्षु को वृक्ष से शरीर को न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको 'दुष्कृत' की आपत्ति है।'

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते समय खम्भे से शरीर को भी रगड़ते थे। बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ ! नहाते समय भिक्षु को खम्भे से शरीर को न रगड़ना चाहिए, जो रगड़े उसको दुक्कड (दुष्कृत) की आपत्ति है।'[८८]

छाता-जूता

विनय-पिटक में जूते, खड़ाऊ, पादुका प्रभृति विधि-निषेधों के सम्बन्ध में चर्चाएं हैं।[८९] उस समय षड्वर्गीय भिक्षु जूता धारण करते थे। वे जब जूता धारण कर गांव में प्रवेश करते, तो लोग हैरान होते थे। जैसे काम-भोगी गृहस्थ हों। बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ ! जूता पहने गांव में प्रवेश नहीं करना चाहिए। जो प्रवेश करता है, उसे दुक्कड दोष है।[९०]

किसी समय एक भिक्षु रुग्ण हो गया। वह बिना जूता धारण किये गांव में प्रवेश नहीं कर सकता था। उसे देख बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ ! मैं अनुमति देता हूँ बीमार भिक्षु को जूता पहन कर गांव में प्रवेश करने की।[९१] जो भिक्षु पूर्ण निरोग होने पर भी छाता धारण करता है, उसे तथागत बुद्ध ने पाचित्तिय कहा है।[९२]

इस तरह बुद्ध ने छाता और जूते धारण करने के सम्बन्ध में विधि और निषेध दोनों बताये हैं।

दीघनिकाय में तथागत बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए माला, गंध-विलेपन, उबटन तथा सजने-सजाने का निषेध किया है।[९३]

---

८७. विनयपिटक, पृ. २७, अनु. राहुल सांकृत्यायन, प्र. महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
८८. विनयपिटक, पृ. ४१८
८९. विनयपिटक, पृ. २०४-२०८
९०. विनयपिटक, पृ. २११
९१. विनयपिटक पृ. २११
९२. विनयपिटक पृ. ५७
९३. दीघनिकाय पृ. ३

मनुस्मृति,[९४] श्रीमद्भागवत[९५] आदि में ब्रह्मचारी के लिए गंध, माल्य, उवटन, अंजन, जूते और छत्र धारण का निषेध किया है। भागवत में वानप्रस्थ के लिए दातुन करने का भी निषेध है।[९६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं ने श्रमण और संन्यासी के लिए कष्ट सहन करने का विधान एवं शरीर-परिकर्म का निषेध किया गया है। यह सत्य है कि ब्राह्मण परम्परा ने शरीर-शुद्धि पर बल दिया तो जैन परम्परा ने आत्म-शुद्धि पर बल दिया। यहाँ पर यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जो बातें स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मानी हैं उन्हें शास्त्रकार ने अनाचार क्यों कहा है? समाधान है कि श्रमण शरीर से भी आत्म-शुद्धि पर अधिक बल दे। स्वास्थ्यरक्षा से पहले आत्म-रक्षा आवश्यक है "अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विदिएहिं सुसमाहिएहिं" श्रमण सब इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त कर आत्मा की रक्षा करे। शास्त्रकार ने आत्मरक्षा पर अधिक बल दिया है, जबकि चरक और सुश्रुत ने देहरक्षा पर अधिक बल दिया है। उनका यह स्पष्ट मन्तव्य रहा कि नगररक्षक नगर का ध्यान रखता है, गाड़ीवान गाड़ी का ध्यान रखता है, वैसे ही विज्ञ मानव शरीर का पूर्ण ध्यान रखे।[९७]

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए चरक में निम्न नियम आवश्यक बताए हैं—

सौवीरांजन—आंखों में काला सुरमा आंजना।

नस्यकर्म—नाक में तेल डालना।

दन्त-धावन—दतौन करना।

जिह्वानिर्लेखन—जिह्वा के मैल को शलाका से खुरच कर निकालना।

अभ्यंग—तेल का मर्दन करना।

शरीर-परिमार्जन—तौलिए आदि के द्वारा मैल उतारने के लिए शरीर को रगड़ना, स्नान करना, उवटन लगाना।

गन्धमाल्य-निषेवण—चन्दन, केसर, प्रभृति सुगन्धित द्रव्यों का शरीर पर लेप करना, सुगन्धित फूलों की मालाएं धारण करना।

रत्नाभरणधारण—रत्नों से जटित आभूषण धारण करना।

शौचाधान—पैरों को, मलमार्ग (नाक, कान, गुदा, उपस्थ) आदि को प्रतिदिन पुनः पुनः साफ करना।

सम्प्रसाधन—केश आदि को कटवाना तथा बालों में कंघी करना।

---

९४. मनुस्मृति २।१७७-१७९

९५. अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु।
सुगन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः॥ —भागवत ७।१२।१२

९६. केशरोमनखश्मश्रुमलानि विभृयादतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥ —भागवत ११।१८।३

९७. नगरी नगरस्येव, रथस्येव रथी सदा।
स्वशरीरस्य मेधावी, कृत्येष्ववहितो भवेत्॥ —चरकसंहिता, सूत्रस्थान अध्ययन ५।१००

पादत्राणधारण—जूते पहनना।

छत्रधारण—छत्ता धारण करना।

दण्डधारण—दण्ड (छड़ी) धारण करना।

ये सारे नियम यहाँ अधिकांशतः अनाचार में आये हैं अथवा अन्य आगम-साहित्य में श्रमणों के लिए निषिद्ध कहे हैं।[९८] इसका यही कारण है कि श्रमणों के लिए शरीर-रक्षा की अपेक्षा संयम-रक्षा प्रधान है। संयम-रक्षा के लिए इन्द्रिय-समाधि आवश्यक है। स्नान आदि कामाग्नि-सन्दीपक हैं, अतः भगवान् महावीर ने उन सभी को अनाचार की कोटि में परिगणित किया है। अनाचारों का उल्लेख अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए हुआ है।

निर्युक्तिकार की दृष्टि से दशवैकालिक का तृतीय अध्ययन नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु से उद्धृत है।[९९]

महाव्रत : विश्लेषण

चतुर्थ अध्ययन में षट्जीवनिकाय का निरूपण है। आचारनिरूपण के पश्चात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस आदि जीवों का विस्तार से निरूपण है। जैनधर्म में अहिंसा का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण है। विश्व के अन्य विचारकों ने पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि में जहाँ जीव नहीं माने हैं, वहाँ जैन परम्परा में उनमें जीव मानकर उनके विविध भेद-प्रभेदों का भी विस्तार से कथन है। श्रमण साधक विश्व में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं उनकी हिंसा से विरत होता है। श्रमण न स्वयं हिंसा करता है, न हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करता है। श्रमण हिंसा क्यों नहीं करता ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—हिंसा से और दूसरों को नष्ट करने के संकल्प से उस प्राणी को तो पीड़ा पहुँचती ही है साथ ही स्वयं के आत्मगुणों का भी हनन होता है। आत्मा कर्मों से मलिन बनता है। यही कारण है कि प्रश्नव्याकरण में हिंसा का एक नाम गुणविराधिका मिलता है। श्रमण अहिंसा महाव्रत का पालन करता है। इसकी संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत अध्ययन में है। संयमी श्रमण तीन करण और तीन योग से सचित्त पृथ्वी आदि को न स्वयं नष्ट करे और न सचित्त पृथ्वी पर बैठे और न सचित्त धूल से सने हुए आसन का उपयोग करे। वह अचित्त भूमि पर आसन आदि को प्रमार्जित कर बैठे। संयमी श्रमण सचित्त जल का भी उपयोग न करे, किन्तु उष्ण जल या अचित्त जल का उपयोग करे। किसी भी प्रकार की अग्नि को साधु स्पर्श न करे और न अग्नि को सुलगावे और न बुझावे। इसी प्रकार श्रमण हवा भी न करे, दूध आदि को फूंक से ठंडा न करे। श्रमण तृण, वृक्ष, फल, फूल, पत्ते आदि को न तोड़े, न काटे और न उस पर बैठे। श्रमण स्थावर जीवों की तरह त्रस प्राणियों की भी हिंसा मन, वचन और काया से न करे। वह जो भी कार्य करे वह विवेकपूर्वक करे। इतना सावधान रहे कि किसी भी प्रकार की हिंसा न हो। सभी प्रकार के जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है। श्रमण स्व और पर दोनों ही प्रकार की हिंसा से मुक्त होता है। काम, क्रोध, मोह प्रभृति दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा आत्मा के स्वगुणों का घात करना स्वहिंसा है और अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाना पर-हिंसा है। श्रमण स्व और पर दोनों ही प्रकार की हिंसा से विरत होता है।

---

९८. सूत्रकृतांग १।९।१२, १३ से १८, २०, २१, २३, २९

९९. अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ। —निर्युक्ति गाथा १७

श्रमण मन, वचन और काय तथा कृत-कारित-अनुमोदन की नव कोटियों सहित असत्य का परित्याग करता है। जिनदासगणी महत्तर के अभिमतानुसार श्रमण को मन, वचन, काया से सत्य पर आरूढ़ होना चाहिए। यदि मन, वचन और काय में एकरूपता नहीं है तो वह मृषावाद है।[100] जिन शब्दों से दूसरे प्राणियों के अन्तर्हृदय में व्यथा उत्पन्न होती हो, ऐसे हिंसकारी और कठोर शब्द भी श्रमण के लिए वर्ज्य हैं और यहाँ तक कि जिस भाषा से हिंसा की सम्भावना हो, ऐसी भाषा का प्रयोग भी वर्जित है। काम, क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य के वशीभूत होकर—पापकारी, निश्चयकारी, दूसरों के मन को कष्ट देने वाली भाषा, भले ही वह मनोविनोद के लिए ही कही गई हो, श्रमण को नहीं बोलनी चाहिए। इस प्रकार असत्य और अप्रियकारी भाषा का निषेध किया गया है। अहिंसा के बाद सत्य का उल्लेख है। वह इस बात का द्योतक है कि सत्य अहिंसा पर आधृत है। निश्चयकारी भाषा का निषेध इसलिए किया गया है कि वह अहिंसा और अनेकान्त के परीक्षण-प्रस्तर पर खरी नहीं उतरती। सत्य का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे भगवान् की उपमा से अलंकृत किया गया है, और उसे सम्पूर्ण लोक का सारतत्त्व कहा है।[101]

अस्तेय श्रमण का तृतीय महाव्रत है। श्रमण बिना स्वामी की आज्ञा के एक तिनका भी ग्रहण नहीं करता।[102] जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुओं को तब ही ग्रहण करता है जब उसके स्वामी के द्वारा वस्तु प्रदान की जाए। अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना श्रमण का महाव्रत है। वह मन, वचन, काय और कृत-कारित-अनुमोदन की नवकोटियों सहित अस्तेय महाव्रत का पालन करता है। चौर्यकर्म एक प्रकार से हिंसा ही है। अदत्तादान अनेक दुर्गुणों का जनक है। वह अपयश का कारण और अनार्य कर्म है, इसलिए श्रमण इस महाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करता है।

चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के पालन से मानव का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और सुस्थिर होता है। ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर अन्य सभी नियमों और उपनियमों का भी नाश हो जाता है।[103] अब्रह्मचर्य आसक्ति और मोह का कारण है, जिससे आत्मा का पतन होता है। वह आत्म-विकास में बाधक है, इसीलिए श्रमण को सभी प्रकार के अब्रह्म से मुक्त होने का संदेश दिया गया है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की सावधानी बहुत आवश्यक है। जरा सी असावधानी से साधक साधना से च्युत हो सकता है। ब्रह्मचर्य पालन का जहाँ अत्यधिक महत्त्व बताया गया है वहाँ उसकी सुरक्षा के लिए कठोर नियमों का भी विधान है। ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है।

अपरिग्रह पांचवां महाव्रत है। श्रमण बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है। परिग्रह चाहे अल्प हो या अधिक हो, सचित्त हो या अचित्त हो, वह सभी का त्याग करता है। वह मन, वचन और काया से न परिग्रह रखता है और रखवाता है और न रखने वाले का अनुमोदन करता है। परिग्रह की वृत्ति आन्तरिक लोभ की प्रतीक है। इसीलिए मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहा है। श्रमण को जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से कुछ धर्मोपकरण रखने पड़ते हैं, जैसे वस्त्र, पात्र, कम्बल रजोहरण आदि।[104] श्रमण

---

१००. निशीथचूर्णि ३९८८
१०१. प्रश्नव्याकरण सूत्र २।२
१०२. दशवैकालिक ६।१४
१०३. प्रश्नव्याकरण ९
१०४. आचारांग १।२।५।९०

वे ही वस्तुएं अपने पास में रखे जिनके द्वारा संयमसाधना में सहायता मिले। श्रमणों को उन उपकरणों पर ममत्व नहीं रखना चाहिये, क्योंकि ममत्व साधना की प्रगति के लिए बाधक है। आचारांग[१०५] के अनुसार जो पूर्ण स्वस्थ श्रमण है, वह एक वस्त्र से अधिक न रखे। श्रमणियों के लिए चार वस्त्र रखने का विधान है पर श्रमण के वस्त्रों के नाप के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु श्रमणियों के लिए जो चार वस्त्र का उल्लेख है उनमें एक दो हाथ का, दो तीन हाथ के और एक चार हाथ का होना चाहिए। प्रश्नव्याकरणसूत्र में श्रमणों के लिए चौदह प्रकार के उपकरणों का विधान है—१. पात्र—जो कि लकड़ी, मिट्टी अथवा तुम्बी का हो सकता है, २. पात्रबन्ध—पात्रों को बांधने का कपड़ा, ३. पात्रस्थापना—पात्र रखने का कपड़ा, ४. पात्र-केसरिका—पात्र पोंछने का कपड़ा, ५. पटल—पात्र ढंकने का कपड़ा, ६. रजस्त्राण, ७. गोच्छक, ८ से १०. प्रच्छादक—ओढ़ने की चादर, श्रमण विभिन्न नापों की तीन चादरें रख सकता है इसलिए ये तीन उपकरण माने गये हैं, ११. रजोहरण, १२. मुखवस्त्रिका, १३. मात्रक और १४. चोलपट्ट।[१०६] ये चौदह प्रकार की वस्तुएं श्रमणों के लिए आवश्यक मानी गई हैं। बृहत्कल्पभाष्य[१०७] आदि में अन्य वस्तुएं रखने का भी विधान मिलता है, पर विस्तार भय से हम यहां उन सब की चर्चा नहीं कर रहे हैं। अहिंसा और संयम की वृद्धि के लिए ये उपकरण है, न कि सुख-सुविधा के लिए।

पांच महाव्रतों के साथ छठा व्रत रात्रिभोजन-परित्याग है। श्रमण सम्पूर्ण रूप से रात्रिभोजन का परित्याग करता है। अहिंसा महाव्रत के लिए व संयमसाधना के लिए रात्रिभोजन का निषेध किया गया है। सूर्य अस्त हो जाने के पश्चात् श्रमण आहार आदि करने की इच्छा मन में भी न करे। रात्रिभोजन-परित्याग को नित्य तप कहा है। रात्रि में आहार करने से अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा की संभावना होती है। रात्रिभोजन करने वाला उन सूक्ष्म और त्रस जीवों की हिंसा से अपने आप को बचा नहीं सकता। इसलिए निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए रात्रिभोजन का निषेध किया गया है।

महाव्रत और यम

ये श्रमण के मूल व्रत हैं। अष्टांग योग में महाव्रतों को यम कहा गया है। आचार्य पतञ्जलि के अनुसार महाव्रत जाति, देश, काल आदि की सीमाओं से मुक्त एक सार्वभौम साधना है।[१०८] महाव्रतों का पालन सभी के द्वारा निरपेक्ष रूप से किया जा सकता है। वैदिक परम्परा की दृष्टि से संन्यासी को महाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करना चाहिए, उसके लिए हिंसाकार्य निषिद्ध हैं।[१०९] असत्य भाषण और कटु भाषण भी वर्ज्य है।[११०] ब्रह्मचर्य महाव्रत का भी संन्यासी को पूर्णरूप से पालन करना चाहिए। संन्यासी के लिए जल-पात्र, जल छानने का वस्त्र, पादुका, आसन आदि कुछ आवश्यक वस्तुएं रखने का विधान है।[१११] धातुपात्र

---

१०५ आचारांग २।५।१४१ ; २।६।१।१५२

१०६ प्रश्नव्याकरणसूत्र १०

१०७ (क) बृहत्कल्पभाष्य, खण्ड ३, २८८३-९२

(ख) हिस्ट्री ऑफ जैन मोनाशिज्म, पृ. २६९-२७७

१०८ जाति-देश-काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। —योगदर्शन २।३१

१०९ महाभारत, शान्ति पर्व ९।१९

११० मनुस्मृति ६।४७-४८

१११ देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, पाण्डुरंग वामन काणे, भाग १, पृ. ४१३

का प्रयोग संन्यासी के लिए निषिद्ध है। आचार्य मनु ने लिखा है—संन्यासी जलपात्र या भिक्षापात्र मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी या बिना छिद्र वाला बांस का पात्र रख सकता है।[112] यह सत्य है कि जैन परम्परा में जितना अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण है उतना सूक्ष्म विश्लेषण वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में नहीं हुआ है। वैदिक ऋषियों ने जल, अग्नि, वायु आदि में जीव नहीं माना है। यही कारण है जलस्नान को वहाँ अधिक महत्त्व दिया है। पंचाग्नि तपने को धर्म माना है, कन्द-मूल के आहार को ऋषियों के लिए श्रेष्ठ आहार स्वीकार किया है। तथापि हिंसा से बचने का उपदेश तो दिया ही गया है। वैदिक ऋषियों ने सत्य बोलने पर बल दिया है। अप्रिय सत्य भी वर्ज्य है। वही सत्य बोलना अधिक श्रेयस्कर है जिससे सभी प्राणियों का हित हो। इसी तरह अन्य व्रतों की तुलना महाव्रतों के साथ वैदिक परम्परा की दृष्टि से की जा सकती है।

महाव्रत और दस शील

जिस प्रकार जैन परम्परा में महाव्रतों का निरूपण है, वैसा महाव्रतों के नाम से वर्णन बौद्ध परम्परा में नहीं है। विनयपिटक महावग्ग में बौद्ध भिक्षुओं के दस शील का विधान है जो महाव्रतों के साथ मिलते-जुलते हैं। वे दस शील इस प्रकार हैं— १. प्राणातिपातविरमण, २. अदत्तादानविरमण ३. कामेसु-मिच्छाचारविरमण, ४. मूसावाद (मृषावाद)-विरमण, ५. सुरा मेरय मद्य (मादक द्रव्य)-विरमण, ६. विकाल भोजनविरमण, ७. नृत्य-गीत-वादित्रविरमण, ८. माल्य धारण, गन्ध विलेपन विरमण, ९. उच्चशय्या, महाशय्या-विरमण, १०. जातरूप-रजतग्रहण (स्वर्ण-रजतग्रहण)-विरमण।[113] महाव्रत और शील में भावों की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है। सुत्तनिपात[114] के अनुसार भिक्षु के लिए मन-वचन-काय और कृत, कारित तथा अनुमोदित हिंसा का निषेध किया गया है। विनयपिटक[115] के विधानानुसार भिक्षु के लिए वनस्पति तोड़ना, भूमि को खोदना निषिद्ध है क्योंकि उससे हिंसा होने की संभावना है। बौद्ध परम्परा ने पृथ्वी, पानी आदि में जीव की कल्पना तो की है पर भिक्षु आदि के लिए सचित्त जल आदि का निषेध नहीं है, केवल जल छानकर पीने का विधान है। जैन श्रमण की तरह बौद्ध भिक्षुक भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षावृत्ति के द्वारा करता है। विनयपिटक में कहा गया है—जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु को लेता है वह श्रमणधर्म से च्युत हो जाता है।[116] संयुक्तनिकाय में लिखा है यदि भिक्षुक फूल को सूंघता है तो भी वह चोरी करता है।[117] बौद्ध भिक्षुक के लिए स्त्री का स्पर्श भी वर्ज्य माना है।[118] आनन्द ने तथागत बुद्ध से प्रश्न किया—भदन्त! हम किस प्रकार स्त्रियों के साथ वर्ताव करें? तथागत ने कहा—उन्हें मत देखो। आनन्द ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की—यदि वे दिखाई दे जाएं तो हम उनके साथ कैसा व्यवहार करें? तथागत ने कहा—उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिए। आनन्द ने कहा—भदन्त! यदि वार्तालाप का प्रसंग उपस्थित हो जाय तो क्या करना चाहिए? बुद्ध ने कहा—उस

---

११२ मनुस्मृति ६।५३-५४
११३ विनयपिटक महावग्ग १।५६
११४ सुत्तनिपात ३७।२७
११५ विनयपिटक, महावग्ग १।७८।२
११६ विनयपिटक, पातिमोक्ख पराजिक धम्म, २
११७ संयुक्त निकाय ९।१४
११८ विनयपिटक, पातिभोक्ख संघादि सेस धम्म, २

समय भिक्षु को अपनी स्मृति को संभाले रखना चाहिए।[119] भिक्षु का एकान्त स्थान में भिक्षुणी के साथ बैठना भी अपराध माना गया है।[120] बौद्ध भिक्षु के लिए विधान है कि वह स्वयं असत्य न बोले, अन्य किसी से असत्य न बुलवावे और न किसीको असत्य बोलने की अनुमति दे।[121] बौद्ध भिक्षु सत्यवादी होता है, वह न किसी की चुगली करता है और न कपटपूर्ण वचन ही बोलता है।[122] बौद्ध भिक्षु के लिए विधान है—जो वचन सत्य हो, हितकारी हो, उसे बोलना चाहिए।[123] जो भिक्षु जानकर असत्य वचन बोलता है, अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता है तो वह प्रायश्चित्त योग्य दोष माना है।[124] गृहस्थोचित भाषा बोलना भी बौद्ध भिक्षु के लिए वर्ज्य है।[125] बौद्ध भिक्षु के लिए परिग्रह रखना वर्जित माना गया है। भिक्षु को स्वर्ण, रजत आदि धातुओं को ग्रहण नहीं करना चाहिए।[126] जीवनयापन के लिए जितने वस्त्र-पात्र अपेक्षित हैं, उनसे अधिक नहीं रखना चाहिए। यदि वह आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो दोषी है। बौद्ध भिक्षु के लिए तीन चीवर, भिक्षापात्र, पानी छानने के लिए छन्ने से युक्त पात्र आदि सीमित वस्तुएं रख सकता है।[127] यहां तक कि भिक्षु के पास जो सामग्री है उसका अधिकारी संघ है। वह उन वस्तुओं का उपयोग कर सकता है पर उसका स्वामी नहीं है। शेष जो चार शील हैं—मद्यपान, विकाल भोजन, नृत्यगीत; उच्चशय्यावर्जन आदि का महाव्रत के रूप में उल्लेख नहीं है पर ये श्रमणों के लिए वर्ज्य है।

इन भिक्षुशील और महाव्रतों में समन्वय की दृष्टि से देखा जाय तो बहुत कुछ समानता है, तथापि जैन श्रमणों की आचारसंहिता में और बौद्ध परम्परा की आचारसंहिता में अन्तर है। बौद्ध परम्परा ने भी दस भिक्षुशीलों के लिए मन-वचन-काया तथा कृत, कारित, अनुमोदित की नव कोटियों का विधान है पर वहाँ औद्देशिक हिंसा से बचने का विधान नहीं है। जैन श्रमण के लिए यह विधान है कि यदि कोई गृहस्थ साधु के निमित्त हिंसा करता है और यदि श्रमण को यह ज्ञात हो जाय तो वह आहार आदि ग्रहण नहीं करता। जैन श्रमण के निमित्त भिक्षा तैयार की हुई हो या आमंत्रण दिया गया हो तो वह किसी भी प्रकार का आमंत्रण स्वीकार नहीं करता। बुद्ध, अपने लिए प्राणीवध कर जो मांस तैयार किया होता उसे निषिद्ध मानते थे पर सामान्य भोजन के सम्बन्ध में, चाहे वह भोजन औद्देशिक हो, वे स्वीकार करते थे। वे भोजन आदि के लिए दिया गया आमंत्रण भी स्वीकार करते थे। इसका मूल कारण है अग्नि, पानी आदि में बौद्ध परम्परा ने जैन परम्परा की तरह जीव नहीं माने है। इसलिए सामान्य भोजन में औद्देशिक दृष्टि से होने वाली हिंसा की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। बौद्ध परम्परा में दस शीलों का विधान होने पर भी उन शीलों के पालन में बौद्ध भिक्षु

---

११९ दिघनिकाय २।३

१०१ विनयपिटक, पातिमोक्ख पाचितिय धम्म, ३०

१२१ सुत्तनिपात, २६।२२

१२२ सुत्तनिपात ५३।७;९

१२३ मज्झिमनिकाय, अभयराजसुत्त

१२४ विनयपिटक, पातिमोक्ख पाचितिय धम्म १-२

१२५ संयुत्तनिकाय ४२।१

१२६ विनयपिटक, महावग्ग १।५६; चूल्लवग्ग १२।१; पातिमोक्ख-निसग्ग पाचितिय १८

१२७ बुद्धिज्म इट्स कनेक्शन विथ ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूज्म, पृ. ८१—८२

—मोनियर विलीयम्स चौखम्बा, वाराणसी १९६४ ई.

और भिक्षुणियां उतनी सजग नहीं रहीं जितनी जैन परम्परा के श्रमण और श्रमणियां सजग रहीं। आज भी जैन श्रमण-श्रमणियों के द्वारा महाव्रतों का पालन जागरूकता के साथ किया जाता है जबकि बौद्ध और वैदिक परम्परा उनके प्रति बहुत ही उपेक्षाशील हो गई है। नियमों के पालन की शिथिलता ने ही तथागत बुद्ध के बाद बौद्ध भिक्षु संघ में विकृतियां पैदा कर दीं।

महाव्रतों के वर्णन के पश्चात् प्रस्तुत अध्ययन में विवेक-युक्त प्रवृत्ति पर बल दिया है। जिस कार्य में विवेक का आलोक जगमगा रहा है, वह कार्य कर्मबन्धन का कारण नहीं और जिस कार्य में विवेक का अभाव है, उस कार्य से कर्मबन्धन होता है। जैसे प्राचीन युग में योद्धागण रणक्षेत्र में जब जाते थे तब शरीर पर कवच धारण कर लेते थे। कवच धारण करने से शरीर पर तीक्ष्ण बाणों का कोई असर नहीं होता, कवच से टकराकर बाण नीचे गिर जाते, वैसे ही विवेक के कवच को धारण कर साधक जीवन के क्षेत्र में प्रवृत्ति करता है। उस पर कर्मबन्धन के बाण नहीं लगते। विवेकी साधक सभी जीवों के प्रति समभाव रखता है, उसमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भव्य भावना अंगडाइयां लेती है। इसलिए वह किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से पीड़ा नहीं पहुंचाता। इस अध्ययन में इस बात पर भी बल दिया गया है कि पहले ज्ञान है, उसके पश्चात् चारित्र है। ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं होता। पहले जीवों का ज्ञान होना चाहिए, जिसे षड्जीवनिकाय का परिज्ञान है, वही जीवों के प्रति दया रख सकेगा। जिसे यह परिज्ञान ही नहीं है—जीव क्या है, अजीव क्या है, वह जीवों की रक्षा किस प्रकार कर सकेगा? इसीलिए मुक्ति का आरोहक्रम जानने के लिए इस अध्ययन में बहुत ही उपयोगी सामग्री दी गई है। जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्मप्रज्ञप्ति, चरित्रधर्म, चरण और धर्म ये छहों षड्जीवनिकाय के पर्यायवाची हैं।[128] निर्युक्तिकार भद्रबाहु के अभिमतानुसार यह अध्ययन आत्मप्रवादपूर्व से उद्धृत है।[129]

एषणा: विश्लेषण

पांचवें अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। पिण्ड शब्द 'पिंडी संघाते' धातु से निर्मित है। चाहे सजातीय पदार्थ हो या विजातीय, उस ठोस पदार्थ का एक स्थान पर इकट्ठा हो जाना पिण्ड कहलाता है। पिण्ड शब्द तरल और ठोस दोनों के लिए व्यवहृत हुआ है। आचारांग में पानी की एषणा के लिए पिण्डैषणा शब्द का प्रयोग हुआ है।[130] संक्षेप में यदि कहा जाय तो अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, इन सभी की एषणा के लिए पिण्डैषणा शब्द का व्यवहार हुआ है।[131] दोषरहित शुद्ध व प्रासुक आहार आदि की एषणा करने का नाम पिण्डैषणा है। पिण्डैषणा का विवेचन आचारचूला में विस्तार से हुआ है। उसी का संक्षेप में निरूपण इस अध्ययन में है। स्थानांगसूत्र में पिण्डैषणा के सात प्रकार बताए हैं—१. संसृष्टा—देय वस्तु से लिप्त हाथ या कडछी आदि से देने पर भिक्षा ग्रहण करना, २. असंसृष्ट—देय वस्तु से अलिप्त हाथ या कडछी आदि से भिक्षा देने पर ग्रहण करना, ३. उद्धृता—अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार ग्रहण करना, ४. अल्पलेपा—अल्पलेप वाली यानी चना, बादाम, पिस्ते, द्राक्षा आदि रूखी वस्तुएं लेना, ५. अवगृहीता—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना, ६. प्रगृहीता—परोसने के लिए कडछी या

---

१२८ जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे अ एगट्ठा॥ —दशवैकालिक निर्युक्ति ४।२३३

१२९ आयप्पवायपुव्वा निव्वूढा होइ धम्मपन्नत्ती॥ —दशवैकालिक नि० १।१६

१३० आचारांग

१३१ पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ६।

चम्मच आदि से निकाला हुआ आहार लेना या खाने वाले व्यक्ति के द्वारा अपने हाथ से कवल उठाया गया हो पर खाया न गया हो, उसे ग्रहण करना, ७. उज्भितधर्मा—जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य है, उसे लेना।[१३२]

भिक्षा : ग्रहणविधि—प्रस्तुत अध्ययन में बताया है कि श्रमण आहार के लिए जाए तो गृहस्थ के घर में प्रवेश करके शुद्ध आहार की गवेषणा करे। वह यह जानने का प्रयास करे कि यह आहार शुद्ध और निर्दोष है या नहीं ?[१३३] इस आहार को लेने से पश्चात्कर्म आदि दोष तो नहीं लगेंगे ? यदि आहार अतिथि आदि के लिए बनाया गया हो तो उसे लेने पर गृहस्थ को दोबारा तैयार करना पड़ेगा या गृहस्थ को ऐसा अनुभव होगा कि मेहमान के लिए भोजन बनाया और मुनि बीच में ही आ टपके। उनके मन में नफरत की भावना हो सकती है, अतः वह आहार भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। किसी गर्भवती महिला के लिए बनाया गया हो—वह खा रही हो और उसको अन्तराय लगे वह आहार भी श्रमण ग्रहण न करे।[१३४] गरीब और भिखारियों के लिए तैयार किया हुआ आहार भिक्षु के लिए अकल्पनीय है।[१३५] दो साझीदारों का आहार हो और दोनों की पूर्ण सहमति न हो तो वह आहार भी भिक्षु ग्रहण न करे।[१३६] इस तरह भिक्षु प्राप्त आहार की आगम के अनुसार एषणा करे। वह भिक्षा न मिलने पर निराश नहीं होता। वह यह नहीं सोचता कि यह कैसा गांव है, जहाँ भिक्षा भी उपलब्ध नहीं हो रही है ! प्रत्युत वह सोचता है कि अच्छा हुआ, आज मुझे तपस्या का सुनहरा अवसर अनायास प्राप्त हो गया। भगवान् महावीर ने कहा है कि श्रमण को ऐसी भिक्षा लेनी चाहिए जो नवकोटि परिशुद्ध हो अर्थात् पूर्ण रूप से अहिंसक हो। भिक्षु भोजन के लिए न स्वयं जीव-हिंसा करे और न करवाए तथा न हिंसा करते हुए का अनुमोदन करे। न वह स्वयं अन्न पकाए, न पकवाए और न पकाते हुए का अनुमोदन करे तथा न स्वयं मोल ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे।[१३७]

श्रमण को जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह भिक्षा से ही प्राप्त होता है। इसीलिए कहा है—"सव्वं से जाइयं होई णत्थि किंचि अजाइयं।"[१३८] भिक्षु को सभी कुछ मांगने से मिलता है, उसके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो अयाचित हो। याचना परीषह है। क्योंकि दूसरों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है, अहिंसा के पालक श्रमण को वैसा करना पड़ता है किन्तु उसकी भिक्षा पूर्ण निर्दोष होती है। वह भिक्षा के दोषों को टालता है। आगम में भिक्षा के निम्न दोष बताये हैं—उद्गम और उत्पादना के सोलह-सोलह और एषणा के दस, ये सभी मिलाकर बयालीस दोष होते हैं। पांच दोष परिभोगैषणा के हैं। जो दोष गृहस्थ के द्वारा लगते हैं, वे दोष उद्गम दोष कहलाते हैं, ये दोष आहार की उत्पत्ति संबंधी हैं। साधु के द्वारा लगने वाले दोष उत्पादना के दोष कहलाते हैं। आहार की याचना करते समय ये दोष लगते हैं। साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा जो

---

१३२ (क) आयारचूला १।१४१-१४७ (ख) स्थानांग ७।५४५ वृत्ति, पत्र ३८६
(ग) प्रवचनसारोद्धार गाथा ७३९-७४३

१३३. दशवैकालिक ५।१।२७; ५।१।५६

१३४. वही ५।१।२५

१३५. वही ५।१।३९

१३६. वही ५।१।४७

१३७. णवकोडि परिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते............। —स्थानांग ९।३

१३८. उत्तराध्ययन २।२८

दोष लगते हैं, वे एषणा के दोष कहलाते हैं। ये दोष विधिपूर्वक आहार न लेने और विधिपूर्वक आहार न देने तथा शुद्धाशुद्ध की छानवीन न करने से उत्पन्न होते हैं। भोजन करते समय भोजन की सराहना और निन्दा आदि करने से जो दोष पैदा होते हैं वे परिभोगैपणा दोष कहलाते हैं। आगमसाहित्य में ये सैंतालीस दोष यत्र-तत्र वर्णित हैं, जैसे—स्थानांग के नौवें स्थान में आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवतरक, पूतिकर्म, कृतकृत्य, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत ये दोष बताएं हैं।[१३९] निशीथसूत्र में धातृपिण्ड, दूतीपिण्ड, निमित्तपिण्ड, आजीवपिण्ड, वनीपकपिण्ड, चिकित्सापिण्ड, कोपपिण्ड, मानपिण्ड, मायापिण्ड, लोभपिण्ड, विद्यापिण्ड, मंत्रपिण्ड, चूर्णपिण्ड, योगपिण्ड और पूर्व-पश्चात्-संस्तव ये बतलाये हैं।[१४०] आचार-चूला में परिवर्त का उल्लेख है।[१४१] भगवती में अंगार, धूम, संयोजना, प्राभृतिका और प्रमाणातिरेक दोष मिलते हैं।[१४२] प्रश्नव्याकरण में मूल कर्म का उल्लेख है। दशवैकालिक में उद्भिन्न, मालापहृत, अध्यवतर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित ये दोष आए हैं।[१४३] उत्तराध्ययन में कारणातिक्रान्त दोष का उल्लेख है।[१४४]

श्रमणाचार : एक अध्ययन

छठे अध्ययन में महाचारकथा का निरूपण है। तृतीय अध्ययन में क्षुल्लक आचारकथा का वर्णन था। उस अध्ययन की अपेक्षा यह अध्ययन विस्तृत होने से महाचारकथा है। तृतीय अध्ययन में अनाचारों की एक सूची दी गई है किन्तु इस अध्ययन में विविध दृष्टियों से अनाचारों पर चिन्तन किया गया है। तृतीय अध्ययन की रचना श्रमणों को अनाचारों से बचाने के लिए संकेतसूची के रूप में की गई है, तो इस अध्ययन में साधक के अन्तर्मानस में उद्बुद्ध हुए विविध प्रश्नों के समाधान हेतु दोषों से बचने का निर्देश है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि तृतीय अध्ययन में अनाचारों का सामान्य निरूपण है तो इस अध्ययन में विशेष निरूपण है। यत्र-तत्र उत्सर्ग और अपवाद की भी चर्चा की गई है। उत्सर्ग में जो बातें निषिद्ध कही गई हैं, अपवाद में वे परिस्थितिवश ग्रहण भी की जाती हैं। इस प्रकार इस अध्ययन में सहेतुक निरूपण हुआ है।

आध्यात्मिक साधना की परिपूर्णता के लिए श्रद्धा और ज्ञान, ये दोनों पर्याप्त नहीं हैं किन्तु उसके लिए आचरण भी आवश्यक है। बिना सम्यक् आचरण के आध्यात्मिक परिपूर्णता नहीं आती। सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन का अर्थ श्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान अर्थ-तत्त्व का साक्षात्कार है। श्रद्धा और ज्ञान की परिपूर्णता जैन दृष्टि से तेरहवें गुणस्थान में हो जाती है किन्तु सम्यक्चारित्र की पूर्णता न होने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। चौदहवें गुणस्थान में सम्यक्चारित्र की पूर्णता होती है तो उसी क्षण आत्मा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में उठाया गया कदम, अन्तिम चरण है। सम्यग्दर्शन परिकल्पना है, सम्यग्ज्ञान प्रयोग विधि है और सम्यक्चारित्र

---

१३९. स्थानांग ९।६२
१४०. निशीथ, उद्देशक १२
१४१. आचारचूला १।२१
१४२. भगवती ७।१
१४३. दशवैकालिक, अध्ययन ५
१४४. उत्तराध्ययन २६।३३

प्रयोग है। तीनों के संयोग से सत्य का पूर्ण साक्षात्कार होता है। ज्ञान का सार आचरण है और आचरण का सार निर्वाण या परमार्थ की उपलब्धि है।

छठे अध्ययन का अपर नाम 'धर्मार्थकाम' मिलता है। मूर्धन्य मनीषियों की कल्पना है कि इस अध्ययन की चौथी गाथा में 'हुंदि धमत्थकामाणं' शब्द का प्रयोग हुआ है, इस कारण इस अध्ययन का नाम धर्मार्थकाम हो गया है। यहाँ पर धर्म से अभिप्राय मोक्ष है। श्रमण मोक्ष की कामना करता है। इसलिए श्रमण का विशेषण धर्मार्थकाम है। श्रमण का आचार-गोचर अत्यधिक कठोर होता है। उस कठोर आचार का प्रतिपादन प्रस्तुत अध्ययन में हुआ है, इसलिए संभव है इसी कारण इस अध्ययन का नाम धर्मार्थकाम रखा हो।[१४५]

इस अध्ययन में स्पष्ट शब्दों में लिखा है, जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उन्हें मुनि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते और उनका उपयोग करते हैं। सब जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। मूर्च्छा परिग्रह है, ऐसा महर्षि ने कहा। श्रमणों के वस्त्रों के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ रही हैं—दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से श्रमण वस्त्र धारण नहीं कर सकता तो श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से श्रमण वस्त्र को धारण कर सकता है। आचारचूला में श्रमण को एक वस्त्र सहित, दो वस्त्र सहित आदि कहा है।[१४६] उत्तराध्ययन में श्रमण की सचेल और अचेल इन दोनों अवस्थाओं का वर्णन है।[१४७] आचारांग में जिनकल्पी श्रमणों के लिए शीतऋतु व्यतीत हो जाने पर अचेल रहने का भी विधान है।[१४८] प्रशमरतिप्रकरण में आचार्य उमास्वाति ने धर्म-देहरक्षा के निमित्त अनुज्ञात पिण्ड, शैया आदि के साथ वस्त्रैषणा का भी उल्लेख किया है।[१४९] उन्होंने उसी ग्रन्थ में श्रमणों के लिए कौनसी वस्तु कल्पनीय है और कौनसी वस्तु अकल्पनीय है, इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए वस्त्र का उल्लेख किया है।[१५०] तत्त्वार्थभाष्य में एषणासमिति के प्रसंग में वस्त्र का उल्लेख किया है।[१५१] इस प्रकार श्वेताम्बरसाहित्य में अनेक स्थलों पर वस्त्र का विधान श्रमणों के लिए प्राप्त है। आगमसाहित्य में सचेलता और अचेलता दोनों प्रकार के विधान मिलते हैं। अब प्रश्न यह है—श्रमण निर्ग्रन्थ अपरिग्रही होता है तो फिर वह वस्त्र किस प्रकार रख सकता है? भंडोपकरण को भी परिग्रह माना गया है[१५२] पर आचार्य शय्यम्भव ने कहा—"जो आवश्यक वस्त्र-पात्र संयम साधना के

---

१४५. धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिवं अणावाहं।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मत्थकाम त्ति ॥ —दशवैकालिक नि. २६५

१४६. जे निग्गंथे तरुणे जुगवं वलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारिज्जा नो वीयं।—आयार-चूला ५।२

१४७. एगयाऽचेलए होई, सचेले आवि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥ —उत्तराध्ययन २।१३

१४८. उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले। —आचारांग ८।५०-५३

१४९. पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत्।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥ —प्रशमरतिप्रकरण १३८

१५०. किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भैषजाद्यं वा ॥ —प्रशमरतिप्रकरण १४५

१५१. अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पादनैषणादोष वर्जनम्—एषणा समितिः। —तत्त्वार्थभाष्य ९।५

लिए हैं वे परिग्रह नहीं हैं, क्योंकि उन वस्त्र-पात्रों में श्रमण की मूर्च्छा नहीं होती है। वे तो संयम और लज्जा के लिए धारण किए जाते हैं। वे वस्त्र-पात्र संयम-साधना में उपकारी होते हैं, इसलिए वे धर्मोपकरण हैं।" इस प्रकार परिग्रह की वहुत ही सटीक परिभाषा प्रस्तुत अध्ययन में दी गई है।[१५३]

वाणी-विवेक : एक विश्लेषण

सातवें अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। जैनधर्म ने वाणी के विवेक पर अत्यधिक वल दिया है। मौन रहना वचनगुप्ति है। विवेकपूर्वक वाणी का प्रयोग करना भाषासमिति है। श्रमण असत्य, कर्कश, अहितकारी एवं हिंसाकारी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। वह स्त्रीविकथा, राजदेशविकथा, चोरविकथा, भोजनविकथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति, का परिहार करता है।[१५४] वह अशुभप्रवृत्तियों में जाते हुए वचन का निरोध कर वचनगुप्ति का पालन करता है।[१५५] मुनि प्रमाण, नय, निक्षेप से युक्त अपेक्षा दृष्टि से हित, मित, मधुर तथा सत्य भाषा वोलता है।[१५६]

श्रमण साधना की उच्च भूमि पर अवस्थित है अतः उसे अपनी वाणी पर वहुत ही नियंत्रण और सावधानी रखनी होती है। श्रमण सावद्य और अनवद्य भाषा का विवेक रखकर वोलता है। इस प्रकार वचनसमिति का लाभ वक्ता और श्रोता दोनों को मिलता है। प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण को किस प्रकार की भाषा वोलनी चाहिए और किस प्रकार की भाषा नहीं वोलनी चाहिए, इस सम्वन्ध में चिन्तन करते हुए कहा गया है कि श्रमण असत्य भाषा का प्रयोग न करे और सत्यासत्य यानी मिश्रभाषा का भी प्रयोग न करे, क्योंकि असत्य और मिश्र भाषा सावद्य होती है। सावद्यभाषा से कर्मवन्ध होता है। जिस श्रमण को सावद्य और अनवद्य का विवेक नहीं है, उसके लिए मौन रहना ही अच्छा है। आचारांगसूत्र में मुनि के लिए मौन का विधान है—'मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरगं'—मुनि मौन-संयम को स्वीकार कर कर्मवन्धनों का क्षय करता है। सत्य और असत्यामृषा अर्थात् व्यवहार भाषा का प्रयोग यदि निरवद्य है तो उस भाषा का प्रयोग श्रमण कर सकता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को वताने वाली भाषा सत्य होने पर भी यदि किसी के दिल में दर्द पैदा करती है तो वह भाषा श्रमण को नहीं वोलनी चाहिए। जैसे अन्धे को अन्धा कहना, काने को काना कहना। सत्य होने पर भी वह अवक्तव्य है। वोलने के पूर्व साधक को सोचना चाहिए कि वह क्या वोल रहा है? विज्ञ वोलने से पूर्व सोचता है तो मूर्ख वोलने के वाद में सोचता है। एक वार जो अपशब्द मुँह से निकल जाते हैं, उनके वाद केवल पश्चात्ताप हाथ लगता है। वाणी के असंयम ने ही महाभारत का युद्ध करवाया, जिसमें भारत की विशिष्ट विभूतियाँ नष्ट हो गईं। इस प्रकार वाणी का प्रयोग आचार का प्रमुख अंग होने के कारण उस पर सूक्ष्म चिंतन इस अध्ययन में किया गया है। विवेकहीन वाणी और विवेकहीन मौन दोनों पर ही निर्युक्तिकार भद्रवाहु ने चिन्तन किया है। जिस श्रमण में वोलने का विवेक है, भाषासमिति का पूर्ण परिज्ञान है वह वोलता हुआ भी मौनी है और अविवेकपूर्वक जो मौन रखता है, उसका मौन वाणी तक तो सीमित रहता है पर अन्तर्मानस में विकृत भावनाएं पनप रही हों तो वह मौन सच्चा मौन नहीं है। उदाहरण के रूप में कोई श्रमण रुग्ण है, गुरुजन रात्रि में शिष्य को आवाज देते हैं। यदि शिष्य सोचे कि इस

---

१५३. तिविहे परिग्गहे पं. तं.—कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, वाहिरभंडमत्तपरिग्गहे। —स्थानांग ३।९५
१५४-१५६. दशवैकालिक।

समय बोले तो सेवा के लिए उठना पड़ेगा, अतः मौन रख लूं। इस प्रकार सोच कर वह उत्तर नहीं देता है तो वह मौन सही मौन नहीं है। अतः साधक को हर दृष्टि से चिन्तनपूर्वक बोलना चाहिए, उसकी वाणी पर विवेक का अंकुश हो। धम्मपद में कहा है कि जो भिक्षु वाणी में संयत है, मितभाषी है तथा विनीत है वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है, उसका भाषण मधुर होता है।[157] सुत्तनिपात में उल्लेख है कि भिक्षु को अविवेकपूर्ण वचन नहीं बोलना चाहिए। वह विवेकपूर्ण वचन का ही प्रयोग करे। आचार्य मनु ने लिखा है मुनि को सदैव सत्य ही बोलना चाहिए।[158] महाभारत शान्तिपर्व में वचन-विवेक पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[159]

इन्द्रियसंयम : एक चिन्तन

प्रस्तुत अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से उद्धृत है।[160] आठवें अध्ययन का नाम आचारप्रणिधि है। आचार एक विराट् निधि है। जिस साधक को यह अपूर्व निधि प्राप्त हो जाती है, उसके जीवन का कायाकल्प हो जाता है। उसका प्रत्येक व्यवहार अन्य साधकों की अपेक्षा पृथक् हो जाता है। उसका चलना, बैठना, उठना सभी विवेकयुक्त होता है। वह इन्द्रियरूपी अश्वों को सन्मार्ग की ओर ले जाता है। उसकी मन-वचन-कर्म और इन्द्रियां उच्छृंखल नहीं होतीं। वह शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में समभाव धारण करता है। राग-द्वेष के वशीभूत होकर कर्मबन्धन नहीं करता है—इन्द्रियों पर वह नियन्त्रण करता है। इन्द्रिय-संयम श्रमण-जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य है। यदि श्रमण इन्द्रियों पर संयम नहीं रखेगा तो श्रमणजीवन में प्रगति नहीं कर सकेगा। प्रायः इन्द्रियसुखों की प्राप्ति के लिए ही व्यक्ति पतित आचरण करता है। इन्द्रियसंयम का अर्थ है—इन्द्रियों को अपने विषयों के ग्रहण से रोकना एवं गृहीत विषय में राग-द्वेष न करना। हमारे अन्तर्मानस में इन्द्रियों के विषयों के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न होता है उनका नियमन किया जाए।[161] श्रमण अपनी पाँचों इन्द्रियों को संयम में रखे और जहाँ भी संयममार्ग से पतन की संभावना हो वहाँ उन विषयों पर संयम करे। जैसे संकट समुपस्थित होने पर कछुआ अपने अंगों का समाहरण कर लेता है वैसे ही श्रमण इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का समाहरण करे।[162] बौद्ध श्रमणों के लिए भी इन्द्रियसंयम आवश्यक माना है। धम्मपद में तथागत बुद्ध ने कहा—नेत्रों का संयम उत्तम है, कानों का संयम उत्तम है, घ्राण और रसना का संयम भी उत्तम है, शरीर, वचन, और मन का संयम भी उत्तम है, जो भिक्षु सर्वत्र सभी इन्द्रियों का संयम रखता है वह दुःखों से मुक्त हो जाता है।[163] स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को कहा—जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं वही स्थितप्रज्ञ है।[164] इस प्रकार भारतीय परम्परा में चाहे श्रमण हो, चाहे संन्यासी हो उसके लिए इन्द्रिय-संयम आवश्यक है।[165]

---

१५७. धम्मपद, ३६३

१५८. मनुस्मृति, ६।४६

१५९. महाभारत, शान्तिपर्व, १०९।१५-१९

१६०. सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ। —दशवैकालिक निर्युक्ति, १७

१६१. आचारांग, २।१५।१।१८०

१६२. सूत्रकृतांग, १।८।१।१६

१६३. धम्मपद, ३६०-३६१

१६४. श्रीमद्भगवद्गीता, २।६१

१६५. वही, २।५९; ६४

कषाय : एक विश्लेषण

श्रमण को इन्द्रियनिग्रह के साथ कषायनिग्रह भी आवश्यक है। कषाय शब्द क्रोध, मान, माया, लोभ का संग्राहक है। यह जैन पारिभाषिक शब्द है। कष और आय इन दो शब्दों के मेल से कषाय शब्द निर्मित हुआ है। 'कष' का अर्थ—संसार, कर्म या जन्म-मरण है और आय का अर्थ लाभ है। जिससे प्राणी कर्मों से बांधा जाता है अथवा जिससे जीव पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है वह कषाय है।[१६६] स्थानांगसूत्र के अनुसार पापकर्म के दो स्थान हैं—राग और द्वेष। राग माया और लोभ रूप है तथा द्वेष क्रोध और मानरूप है।[१६७] आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य में नयों के आधार से राग-द्वेष का कषायों के साथ क्या सम्बन्ध है, इस पर चिन्तन किया है। संग्रहनय की दृष्टि से क्रोध और मान ये दोनों द्वेष रूप हैं। माया और लोभ ये दोनों राग रूप हैं। इसका कारण यह है कि क्रोध और मान में दूसरे के प्रति अहित की भावना सन्निहित है। व्यवहारनय की दृष्टि से क्रोध, मान और माया ये तीनों द्वेष के अन्तर्गत आते हैं। माया में भी दूसरे का अहित हो, इस प्रकार की विचारधारा रहती है। लोभ एकाकी राग में है, क्योंकि उसमें ममत्व भाव है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से केवल क्रोध ही द्वेष रूप है। मान-माया-लोभ ये तीनों कषाय न रागप्रेरित हैं और न द्वेषप्रेरित। वे जब राग से उत्प्रेरित होते हैं तो राग रूप हैं और जब द्वेष से प्रेरित होते हैं तो द्वेष रूप हैं।[१६८] चारों कषाय राग-द्वेषात्मक पक्षों की आवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं।

क्रोध एक उत्तेजक आवेग है जिससे विचारक्षमता और तर्कशक्ति प्रायः शिथिल हो जाती है। भगवतीसूत्र में क्रोध के द्रव्यक्रोध और भावक्रोध ये दो भेद किए हैं।[१६९] द्रव्यक्रोध से शारीरिक चेष्टाओं में परिवर्तन आता है और भावक्रोध से मानसिक अवस्था में परिवर्तन आता है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष भावक्रोध है और क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक पक्ष द्रव्य क्रोध है। क्रोध का आवेग सभी में एक सदृश नहीं होता, वह तीव्र और मंद होता है, तीव्रतम क्रोध अनंतानुबन्धी क्रोध कहलाता है। तीव्रतर क्रोध अप्रत्याख्यानी क्रोध के नाम से विश्रुत है। तीव्र क्रोध प्रत्याख्यानी क्रोध की संज्ञा से पुकारा जाता है और अल्प क्रोध संज्वलन क्रोध के रूप में पहचाना जाता है।

मान कषाय का दूसरा प्रकार है। मानव में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है। जब वह प्रवृत्ति दम्भ और प्रदर्शन का रूप ग्रहण करती है तब मानव के अन्तःकरण में मान की वृत्ति समुत्पन्न होती है। अहंकारी मानव अपनी अहंवृत्ति का सम्पोषण करता रहता है। अहं के कारण वह अपने-आप को महान् और दूसरे को हीन समझता है। प्रायः जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, ज्ञान, सौन्दर्य, अधिकार आदि पर अहंकार आता है। इन्हें आगम की भाषा में मद भी कहा गया है। अहंभाव की तीव्रता और मन्दता के आधार पर मान कषाय के भी चार प्रकार होते हैं—तीव्रतम मान अनन्तानुबन्धी मान, तीव्रतर मान अप्रत्याख्यानी मान, तीव्र मान प्रत्याख्यानी मान, अल्पमान संज्वलन के नाम से जाने और पहचाने जाते हैं।

---

१६६. अभिधान राजेन्द्रकोष, खण्ड ३, पृ. ३९५

१६७. स्थानांग २।२

१६८. विशेषावश्यकभाष्य २६६८-२६७१

१६९. भगवतीसूत्र १२।५।२

कपटाचार माया कषाय है, माया जीवन की विकृति है। मायावी का जीवन निराला होता है। वह 'विषकुम्भं पयोमुखम्' होता है। माया कषाय के भी तीव्रता और मंदता की दृष्टि से पूर्ववत् चार प्रकार होते हैं।

लोभ मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा व लालसा है। लोभ दुर्गुणों की जड़ है। ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता चला जाता है। अनन्त आकाश का कहीं ओर-छोर नहीं, वैसे ही लोभ भी अछोर है। लोभ कषाय के भी तीव्रता और मंदता के आधार पर पूर्ववत् चार प्रकार होते हैं। इस प्रकार कषाय के सोलह प्रकार होते हैं। कषाय को चाण्डालचौकड़ी भी कहा गया है। कषाय की तीव्रता अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के फलस्वरूप जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता। अप्रत्याख्यानी कषाय में श्रावक धर्म स्वीकार नहीं कर सकता। अप्रत्याख्यानी कषाय आंशिक चारित्र को नष्ट कर देती है। प्रत्याख्यानी कषाय की विद्यमानता में साधुत्व प्राप्त नहीं होता। ये तीनों प्रकार के कषाय विशुद्ध निष्ठा को और चारित्र धर्म को नष्ट करते हैं। संज्वलन कषाय में पूर्ण वीतरागता की उपलब्धि नहीं होती। इसलिए आत्महित चाहने वाला साधक पाप की वृद्धि करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों दोषों को पूर्णतया छोड़ दे।[१७०] ये चारों दोष सद्गुणों को नाश करने वाले हैं। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का और लोभ से सभी सद्गुणों का नाश होता है।[१७१] योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—मान विनय, श्रुत, शील का घातक है, विवेकरूपी नेत्रों को नष्ट कर मानव को अन्धा बना देता है। जब क्रोध उत्पन्न होता है तो सर्वप्रथम उसी मानव को जलाता है जिसमें वह उत्पन्न हुआ है। माया अविद्या और असत्य को उत्पन्न करती है। वह शीलरूपी लहलहाते हुए वृक्ष को नष्ट करने में कुल्हाड़ी के सदृश है। लोभ से समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। वह सद्गुणों को निगलने वाला राक्षस है और जितने भी दुःख हैं उनका वह मूल है।[१७२] प्रश्न यह है कि कषाय को किस प्रकार जीता जाए? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य शय्यम्भव ने लिखा है—शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिये।[१७३] आचार्य कुन्दकुन्द[१७४] तथा आचार्य हेमचन्द्र[१७५] ने भी शय्यम्भव का ही अनुसरण किया है तथा बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद[१७६] में भी यही स्वर झंकृत हुआ है कि अक्रोध से क्रोध को, साधुता से असाधुता को जीते और कृपणता को दान से, मिथ्याभाषण को सत्य से पराजित करें। महाभारतकार व्यास ने भी इसी सत्य को अपने शब्दों में पुनरावृत्ति की है।[१७७] कषाय वस्तुतः आत्म-विकास में अत्यधिक बाधक तत्त्व है। कषाय के नष्ट होने पर ही भव-परम्परा का अन्त होता है। कषायों से मुक्त होना ही सही दृष्टि से मुक्ति है।

---

१७०. दशवैकालिक ८।३७
१७१. वही ८।३८
१७२. योगशास्त्र ४।१०।१८
१७३. दशवैकालिक ८।३९
१७४. नियमसार ११५
१७५. योगशास्त्र ४।२३
१७६. धम्मपद २२३
१७७. महाभारत, उद्योगपर्व ३९।४२

जैन परम्परा में जिस प्रकार कषाय वृत्तित्याज्य मानी गई है उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी कषाय-वृत्ति को हेय माना है। तथागत बुद्ध ने साधकों को सम्बोधित करते हुए कहा—क्रोध का परित्याग करो, अभिमान को छोड़ दो, समस्त संयोजनों को तोड़ दो, जो पुरुष नाम तथा रूप में आसक्त नहीं होता अर्थात् उनका लोभ नहीं करता, जो अकिंचन है उस पर क्लेशों का आक्रमण नहीं होता। जो समुत्पन्न होते हुए क्रोध को उसी तरह निग्रह् कर लेता है जैसे सारथी अश्व को, वही सच्चा सारथी है। शेष तो मात्र लगाम पकड़ने वाले हैं।[१७८] जो क्रोध करता है वह वैरी है तथा जो मायावी है उस व्यक्ति को वृषल (नीच) जानो।[१७९] सुत्तनिपात में बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा—जो मानव जाति, धन और गोत्र का अभिमान करता है और अपने बन्धुओं का अपमान करता है वह उसी के पराभव का कारण है।[१८०] मायावी मरकर नरक में उत्पन्न होता है और दुर्गति को प्राप्त करता है।[१८१] इस प्रकार बौद्धधर्म में कषाय या अशुभ वृत्तियों के परिहार पर बल दिया है। बौद्ध-दर्शन की भांति कषाय-निरोध का संकेत वैदिकदर्शन में भी प्राप्त है। छान्दोग्योपनिषद् में कषाय शब्द राग-द्वेष के अर्थ में प्रयुक्त है।[१८२] महाभारत में कषाय शब्द अशुभ मनोवृत्तियों के अर्थ में आया है। वहां पर इस बात पर प्रकाश डाला है कि मानव जीवन के तीन सोपान हैं—ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थ-आश्रम और वानप्रस्थ-आश्रम। इन तीन आश्रमों में कषाय को पराजित कर फिर संन्यास-आश्रम का अनुसरण करे।[१८३] श्री मद्-भगवद्‌गीता में कषाय के अर्थ में ही आसुरी वृत्ति का उल्लेख है। दम्भ, दर्प, मान, क्रोध आदि आसुरी संपदा है।[१८४] अहंकारी मानव बल, दर्प, काम, क्रोध के अधीन होकर अपने और दूसरों के शरीर में अवस्थित परमात्मा से विद्वेष करने वाले होते हैं।[१८५] काम, क्रोध और लोभ ये नरक के द्वार हैं, अतः इन तीनों द्वारों का त्याग कर देना चाहिए और जो इनको त्याग कर कल्याणमार्ग का अनुसरण करता है वह परमगति को प्राप्त करता है। इस प्रकार हम देखते हैं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थों में भी क्रोध, मान आदि आवेगों को आध्यात्मिक विकास में बाधक माना है। यह आवेग सामाजिक सम्बन्धों में भी कटुता उत्पन्न करते हैं। सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से इनका परिहार आवश्यक है। जितना-जितना कषायों का आवेग कम होगा उतनी ही साधना में स्थिरता और परिपक्वता आयेगी। इसलिए आठवें अध्ययन में कहा गया है—श्रमण को कषाय का निग्रह् कर मन का सुप्रणिधान करना चाहिए। इस अध्ययन में इस बात पर बल दिया गया है कि श्रमण इन्द्रिय और मन का अप्रशस्त प्रयोग न करे, वह प्रशस्त प्रयोग करे। यह शिक्षा ही इस अध्ययन की अन्तरात्मा है। इसीलिए निर्युक्तिकार की दृष्टि से 'आचारप्रणिधि' नाम का भी यही हेतु है।[१८६]

---

१७८. धम्मपद २२१-२२२

१७९. सुत्तनिपात ६।१४

१८०. सुत्तनिपात ७।१

१८१. सुत्तनिपात ४०।१३।१

१८२. छान्दोग्य-उपनिषद ७।२६।२

१८३. महाभारत, शान्तिपर्व २४४।३

१८४. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता १६।४

१८५. वही १६।१८

१८६. तम्हा उ अप्पसत्थं, पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं।
पणिहाणंमि पसत्थे, भणिओ 'आयारपणिहि' त्ति ॥ —दश. निर्युक्ति ३०८

'प्रणिधि' शब्द का प्रयोग कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अनेक बार किया है। वहाँ गूढ़ पुरुष-प्रणिधि, राग-प्रणिधि, दूत-प्रणिधि आदि प्रणिधि पद वाले कितने ही प्रकरण हैं। अर्थशास्त्र के व्याख्याकार ने प्रणिधि का अर्थ कार्य में लगाना तथा व्यापार किया है। प्रस्तुत आगम में जो प्रणिधि शब्द का प्रयोग हुआ है वह साधक को आचार में प्रवृत्त करना या आचार में संलग्न करना है। इस अध्ययन में कषायविजय, निद्राविजय, अट्टहास-विजय के लिए सुन्दर संकेत किए गए हैं। आत्मगवेषी साधकों के लिए संयम और स्वाध्याय में सतत संलग्न रहने की प्रबल प्रेरणा दी गई है। जो संयम और स्वाध्याय में रत रहते हैं वे स्व-पर का रक्षण करने में उसी प्रकार समर्थ होते हैं जैसे आयुधों से सज्जित वीर सैनिक सेना से घिर जाने पर भी अपनी और दूसरों की रक्षा कर लेता है।[१८७]

विनय : एक विश्लेषण

नौवें अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। विनय तप है और तप धर्म है। अतः साधक को विनय धारण करना चाहिए।[१८८] विनय का सम्बन्ध हृदय से है। जिसका हृदय कोमल होता है वह गुरुजनों का विनय करता है। अहंकार पत्थर की तरह कठोर होता है, वह टूट सकता है पर झुक नहीं सकता। जिसका हृदय नम्र है, मुलायम है, उसकी वाणी और आचरण सभी में कोमलता की मधुर सुवास होती है। विनय आत्मा का ऐसा गुण है, जिससे आत्मा सरल, शुद्ध और निर्मल बनता है। विनय शब्द का प्रयोग आगम-साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। कहीं पर विनय नम्रता के अर्थ में व्यवहृत हुआ है तो कहीं पर आचार और उसकी विविध धाराओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन परम्परा में विनय शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ को लिए हुए है। श्रमण भगवान् महावीर के समय एक सम्प्रदाय था जो विनयप्रधान था।[१८९] वह बिना किसी भेदभाव के सबका विनय करता था। चाहे श्रमण मिले, चाहे ब्राह्मण मिले, चाहे गृहस्थ मिले, चाहे राजा मिले या रंक मिले, चाहे हाथी मिले या घोड़ा मिले, चाहे कूकर मिले या शूकर मिले, सब का विनय करते रहना ही उसका सिद्धान्त था।[१९०] इस मत के वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्म, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, तेलापुत्र, इन्द्रदत्त आदि बत्तीस आचार्य थे जो विनयवाद का प्रचार करते थे।[१९१] पर जैनधर्म वैनयिक नहीं है, उसने आचार को प्रधानता दी है। ज्ञाताधर्मकथा में सुदर्शन नामक श्रेष्ठी ने थावच्चापुत्र अणगार से जिज्ञासा प्रस्तुत की— आपके धर्म और दर्शन का मूल क्या है? थावच्चापुत्र अणगार ने चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाकर कहा— सुदर्शन! हमारे धर्म और दर्शन का मूल विनय है और वह विनय अगार और अनगार विनय के रूप में है। अगार और अनगार के जो व्रत और महाव्रत हैं उनको धारण करना ही अगार-अनगार विनय है।[१९२] इस अध्ययन में विनय-समाधि का निरूपण है तो उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन का नाम विनयश्रुत दिया गया है।

---

१८७. दशवैकालिक, ८।६१

१८८. विणओ वि तवो तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउंजियव्वो। —प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ३।५

१८९. सूत्रकृतांग १।१२।१

१९०. प्रवचनसारोद्धार सटीक, उत्तरार्द्ध पत्र—३४४

१९१. (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक ८।१, पृष्ठ ५६२
(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, प. ४४४

१९२. ज्ञातासूत्र ५

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि विनय को तप क्यों कहा गया है ? सद्‌गुरुओं के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार करना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। फिर ऐसी क्या विशेषता है जो उसे तप की कोटि में परिगणित किया गया है ? उत्तर में निवेदन है कि विनय शब्द जैन साहित्य में तीन अर्थों में व्यवहृत हुआ है—

१. विनय—अनुशासन,
२. विनय—आत्मसंयम—सदाचार,
३. विनय—नम्रता—सद्‌व्यवहार।

उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में जो विनय का विश्लेषण हुआ है वहाँ विनय अनुशासन के अर्थ में आया है। सद्‌गुरुओं की आज्ञा का पालन करना, उनकी भावनाओं को लक्ष्य में रखकर कार्य करना, गुरुजन शिष्य के हित के लिए कभी कठोर शब्दों में हित-शिक्षा प्रदान करें, उपालम्भ भी दें तो शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु की बात को बहुत ही ध्यानपूर्वक सुने और उसका अच्छी तरह से पालन करे। 'फरुसं पि अणुसासणं'[१९३] अनुशासन चाहे कितना भी तेजतर्रार क्यों न हो, शिष्य सदा यही सोचे कि गुरुजन मेरे हित के लिए यह आदेश दे रहे हैं, इसलिए मुझे गुरुजनों के हितकारी, लाभकारी आदेश का पालन करना चाहिए,[१९४] उनके आदेश की अवहेलना करना और अनुशासन पर क्रोध करना, मेरा कर्त्तव्य[१९५] नहीं है।

विनय का दूसरा अर्थ आत्मसंयम है। उत्तराध्ययन में 'अप्पा चेव दमेयव्वो'—आत्मा का दमन करना चाहिए; जो आत्मा का दमन करता है, वह सर्वत्र सुखी होता है। विवेकी साधक संयम और तप के द्वारा अपने आप पर नियंत्रण करता है। जो आत्मा विनीत होता है, वह आत्मसंयम कर सकता है, वही व्यक्ति गुरुजनों के अनुशासन को भी मान सकता है, क्योंकि उसके मन में गुरुजनों के प्रति अनन्त आस्था होती है। वह प्रतिपल, प्रतिक्षण यही सोचता है कि गुरुजन जो भी मुझे कहते हैं, वह मेरे हित के लिए है, मेरे सुधार के लिए है। कितना गुरुजनों का मुझ पर स्नेह है कि जिसके कारण वे मुझे शिक्षा प्रदान करते हैं। शिष्य गुरुजनों के समक्ष विनीत मुद्रा में बैठता है, गुरुजनों के समक्ष कम बोलता है या मौन रहता है। गुरुजनों का विनय कर उन्हें सदा प्रसन्न रखता है और ज्ञान-आराधना में लीन रहता है। विनीत व्यक्ति अपने सद्‌गुणों के कारण आदर का पात्र बनता है। विनय ऐसा वशीकरण मंत्र है जिससे सभी सद्‌गुण खिंचे चले आते हैं। अविनीत व्यक्ति सड़े हुए कानों वाली कुतिया सदृश है, जो दर-दर ठोकरें खाती है, अपमानित होती है। लोग उससे घृणा करते हैं। वैसे ही अविनीत व्यक्ति सदा अपमानित होता है। इस तरह विनय के द्वारा आत्मसंयम तथा शील-सदाचार की भी पावन प्रेरणा दी गई है।

विनय का तृतीय अर्थ नम्रता और सद्‌व्यवहार है। विनीत व्यक्ति गुरुजनों के समक्ष बहुत ही नम्र होकर रहता है। वह उन्हें नमस्कार करता है तथा अञ्जलिबद्ध होकर तथा कुछ झुककर खड़ा रहता है। उसके प्रत्येक व्यवहार में विवेकयुक्त नम्रता रहती है। वह न गुरुओं के आसन से बहुत दूर बैठता है, न सटकर बैठता है। वह इस मुद्रा में बैठता है जिसमें अहंकार न झलके। वह गुरुओं की आशातना नहीं करता। इस प्रकार वह नम्रतापूर्ण सद्‌व्यवहार करता है।

---

१९३. उत्तराध्ययन १।२९
१९४. उत्तराध्ययन १।२७
१९५. उत्तराध्ययन १।९

आचार्य नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ पर आचार्य सिद्धसेनसूरि ने एक वृत्ति लिखी है। उसमें उन्होंने लिखा है—क्लेश समुत्पन्न करने वाले आठ कर्मशत्रुओं को जो दूर करता है—वह विनय है—'विनयति क्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म इति विनयः'। विनय से अष्टकर्म नष्ट होते हैं। चार गति का अन्त कर वह साधक मोक्ष को प्राप्त करता है। विनय सद्गुणों का आधार है। जो विनीत होता है उसके चारों ओर सम्पत्ति मंडराती है और अविनीत के चारों ओर विपत्ति। भगवती,[196] स्थानांग,[197] औपपातिक[198] में विनय के सात प्रकार बताए हैं—१. ज्ञानविनय, २, दर्शनविनय, ३. चारित्रविनय, ४. मनविनय, ५. वचनविनय, ६. कायविनय, ७. लोकोपचारविनय। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि को विनय कहा गया है, क्योंकि उनके द्वारा कर्मपुद्गलों का विनयन यानी विनाश होता है। विनय का अर्थ यदि हम भक्ति और बहुमान करें तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति भक्ति और बहुमान प्रदर्शित करना है। जिस समाज और धर्म में ज्ञान और ज्ञानियों का सम्मान और बहुमान होता है, वह धर्म और समाज आगे बढ़ता है। ज्ञानी धर्म और समाज के नेत्र हैं। ज्ञानी के प्रति विनीत होने से धर्म और समाज में ज्ञान के प्रति आकर्षण बढ़ता है। इतिहास साक्षी है कि यहूदी जाति विद्वानों का बड़ा सम्मान करती थी, उन्हें हर प्रकार की सुविधाएं प्रदान करती थी, जिसके फलस्वरूप आइन्सटिन जैसा विश्वविश्रुत वैज्ञानिक उस जाति में पैदा हुआ। अन्य अनेक मूर्धन्य वैज्ञानिक और लेखक यहूदी जाति की देन हैं। अमेरिका और रूस में जो विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति हुई है, उसका मूल कारण भी वहाँ पर वैज्ञानिकों और साहित्यकारों का सम्मान रहा है। भारत में भी राजा गण जब कवियों को उनकी कविताओं पर प्रसन्न होकर लाखों रुपया पुरस्कार-स्वरूप दे देते थे तब कविगण जम कर के साहित्य की उपासना करते थे। गीर्वाण-गिरा का जो साहित्य समृद्ध हुआ उसका मूल कारण विद्वानों का सम्मान था। ज्ञानविनय के पांच भेद औपपातिक में प्रतिपादित हैं।

दर्शनविनय में साधक सम्यग्दृष्टि के प्रति विश्वास तथा आदर भाव प्रकट करता है। इस विनय के दो रूप हैं—१. शुश्रूषाविनय, २. अनाशातनाविनय। औपपातिक के अनुसार दर्शनविनय के भी अनेक भेद हैं। देव, गुरु, धर्म आदि का अपमान हो, इस प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए। आशातना का अर्थ ज्ञान आदि सद्गुणों की आय—प्राप्ति के मार्ग को अवरुद्ध करना है।[199]

अर्हत्, अर्हत्प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रियावादी, सम आचार वाले श्रमण, मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान के धारक, इन पन्द्रह की आशातना न करना, बहुमान करना आदि पैंतालीस अनाशातनाविनय के भेद प्रतिपादित हैं। सामायिक आदि पांच चारित्र और चारित्रवान् के प्रति विनय करना चारित्रविनय है। अप्रशस्त प्रवृत्ति से मन को दूर रखकर मन से प्रशस्त प्रवृत्ति करना मनोविनय है। सावद्य वचन की प्रवृत्ति न करना और वचन की निरवद्य व प्रशस्त प्रवृत्ति करना वचनविनय है। काया की प्रत्येक प्रवृत्ति में जागरूक रहना, चलना, उठना, बैठना, सोना आदि सभी प्रवृत्तियां उपयोगपूर्वक करना प्रशस्त काय-विनय है। लोकव्यवहार की कुशलता जिस विनय से सहज रूप से उपलब्ध होती है वह लोकोपचार विनय है। उसके सात प्रकार हैं। गुरु आदि के सन्निकट रहना, गुरुजनों की इच्छानुसार कार्य करना, गुरु के कार्य में सहयोग

---

१९६. भगवती २५।७

१९७. स्थानांगसूत्र, ७।१३०

१९८. औपपातिक, तपवर्णन

१९९. आसातणा णामं नाणादिआयस्स सातणा। —आवश्यकचूर्णि (आचार्य जिनदासगणि)

करना, कृत उपकारों का स्मरण करना, उनके प्रति कृतज्ञ भाव रखकर उनके उपकार से उऋण होने का प्रयास करना, रुग्ण श्रमण के लिए औषधि एवं पथ्य की गवेषणा करना, देश एवं काल को पहचान कर काम करना, किसी के विरुद्ध आचरण न करना, इस प्रकार विनय की व्यापक पृष्ठभूमि है, जिसका प्रतिपादन इस अध्ययन में किया गया है। यदि शिष्य अनन्त ज्ञानी हो जाए तो भी गुरु के प्रति उसके अन्तर्मानस में वही श्रद्धा और भक्ति होनी चाहिए जो पूर्व में थी। जिन ज्ञानवान् जनों से किंचिन्त्मात्र भी ज्ञान प्राप्त किया है उनके प्रति सतत विनीत रहना चाहिए। जब शिष्य में विनय के संस्कार प्रबल होते हैं तो वह गुरुओं का सहज रूप से स्नेह-पात्र बन जाता है। अविनीत असंविभागी होता है और जो असंविभागी होता है उसका मोक्ष नहीं होता।[200] इस अध्ययन में चार समाधियों का उल्लेख है—विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचार-समाधि। आचार्य हरिभद्र[201] ने समाधि का अर्थ आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य किया है। विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा आत्मा का हित होता है, इसलिए वह समाधि है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने समारोपण तथा गुणों के समाधान अर्थात् स्थिरीकरण या स्थापन को समाधि कहा है। उनके अभिमतानुसार विनय, श्रुत, तप और आचार के समारोपण या इनके द्वारा होने वाले गुणों के समाधान को विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तप-समाधि तथा आचारसमाधि कहा है।[202] विनय, श्रुत, तप तथा आचार, इनका क्या उद्देश्य है, इसकी सम्यक् जानकारी प्रस्तुत अध्ययन में है। यह अध्ययन नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत है।[203]

भिक्षु : एक चिन्तन

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु अध्ययन है। जो भिक्षा कर अपना जीवन-यापन करता है, वह भिक्षु कहलाता है। भिक्षा भिखारी भी मांगते हैं, वे दर-दर हाथ और झोली पसारे हुए दीन स्वर में भीख मांगते हैं। जो उन्हें भिक्षा देता है, उन्हें वे आशीर्वाद प्रदान करते हैं और नहीं देने वाले को कटु वचन कहते हैं, शाप देते हैं तथा रुष्ट होते हैं। भिखारी की भिक्षा केवल पेट भरने के लिए होती है। उस भिक्षा में कोई पवित्र उद्देश्य नहीं होता और न कोई शास्त्रसम्मत विधिविधान ही होता है। वह भिक्षा अत्यन्त निम्न स्तर की होती है। इस प्रकार की भिक्षा पौरुषघ्नी भिक्षा है।[204] वह भिक्षा पुरुषार्थ का नाश कर अकर्मण्य और आलसी बनाती है। ऐसे पुरुषत्वहीन मांगखोर व्यक्तियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। वे मांग कर खाते ही नहीं, जमा भी करते हैं और दुर्व्यसनों में उसका उपयोग करते हैं।

श्रमण अदीनभाव से अपनी श्रमण-मर्यादा और अभिग्रह के अनुकूल जो भिक्षा प्राप्त होती है उसे प्रसन्नता से ग्रहण करता है। भिक्षा में रूक्ष और नीरस पदार्थ मिलने पर वह रुष्ट नहीं होता और उत्तम स्वादिष्ट पदार्थ मिलने पर तुष्ट नहीं होता। भिक्षा में कुछ भी प्राप्त न हो तो भी वह खिन्न नहीं होता और मिलने पर हर्षित भी नहीं होता। वह दोनों ही स्थितियों में समभाव रखता है। इसलिए श्रमण की भिक्षा

---

२००. असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। —दशवै. ९।२।२२

२०१. समाधानं समाधिः—परमार्थत आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यम्।
—दशवैकालिक हरिभद्रीया वृत्ति, पत्र २५६

२०२. जं विणयसमारोवणं विणयेण वा जं गुणाण समाधाणं एस विणयसमाधी भवतीति।
—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

२०३. दशवैकालिकनिर्युक्ति १७

२०४. अष्टक प्रकरण ५।१

सामान्य भिक्षा न होकर सर्वसम्पत्करी भिक्षा है। सर्वसम्पत्करी[205] भिक्षा, देने वाले और लेने वाले दोनों के लिए कल्याणकारी है। जिसमें संवेग, निर्वेद, विवेक, सुशीलसंसर्ग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, शान्ति, मार्दव, आर्जव, तितिक्षा, आराधना, आवश्यक शुद्धि प्रभृति सद्गुणों का साम्राज्य हो वह भिक्षु है।

सूत्रकृतांगसूत्र में भिक्षु की परिभाषा इस प्रकार प्राप्त है—जो निरभिमान, विनीत, पापमल को धोने वाला, दान्त, बन्धनमुक्त होने योग्य, निर्ममत्व, विविध प्रकार के परीषहों और उपसर्गों से अपराजित, अध्यात्मयोगी, विशुद्ध, चारित्रसम्पन्न, सावधान, स्थितात्मा, यशस्वी, विवेकशील तथा परदत्त भोजी है, वह भिक्षु है।[206] जो कर्मों का भेदन करता है वह भिक्षु कहलाता है। भिक्षु के भी द्रव्यभिक्षु और भावभिक्षु, ये दो प्रकार हैं। द्रव्यभिक्षु मांग कर खाने के साथ ही त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा करता है; सचित्त भोजी है; स्वयं पका कर खाता है; सभी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति करता है; संचय करके रखता है; परिग्रही है। भावभिक्षु वह है जो पूर्ण रूप से अहिंसक है; सचित्तत्यागी है, तीन करण, तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का परित्यागी है; आगम में वर्णित भिक्षु के जितने भी सद्गुण हैं, उन्हें धारण करता है।

भिक्षु की गौरव-गरिमा अतीत काल से ही चली आई है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों ही परम्पराओं में भिक्षु शीर्षस्थ स्थान पर आसीन रहा है। वैदिक परम्परा में संन्यासी पूज्य रहा है, उसे दो हाथों वाला साक्षात् परमेश्वर माना है—'द्विभुजः परमेश्वरः'। बौद्ध परम्परा में भी भिक्षु का महत्त्व कम नहीं रहा है, भिक्षु धर्म-संघ का अधिनायक रहा है। जैन परम्परा में भी भिक्षु को परम-पूज्य स्थान प्राप्त है। भिक्षु का जीवन सद्गुणों का पुञ्ज होता है, वह समाज, राष्ट्र के लिए प्रकाशस्तंभ की तरह उपयोगी होता है। वह स्वकल्याण के साथ ही परकल्याण में लगा रहता है। धम्मपद में भिक्षु के अनेक लक्षण बताए गये हैं, जो प्रस्तुत अध्ययन में बताए गए लक्षणों से मिलते-जुलते हैं। विश्व के अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने भिक्षु की विभिन्न परिभाषाएं की हैं। सभी परिभाषाओं का सार संक्षेप में यह है कि भिक्षु का जीवन सामान्य मानव के जीवन से अलग-थलग होता है। वह विकार और वासनाओं से एवं राग-द्वेष से ऊपर उठा हुआ होता है। उसके जीवन में हजारों सद्गुण होते हैं। वह सद्गुणों से जन-जन के मन को आकर्षित करता है। वह स्वयं तिरता है और दूसरों को तारने का प्रयास करता है। भगवान् महावीर स्वयं भिक्षु थे। जब कोई अपरिचित व्यक्ति उनसे पूछता कि आप कौन हैं तो संक्षेप में वे यही कहते कि मैं भिक्षु हूँ। भिक्षु के श्रमण, निर्ग्रन्थ, मुनि, साधु आदि पर्यायवाची शब्द हैं। भिक्षुचर्या की दृष्टि से इस अध्ययन का बहुत ही महत्त्व है। श्रमण जीवन की महिमा उसके त्याग और वैराग्य युक्त जीवन में रही हुई है।

रति : विश्लेषण

दशवैकालिक के दस अध्ययनों के पश्चात् दो चूलिकाएं हैं। चूलिकाओं के सम्बन्ध में हम पूर्व पृष्ठों में लिख चुके हैं। प्रथम चूलिका 'रतिवाक्या' के नाम से विश्रुत है। रति मोहनीयकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में से एक प्रकृति है, जो नोकषाय के अन्तर्गत है। जैन मनीषियों ने 'नो' शब्द को साहचर्य के अर्थ में ग्रहण किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये प्रधान कषाय हैं। प्रधान कषायों के सहचारी भाव अथवा उनकी सहयोगी

---

२०५. सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता। —अष्टक प्रकरण ५।१

२०६. सूत्रकृतांग १।१६।३

मनोवृत्तियां नोकपाय कहलाती हैं।[२०७] पाश्चात्य विचारक फ्रायड ने कामवासना को प्रमुख मूल वृत्ति माना है और भय आदि को प्रमुख आवेग माना है। जैनदर्शन की दृष्टि से कामभावना सहकारी कपाय है या उप-आवेग है, जो कपाय की अपेक्षा कम तीव्र है। जिन मनोभावों के कारण कपाय उत्पन्न होते हैं, वे नोकपाय हैं। इन्हें उपकपाय भी कहते हैं। ये भी व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। नोकपाय व्यक्ति के आन्तरिक गुणों को उतना प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं करते जितना शारीरिक और मानसिक स्थिति को करते हैं। जबकि कपाय शारीरिक और मानसिक स्थिति को प्रभावित करने के साथ ही सम्यक् दृष्टिकोण को, आत्मनियंत्रण आदि को प्रभावित करते हैं, जिससे साधक न तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है और न आचार को। रति का अर्थ है अभीष्ट पदार्थों पर प्रीतिभाव या इन्द्रियविपयों में चित्त की अभिरतता। रति के कारण ही आसक्ति और लोभ की भावनाएं प्रवल होती हैं।[२०८]

असंयम में सहज आकर्पण होता है पर त्याग और संयम में सहज आकर्पण नहीं होता। इन्द्रिय-वासनाओं की परितृप्ति में जो सुखानुभूति प्रतीत होती है वह सुखानुभूति इन्द्रिय-विपयों के निरोध में नहीं होती। इसका मूल कारण है—चारित्रमोहनीय कर्म की प्रवलता। जव मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तव भोग में आनन्द की अनुभूति होती है। जिस व्यक्ति को सर्प का जहर चढ़ता है, उसे नीम के पत्ते भी मधुर लगते हैं। जिनमें मोह के जहर की प्रवलता है, उन्हें भोग प्रिय लगते हैं। जिनमें चारित्र-मोह की अल्पता है, जो निर्मोही हैं, उन्हें भोग प्रिय नहीं लगते और न वे सुखकर ही प्रतीत होते हैं। भोग में सुख आदि की अनुभूति का आधार चारित्रमोहनीयकर्म है।

मोह एक भयंकर रोग के सदृश है, जो एक वार के उपचार से नहीं मिटता। उसके लिए सतत उपचार और सावधानी की आवश्यकता है। जरा सी असावधानी रोग को उभार देती है। मोह का उभार न हो और साधक मोह से विचलित न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत चूलिका अध्ययन का निर्माण हुआ है। आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि इस चूलिका में जो अठारह स्थान प्रतिपादित हैं, वे उसी प्रकार हैं जैसे—घोड़े के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश, नौका के लिए पताका है। इस अध्ययन के वाक्य साधक के अन्तर्मानस में संयम के प्रति रति समुत्पन्न करते हैं, जिसके कारण इस अध्ययन का नाम रतिवाक्या रखा गया है।[२०९]

इस अध्ययन में साधक को साधना में स्थिर करने हेतु अठारह सूत्र दिए हैं। वे सूत्र साधक को साधना में स्थिर कर सकते हैं। गृहस्थाश्रम में विविध प्रकार की कठिनाइयां हैं, उन कठिनाइयों को पार करना सहज नहीं है। मानव कामभोगों में आसक्त होता है और सोचता है कि इनमें सच्चा सुख रहा हुआ है, पर वे काम-भोग अल्पकालीन और साररहित हैं। उस क्षणिक सुख के पीछे दुख की काली निशा रही हुई है। संयम के विराट् आनन्द को छोड़कर यदि कोई साधक पुनः गृहस्थाश्रम को प्राप्त करने की इच्छा करता है तो यह वमन कर पुनः उसे चाटने के सदृश है। संयमी जीवन का आनन्द स्वर्ग के रंगीन सुखों की तरह है, जबकि असंयमी जीवन का कष्ट नरक ही दारुण वेदना की तरह है। गृहस्थाश्रम में अनेक क्लेश हैं, जवकि श्रमण जीवन क्लेश-रहित है। इस प्रकार इस अध्ययन में विविध दृष्टियों से संयमी जीवन का महत्त्व प्रतिपादित है। वैदिक परम्परा

---

२०७. अभिधानराजेन्द्रकोप, खण्ड ४, पृष्ठ २१६१

२०८. (क) अभिधानराजेन्द्रकोप खण्ड ६. पृ. ४६७

(ख) यदुदयाद्विपयादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः। —सर्वार्थसिद्धि ८-९

२०९. दशवैकालिक हरिभद्रीया वृत्ति, पत्र २७०

भक्तकथा, राज्यकथा, तथा मोहकथा, विप्रलापकथा और मृदुकारुणिककथा आदि विकथाओं से दूर रहते हैं।[७] आगे की गाथाओं में बताए गए कार्य सावद्य, आरम्भजनक और हिंसाबहुल हैं, निर्ग्रन्थ संयमी के जीवन से विपरीत हैं, गृहस्थों द्वारा आचरित हैं। भूतकाल में निर्ग्रन्थ महर्षियों ने कभी उनका आचरण नहीं किया। इन सब कारणों से मुक्ति की कामना से उत्कट साधना में प्रवृत्त निर्ग्रन्थों के लिए ये अनाचीर्ण हैं।[८]

अनाचीर्णों के नाम

१८. उद्देसियं १ कीयगडं २ नियागं ३ अभिहडाणि ४ य।
राइभत्ते ५, सिणाणे ६ य, गंधमल्ले ७-८ य वीयणे ९ ॥ २ ॥

१९. सन्निही १० गिहिमत्ते ११ य रायपिंडे किमिच्छए १२। ※
संबाहणा १३, दंतपहोयणा १४ य, संपुच्छणा १५ देहपलोयणा १६ य ॥ ३ ॥

२०. अट्ठावए १७ य नाली य १८ छत्तस्स य धारणट्ठाए १९।
तेगिच्छं २० पाहणापाए २१, समारंभं च जोइणो २२ ॥ ४ ॥

२१. सेज्जायरपिंडं च २३, आसंदी २४ पलियंकए २५।
गिहंतरनिसेज्जा य २६, गायस्सुव्वट्टणाणि २७ य ॥ ५ ॥

२२. गिहिणो वेयावडियं २८, जा य आजीववत्तिया २९।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं ३०, आउरस्सरणाणि ३१ य ॥ ६ ॥

२३. मूलए ३२, सिंगबेरे य ३३, उच्छुखंडे अणिव्वुडे ३४।
कंदे ३५ मूले ३६ सच्चित्ते फले ३७ बीए य आमए ३८ ॥ ७ ॥

२४. सोवच्चले ३९ सिंधवे लोणे ४० रोमालोणे य आमए ४१।
सामुद्दे ४२, पंसुखारे ४३ य, कालालोणे य आमए ४४ ॥ ८ ॥

२५. धूवणेत्ति ४५ वमणे ४६ य, वत्थीकम्म ४७ विरेयणे ४८।
अंजणे ४९, दंतवणे ५० य, गायब्भंग ५१ विभूसणे ५२ ॥ ९ ॥

अर्थ—[१८] १. औद्देशिक (निर्ग्रन्थ के निमित्त से बनाया गया), २. क्रीत—कृत—(साधु के निमित्त खरीदा हुआ) ३. नित्याग्र (सम्मानपूर्वक निमंत्रित करके नित्य दिया जाने वाला), ४. अभिहृत—(निर्ग्रन्थ के लिये सम्मुख लाया गया भोजन) ५. रात्रिभक्त—(रात्रिभोजन करना),

---

७. (क) जि. चू. पृ. १११ (ख) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. ३५

८. तेसिं पुव्वनिद्दिट्ठाणं वहिब्भंतरगंथविप्पमुक्काणं आयपरोभयतातीणं एयं नाम जं उवरि एयंमि अज्झयणे भण्णिहिति, तं पच्चक्खं दरिसेति। —जि. चूर्णि, पृ. १११

※ यहाँ 'रायपिंड' और 'किमिच्छए' दोनों पदों को एक माना गया है। —सं.

और शरीर की क्रियाओं का नियमन करें। तथागत बुद्ध ने अंगुत्तरनिकाय में तीन शुचि भावों का वर्णन किया है—शरीर की शुचिता, वाणी की शुचिता और मन की शुचिता। उन्होंने कहा—भिक्षुओ! जो व्यक्ति प्राणीहिंसा से विरत रहता है; तस्कर कृत्य से विरत रहता है; कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार से विरत रहता है, यह शरीर की शुचिता है। भिक्षुओ! जो व्यक्ति असत्य भापण से विरत रहता है; चुगली करने से विरत रहता है; व्यर्थ वार्तालाप से विरत रहता है; वह वाणी की शुचिता है। भिक्षुओ! जो व्यक्ति निर्लोभ होता है; अक्रोधी होता है; सम्यग्दृष्टि होता है; वह मन की शुचिता है।[219] इस तरह तथागत बुद्ध ने श्रमण साधकों के लिए मन, वचन और शरीर की अप्रशस्त प्रवृत्तियों को रोकने का सन्देश दिया है।[220] इसी प्रकार गुप्ति के ही अर्थ में वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में त्रिदण्डी शब्द व्यवहृत हुआ है। दक्षस्मृति में दत्त ने कहा—केवल बांस की दण्डी धारण करने से कोई संन्यासी या त्रिदण्डी परिव्राजक नहीं हो जाता। त्रिदंडी परिव्राजक वही है जो अपने पास आध्यात्मिक दण्ड रखता हो।[221] आध्यात्मिक दण्ड से यहाँ तात्पर्य मन, वचन और शरीर की क्रियाओं का नियंत्रण है। चाहे श्रमण हो, चाहे संन्यासी हो, उनके लिए यह आवश्यक है कि वे मन-वचन-काया की अप्रशस्त प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करें। बौद्ध और वैदिक परम्परा की अपेक्षा जैन परम्परा ने इस पर अधिक वल दिया है, जैन श्रमणों के लिए महाव्रत का जहाँ मूलगुण के रूप में विधान है वहाँ समिति और गुप्ति का उत्तरगुण के रूप में विधान किया गया है, जिनका पालन जैन श्रमण के लिए अनिवार्य माना गया है।

इस प्रकार मोह-माया से मुक्त होकर श्रमण को अधिक से अधिक साधना में सुस्थिर होने की प्रवल प्रेरणा इस चूलिका द्वारा दी गई है। 'चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं'—शरीर का परित्याग कर दे किन्तु धर्म-शासन को न छोड़े—यह है इस चूलिका का संक्षेप में सार।

द्वितीय चूलिका का नाम 'विविक्तचर्या' है। इसमें श्रमण की चर्या, गुणों और नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें अन्धानुसरण का विरोध किया गया है। आधुनिक युग में प्रत्येक प्रश्न वहुमत के आधार पर निर्णीत होते हैं, पर वहुमत का निर्णय सही ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। वहुमत प्रायः मूर्खों का होता है, संसार में सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्वियों की संख्या अधिक है; ज्ञानियों की अपेक्षा अज्ञानी अधिक हैं; त्यागियों की अपेक्षा भोगियों का प्राधान्य है; इसलिए साधना के क्षेत्र में वहुमत और अल्पमत का प्रश्न महत्त्व का नहीं है। वहाँ महत्त्व है सत्य की अन्वेषणा और उपलब्धि का। उस सत्य की उपलब्धि के साधन हैं—चर्या, गुण और नियम। श्रमण आचार में पराक्रम करे, वह गृहवास का परित्याग करे। सदा एक स्थान पर न रहे और न ऐसे स्थान पर रहे जहाँ रहने से उसकी साधना में वाधा उपस्थित होती हो। वह एकान्त स्थान जहाँ स्त्री-पुरुष-नपुंसक-पशु आदि न हों, वहाँ पर रह कर साधना करे। चर्या का अर्थ मूल व उत्तर गुण रूप चारित्र है और गुण का अर्थ है—चारित्र की रक्षा के लिए भव्य भावनाएँ। नियम का अर्थ है—प्रतिमा आदि अभिग्रह; भिक्षु की वारह प्रतिमाएं नियम के अन्तर्गत ही हैं; स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि भी नियम हैं। जो इनका अच्छी तरह से पालन करता है वह प्रतिबुद्ध-जीवी कहलाता है। वह अनुस्रोतगामी नहीं किन्तु प्रतिस्रोतगामी होता है। अनुस्रोत में मुर्दे वहा करते हैं तो प्रतिस्रोत में जीवित व्यक्ति तैरा करते हैं। साधक

---

२१९. अंगुत्तरनिकाय ३।११८

२२०. अंगुत्तरनिकाय ३।१२०

२२१. दक्षस्मृति ७।२७-३१

इन्द्रिय और मन के विषयों के प्रवाह में नहीं बहता। श्रमण मद्य और मांस का अभोजी होता है। मांस बौद्ध भिक्षु ग्रहण करते थे पर जैन श्रमणों के लिए उसका पूर्ण रूप से निषेध किया गया है। मांस और मदिरा का उपयोग करने वाले को नरकगामी बताया है। साथ ही श्रमणों के लिए दूध-दही आदि विकृतियां प्रतिदिन खाने का निषेध किया गया है।

कायोत्सर्ग : एक चिन्तन

श्रमण के लिए पुनः-पुनः कायोत्सर्ग करने का विधान है। कायोत्सर्ग में शरीर के प्रति ममत्व का त्याग किया जाता है। साधक एकान्त-शान्त स्थान में शरीर से निस्पृह होकर खम्भे की तरह सीधा खड़ा हो जाता है, शरीर को न अकड़ कर रखता है और न झुका कर ही। दोनों बांहों को घुटनों की ओर लम्बा करके प्रशस्त ध्यान में निमग्न हो जाता है। चाहे जो उपसर्ग और परीषह आयें, उनको वह शान्त भाव से सहन करता है। साधक उस समय न संसार के बाह्य पदार्थों में रहता है, न शरीर में रहता है, वह सब ओर से सिमट कर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की एक पवित्र साधना है। वह उस समय राग-द्वेष से ऊपर उठ कर निःसंग और अनासक्त होकर शरीर की मोह-माया का परित्याग करता है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य है शरीर के ममत्व को कम करना। कायोत्सर्ग में साधक यह चिन्तन करता है—यह शरीर अन्य है तथा मैं अन्य हूं; मैं अजर-अमर चैतन्य रूप हूं; मैं अविनाशी हूं; यह शरीर क्षण-भंगुर है; इस मिट्टी के पिण्ड में आसक्त बनकर मैं कर्त्तव्य से पराङ्मुख क्यों बनूँ? शरीर मेरा वाहन है; मैं इस वाहन पर सवार होकर जीवनयात्रा का लम्बा पथ तय करूँ। यदि यह शरीर मुझ पर सवार हो जाएगा तो कितनी अभद्र बात होगी! इस प्रकार कायोत्सर्ग में शरीर के ममत्वत्याग का अभ्यास किया जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—चाहे कोई भक्ति-भाव से चन्दन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश वसूले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु आ जाए, परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, सभी स्थितियों में समचेतना रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग सिद्ध होता है।[222]

कायोत्सर्ग के द्रव्य और भाव ये दो प्रकार हैं। द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक स्थान पर निश्चल और निस्पंद जिन-मुद्रा में खड़े रहना और भाव कायोत्सर्ग है—आर्त और रौद्र दुर्ध्यानों का परित्याग कर धर्म और शुक्ल ध्यान में रमण करना; आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की ओर गमन करना।[223] इसी भाव कायोत्सर्ग पर बल देते हुए शास्त्रकार ने कहा—कायोत्सर्ग सभी दुःखों का क्षय करने वाला है।[224] भाव के साथ द्रव्य का कायोत्सर्ग भी आवश्यक है। द्रव्य और भाव कायोत्सर्ग के स्वरूप को समझाने के लिए कायोत्सर्ग के प्रकारान्तर से चार रूप बताए हैं—

१. उत्थित-उत्थित—जब कायोत्सर्ग के लिए साधक खड़ा होता है, तब द्रव्य के साथ भाव से भी खड़ा होता है। इस कायोत्सर्ग में प्रसुप्त आत्मा जागृत होकर कर्मों को नष्ट करने के लिए खड़ा हो जाता है। यह उत्कृष्ट कायोत्सर्ग है।

२. उत्थित-निविष्ट—जो साधक अयोग्य है, वह शरीर से तो कायोत्सर्ग के लिए खड़ा हो जाता है पर भावों में विशुद्धि न होने से उसकी आत्मा बैठी रहती है।

---

२२२. वासी—चंदणकप्पो, जो मरणे जीविए य समसण्णो।
देहे य अपडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १५४८

२२३. सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति, दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।
—आवश्यकचूर्णि

२२४. काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं। —उत्तराध्ययन २६।४९

३. उपविष्ट-उत्थित—जो साधक रुग्ण है, तपस्वी है या वृद्ध है, वह शारीरिक असुविधा के कारण खड़ा नहीं हो पाता, वह बैठ कर ही धर्मध्यान में लीन होता है। वह शरीर से बैठा है किन्तु आत्मा से खड़ा है।

४. उपविष्ट-निविष्ट—जो आलसी साधक कायोत्सर्ग करने के लिए खड़ा न होकर बैठा रहता है और कायोत्सर्ग में उसके अन्तर्मानस में आर्त्त और रौद्र ध्यान चलता रहता है, वह तन से भी बैठा हुआ और भावना से भी। यह कायोत्सर्ग न होकर कायोत्सर्ग का दिखावा है।

चूलिका के अन्त में साधक को यह उपदेश दिया गया है कि वह आत्मरक्षा का सतत ध्यान रखे। आत्मा की रक्षा के लिए देह का रक्षण आवश्यक है। वह देहरक्षण संयम है। आत्मा के सद्गुणों का हनन कर जो देहरक्षण किया जाता है वह साधक को इष्ट नहीं होता, अतः सतत आत्मरक्षा की प्रेरणा दी गई है। दशवैकालिक में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक यही शिक्षा विविध प्रकार से व्यक्त की गई है। बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना ही आत्मरक्षा है।

तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय संस्कृति में जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों धाराओं का अद्भुत सम्मिश्रण है। ये तीनों धाराएं भारत की पुण्य-धरा पर पनपी हैं। इन तीनों धाराओं में परस्पर अनेक बातों में समानता रही है तो अनेक बातों में भिन्नता भी रही है। तीनों धाराओं के विशिष्ट साधकों की अनेक अनुभूतियां समान थीं तो अनेक अनुभूतियां परस्पर विरुद्ध भी थीं। कितनी ही अनुभूतियों का परस्पर विनिमय भी हुआ है। एक ही धरती से जन्म लेने के कारण तथा परस्पर साथ रहने के कारण एक के चिन्तन का दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन सा समुदाय किसका कितना ऋणी है ? सत्य की जो सहज अनुभूति है उसने जो अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण किया, वह प्रायः कभी शब्दों में और कभी अर्थ में एक सदृश रहा है। उसी को हम यहाँ तुलनात्मक अध्ययन की अभिधा प्रदान कर रहे हैं। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि एक दूसरे ने विचार और शब्दों को एक दूसरे से चुराया है। 'सौ सयाना एक मता' के अनुसार सौ समझदारों का एक ही मत होता है—सत्य को व्यक्त करने में समान भाव और भाषा का होना स्वाभाविक है।

दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म उत्कृष्ट मंगल है, अहिंसा, संयम और तप धर्म के लक्षण हैं, जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

इस गाथा की तुलना करें—धम्मपद (धम्मट्ठवग्गो १९।६) के इस श्लोक से—

यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो ति पवुच्चति॥

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वह मलरहित धीर भिक्षु स्थविर कहलाता है।

दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की दूसरी गाथा की तुलना धम्मपद (पुप्फवग्गो ४।६) से की जा सकती है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं॥
—दशवैकालिक १।२

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी भी पुष्प को पीड़ा नहीं उत्पन्न करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है।

तुलना करें—

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥
—धम्मपद (पुप्फवग्गो ४।६)

जैसे फूल या फूल के वर्ण या गन्ध को विना हानि पहुंचाए भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गांव में विचरण करे।

मधुकर-वृत्ति की अभिव्यक्ति महाभारत में भी इस प्रकार हुई है—

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥
—महाभारत ३४।१७

जैसे भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ ही उनका मधु ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनों को कष्ट दिए विना ही कर के रूप में उनसे धन ग्रहण करे।

दशवैकालिक के द्वितीय अध्ययन की प्रथम गाथा है—

कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ॥

वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा जो काम (विषय-राग) का निवारण नहीं करता, जो संकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विषादग्रस्त होता है।

इसी प्रकार के भाव बौद्ध परम्परा के ग्रन्थ संयुक्तनिकाय के निम्न श्लोक में परिलक्षित होते हैं—

दुक्करं दुत्तितिक्खञ्च अव्यत्तेन हि सामञ्ञं।
बहूहि तत्थ सम्बाधा यत्थ बालो विसीदतीति।
कतिहं चरेय्य सामञ्ञं, चित्तं चे न निवारए।
पदे पदे विसीदेय्य संकप्पानं वसानुगो॥
—संयुक्तनिकाय १।१७

कितने दिनों तक वह श्रमण भाव को पालन कर सकेगा, यदि उसका चित्त वश में नहीं हो तो, जो इच्छाओं के आधीन रहता है वह कदम-कदम पर फिसल जाता है।

दशवैकालिक के द्वितीय अध्ययन का सातवां श्लोक इस प्रकार है—

धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे॥

हे यशःकामिन्! धिक्कार है तुझे! जो तू क्षणभंगुर जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है।

तुलना कीजिए—

धिरत्थु तं विसं वन्तं, यमहं जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वरं॥

—विसवन्त जातक ६९, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४०४

धिक्कार है उस जीवन को, जिस जीवन की रक्षा के लिए एक बार उगल कर मैं फिर निगलूं। ऐसे जीवन से मरना अच्छा है।

दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन की दूसरी और तीसरी गाथा निम्नानुसार है—

उद्देसियं कीयगडं नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य गंधमल्ले य वीयणे॥
सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दंतपहोयणा य संपुच्छणा देहपलोयणा य॥

निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, खरीदा गया, आदरपूर्वक निमन्त्रित कर दिया जाने वाला, निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया हुआ भोजन, रात्रिभोजन, स्नान, गंध द्रव्य का विलेपन, माला पहनना, पंखा झलना, खाद्य वस्तु का संग्रह करना, रात बासी रखना, गृहस्थ के पात्र में भोजन करना, मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा ग्रहण करना, अंगमर्दन करना, दांत पखारना, गृहस्थ की कुशल पूछना, दर्पण निहारना—ये कार्य निर्ग्रन्थ श्रमण के लिए वर्ज्य हैं।

उपरोक्त गाथा की तुलना श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के अध्ययन १८ के श्लोक ३ से कर सकते हैं—

केश-रोम-नख-श्मश्रु-मलानि विभृयादतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥ ११।१८।३

केश, रोएँ, नख और मूँछ-दाढ़ी रूप शरीर के मल को हटावे नहीं। दातुन न करे। जल में घुसकर त्रिकाल स्नान न करे और धरती पर ही पड़ा रहे। यह विधान वानप्रस्थों के लिए है।

इसी प्रकार दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन की नवम गाथा की तुलना भागवत के सातवें स्कन्ध के बारहवें अध्याय के बारहवें श्लोक से कीजिए—

धूवणेत्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे।
अंजणे दंतवणे य, गायब्भंग विभूसणे॥

—दशवैकालिक ३।९

धूम्र-पान की नलिका रखना, रोग की संभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना, वस्तिकर्म (अपान मार्ग से तैल आदि चढ़ाना), विरेचन करना, आँखों में अंजन आँजना, दांतों को दतौन से घिसना, शरीर में तैल आदि की मालिश, शरीर को आभूषणादि से अलंकृत करना आदि श्रमण के लिए वर्ज्य हैं।

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु।
स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः॥
—भागवत ७।१२।१२

जो ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करें, उन्हें चाहिये कि वे सुरमा या तेल न लगावें। उवटन न मलें। स्त्रियों के चित्र न बनावें। मांस और मद्य से कोई सम्बन्ध न रक्खें। फूलों के हार, इत्र-फुलेल, चन्दन और आभूषणों का त्याग कर दें। यह विधान ब्रह्मचारी के लिए है।

दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन की बारहवीं गाथा और मनुस्मृति के छठे अध्ययन के तेवीसवें श्लोक की समानता देखिए—

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया॥
—दशवैकालिक ३।१२

सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं—एक स्थान में रहते हैं।

ग्रीष्मे पञ्चतापास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयंस्तपः॥
—मनुस्मृति अ. ६, श्लोक २३

ग्रीष्म में पंचाग्नि से तपे, वर्षा में खुले मैदान में रहे और हेमन्त में भीगे वस्त्र पहन कर क्रमशः तपस्या की वृद्धि करे। यह विधान वानप्रस्थाश्रम को धारण करने वाले साधक के लिए है।

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की सातवीं गाथा है—

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो पावंकम्मं न बंधई॥

कैसे चले? कैसे खड़ा हो? कैसे बैठे? कैसे सोए? कैसे खाए? कैसे बोले? जिससे पाप-कर्म का बन्ध न हो।

श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ के विषय में पूछा गया है। उपरोक्त गाथा की इस श्लोक से तुलना कीजिए—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव!।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ५४

हे केशव ! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं ? और स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की आठवीं गाथा है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासन्तो, पावंकम्मं न बंधई ॥

अर्थ—जो यतना से चलता है, यतना से ठहरता है और यतना से सोता है, यतना से भोजन करता है, यतना से भाषण करता है, वह पाप कर्म का बंधन नहीं करता।

इतिवुत्तक में भी यही स्वर प्रतिध्वनित हुआ है—

यतं चरे, यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये।
यतं सम्मिञ्जये भिक्खू यतमेनं पसारए ॥ —इतिवुत्तक १२

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की नौवीं गाथा इस प्रकार है—

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावंकम्मं न बंधई ॥

जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है, उसे पापकर्म का वन्धन नहीं होता।

इस गाथा की तुलना गीता के निम्न श्लोक से की जा सकती है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
—गीता अध्याय ५, श्लोक ७

योग से सम्पन्न जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरण वाला एवं सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा के समान अनुभव करने वाला निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की दसवीं गाथा है—

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा वा नाहिइ छेय-पावगं ॥

पहले ज्ञान फिर दया—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं। अज्ञानी क्या करेगा ? वह कैसे जानेगा कि क्या श्रेय है और क्या पाप है ?

इसी प्रकार के भाव गीता के चतुर्थ अध्ययन के अड़तीसवें श्लोक में आए हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्समयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
—गीता ४।३८

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितनेक काल से अपने आप समत्व बुद्धिरूप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है।

दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की चौथी गाथा है—

कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जेत्ता, काले कालं समायरे॥

भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर जो कार्य जिस समय करने का हो, उसे उसी समय करे।

इस गाथा की निम्न से तुलना करें—

काले निक्खमणा साधु, नाकाले साधु निक्खमो।
अकाले नहि निक्खम्म, एककंपि बहूजनो॥
—कौशिक जातक २२६

साधु काल से निकले, बिना काल के नहीं निकले। अकाल में तो निकलना ही नहीं चाहिये, चाहे अकेला हो या बहुतों के साथ हो।

दशवैकालिक के छट्ठे अध्ययन की दसवीं गाथा है—

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥

अर्थ—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, इसलिए प्राणिवध घोर पाप का कारण है अतः निर्ग्रन्थ उसका परिहार करते हैं।

यही स्वर संयुत्तनिकाय में इस रूप में झंकृत हुआ है—

सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा, नेवज्झगा पियतरमत्तना क्वचि।
एवं पियो पुथु अत्ता परेसं, तस्मा न हिंसे परमत्तकामो॥
—संयुत्तानिकाय १।३।८

दशवैकालिक के आठवें अध्ययन में क्रोध को शान्त करने का उपाय बताते हुए कहा है—

'उवसमेण हणे कोहं'—उपशम से क्रोध का हनन करो।
—दशवैकालिक ८।३८

तुलना कीजिए 'धम्मपद' क्रोध वर्ग के निम्न पद से—

'अक्कोधेन जिने कोधं'—अक्रोध से क्रोध को जीतो।
—धम्मपद, क्रोधवर्ग, ३

दशवैकालिक के नौवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक की प्रथम गाथा में बताया है कि जो शिष्य कषाय व प्रमाद के वशीभूत होकर गुरु के सन्निकट शिक्षा ग्रहण नहीं करता, उसका अविनय उसके लिए घातक होता है—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥ —दशवैकालिक ९।१।१

जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नहीं लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश के लिए होती है। जैसे कीचक (बांस) का फल उसके विनाश के लिए होता है, अर्थात्—हवा से शब्द करते हुए बांस को कीचक कहते हैं, वह फल लगने पर सूख जाता है।

धम्मपद में यही उपमा इस प्रकार आई है—

यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठि निस्साय पापिकं ॥
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तयञ्ञा फुल्लति ॥ —धम्मपद १२।८

जो दुर्बुद्धि मनुष्य पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर अरहन्तों तथा धर्मनिष्ठ आर्य पुरुषों के शासन की अवहेलना करता है, वह आत्मघात के लिए वांस के फल की तरह प्रफुल्लित होता है।

दशवैकालिक के दसवें अध्ययन की आठवीं गाथा में भिक्षु के जीवन की परिभाषा इस प्रकार दी है—

तहेव असणं पाणगं वा विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥
—दशवैकालिक १०।८

अर्थ—पूर्वोक्त विधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर, यह कल या परसों काम आएगा, इस विचार से जो न सन्निधि (संचय) करता है और न कराता है वह भिक्षु है।

सुत्तनिपात में यही वात इस रूप में झंकृत हुई है—

अन्नानमथो पानानं, खादनीयानमथोऽपि वत्थानं।
लद्धा न सन्निधि कयिरा, न च परित्तसेतानि अलभमानो ॥ —सुत्तनिपात ५२-१०

दशवैकालिक सूत्र के दसवें अध्ययन की दसवीं गाथा में भिक्षु की जीवनचर्या का महत्त्व बताते हुए कहा है—

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमधुवजोगजुत्ते उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ —दशवैकालिक १०।१०

अर्थ—जो कलहकारी कथा नहीं करता, जो कोप नहीं करता, जिसकी इन्द्रियां अनुद्धत हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम में ध्रुवयोगी है, जो उपशान्त है, जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता वह भिक्षु है।

भिक्षु को शिक्षा देते हुए सुत्तनिपात में प्रायः यही शब्द कहे गए हैं—(सुत्तनिपात, तुवटक सुत्त ५२।१६)

न च कत्थिता सिया भिक्खू, न च वाचं पयुतं भासेय्य।
पागब्भियं न सिक्खेय्य, कथं विग्गाहिकं न कथयेय्य ॥

भिक्षु धर्मरत्न ने चतुर्थ चरण का अर्थ लिखा है—कलह की वात न करे। धर्मानन्द कौसम्बी ने अर्थ किया कि भिक्षु को वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए।

दशवैकालिक के दसवें अध्ययन की ग्यारहवीं गाथा में भिक्षु की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

जो सहइ हु गामकंटए अक्कोसपहारतज्जणाओ य।
भयभेरवसद्दसंपहासे समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खु ।। —दशवैकालिक १०।११

अर्थ—जो कांटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयों, आक्रोश-वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं और वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभावपूर्वक सहन करता है—वह भिक्षु है।

सुत्तनिपात की निम्न गाथाओं से तुलना करें—

भिक्खुनो विजिगुच्छतो, भजतो रित्तमासनं।
रुक्खमूलं सुसानं वा, पब्बतानं गुहासु वा ।।
उच्चावचेसु सयनेसु कीवन्तो तत्थ भेरवा।
येहि भिक्खु न वेधेय्य निग्घोसे सयनासने ।। —सुत्तपनिपात ५४।४-५

दशवैकालिक के दसवें अध्ययन की १५ वीं गाथा है—

हत्थसंजए पायसंजए वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए मुसमाहियप्पा सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ।। —दशवैकालिक १०।१५

अर्थ—जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इन्द्रियों से संयत है, अध्यात्म में रत है, भली-भांति समाधिस्थ है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है, वह भिक्षु है।

धम्मपद में भिक्षु के लक्षण निम्न गाथा में आए हैं—

चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो ।।
कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो ।।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति। —धम्ममद २५।१-२-३
हत्थसंयतो पादसंयतो वाचाय संयतो संयतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ।।

इस प्रकार दशवैकालिकसूत्र में आयी हुई गाथाएँ कहीं पर भावों की दृष्टि से तो कहीं विषय की दृष्टि से और कहीं पर भाषा की दृष्टि से वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों के साथ समानता रखती हैं। कितनी ही गाथाएँ आचारांग चूलिका के साथ विषय और शब्दों की दृष्टि से अत्यधिक साम्य रखती हैं। उनका कोई एक ही स्रोत होना चाहिए। इसके अतिरिक्त दशवैकालिक की अनेक गाथाएं अन्य जैनागमों में आई हुई गाथाओं के साथ मिलती हैं। पर हमने विस्तारभय से उनकी तुलना नहीं दी है। समन्वय की दृष्टि से जब हम गहराई से अवगाहन करते हैं तो ज्ञात होता है—अनन्त सत्य को व्यक्त करने में चिन्तकों का अनेक विषयों में एकमत रहा है।

व्याख्यासाहित्य

दशवैकालिक पर आज तक जितना भी व्याख्यासाहित्य लिखा गया है, उस साहित्य को छह भागों में विभक्त किया जा सकता है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृतटीका, लोकभाषा में टब्बा और आधुनिक शैली से

संपादन। निर्युक्ति प्राकृत भाषा में पद्य-बद्ध टीकाएँ हैं, जिनमें मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद की व्याख्या न करके मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। निर्युक्ति की व्याख्याशैली निक्षेप पद्धति पर आधृत है। एक पद के जितने भी अर्थ होते हैं उन्हें बताकर जो अर्थ ग्राह्य है उसकी व्याख्या की गई है और साथ ही अप्रस्तुत का निरसन भी किया गया है। यों कह सकते हैं—सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है[२२५]। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् सारपेन्टियर ने लिखा है—निर्युक्तियां अपने प्रधान भाग के केवल इन्डेक्स का काम करती है, ये सभी विस्तारयुक्त घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।[२२६] डॉ. घाटके ने निर्युक्तियों को तीन विभागों में विभक्त किया है—[२२७]

(१) मूल-निर्युक्तियां—जिन निर्युक्तियों पर काल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और उनमें अन्य कुछ भी मिश्रण नहीं हुआ, जैसे—आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियां।

(२) जिनमें मूलभाष्यों का सम्मिश्रण हो गया है तथापि वे व्यवच्छेद्य हों, जैसे—दशवैकालिक और आवश्यक सूत्र की निर्युक्तियां।

(३) वे निर्युक्तियां, जिन्हें आजकल भाष्य या बृहद् भाष्य कहते हैं। जिनमें मूल और भाष्य का इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियां।

प्रस्तुत विभाग वर्तमान में जो निर्युक्तिसाहित्य प्राप्त है, उसके आधार पर किया गया है।

जैसे यास्क महर्षि ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए निघण्टु भाष्य रूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियां लिखीं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय विक्रम संवत् ५६२ के लगभग है और निर्युक्तियों का समय ५०० से ६०० (वि. स.) के मध्य का है। दस आगमों पर निर्युक्तियां लिखी गईं, उनमें एक निर्युक्ति दशवैकालिक पर भी है। डॉ. घाटके के अभिमतानुसार ओघनिर्युक्ति और पिण्ड-निर्युक्ति क्रमशः दशवैकालिकनिर्युक्ति और आवश्यक-निर्युक्ति की उपशाखाएँ हैं। पर डॉ. घाटके की बात से सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि सहमत नहीं हैं। उनके मंतव्यानुसार पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक अंश है। यह बात उन्होंने पिण्डनिर्युक्ति की टीका में स्पष्ट की है। आचार्य मलयगिरि दशवैकालिकनिर्युक्ति को चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृति मानते हैं, किन्तु पिण्डैषणा नामक पांचवें अध्ययन पर वह निर्युक्ति बहुत ही विस्तृत हो गई, जिससे पिण्डनिर्युक्ति को स्वतंत्र निर्युक्ति के रूप में स्थान दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि पिण्डनिर्युक्ति दशावैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विभाग है। आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध में अपना तर्क दिया है—पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक-निर्युक्ति के अन्तर्गत होने के कारण ही इस ग्रन्थ के आदि में नमस्कार नहीं किया गया है और दशवैकालिक-निर्युक्ति के मूल के आदि में निर्युक्तिकार ने नमस्कारपूर्वक ग्रन्थ को प्रारम्भ किया है।[२२८]

२२५ सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः। —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ८३

२२६ उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ० ५०-५१

227 Indian Historical Quarterly, Vol. 12 P. 270

२२८. दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययन निर्युक्तिरति—प्रभूतग्रन्थत्वात् पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नामकृतं ....अतएव चादावत्र नमस्कारोऽपि न कृतो दशवैकालिकनिर्युक्त्यन्तरगतत्वेन शेषा तु निर्युक्तिर्दशवैकालिक-निर्युक्तिरिति स्थापिता।

गहराई से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य मलयगिरि का तर्क अधिक वजनदार नहीं है। केवल नमस्कार न करने के कारण ही पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का एक अंश है, यह कथन उपयुक्त नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन करने पर स्पष्ट होता है कि नमस्कार करने की परम्परा बहुत प्राचीन नहीं है। छेदसूत्र और मूलसूत्रों का प्रारम्भ भी नमस्कार-पूर्वक नहीं हुआ है। टीकाकारों ने खींचतान कर आदि, मध्य और अन्त मंगल की संयोजना की। मंगल-वाक्यों की परम्परा विक्रम की तीसरी शती के पश्चात् की है। विषय की दृष्टि से दोनों में समानता है किन्तु पिण्डनिर्युक्ति भद्रबाहु की रचना है, यह उल्लेख आचार्य मलयगिरि के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं पर भी नहीं मिलता।

दशवैकालिकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम दश शब्द का प्रयोग दस अध्ययन की दृष्टि से हुआ है और काल का प्रयोग इसलिए हुआ है कि इसकी रचना उस समय पूर्ण हुई जब पौरुषी व्यतीत हो चुकी थी, अपराह्न का समय हो चुका था। प्रथम अध्ययन का नाम 'द्रुमपुष्पिका' है। इसमें धर्म की प्रशंसा करते हुए उसके लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद बताये हैं। लौकिकधर्म के ग्रामधर्म, देशधर्म, राजधर्म प्रभृति अनेक भेद किये हैं। लोकोत्तर धर्म के श्रुतधर्म और चारित्रधर्म ये दो विभाग हैं। श्रुतधर्म स्वाध्याय रूप है और चारित्रधर्म श्रमणधर्म रूप है। अहिंसा, संयम और तप की सुन्दर परिभाषा दी गई है। प्रतिज्ञा, हेतु, विभक्ति, विपक्ष, प्रतिबोध, दृष्टान्त, आशंका, तत्प्रतिषेध, निगमन इन दस अवयवों से प्रथम अध्ययन का परीक्षण किया गया है।[२२९]

द्वितीय अध्ययन के प्रारम्भ में श्रामण्य-पूर्वक की निक्षेप पद्धति से व्याख्या है। श्रामण्य का निक्षेप चार प्रकार से किया गया है—१. नामश्रमण २. स्थापनाश्रमण ३. द्रव्यश्रमण और ४. भावश्रमण।

भावश्रमण की संक्षेप में और सारगर्भित व्याख्या की गई है।[२३०] श्रमण के प्रव्रजित, अनगार, पाषंडी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्यमुनि, क्षान्तदान्त, विरत, रूक्ष, तीरार्थी, ये पर्यायवाची हैं। पूर्वक के निक्षेप की दृष्टि से तेरह प्रकार हैं—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. क्षेत्र ५. काल ६. दिक् ७. तापक्षेत्र ८. प्रज्ञापक ९. पूर्व १०. वस्तु ११. प्राभृत १२. अति प्राभृत १३. भाव। उसके पश्चात् काम पर भी निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। भाव-काम के इच्छा-काम और मदन-काम ये दो प्रकार हैं। इच्छा-काम प्रशस्त और अप्रशस्त, दो प्रकार का होता है। मदन-काम का अर्थ—वेद का उपयोग; स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद आदि का विपाक अनुभव। प्रस्तुत अध्ययन में मदन-काम का निरूपण है।[२३१] इस प्रकार इस अध्ययन में पद की भी निक्षेप दृष्टि से व्याख्या है।[२३२]

तृतीय अध्ययन में क्षुल्लक अर्थात् लघु आचारकथा का अधिकार है। क्षुल्लक, आचार और कथा इन तीनों का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन है। क्षुल्लक का नाम, स्थापना, द्रव्य और क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव इन आठ भेदों की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। आचार का निक्षेपदृष्टि से चिन्तन करते हुए नामन, धावन, वासन, शिक्षापन आदि को द्रव्याचार कहा है और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य को भावाचार कहा है।

---

२२९ दशवैकालिक गाथा १३७-१४८
२३०. ,, गाथा १५२-१५७
२३१. ,, गाथा १६१-१६३
२३२. ,, गाथा १६६-१७७

कथा के अर्थ, काम, धर्म और मिश्र ये चार भेद किए गए हैं और उनके अवान्तर भेद भी किए गए हैं। श्रमण क्षेत्र, काल, पुरुष, सामर्थ्य प्रभृति को लक्ष्य में रखकर ही अनवद्य कथा करें। [२३३]

चतुर्थ अध्ययन में षट्जीवनिकाय का निरूपण है। इसमें एक, छह, जीव, निकाय और शास्त्र का निक्षेप-दृष्टि से चिन्तन किया गया है। जीव के लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए बताया है—आदान, परिभोग, योग, उपयोग, कषाय, लेश्या, आंख, आपान, इन्द्रिय, बन्ध, उदय, निर्जरा, चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, धारणा, बुद्धि, ईहा, मति, वितर्क से जीव को पहचान सकते हैं। [२३४] शस्त्र के द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार बताए हैं। द्रव्यशस्त्र स्वकाय, परकाय और उभय कायरूप होता है तथा भावशस्त्र असंयम रूप होता है। [२३५]

पंचम अध्ययन भिक्षा-विशुद्धि से सम्बन्धित है। पिण्डैषणा में पिण्ड तथा एषणा—ये दो पद हैं, इन पर निक्षेपपूर्वक चिन्तन किया गया है। गुड़, ओदन आदि द्रव्यपिण्ड हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, ये भाव-पिण्ड हैं। द्रव्यैषणा सचित्त, अचित्त और मिश्र के रूप से तीन प्रकार की है। भावैषणा प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार की है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि प्रशस्त भावैषणा है और क्रोध आदि अप्रशस्त भावैषणा है। प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यैषणा का ही वर्णन किया गया है, क्योंकि भिक्षा-विशुद्धि से तप और संयम का पोषण होता है। [२३६]

छठे अध्ययन में बृहद् आचारकथा का प्रतिपादन है। महत् का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव इन आठ भेदों से चिन्तन किया है। धान्य और रत्न के चौवीस-चौवीस प्रकार बताए गए हैं। [२३७]

सप्तम अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। वाक्य, वचन, गिरा, सरस्वती, भारती, गो, वाक्, भाषा, प्रज्ञापनी, देशनी, वाग्योग, योग ये सभी एकार्थक शब्द हैं। जनपद आदि के भेद से सत्यभाषा दस प्रकार की होती है। क्रोध आदि के भेद से मृषाभाषा भी दस प्रकार की होती है। उत्पन्न होने के प्रकार से मिश्रभाषा अनेक प्रकार की है और असत्यामृषा आमंत्रणी आदि के भेद से अनेक प्रकार की है। शुद्धि के भी नाम आदि चार निक्षेप हैं। भावशुद्धि तद्भाव, आदेशभाव और प्राधान्यभाव रूप से तीन प्रकार की हैं। [२३८]

अष्टम अध्ययन आचारप्रणिधि है। प्रणिधि द्रव्यप्रणिधि और भावप्रणिधि रूप से दो प्रकार की है। निधान आदि द्रव्यप्रणिधि है। इन्द्रियप्रणिधि और नोइन्द्रियप्रणिधि ये भावप्रणिधि है, जो प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार की है। [२३९]

नवम अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। भावविनय के लोकोपचार, अर्थनिमित्त, कामहेतु, भय-निमित्त और मोक्षनिमित्त, ये पाँच भेद किए गए हैं। मोक्ष निमित्तक विनय के दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार सम्बन्धी पाँच भेद किये गए हैं। [२४०]

---

२३३. दशवैकालिक गाथा १८८-२१५
२३४. " गाथा २२३-२२४
२३५. " गाथा २३१
२३६. " गाथा २३४-२४४
२३७. " गाथा २५०-२६२
२३८. " गाथा २६९-२७०; २७३-२७६; २८६
२३९. " गाथा २९३-९४
२४०. " गाथा ३०९-३२२

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु है। प्रथम नाम, क्षेत्र आदि निक्षेप की दृष्टि से 'स' पर चिन्तन किया है। उसके पश्चात् 'भिक्षु' का निक्षेप की दृष्टि से विचार किया है। भिक्षु के तीर्ण, तायी, द्रव्य, व्रती, क्षान्त, दान्त, विरत, मुनि, तापस, प्रज्ञापक, ऋजु, भिक्षु, बुद्ध, यति, विद्वान् प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, ब्राह्मण, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, साधु, रूक्ष, तीरार्थी आदि पर्यायवाची दिये हैं। पूर्व में श्रमण के जो पयर्यावाची शब्द दिये गये हैं उनमें भी इनमें के कुछ शब्द आ गये हैं।[२४१]

चूलिका का निक्षेप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से चार प्रकार का है। यहाँ पर भावचूला अभिप्रेत है, जो क्षायोपशमिक है। रति का निक्षेप भी चार प्रकार का है। जो रतिकर्म के उदय के कारण होती है—वह भाव-रति है, वह धर्म के प्रति रतिकारक और अधर्म के प्रति अरतिकारक है। इस प्रकार दशवैकालिकनिर्युक्ति की तीन सौ इकहत्तर गाथाओं में अनेक लौकिक और धार्मिक कथाओं एवं सूक्तियों के द्वारा सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गया है। हिंगुशिव, गन्धर्विका, सुभद्रा, मृगावती, नलदाम और गोविन्दवाचक आदि की कथाओं का संक्षेप में नामोल्लेख हुआ है। सम्राट् कूणिक ने गणधर गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! चक्रवर्ती मर कर कहाँ उत्पन्न होते हैं ? समाधान दिया गया—संयम ग्रहण न करें तो सातवें नरक में। पुन: जिज्ञासा प्रस्तुत हुई—भगवन् ! मैं कहाँ पर उत्पन्न होऊँगा ? गौतम ने समाधान दिया—छठे नरक में। प्रश्नोत्तर के रूप में कहीं-कहीं पर तार्किक शैली के भी दर्शन होते हैं।

भाष्य

निर्युक्तियों की व्याख्याशैली बहुत ही संक्षिप्त और गूढ़ थी। निर्युक्तियों का मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। निर्युक्तियों के गुरु गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए कुछ विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएं लिखीं गईं, वे भाष्य के नाम से विश्रुत हैं। भाष्यों में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियां, लौकिक कथाएँ और परम्परागत श्रमणों के आचार-विचार और गतिविधियों का प्रतिपादन किया गया है। दशवैकालिक पर जो भाष्य प्राप्त है, उसमें कुल ६३ गाथाएं हैं। दशवैकालिकचूर्णि में भाष्य का उल्लेख नहीं है, आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्ति में भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है[२४२], भाष्यकार के नाम का उल्लेख नहीं किया और न अन्य किसी विज्ञ ने ही इस सम्बन्ध में सूचन किया है।[२४३] जिन गाथाओं को आचार्य हरिभद्र ने भाष्यगत माना हैं, वे गाथाएं चूर्णि में भी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भाष्यकार चूर्णिकार से पूर्ववर्ती हैं। इसमें हेतु, विशुद्धि, प्रत्यक्ष, परोक्ष, मूलगुणों व उत्तरगुणों का प्रतिपादन किया गया है। अनेक प्रमाण देकर जीव की संसिद्धि की गई है। दशवैकालिकभाष्य दशवैकालिकनिर्युक्ति की अपेक्षा बहुत ही संक्षिप्त है।

चूर्णि

आगमों पर निर्युक्ति और भाष्य के पश्चात् शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में गद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गईं। वे चूर्णि के रूप में विश्रुत हैं। चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणी महत्तर का नाम अत्यन्त

---

२४१. दशवैकालिक, गाथा ३४५-३४७

२४२. (क) भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति। —दशवै. हारिभद्रीय टीका, प. ६४

(ख) आह च भाष्यकारः। —दशवै. हारिभद्रीय टीका, प. १२०

(ग) व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः। —दशवै. हा. टी, प. १२८

२४३. तामेव निर्युक्तिगाथां लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः।—एतदपि नित्यत्वादिप्रसाधकमिति निर्युक्तिगाथायामनुपन्यस्तमप्युक्तं सूक्ष्मधिया भाष्यकारेणेति गाथार्थः। —दशवै. हारि. टीका, पत्र १३२

गौरव के साथ लिया जा सकता है। उनके द्वारा लिखित सात आगमों पर चूर्णियां प्राप्त हैं। उनमें एक चूर्णि दशवैकालिक पर भी है। दशवैकालिक पर दूसरी चूर्णि अगस्त्यसिंह स्थविर की है। आगमप्रभाकर पुण्यविजयजी महाराज ने उसे संपादित कर प्रकाशित किया है। उनके अभिमतानुसार अगस्त्यसिंह स्थविर द्वारा रचित चूर्णि का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।[२४४] अगस्त्यसिंह कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के एक स्थविर थे, उनके गुरु का नाम ऋषिगुप्त था। इस प्रकार दशवैकालिक पर दो चूर्णियां प्राप्त हैं—एक जिनदासगणी महत्तर की, दूसरी अगस्त्यसिंह स्थविर की। अगस्त्यसिंह ने अपनी वृत्ति को चूर्णि की संज्ञा प्रदान की है—"चुण्णिसमासवयणेण दसकालियं परिसमत्तं।"

अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्णि में सभी महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या की है। इस व्याख्या के लिए उन्होंने विभाषा[२४५] शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में सूत्र-मूल और विभाषा-व्याख्या के ये दो प्रकार हैं। विभाषा का मुख्य लक्षण है—शब्दों के जो अनेक अर्थ होते हैं, उन सभी अर्थों को बताकर, प्रस्तुत में जो अर्थ उपयुक्त हो उसका निर्देश करना। प्रस्तुत चूर्णि में यह पद्धति अपनाने के कारण इसे 'विभाषा' कहा गया है, जो सर्वथा उचित है।

चूर्णिसाहित्य की यह सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि अनेक दृष्टान्तों व कथाओं के माध्यम से मूल विषय को स्पष्ट किया जाता है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में अनेक ग्रन्थों के अवतरण दिए हैं जो उनकी बहुश्रुतता को व्यक्त करते हैं।

मूल आगमसाहित्य में श्रद्धा की प्रमुखता थी। निर्युक्तिसाहित्य में अनुमानविद्या या तर्कविद्या को स्थान मिला। उसका विशदीकरण प्रस्तुत चूर्णि में हुआ है। उनके पश्चात् आचार्य अकलंक आदि ने इस विषय को आगे बढ़ाया है। अगस्त्यसिंह के सामने दशवैकालिक की अनेक वृत्तियां थी, सम्भव है, वे वृत्तियां या व्याख्याएं मौखिक रही हों, इसलिए उपदेश शब्द का प्रयोग लेखक ने किया है। 'भद्दियायरि ओवएस' और 'दत्तिलायरि ओवएस' की उन्होंने कई बार चर्चा की है। यह सत्य है कि दशवैकालिक की वृत्तियां प्राचीनकाल से ही प्रारम्भ हो चुकी थीं। आचार्य अपराजित जो यापनीय थे, उन्होंने दशवैकालिक की विजयोदया नामक टीका लिखी थी।[२४६] पर यह टीका स्थविर अगस्त्यसिंह के समक्ष नहीं थी। अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्णि में अनेक मतभेद या व्याख्यान्तरों का भी उल्लेख किया है।[२४७]

ध्यान का सामान्य लक्षण "एगग्ग चिन्ता-निरोहो झाणं" की व्याख्या में कहा है कि एक आलम्बन की चिन्ता करना, यह छद्मस्थ का ध्यान है। योग का निरोध केवली का ध्यान है, क्योंकि केवली को चिन्ता नहीं होती।

ज्ञानाचरण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि प्राकृतभाषानिबद्ध सूत्र का संस्कृत रूपान्तर नहीं करना चाहिए क्योंकि व्यञ्जन में विसंवाद करने पर अर्थ-विसंवाद होता है।

---

२४४. बृहत्कल्पभाष्य, भाग ६, आमुख पृ. ४

२४५. विभाषा शब्द का अर्थ देखें—'शाकटायन-व्याकरण', प्रस्तावना पृ. ६९। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

२४६. दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते ॥
—भगवती आराधना टीका, विजयोदया गाथा ११९५

२४७. दशवै. अगस्त्यसिंहचूर्णि, २-२९, ३-५, १६-९, २५-५, ६४-४, ७८-२९, ८१-३४, १००-२५, आदि।

'रात्रिभोजनविरमणव्रत' को मूलगुण माना जाय या उत्तरगुण ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि यह उत्तरगुण ही है किन्तु मूलगुण की रक्षा का हेतु होने से मूलगुण के साथ कहा गया है। वस्त्रपात्रादि संयम और लज्जा के लिए रखे जाते हैं अतः वे परिग्रह नहीं हैं। मूर्च्छा ही परिग्रह है। चोलपट्टकादि का भी उल्लेख है।

धर्म की व्यावहारिकता का समर्थन करते हुए कहा है—अनन्तज्ञानी भी गुरु की उपासना अवश्य करे (९।१।११)।

'देहदुक्खं महाफलं' की व्याख्या में कहा है 'दुक्खं एवं सहिज्जमाणं मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं।' बौद्धदर्शन ने चित्त को ही नियंत्रण में लेना आवश्यक माना तो उसका निराकरण करते हुए कहा—'काय का भी नियंत्रण आवश्यक है।'

दार्शनिक विषयों की चर्चाएँ भी यत्र-तत्र हुई हैं। प्रस्तुत चूर्णि में तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, कल्पभाष्य आदि ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है।

दशवैकालिक चूर्णि (जिनदास)

चूर्णि-साहित्य के निर्माताओं में जिनदासगणी महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। जिनदासगणी महत्तर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री अनुपलब्ध है। विज्ञों का अभिमत है कि चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर भाष्यकार जिनभद्र क्षमाश्रमण के पश्चात् और आचार्य हरिभद्र के पहले हुए हैं। क्योंकि भाष्य की अनेक गाथाओं का उपयोग चूर्णियों में हुआ है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्तियों में चूर्णियों का उपयोग किया है। आचार्य जिनदासगणी का समय विक्रम संवत् ६५० से ७५० के मध्य होना चाहिए। नंदीचूर्णि के उपसंहार में उसका रचनासमय शक संवत् ५९८ अर्थात् विक्रम संवत् ७३३ है—इससे भी यही सिद्ध होता है। आचार्य जिनदासगणी महत्तर की दशवैकालिकनिर्युक्ति के आधार पर दशवैकालिक-चूर्णि लिखी गई है। यह चूर्णि संस्कृतमिश्रित प्राकृत भाषा में रचित है, किन्तु संस्कृत कम और प्राकृत अधिक है। प्रथम अध्ययन में एकक, काल, द्रुम, धर्म आदि पदों का निक्षेपदृष्टि से चिन्तन किया है। आचार्य शय्यम्भव का जीवनवृत्त भी दिया है। दस प्रकार के श्रमण धर्म, अनुमान के विविध अवयव आदि पर प्रकाश डाला है। द्वितीय अध्ययन में श्रमण के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए—पूर्व, काम, पद, आदि पदों पर विचार किया गया है। तृतीय अध्ययन में दृढधृतिक के आचार का प्रतिपादन है। उसमें महत्, क्षुल्लक, आचार—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, तपाचार, वीर्याचार, अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, मिश्रकथा, अनाचीर्ण आदि का भी विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन में जीव, अजीव, चारित्र, यतना, उपदेश, धर्मफल आदि का परिचय दिया है। पञ्चम अध्ययन में श्रमण के उत्तरगुण—पिण्डस्वरूप, भक्तपानैषणा, गमनविधि, गोचरविधि, पानकविधि, परिष्ठापनविधि; भोजनविधि, आदि पर विचार किया गया है। षष्ठ अध्ययन में धर्म, अर्थ, काम, व्रतषट्क, कायषट्क आदि का प्रतिपादन है। इसमें आचार्य का संस्कृतभाषा के व्याकरण पर प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है। सप्तम अध्ययन में भाषा सम्बन्धी विवेचना है। अष्टम अध्ययन में इन्द्रियादि प्रणिधियों पर विचार किया है। नौवें अध्ययन में लोकोपचार विनय, अर्थविनय, कामविनय, भयविनय, मोक्षविनय की व्याख्या है। दशम अध्ययन में भिक्षु के गुणों का उत्कीर्तन किया है। चूलिकाओं में रति, अरति, विहारविधि, गृहिवैयावृत्य का निषेध, अनिकेतवास प्रभृति विषयों से सम्बन्धित विवेचना है। चूर्णि में तरंगवती, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों का नामनिर्देश भी किया गया है।

प्रस्तुत चूर्णि में अनेक कथाएँ दी गई हैं, जो बहुत ही रोचक तथा विषय को स्पष्ट करने वाली हैं। उदाहरण के रूप में हम यहाँ एक-दो कथाएँ दे रहे हैं—

प्रवचन का उड्डाह होने पर किस प्रकार प्रवचन की रक्षा की जाए ? इसे समझाने के लिए हिंगुशिव नामक वानव्यन्तर की कथा है। एक माली पुष्पों को लेकर जा रहा था। उसी समय उसे शौच की हाजत हो गई। उसने रास्ते में ही शौच कर उस अशुचि पर पुष्प डाल दिए। राहगीरों ने पूछा—यहाँ पर पुष्प क्यों डाल रखे हैं ? उत्तर में माली ने कहा—मुझे प्रेतवाधा हो गई थी। यह हिंगुशिव नामक वानव्यन्तर है।

इसी प्रकार यदि कभी प्रमादवश प्रवचन की हँसी का प्रसंग उपस्थित हो जाय तो उसकी बुद्धिमानी से रक्षा करें।

एक लोककथा बुद्धि के चमत्कार को उजागर कर रही है—

एक व्यक्ति ककड़ियों से गाड़ी भरकर नगर में बेचने के लिए जा रहा था। उसे मार्ग में एक धूर्त मिला, उसने कहा—मैं तुम्हारी ये गाड़ी भर ककड़ियां खा लूं तो मुझे क्या पुरस्कार दोगे ? ककड़ी वाले ने कहा—मैं तुम्हें इतना बड़ा लड्डू दूंगा जो नगरद्वार में से निकल न सके। धूर्त ने बहुत सारे गवाह बुला लिए और उसने थोड़ी-थोड़ी सभी ककड़ियां खाकर पुनः गाड़ी में रख दीं और लगा लड्डू मांगने। ककड़ी वाले ने कहा—शर्त के अनुसार तुमने ककड़ियां खाई ही कहाँ हैं ? धूर्त ने कहा—यदि ऐसी बात है तो ककड़ियां बेचकर देखो।

ककड़ियों की गाड़ी को देखकर बहुत सारे व्यक्ति ककड़ियां खरीदने को आ गये। पर ककड़ियों को देखकर उन्होंने कहा—खाई हुई ककड़ियां बेचने के लिए क्यों लेकर आए हो ?

अन्त में धूर्त और ककड़ी वाला दोनों न्याय कराने हेतु न्यायाधीश के पास पहुंचे। ककड़ी वाला हार गया और धूर्त जीत गया। उसने पुनः लड्डू मांगा। ककड़ी वाले ने उसे लड्डू के बदले में बहुत सारा पुरस्कार देना चाहा पर वह लड्डू लेने के लिए ही अड़ा रहा। नगर के द्वार से बड़ा लड्डू बनाना कोई हँसी-खेल नहीं था। ककड़ी वाले को परेशान देखकर एक दूसरे धूर्त ने उसे एकान्त में ले जाकर उपाय बताया कि एक नन्हा सा लड्डू बनाकर उसे नगर द्वार पर रख देना और कहना—'लड्डू ! दरवाजे से बाहर निकल आओ।' पर लड्डू निकलेगा नहीं, फिर तुम वह लड्डू उसे यह कहकर दे देना कि यह लड्डू द्वार में से नहीं निकल रहा है।

इस प्रकार अनेक कथाएं प्रस्तुत चूर्णि में विषय को स्पष्ट करने के लिए दी गई हैं।

टीकाएं

चूर्णि साहित्य के पश्चात् संस्कृतभाषा में टीकाओं का निर्माण हुआ। टीकायुग जैन साहित्य के इतिहास में स्वर्णिम युग के रूप में विश्रुत है। निर्युक्तिसाहित्य में आगमों के शब्दों की व्याख्या और व्युत्पत्ति है। भाष्यसाहित्य में आगमों के गम्भीर भावों का विवेचन है। चूर्णिसाहित्य में निगूढ़ भावों को लोककथाओं तथा ऐतिहासिक वृत्तों के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीकासाहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाकारों ने प्राचीन निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य का अपनी टीकाओं में प्रयोग किया ही है और साथ ही नये हेतुओं का भी उपयोग किया है। टीकाएँ संक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार की हैं। टीकाओं के

विविध नामों का प्रयोग भी आचार्यों ने किया है; जैसे—टीका, वृत्ति, विवृत्ति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पणक, पर्याय, स्तवक, पीठिका, अक्षरार्द्ध।

इन टीकाओं में केवल आगमिक तत्त्वों पर ही विवेचन नहीं हुआ अपितु उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक परिस्थितयों का भी इनसे सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम सर्वप्रथम है। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका सत्ता-समय विक्रम संवत् ७५७ से ८२८ है। प्रभावकचरित के अनुसार उनके दीक्षागुरु आचार्य जिनभट थे किन्तु स्वयं आचार्य हरिभद्र ने उनका गच्छपति गुरु के रूप में उल्लेख किया है और जिनदत्त को दीक्षागुरु माना है।[२४८] याकिनी महत्तरा उनकी धर्ममाता थीं, उनका कुल विद्याधर था। उन्होंने अनेक आगमों पर टीकाएं लिखी हैं, वर्तमान में ये आगमटीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं—नन्दीवृत्ति, अनुयोगद्वारवृत्ति, प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या, आवश्यकवृत्ति और दशवैकालिकवृत्ति।

दशवैकालिकवृत्ति के निर्माण का मूल आधार दशवैकालिकनिर्युक्ति है। शिष्यबोधिनीवृत्ति या बृहद्वृत्ति ये दो नाम इस वृत्ति के उपलब्ध हैं। वृत्ति के प्रारंभ में दशवैकालिक का निर्माण कैसे हुआ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य शय्यम्भव का जीवनवृत्त दिया है। तप के वर्णन में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का निरूपण किया गया है। अनेक प्रकार के श्रोता होते हैं, उनकी दृष्टि से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण विभिन्न अवयवों की उपयोगिता, उनके दोषों की शुद्धि का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय अध्ययन की वृत्ति में श्रमण, पूर्व, काम, पद आदि शब्दों पर चिन्तन करते हुए तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इन्द्रियां, पांच स्थावर, दस श्रमणधर्म, अठारह शीलांगसहस्र का निरूपण किया गया है।

तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत्, क्षुल्लक पदों की व्याख्या है। पांच आचार, चार कथाओं का उदाहरण सहित विवेचन है।

चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में जीव के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। पांच महाव्रत, छठा रात्रि-भोजनविरमणव्रत, श्रमणधर्म की दुर्लभता का चित्रण है। पञ्चम अध्ययन की वृत्ति में आहारविषयक विवेचन है। छठे अध्ययन की वृत्ति में व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प, गृहिभाजन, पर्यङ्क, निषद्या, स्नान और शोभा-वर्जन, इन अष्टादश स्थानों का निरूपण है, जिनके परिज्ञान से ही श्रमण अपने आचार का निर्दोष पालन कर सकता है। सातवें अध्ययन की व्याख्या में भाषाशुद्धि पर चिन्तन किया है। आठवें अध्ययन की व्याख्या में आचार में प्रणिधि की प्रक्रिया और उसके फल पर प्रकाश डाला है। नौवें अध्ययन में विनय के विविध प्रकार और उससे होने वाले फल का प्रतिपादन किया है। दसवें अध्ययन की वृत्ति में सुभिक्षु का स्वरूप बताया है। चूलिकाओं में भी धर्म के रतिजनक, अरतिजनक कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत वृत्ति में अनेक प्राकृतकथानक व प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के उद्धरण भी आये हैं। दार्शनिक चिन्तन भी यत्र-तत्र मुखरित हुआ है। आचार्य हरिभद्र संविग्न-पाक्षिक थे। वह काल चैत्यवास के उत्कर्ष का काल था। चैत्यवासी और संविग्न-पक्ष में परस्पर संघर्ष की स्थिति थी। चैत्यवासियों के पास पुस्तकों का

---

२४८. सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी-महत्तरासूनोः अल्पमतेः आचार्यहरिभद्रस्य। —आवश्यकनिर्युक्ति टीका का अन्त

संग्रह था। संविग्न-पक्ष के पास प्रायः पुस्तकों का अभाव था। चैत्यवासी उनको पुस्तकें नहीं देते थे। वे तो संविग्न-पक्ष को मिटाने पर तुले हुए थे, यही कारण है कि आचार्य हरिभद्र को अपनी वृत्ति लिखते समय अगस्त्यसिंह चूर्णि आदि उपलब्ध न हुई हो। यदि उपलब्ध हुई होती तो वे उसका अवश्य ही संकेत करते।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् अपराजितसूरि ने दशवैकालिक पर एक वृत्ति लिखी, जो वृत्ति 'विजयोदया' नाम से प्रसिद्ध है। अपराजितसूरि यापनीय संघ के थे। इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है। उन्होंने अपने द्वारा रचित आराधना की टीका में इस टीका का उल्लेख किया है। यह टीका उपलब्ध नहीं है। आचार्य हरिभद्र की टीका का अनुसरण करके तिलकाचार्य ने भी एक टीका लिखी है। इनका समय १३ वीं-१४ वीं शताब्दी है। माणिक्यशेखर ने दशवैकालिक पर निर्युक्तिदीपिका लिखी है। माणिक्यशेखर का समय पन्द्रहवीं शताब्दी है। समयसुन्दर ने दशवैकालिक पर दीपिका लिखी है। इनका समय विक्रम संवत् १६११ से १६८१ तक है। विनयहंस ने दशवैकालिक पर वृत्ति लिखी है, इनका समय वि० सं० १५७३ है। रामचन्द्रसूरि ने दशवैकालिक पर वार्तिक लिखा है, इनका समय विक्रम सं० १६७८ है। इसी प्रकार शान्तिदेवसूरि, सोमविमलसूरि, राजचन्द्र, पारसचन्द्र, ज्ञानसागर प्रभृति मनीषियों ने भी दशवैकालिक पर टीकाएँ लिखी हैं। पायचन्द्रसूरि और धर्मसिंह मुनि, जिनका समय विक्रम की १८ वीं शताब्दी है, ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में टब्बा लिखा। टब्बे में टीकाओं की तरह नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नहीं है। इस प्रकार समय-समय पर दशवैकालिक पर आचार्यो ने विराट् व्याख्या साहित्य लिखा है। पर यह सत्य है कि अगस्त्यसिंह स्थविर विरचित चूर्णि, जिनदासगणी महत्तर विरचित चूर्णि और आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित वृत्ति इन तीनों का व्याख्यासाहित्य में विशिष्ट स्थान है। परवर्ती विज्ञों ने अपनी वृत्तियों में इनके मौलिक चिन्तन का उपयोग किया है। टब्बे के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। आचार्य अमोलकऋषि जी ने दशवैकालिक का हिन्दी अनुवाद लिखा। उसके बाद अनेक विज्ञों के हिन्दी अनुवाद प्रकाश में आए। इसी तरह गुजराती और अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद हुए तथा आचार्य आत्माराम जी महाराज ने दशवैकालिक पर हिन्दी में विस्तृत टीका लिखी। यह टीका मूल के अर्थ को स्पष्ट करने में सक्षम है। अनुसंधान-युग में आचार्य तुलसी के नेतृत्व में मुनि श्री नथमल जी ने 'दसवेआलियं' ग्रन्थ तैयार किया, जिसमें मूल पाठ के साथ विषय को स्पष्ट करने के लिए शोधप्रधान टिप्पण दिए गये हैं। इस प्रकार अतीत से वर्तमान तक दशवैकालिक पर व्याख्याएँ और विवेचन लिखा गया है, जो इस आगम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है।

प्राचीन युग में मुद्रण का अभाव था इसलिए ताड़पत्र या कागज पर आगमों का लेखन होता रहा। मुद्रणयुग प्रारम्भ होने पर आगमों का मुद्रण प्रारम्भ हुआ। सर्व प्रथम सन् १९०० में हरिभद्र और समयसुन्दर की वृत्ति के साथ दशवैकालिक का प्रकाशन भीमसी माणेक बम्बई ने किया। उसके पश्चात् सन् १९०५ में दशवैकालिक दीपिका का प्रकाशन हीरालाल हंसराज (जामनगर) ने किया। सन् १९१५ में समयसुन्दर विहित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन हीरालाल हंसराज (जामनगर) ने करवाया। सन् १९१९ में समयसुन्दर विहित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन जिनयशःसूरि ग्रन्थमाला खम्भात से हुआ। सन् १९१८ में भद्रबाहुकृत निर्युक्ति तथा हारिभद्रीया वृत्ति के साथ दशवैकालिक का प्रकाशन देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई ने किया। निर्युक्ति तथा हारिभद्रीयावृत्ति के साथ विक्रम संवत १९९९ में मनसुखलाल हीरालाल बम्बई ने दशवैकालिक का एक संस्करण प्रकाशित किया। दशवैकालिक का भद्रबाहु निर्युक्ति सहित प्रकाशन आंग्ल भाषा में E. Leumann द्वारा ZDMG से प्रकाशित करवाया गया (Vol. 46, PP 581-663)। सन् १९३३ में जिनदासकृत चूर्णि का प्रकाशन ऋषभदेवजी केसरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था रतलाम से

हुआ। सन् १९४० में संस्कृत टीका के साथ संपादक आचार्य हस्तीमलजी महाराज ने जो दशवैकालिका का संस्करण तैयार किया वह मोतीलाल वालचन्द मूथा सतारा के द्वारा प्रकाशित हुआ। सन् १९५४ में सुमति साधु विरचित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सूरत से हुआ। निर्युक्ति, *अगस्त्यसिंह चूर्णि का सर्वप्रथम प्रकाशन* सन् १९७३ में पुण्यविजय जी म. द्वारा संपादित होकर प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी द्वारा किया गया।

विक्रम संवत् १९८९ में आचार्य आत्माराम जी कृत हिन्दी टीका सहित दशवैकालिका का संस्करण ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जौहरी महेन्द्रगढ़ (पटियाला) ने प्रकाशित किया। उसी का द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् २००३ में जैनशास्त्र माला कार्यालय लाहौर से हुआ। सन् १९५७ और १९६० में आचार्य घासीलाल जी म. विरचित संस्कृतव्याख्या और उसका हिन्दी और गुजराती अनुवाद जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से हुआ। वीर संवत् २४४६ में आचार्य अमोलक ऋषि जी ने हिन्दी अनुवाद सहित दशवैकालिक का एक संस्करण प्रकाशित किया। वि. सं. २००० में मुनि अमरचंद्र पंजाबी संपादित दशवैकालिक का संस्करण विलायतीराम अग्रवाल माच्छीवाड़ा द्वारा प्रकाशित हुआ और संवत् २००२ में घेवरचंद जी बांठिया द्वारा संपादित संस्करण सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर द्वारा और बांठिया द्वारा ही संपादित दशवैकालिक का एक संस्करण संवत् २०२० में साधुमार्गी जैन संस्कृतिक रक्षक संघ सैलाना से प्रकाशित हुआ। सन् १९३६ में हिन्दी अनुवाद सहित मुनि सौभाग्यचन्द्र सन्तवाल ने संपादित किया, वह संस्करण श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस बम्बई ने प्रकाशित करवाया।

मूल टिप्पण सहित दशवैकालिक का एक अभिनव संस्करण मुनि नथमल जी द्वारा संपादित वि. संवत् २०२० में जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता से और उसी का द्वितीय संस्करण सन् १९७४ में जैन विश्व भारती लाडनूँ से प्रकाशित हुआ। सन् १९३९ में दशवैकालिक का गुजराती छायानुवाद गोपालदास जीवाभाई पटेल ने तैयार किया, वह जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ। इसी तरह दशवैकालिक का अंग्रेजी अनुवाद जो W. Schubring द्वारा किया गया, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। सन् १९३७ में पी. एल. वैद्य पूना ने भी दशवैकालिक का आंग्ल अनुवाद कर उसे प्रकाशित किया है।

दशवैकालिक का मूल पाठ सन् १९१२, सन् १९२४ में जीवराज घेलाभाई दोशी अहमदाबाद तथा सन् १९३० में उम्मेदचंद रायचंद अहमदाबाद, सन् १९३८ में हीरालाल हंसराज जामनगर, वि. सं. २०१० में शान्तिलाल वनमाली सेठ, ब्यावर, सन् १७९४ में श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर तथा अन्य अनेक स्थलों से दशवैकालिक के मूल संस्करण छपे हैं। श्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित और श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई से सन् १९७७ में प्रकाशित संस्करण सभी मूल संस्करणों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संस्करण में प्राचीनतम प्रतियों के आधार से अनेक शोधप्रधान पाठान्तर दिए गए हैं, जो शोधार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। पाठ शुद्ध है।

स्थानकवासी समाज एक प्रबुद्ध और क्रान्तिकारी समाज है। उसने समय-समय पर विविध स्थानों से आगमों का प्रकाशन किया तथापि आधुनिक दृष्टि से आगमों के सर्वजनोपयोगी संस्करण का अभाव खटक रहा था। उस अभाव की पूर्ति का संकल्प मेरे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी पूज्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म. के स्नेह-साथी व सहपाठी श्रमण संघ के युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी मधुकर मुनि जी ने किया। युवाचार्य श्री ने इस महाकार्य को शीघ्र सम्पन्न करने हेतु सम्पादकमण्डल का गठन किया और साथ

हीं विविध मनीषियों को सम्पादन, विवेचन करने के लिए उत्प्रेरित किया। परिणामस्वरूप सन् १९८३ तक अनेक आगम शानदार ढंग से प्रकाशित हुए। अत्यन्त द्रुतगति से आगमों के प्रकाशन कार्य को देखकर मनीषीगण आश्चर्यान्वित हो गए। पर किसे पता था कि युवाचार्य श्री का स्वप्न उनके जीवनकाल में साकार नहीं हो पायेगा। नवंबर १९८३ को नासिक में हृदय-गति रुक जाने से यकायक उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी प्रबल प्रेरणा थी कि दशवैकालिक के अभिनव संस्करण का संपादन मेरी ज्येष्ठ भगिनी परमविदुषी महासतीजी श्री पुष्पवतीजी करें। बहिन जी महाराज को भी सम्पादन-कार्य में पूजनीया मातेश्वरी महाराज के स्वर्गवास से व्यवधान उपस्थित हुआ जिसके कारण न चाहते हुए भी इस कार्य में काफी विलम्ब हो गया। युवाचार्य श्री इस आगम के सम्पादनकार्य को नहीं देख सके।

दशवैकालिक का मूल पाठ प्राचीन प्रतियों के आधार से विशुद्ध रूप से देने का प्रयास किया गया है। मूल पाठ के साथ हिन्दी में भावानुवाद भी दिया गया है। आगमों के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में विवेचन भी लिखा है। विवेचन में निर्युक्ति, चूर्णि, टीका और अन्यान्य आगमों का उपयोग किया गया है। यह विवेचन सारगर्भित, सरल और सरस हुआ है। कई अज्ञात तथ्यों को इस विवेचन में उद्घाटित किया गया है। अनुवाद और विवेचन की भाषा सरल, सुबोध और सरस है। शैली चित्ताकर्षक और मोहक है। बहिन जी महाराज की विलक्षण प्रतिभा का यत्र-तत्र संदर्शन होता है। यद्यपि उन्होंने आगम का सम्पादनकार्य सर्वप्रथम किया है तदपि वे इस कार्य में पूर्ण सफल रही हैं। यह विवेचन हर दृष्टि से मौलिक है। मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि इस संस्करण का सर्वत्र समादर होगा, क्योंकि इसकी सम्पादन शैली आधुनिकतम है और गुरु गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने वाली है। ग्रन्थ में अनेक परिशिष्ट भी दिए गए हैं, विशिष्ट शब्दों का अर्थ भी दिया गया है, जिससे यह संस्करण शोधार्थियों के लिए भी परम उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं दशवैकालिक पर बहुत ही विस्तार से लिखना चाहता था पर समयाभाव व ग्रन्थाभाव के कारण चाहते हुए भी नहीं लिख सका, पर संक्षेप में दशवैकालिक के सम्बन्ध में लिख चुका हूं और इतना लिखना आवश्यक भी था।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन-भवन
लोहामण्डी–आगरा, २
(उत्तरप्रदेश)
अक्षय तृतीया
दि. ४-५-८४

विषयानुक्रम

षष्ठ अध्ययन : धर्मार्थकामाऽध्ययन (महाचार-कथा)

सप्तम अध्ययन : वाक्यशुद्धि

अष्टम अध्ययन : आचार-प्रणिधि

नवम अध्ययन : विनयसमाधि

सिरिसेज्जंभवथेरविरइयं

दसवेयालियसुत्तं

श्रीशय्यंभवाचार्यस्थविर-विरचित

दशवैकालिकसूत्र

दसवेयालियसुत्तं : दशवैकालिक सूत्र

परिचय

* वर्त्तमान में श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आगमसाहित्य अंग, उपांग, मूल और छेद इन चार विभागों में विभक्त है। मूल-विभाग में दशवैकालिक सूत्र का द्वितीय स्थान माना जाता है।

* नन्दीसूत्र के वर्णनानुसार समस्त आगमों के दो विभाग हैं—(१) अंग-प्रविष्ट और (२) अंग-बाह्य। अंगबाह्य के भी दो प्रकार हैं—१. कालिक और २. उत्कालिक। दशवैकालिक सूत्र की गणना अंगबाह्य के अन्तर्गत उत्कालिक सूत्रों में है।[1]

* निर्युक्तिकार के अनुसार यह शास्त्र दश विकालों (सन्ध्या-कालों) में दश अध्ययनों के रूप में कहा गया, इस कारण इस का नाम भी 'दशवैकालिक' रखा गया।

* 'दशवैकालिक' मूलसूत्र क्यों माना गया? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। जर्मन विद्वान् शार्पेंटियर' का मत है—इन (उत्तराध्ययन आदि चार सूत्रों) में 'Mahavir's own words' (भगवान् महावीर के स्वयं के वचन) हैं, इसलिए इन्हें मूल संज्ञा मिली। डॉ. शूब्रिंग (Dr. Walther Schubring) का कहना है—'साधु-जीवन के मूल में जिन यम नियमादि के आचरण की आवश्यकता है, उस (मूलाचार) के लिए उपदिष्ट होने से, ये मूलसूत्र कहलाए होंगे। प्रो. गेरीनो (Prof. Guerinot) की मान्यता है कि 'ये मौलिक (Original) ग्रन्थ हैं, इन पर अनेक टीकाएँ, चूर्णियाँ, दीपिका, निर्युक्ति आदि लिखी गई हैं, इस दृष्टि से (टीकाओं आदि की अपेक्षा से) इन आगमों को 'मूल सूत्र' कहने की प्रथा प्रचलित हुई होगी।

हमारी दृष्टि से इन चारों शास्त्रों की मूलसंज्ञा के पीछे यह विचार है कि चारों सूत्रों में जैनसाधना के मूल—मोक्ष के चार अंगों—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप का मौलिक एवं संक्षिप्त सारभूत वर्णन होने से इनका नाम 'मूलसूत्र' पड़ा हो, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि नन्दीसूत्र में सम्यग्ज्ञान का, 'अनुयोगद्वार' में सम्यग्-दर्शन का, दशवैकालिक में सम्यक् चारित्र का और उत्तराध्ययन में इन तीनों के सहित सम्यक् तप का मुख्य रूप से वर्णन है। कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने परिशिष्ट पर्व में दशवैकालिक सूत्र को

---

१. नन्दीसूत्र

२. 'वेयालियाए ठविया, तम्हा दसकालियं नाम।' दशवै. निर्युक्ति

३. दशवैकालिक (मुनि संतबालजी) की प्रस्तावना पृ. १७-१८

जैन धर्म का तत्त्वबोध समझाने वाला पवित्र ग्रन्थ बताया है।[4] जो भी हो, इन चारों मूलसूत्रों में जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों और जैन जीवन का रहस्य संक्षेप में समझाया गया है; किन्तु इसकी मूल संज्ञा आचार्य हेमचन्द्र (१२ वीं शताब्दी) के बाद में प्रचलित हुई है।[5]

※ **रचयिता**—निर्युक्तिकार के मतानुसार—दशवैकालिक सूत्र की रचना शय्यंभव नाम के आचार्य ने की है।'[6] इस सम्बन्ध में प्रचलित अनुश्रुति यह है कि राजगृहनिवासी दिग्गज विद्वान् यज्ञ-परायण ब्राह्मण श्रीशय्यंभव श्रीजम्बूस्वामी के पट्टधर श्रीप्रभवस्वामी के उपदेश से विरक्त होकर मुनि बन गए और प्रभवस्वामी के उत्तराधिकारी पट्टधर आचार्य हुए। जिस समय शय्यंभव मुनि बने थे, उस समय उनकी धर्मपत्नी गर्भवती थी। उनके दीक्षित होने के बाद पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'मनक' रखा गया। सम्भवतः १०-११ वर्ष की उम्र में 'मनक' अपनी माता से पूछ कर चम्पानगरी में अपने पिता—शय्यंभवाचार्य से मिला। उनके सत्संग से विरक्त होकर वह भी दीक्षित हो गया। आचार्य शय्यंभव ने ज्ञानबल से देखा कि मनक (शिष्य) की आयु केवल छह महीने शेष रही है। अतः मनक श्रमण को शीघ्र चारित्राराधना कराने हेतु शय्यंभवाचार्य ने पूर्वश्रुत में से उद्धृत करके दशवैकालिक सूत्र की रचना की। इस शास्त्र के अध्ययन से मनक श्रमण ने छह महीने में अपना कार्य सिद्ध कर लिया।[7]

※ **प्रामाणिकता**—दशवैकालिक सूत्र के रचयिता श्रीशय्यंभवाचार्य, भगवान् महावीर के पश्चात् प्रभवस्वामी से लेकर स्थूलभद्र तक हुए ६ श्रुतकेवलियों में से द्वितीय श्रुतकेवली और चतुर्दश पूर्वधारी थे; इसीलिए नन्दीसूत्र में इसे अंगबाह्य एवं सम्यक् श्रुत में परिगणित किया है। इसके अतिरिक्त इसके छठे अध्ययन की आठवीं गाथा में **'महावीरेण देसिअं'** तथा इक्कीसवीं गाथा में **'नायपुत्तेण ताइणा'** आदि जो पद उपलब्ध होते हैं, उनसे भी इस सूत्र के वीरवचनानुसार होने से इसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। महानिशीथ-सूत्र में अंकित भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा गौतम स्वामीजी को दिये गए वक्तव्य से भी इस सूत्र की प्रामाणिकता पूर्णतया स्पष्ट होती है।[8]

※ **दश अध्ययनों में प्रतिपाद्य विषय**—प्रस्तुत दशवैकालिक में १० अध्ययन हैं। इसके अन्त में दो चूलिकाएँ हैं। दश अध्ययनों में (१) प्रथम अध्ययन में धर्म की प्रशंसा फल और भ्रमर के साथ भिक्षाजीवी साधु की सुन्दर तुलना की गई है। (२) द्वितीय अध्ययन में कामविजय के सन्दर्भ में राजीमती और रथनेमि का संवाद देकर श्रमणजीवन में धीरता और स्थिरता का उपदेश

---

4. ....In Hemacandra's Parisistaparvan 5.81 FF. in accordance with earlier models should ascribe the orgin fo the Dasaveyaliya Sutta to an intention to condense the essence of the sacred Lore into an anthology. —दशवै. (संतबालजी), प्रस्तावना

५. दशवै. (आचार्य आत्मारामजी) —प्रस्तावना ११

६. 'निज्जूढं किर सेज्जंभवेन दसकालियं तेणं।' —भद्रबाहुनिर्युक्ति गा. १२

७. दशवै. (आचार्य आत्मारामजी), प्रस्तावना पृ. ४

८. (क) महानिशीथ, अ. ५ दुष्षमारक प्रकरण। (ख) अथ प्रभवः प्रभुः। शय्यंभवो यशोभद्रः सम्भूतविजयस्ततः। भद्रबाहुः स्थूलभद्रः श्रुतकेवलिनो हि षट्। —अभिधानचिन्तामणि, देवाधिदेवकाण्ड

दिया गया है । (३) तृतीय अध्ययन में साधुजीवन की आचारसंहिता बताई गई है । (४) चतुर्थ अध्ययन में षट्जीव निकाय की रक्षा, पंचमहाव्रतप्रतिज्ञाविधि तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से आत्मा के पूर्ण विकासक्रम का वर्णन है (५) पंचम अध्ययन में शुद्ध भिक्षाचर्या के विधि-विधानों का निरूपण है (६) छठे अध्ययन में अठारह स्थानों का निरूपण साध्वाचार के सन्दर्भ में किया गया है । (७) सातवें अध्ययन में भाषा-विवेक का प्रतिपादन है (८) आठवें अध्ययन में विविध पहलुओं से साध्वाचार का प्रतिपादन है । (९) नौवें अध्ययन के चारों उद्देशकों में विनय के महत्त्व एवं फल आदि का सांगोपांग वर्णन है । (१०) दशवें अध्ययन में आदर्श भावभिक्षु के लक्षण बताए गए हैं । इसके पश्चात् प्रथम रतिवाक्यचूलिका में बाह्य तथा आन्तरिक कठिनाइयों के कारण संयमी जीवन छोड़ कर गृहस्थ हो जाने वाले साधु की अधम एवं क्लिष्ट मनोदशा का वर्णन है । द्वितीय विविक्तचर्या चूलिका में साधुत्व की विविध साधनाओं के विषय में सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है ।[९] □

---

९. (क) दशवै. (संतबालजी) प्रस्तावना, पृ. २५-२६
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) प्रस्तावना, पृ. ८

दसवेयालियसुत्तं : दशवैकालिक सूत्र

पढमं दुमपुप्फियऽज्झयणं : प्रथम द्रुमपुष्पिकाऽध्ययन

प्राथमिक

※ यह दशवैकालिक सूत्र का प्रथम द्रुमपुष्पिका अध्ययन है।

※ इसमें धर्म का लक्षण, उसकी उत्कृष्ट मंगलमयता और धर्म का फल तथा भिक्षाजीवी साधु के जीवन में मधुकर स्वभाववत् उस धर्म की आचरणीयता का प्रतिपादन किया गया है।

※ आत्मा का पूर्ण विकास, आत्मा पर आए हुए कर्मरूप आवरणों से सर्वथा मुक्ति, राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि वैभाविक भावों से सर्वथा रहित होकर आत्मा के निजगुणों या स्व-स्वभाव में सर्वथा रमण ही मोक्ष है। यही मुमुक्षु आत्माओं का अन्तिम साध्य है।

※ मोक्षप्राप्ति का साधन धर्म है, जो आत्मा को अपने स्वभाव, निजगुण अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान चरित्र में धारण करके रखता है। सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन-सम्यग् ज्ञानपूर्वक होने से प्रस्तुत में चारित्रधर्म का ही और उसमें भी अहिंसा, संयम, तपःप्रधान चारित्र धर्म का ग्रहण किया गया है।

※ यद्यपि मोक्ष परममंगल होता है, किन्तु यहाँ उसकी उपलब्धि के साधन-धर्म को परममंगल कहा गया है।

※ धर्म की महिमा प्रकट करने के बाद प्रथम गाथा के उत्तरार्द्ध में धर्म का आनुषंगिक फल विश्ववन्दनीयत्व एवं विश्वपूज्यत्व बताया गया है, यद्यपि शुद्धधर्म का साधक किसी भी लौकिक फल की आकांक्षा नहीं रखता। उसकी गति-मति सदैव मोक्ष की ओर अग्रसर होती है, इसीलिए वह धर्म का मन-वचन काया से शुद्ध रूप से आचरण करता है।

※ धर्म की साधना करते समय तन, मन, वचन, तीनों का साहचर्य रहता है। शरीर आहार से ही टिक सकता है, किन्तु आहार आरम्भ के विना निष्पन्न नहीं होता। ऐसी विकट परिस्थिति में साधक के सामने उलझन है कि वह अहिंसा का त्रिकरण-त्रियोग से कैसे पालन करे ? कैसे संयमधर्म को अक्षुण्ण रखे ? और कैसे तपश्चरण करे ? इसी समस्या का समाधान इस अध्ययन की शेष चार गाथाओं में दिया गया है।

※ समाधान भ्रमर की द्रुम-पुष्पिकावृत्ति के रूप में 'उपमा' के माध्यम से दिया गया है।

※ जैसे स्वाभाविक रूप से निष्पन्न आहारप्राप्ति के आधार मधुकर के लिए द्रुमपुष्प ही हैं, वैसे ही निर्ग्रन्थ भिक्षाजीवी श्रमण के लिए आहारप्राप्ति का आधार गृहस्थों के घरों में सहज-

निष्पन्न भोजन होता है। माधुकरी वृत्ति का मूल केन्द्र द्रुमपुष्प है, उसके बिना वह निभ नहीं सकती। इसलिए समग्र माधुकरी वृत्ति का विशिष्ट प्रतिनिधित्व करने वाला शब्द 'द्रुमपुष्पिका' है। अतएव इस अध्ययन का नाम 'द्रुमपुष्पिका' रखा गया है।

※ माधुकरी वृत्ति से साधु की भिक्षावृत्ति की उपमा के निष्कर्षसूत्र—

(क) भ्रमर फूलों से सहज-निष्पन्न रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्रमण भी गृहस्थों के घरों से अपने स्वयं के लिए नहीं निष्पन्न, प्रासुक एषणीय आहार पानी ले।

(ख) भ्रमर फूलों को हानि पहुँचाए विना थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, वैसे ही श्रमण गृहस्थ दाता को तकलीफ न हो, इस विचार से अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करे।

(ग) भ्रमर अपने उदरनिर्वाह के लिए किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ या जीवों का उपमर्दन नहीं करता; वैसे ही भिक्षाजीवी साधु भी अनवद्यजीवी हो, किसी पचन-पाचन का आरम्भ या उपमर्दन न करे।

(घ) भ्रमर उतना ही रस ग्रहण करता है, जितना उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है, वह अगले दिन के लिए कुछ भी संग्रह करके नहीं रखता; वैसे ही श्रमण अपनी संयमयात्रा के लिए जितना आवश्यक हो, उतना ही ले, संचय न करे।

(ङ) भ्रमर किसी एक ही वृक्ष या फूल से रस ग्रहण नहीं करता, किन्तु अनेक वृक्षों और फूलों से रस ग्रहण करता है, वैसे ही भिक्षाजीवी साधु किसी एक ही (नियत) गाँव, नगर, घर या व्यक्ति से प्रतिबद्ध, आसक्त या आश्रित न होकर, समभाव से सहजभाव से उच्च-नीच-मध्यम कुल, गाँव, घर या व्यक्ति से सामुदानिक भिक्षा से आहार ग्रहण करे।

※ इस प्रकार इस अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य है—उत्कृष्टमंगलरूप अहिंसा-संयम-तपःप्रधानधर्म के आचरण की माधुकरीवृत्ति के माध्यम से सम्भावना। भिक्षु किसी को भी पीड़ा न देकर अहिंसा की, थोड़े-से आहार में निर्वाह करके संयम की, तथा न मिलने या कम मिलने पर यथालाभ संतोष या इच्छानिरोध तप की संभावना को चरितार्थ कर बताता है। □

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

दुमपुप्फिया : द्रुमपुष्पिका

१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,[1] अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

[१] धर्म उत्कृष्ट (सर्वोत्तम) मंगल है। उस धर्म का लक्षण है—अहिंसा, संयम और तप। जिसका मन सदा धर्म में लीन रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

विवेचन—अन्य धर्म और उत्कृष्टमंगलरूप प्रस्तुत धर्म—'धृञ् धारणे' धातु से धर्म शब्द निष्पन्न होता है। धर्म का अर्थ निर्वचन की दृष्टि से होता है—धारण करना। संसार में धारण करने वाले अनेक पदार्थ हैं। उन सबको धर्म नहीं कहा जा सकता। इसलिए जैनाचार्यों ने धर्म के मुख्यतया दो प्रकार बताए हैं—द्रव्यधर्म और भावधर्म।[2]

द्रव्यधर्म के अस्तिकायधर्म, इन्द्रियधर्म आदि अनेक भेद हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये अवस्थाएं द्रव्यों को धारण करके रखती हैं, अथवा द्रव्य के जो पर्याय हैं, वे द्रव्यधर्म कहलाते हैं। यथा—गति में सहायक होना, स्थिति में सहायक होना, अवकाश देने में सहायक होना, पूर्ति करने तथा गलने सड़ने के स्वभाव से सम्पन्न होना तथा जानने-देखने के उपयोग के स्वभाव से युक्त होना, ये पांच अपने-अपने अस्तित्व या स्वभाव को स्थिर (धारण करके) रखने की क्षमता वाले हैं। इसलिए 'अस्तिकायधर्म' कहलाते हैं। तथा पांचों इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वभाव (विषय) में प्रचरण (संचार) करके अपने-अपने स्वभाव (विषय) को धारण करती हैं, इस कारण इस द्रव्यधर्म को इन्द्रिय-धर्म या प्रचारधर्म कहा जाता है। इसी प्रकार गम्यागम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय आदि की कुल-परम्परागत प्रथाओं या परम्पराओं के निर्देशक, गम्यधर्म, अपने-अपने देश के वस्त्राभूषण, खानपान या रहनसहन के रीतिरिवाज जो उस-उस देश के लोगों को एक संस्कृति में स्थिर (धारण करके) रखते हैं, वे देशधर्म हैं। अथवा करादि की व्यवस्था या दण्डादि का विधान, जो नागरिकों को या अर्थव्यस्था को सुव्यवस्थित रखता है, वह राजधर्म है, इसी प्रकार जो गणों को परस्पर एक सूत्र में बांध कर रखता है, वह गणधर्म कहलाता है। ये सब द्रव्यधर्म के अन्तर्गत बताए हैं।[3]

---

१. सभी सूत्र प्रतियों में तथा मुनिपुण्यविजयजी सम्पादित 'दसवेयालियसुत्त' में 'मुक्कट्ठं' पाठ है। अगस्त्यसिंहचूर्णि और वृद्धविवरण में 'मुक्कट्ठं' और 'मुक्किट्ठं' दोनों पाठ मिलते हैं। वर्तमान में प्रचलित पाठ 'मुक्किट्ठं' है। इसलिए यहाँ 'मुक्किट्ठं' पाठ ही रखा है। —सं.

२. अभिधान रा. कोष भा. ४, पृ. २६६७

३. (क) निर्युक्तिगाथा ४०-४२

ये सब लौकिक द्रव्यधर्म सावद्य हैं। कुप्रावचनिकधर्म भी द्रव्यधर्म कहलाते हैं। ये धर्म आदेय एवं उत्कृष्टमंगलरूप नहीं होते।

[४]ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, संघधर्म, गणधर्म कुलधर्म, पाषण्डधर्म (व्रतधर्म) एवं अस्तिकायधर्म आदि कथंचित् मंगलरूप और उपादेय तभी हो सकते हैं, जब ये श्रुत-चारित्रधर्मरूप भावधर्म को पुष्ट करते हों, आत्मशुद्धि में सहायक बनते हों। भावधर्म का लक्षण है—जो आत्मा को स्वभाव में स्थिर रखता है। आत्मा के स्वभाव या स्वगुण हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। ये ही आत्मा को स्वभाव में धारण करके रखते हैं, इन्हीं से आत्मा स्वसुख[५] आदि में स्थिर रह सकता है।[६]

आवश्यकचूर्णिकार श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को भावधर्म कहते हैं। व्यवहारधर्म, जो भावधर्म की ओर ले जाता है वह भी श्रुत चारित्रधर्म का परिपोषक हो तो मंगलरूप हो सकता है।[७] आचार्य हरिभद्र ने व्यवहारधर्म का लक्षण षोड़शक प्रकरण में कहा है—जिससे आत्मा के निकटवर्ती धर्मपालन-सहायक चित्त की शुद्धि हो और शरीर के आश्रित होने वाली क्रियाओं से उसकी पुष्टि हो। उन्होंने बताया कि राग-द्वेष-मोहादि मलों या विकारों के दूर होने से चित्तशुद्धि होती है और शरीरादि के सत्क्रिया करने से पुण्य वृद्धि होती है। इस प्रकार ज्ञानावरणीयादि (घाती) पापकर्मों का क्षय होने से चित्तशुद्धि और आगमानुसार अहिंसादिपरिपोषक क्रिया करने से पुण्यवृद्धि होगी, चारित्रगुणों की भी वृद्धि होगी। इन दोनों से परम्परा से परा मुक्ति होगी।[८]

उत्कृष्टमंगलरूप धर्म का लक्षण—शास्त्रकार ने धर्म की भावात्मक परिभाषा या लक्षण अहिंसा संयम एवं तपरूप की है, पश्चाद्वर्ती विद्वान् आचार्यों ने शाब्दिक दृष्टि से भी इसकी परिभाषा एवं लक्षण बताये हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने उक्त धर्म का लक्षण बताया है—"जो नरक तिर्यञ्च योनि, कुमानुष और अधमदेवत्वरूप दुर्गति में जाते हुए जीवों को धारण करके रखता है, उन्हें शुभ स्थान (मोक्ष या उच्चदेव लोक) में पहुँचाता या स्थिर करता है, उसे धर्म कहा जाता है।"[९] आशय यह है कि जो आत्मा को पतन की ओर जाने से रोकता है और उत्थान या विकास के पथ पर ले जाता है, वह पुण्य कर्मों की वृद्धि के कारण या तो जीव को उच्च देवत्व में स्थापित करता है या सर्वथा कर्मक्षय के कारण मोक्षपद की प्राप्ति कराता है, वही धर्म उत्कृष्ट मंगल रूप होता है।

---

३. (ख) "कुप्रावचनिक उच्यते—असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव" —हारि. वृत्ति पत्र २२
(ग) "वज्जो णाम गरहिओ, सह वज्जेण सावज्जो भवइ॥" —जि. चूर्णि, पृ. १७

४. 'दसविहे धम्मे पन्नत्ते, तं०—गामधम्मे नगरधम्मे रट्ठधम्मे पासंडधम्मे कुलधम्मे गणधम्मे संघधम्मे सुयधम्मे चरित्तधम्मे अत्थिकायधम्मे य।" —स्थानांग. स्थान० १०

५. (क) संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार श्लोक. २-३
(ख) 'सम्यग्दर्शनादिके कर्मक्षयकारणे आत्मरूपे' —सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ९ टीका

६. भावम्मि होइ दुविहो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य।
सुयधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो॥ —आव० चूर्णि

७. षोडशक ३ विव. श्लोक २, ३, ४

८. दशवै. हारि. वृत्ति

९. दशवै. हारि. वृत्ति

प्रस्तुत में चारित्रधर्म ही उत्कृष्टमंगलरूप से अभीष्ट—यद्यपि पहले बताए हुए अन्य लोकोत्तर धर्म भी मंगलरूप ही हैं, परन्तु यहाँ उत्कृष्ट मंगलरूप भावधर्म और उसमें भी विशेषत: सर्वविरति रूप चारित्रधर्म रूप ही अभीष्ट है।

कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों[१०] अथवा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म ये दोनों मिल कर मोक्षप्राप्ति के कारण होने से उत्कृष्टमंगल रूप हैं, फिर चारित्र धर्म या सम्यक् चारित्र को ही यहाँ उत्कृष्ट मंगल के रूप में ग्रहण क्यों किया गया ? इसका समाधान यह है कि संवर और निर्जरा रूप चारित्र धर्म कर्मों का सर्वथा क्षय (मोक्ष प्राप्त) करने के लिए अनिवार्य है, और जब सम्यक्चारित्र आएगा, तो उससे पूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का आना अनिवार्य है। इसीलिए यहाँ चारित्रधर्म को ही उत्कृष्ट मंगल के रूप में ग्रहण किया गया है।[११]

अहिंसा-संयम-तप रूप चारित्रधर्म: उत्कृष्टमंगलरूप—चारित्र धर्म का लक्षण आचार्य जिन-दास महत्तर तथा अन्य आचार्यों ने कहा है—असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति[१२] इसी कारण यहाँ अहिंसा, संयम और तप इन तीनों को चारित्रधर्म में निर्दिष्ट किया गया है। यों तो चारित्र में पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति आदि माने जाते हैं। परन्तु इन सबका समावेश अहिंसा और संयम में हो जाता है। आचार्य जिनदास महत्तर कहते हैं कि अहिंसा के ग्रहण से पांचों महाव्रत गृहीत हो जाते हैं। संयम और तप भी अहिंसा-भगवती के दो चरण हैं।[१३] अहिंसा भगवती की सम्यक् उपासना भी तभी हो सकती है, जब नवीन कर्मों के आगमन (आश्रव) का निरोध (संवर) और कर्मों की निर्जरा (तपस्या) की जाए। यही कारण है कि यहाँ अहिंसा के साथ, उसके पालन में सहायक संयम और तप को उत्कृष्टमंगलमय माना गया है।[१४]

मंगल : स्वरूप, प्रकार और उत्कृष्टमंगल—'मंगल' शब्द भारतीय संस्कृति में इतना अधिक प्रचलित है कि आस्तिक और नास्तिक प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को निर्विघ्नरूप से पूर्ण करने, सफल करने तथा यशस्वी बनाने हेतु उसके प्रारम्भ में मंगल करता है। इस दृष्टि से मंगल का निर्वचन कई प्रकार से किया गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने मंगल का निर्वचन किया है—जिससे हित होता हो, कल्याण सिद्ध होता हो, वह मंगल है। एक आचार्य ने मंगल का अर्थ किया है—जो मंग अर्थात् सुख को लाता है वह मंगल है।[१५] संसार में निर्विघ्न कार्यसिद्धि, अपने हित (स्वार्थ) के लिए एवं

---

१०. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू. १

११. "नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥" —उत्तराध्ययन. अ. २८, गा. ३०

१२. (क) असंजमाउ नियत्ती, संजमम्मि य पवित्ती। —जि. चू., पृ. १७
(ख) असंजमे नियत्तिं च संजमे पवित्तिं च जाण चारित्तं॥

१३. अहिंसागहणे पंचमहव्वयाणि गहियाणि भवंति, संजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए।

१४. 'अहिंसातवसंजमलक्खणे धम्मे ठिओ तस्स एस निद्देसोत्ति।' —जि. चू., पृ. १५

१५. (क) मंग्यते हितमनेनेति मंगलं, मंग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति।' —हारि. वृत्ति, पत्र ३
(ख) मंगं सुखं लातीति मंगलम्। —नन्दीसूत्र मलयवृत्ति

सुख के लिए सामान्य जनता में पूर्ण कलश, स्वस्तिक, दही, अक्षत, शंखध्वनि गीत, ग्रहशान्तिअनुष्ठान आदि मंगल माने जाते हैं। इस दृष्टि से पांच प्रकार के मंगल माने गए हैं—(१) **शुद्धमंगल**—पुत्रादि के जन्म पर गाये जाने वाले मंगलगीत, (२) **अशुद्धमंगल**—नूतन गृह आदि निर्माण के समय किया जाने वाला मंगल अनुष्ठान; (३) **चमत्कारमंगल**—विवाहादि अवसरों पर गाये जाने वाले गीत, या मंगल द्रव्यों का उपयोग, (४) **क्षीणमंगल**—धनादि की प्राप्ति; और (५) **सदा मंगल**—धर्म-पालन।[१६] मंगल के इन पांच प्रकारों को जैनाचार्यों ने दो कोटियों में विभक्त किया है—द्रव्यमंगल और भावमंगल। उपर्युक्त पांच मंगलों में प्रथम के चार मंगल द्रव्यमंगल हैं। और लोकोत्तर धर्म भावमंगल है। द्रव्यमंगल लौकिक दृष्टि से मंगल हैं, ज्ञानी इन्हें मंगल नहीं मानते; क्योंकि इनसे आत्मा का कोई हित या कल्याण सिद्ध नहीं होता। लौकिक मंगलों में अनित्यता तथा अमंगल की भी सम्भावना है, किन्तु धर्म रूप मंगल में अमंगल की कोई सम्भावना नहीं। वह सदैव मंगलमय बना रहता है और पालन करने वाले को भी वह मंगलमय रखता है। धर्म इसलिए भी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है, कि वह धर्म जन्ममरणरूप दुःख के बन्धनों को काटने वाला तथा मुक्ति प्रदान करने वाला है। इसलिए वह उत्कृष्ट-अनुत्तर मंगल है।[१७]

गहराई से विचार किया जाए तो धर्म को उत्कृष्ट मंगल इसलिए भी माना गया कि पूर्वोक्त चारों लौकिक मंगलों की प्राप्ति भी धर्म मंगल (धर्मपालन) से पुण्यवृद्धि होने के कारण ही संभव है। उक्त मांगलिक पदार्थ भी धर्ममंगल के फल के रूप बताए गये हैं[१८] समस्त मांगलिग पदार्थों का प्रदाता या उत्पादक भी धर्ममंगल ही है। वह अनुत्तर मंगल है, उससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट मंगल नहीं है।[१९]

अहिंसा : स्वरूप, व्यापकता और महिमा—व्युत्पत्ति की दृष्टि से अहिंसा का दो प्रकार से अर्थ किया जाता है—जो हिंसा न हो, किन्तु हिंसा का विरोधी या प्रतिपक्षी भाव हो, वह अहिंसा है। अर्थात् प्राणातिपात न करना या प्राणातिपात से विरति अहिंसा है।[२०] यह अहिंसा का निषेधात्मक

---

१६. (क) दशवैका. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ४
(ख) दशवै. (गुजराती अनु.) पृ. ४

१७. (क) 'दव्वे भावेऽवि अ मंगलाइं, दव्वम्मि पुण्णकलसाई।
धम्मो उ भावमंगलमेत्तो सिद्धित्ति काऊणं॥' —निर्युक्ति गाथा ४४
(ख) दव्वमंगलं अणेगंतिकं अणच्चंतियं च भवति, भावमंगलं पुण एगंतियं अच्चंतियं च भवइ।
—जि. चूर्णि, पृ. १९
(ग) अयमेव चोत्कृष्टं-प्रधानं मंगलं, ऐकान्तिकत्वादात्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्य नैकान्तिक-त्वादनात्यन्तिकत्वाच्च। —हारि. वृत्ति, पत्र २४

१८. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ५

१९. 'उक्किट्ठं णाम अणुत्तरं, ण तओ अण्णं उक्किट्ठयरंति।' —जिन. चूर्णि, पृ. १५

२०. (क) 'हिंसाए पडिवक्खो होइ ...अहिंसऽजीवाइवाओत्ति।' —निर्युक्ति गाथा ४५
(ख) 'अहिंसा नाम पाणातिवायविरती।' —जिनदास चूर्णि, पृ. १५
(ग) 'न हिंसा-अहिंसा।' —दशवै. दीपिका, टीका पृ. १

अर्थ है। अहिंसा का दूसरा अर्थ विधेयात्मक भी है। विधेयात्मक दृष्टि से अहिंसा का अर्थ होता है—जीवदया, प्राणियों के प्राणों की रक्षा, समता (प्राणियों के प्रति समभाव), आत्मौपम्य भाव, शुद्ध प्रेम, अनुकम्पा, सर्वभूतमैत्री, करुणा आदि। विधेयात्मक अहिंसा का पालन आत्मौपम्य (आत्मवत् भाव) से होता है।[२१]

शास्त्र में बताया है—जैसे मुझे दुःख अप्रिय है, वैसे ही समस्त जीवों को भी अप्रिय है।[२२] अथवा जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सब जीवों को है, ऐसा जानकर, अथवा जैसे मैं जीना चाहता हूं, वैसे ही सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। अतः मुझे किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए। इसी प्रकार निषेधात्मक अहिंसा के पीछे परदुःखानुभूति के साथ आत्मानुभूति की जो भव्य भावना है वह भी अहिंसा है।[२३] यह (अहिंसा) धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत और जिनोपदिष्ट है।

हिंसा : स्वरूप और प्रकार—अहिंसा को हिंसा का प्रतिपक्षी बताया गया है, इसलिए जैन शास्त्रीय दृष्टि से हिंसा का स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है। आचार्य जिनदास महत्तर ने हिंसा का अर्थ किया है—"दुष्प्रयुक्त (दुष्ट) मन, वचन एवं काया के योगों से प्राणियों का जो प्राण-हनन किया जाता है, वह हिंसा है। निष्कर्ष यह है कि किसी भी प्रकार के प्रमादवश, अनुपयुक्त या दुष्प्रयुक्त मन-वचन-काया के योगों से किसी भी प्राणी के प्राणों को किसी भी प्रकार से हानि पहुँचाना हिंसा है।[२४]

हिंसा तीन प्रकार की है—(१) द्रव्यहिंसा, (२) भावहिंसा और (३) उभयहिंसा।

१. **द्रव्यहिंसा**—आत्मा के परिणाम शुद्ध होने पर भी अकस्मात् अनुपयोगवश अनिच्छा से ही किसी जीव को पीड़ा हो जाना या प्राणों की हानि हो जाना **द्रव्यहिंसा** है। जैसे—समितिगुप्तिधारक पंचमहाव्रती साधु के द्वारा विहारादि के समय या चलते-फिरते, बैठते-उठते आदि क्रियाएँ करते समय किसी भी जीव को पीड़ा न पहुँचाने, तथा सब जीवों की रक्षा करने की भावना होते हुए भी अकस्मात् अनुपयोगवश द्वीन्द्रिय आदि लघुकाय जीव का पैर के नीचे आकर मर जाना या प्राणभंग हो जाना **द्रव्यहिंसा** है। यह हिंसा औपचारिक है, इसमें भावहिंसा नहीं है।

२. भावहिंसा—किसी प्राणी को प्राणों से रहित करने की कामना, भावना या इच्छारूप आत्मा का अविशुद्ध परिणाम भावहिंसा है। इसमें जीव केवल दुष्ट भावों से प्राणियों के घात की इच्छा

---

२१. (क) अहिंसा = जीवदया, प्राणातिपात-विरतिः। —दी. टीका, पृ. १

(ख) अहिंसाऽपि भावरूपैव, तेन प्राणिरक्षणमप्यहिंसाशब्दार्थः सिध्यति।

—दशवै. आचारमणिमंजूषा टीका, भा. १, पृ. ३

(ग) अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए। —उत्तरा. अ. ६

(घ) दशवै. (गुजराती अनु.) पृ. ४

२२. 'जह मम ण पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। सव्वे जीवा सुहसाया दुहप्पडिकूला सव्वेसिं जीवियं पियं॥ जाणित्तु पत्तेयं सायं—आचारांग

२३. सूत्रकृतांग. २।१।१५

२४. जिन. चूर्णि, पृ. २०

करता है, किन्तु किसी कारणवश घात नहीं कर पाता।[२५] अतः वहाँ द्रव्यहिंसारहित केवल भावहिंसा होती है। जैसे—चावल के दाने जितने छोटे शरीर वाला तंदुलमत्स्य एक बड़े मगरमच्छ की भौहों पर बैठा-बैठा सोचता है यह मगरमच्छ कितना आलसी है! इतने जलजन्तु आते हैं, उन्हें यों ही जाने देता है। अगर इसके जितना बड़ा मेरा शरीर होता तो मैं एक को भी नहीं जाने देता, सबको निगल जाता। इस प्रकार की हिंसक भावना के कारण अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही वह मर कर सातवें नरक का मेहमान बन जाता है।[२६] यह भावहिंसा का भयंकर परिणाम है।

३. **उभयहिंसा**—अशुद्ध परिणामों से जीव का घात करना उभयहिंसा है। जैसे कोई शिकारी मृग को मारने की भावना से वाण चलाता है, उससे उसके प्राणों का नाश हो जाता है। इस हिंसा में आत्मा के अशुद्ध (दुष्ट) परिणाम और प्राणों का नाश दोनों पाए जाते हैं।[२७]

अहिंसकक्रिया—इस प्रकार शुद्ध प्रेम, दया एवं अनुकम्पा तथा मैत्रीभाव रख कर उपयोग-पूर्वक किसी भी प्राणी को दुःख पहुँचाने की भावना किये बिना शारीरिक, मानसिक या वाचिक क्रिया करना, वास्तव में अहिंसक-क्रिया है। ऐसी अहिंसा का आराधक केवल अहिंसक ही नहीं होता, अपितु सभी प्रकार की हिंसाओं का प्रबल विरोधी भी होता है।[२८]

संयम : स्वरूप, प्रकार और भेद—सावद्य योग से सम्यक् प्रकार से निवृत्त होना संयम है। आचार्य जिनदास महत्तर के अनुसार संयम का अर्थ उपरम है। अर्थात्—रागद्वेष से रहित होकर एकीभाव—समभाव में स्थित होना संयम है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने संयम का अर्थ किया है—हिंसा आदि पांच आश्रवद्वारों से विरति करना संयम है। हिंसा आदि पांच आश्रवों से विरति, कषाय-विजय, पंचेन्द्रियनिग्रह, मन-वचन-काया के दण्ड से विरति या गुप्ति (विरति) तथा पांच समितियों का पालन, ये सब यहाँ संयम शब्द में समाविष्ट हैं।[२९]

संयम के मुख्य तीन प्रकार हैं—(१) कायिक संयम, (२) वाचिक संयम और (३) मानसिक संयम। शरीर से सम्बन्धित पदार्थों की आवश्यकताएँ यथाशक्ति घटाना कायिक संयम है, वाणी को कुमार्ग से हटा कर सुमार्ग में प्रवृत्त करना वाचिक संयम है और मन को दुर्विकल्पों से हटा कर

---

२५. दशवै. आ. म. मंजूषा व्याख्या भाग १ पृ. ८।९

२६. (क) तंदुलवेयालियं। (ख) दशवैका. आचारमणि मंजूषा, भा. १., पृ. १०

२७. दशवै. आचारमणिमंजूषा व्याख्या भा. १, पृ. ११

२८. दशवै. (गुजराती अनुवाद—संतबालजी) पृ. ४

२८. (क) संयमः—संयमनं = सम्यगुपरमणं सावद्ययोगादिति संयमः। —दशवै, आचा. म. मंजूषा, भा. १, पृ. ११
(ख) संजमो नाम उपरमो, रागद्दोसविरहियएगीभावे भवइ त्ति।
(ग) आश्रवद्वारोपरमः संयमः। —हारि. वृत्ति, पत्र

२९. (क) दसवेयालियं (सम्पादक—मुनि नथमलजी) पृ. ८
(ख) संयम के प्रकारान्तर से १७ भेद—
'पंचास्रवाद्विरमणं पंचेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः॥'

सुव्यवस्थित सुनियंत्रित रखना प्रशस्त चिन्तन में व्यापृत रखना मानसिक संयम है।[३०] प्रकारान्तर से संयम के १७ भेद भी हैं जो प्रसिद्ध हैं।[३१]

अहिंसा का सम्यक्तया पालन करने के लिए संयम के इन १७ भेदों का परिज्ञान आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि अहिंसा धर्म के सम्यक्-परिपालन के लिए प्रत्येक कार्य को करते समय संयम के इन भेदों को ध्यान में रख कर इतनी सावधानी (यतना एवं विवेक) से प्रवृत्ति करना चाहिए कि किसी भी जीव के द्रव्य या भावप्राणों की, अथवा स्वयं की आत्मा की विराधना न हो।[३२]

अहिंसा और संयम की अभिन्नता—अहिंसा को भगवान् महावीर ने व्रतों में सर्वश्रेष्ठ बताया है। उन्होंने परिपूर्ण या निपुण अहिंसा का उपदेश समस्त प्राणियों के प्रति संयम के अर्थ में दिया है।[३३] इस दृष्टि से सर्वजीव के प्रति संयम अहिंसा है और हिंसा आदि आश्रवों से विरति संयम है। इस प्रकार जो अहिंसा है वही संयम है।

प्रश्न होता है—जब अहिंसा ही संयम है, तब संयम का पृथक् उल्लेख क्यों किया गया ?

आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसका समाधान करते हुए कहा—अहिंसा का अर्थ है—सर्वथा प्राणातिपात-विरमण आदि पांच महाव्रत; और संयम है—उनकी रक्षा के लिए यथावश्यक नियमोपनियमों का पालन। इस दृष्टि से संयम, अहिंसा को टिकाने के लिए आवश्यक है, उसका अहिंसा पर उपग्रहकारित्व है।[३४]

तप : स्वरूप, प्रकार और विश्लेषण—जो ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि को तपाता है, जलाता है, नाश करता है; वह तप है।[३५] प्राचीन आचार्यों ने तप का एक लक्षण किया है—वासना या इच्छा का निरोध करना। मलिन चित्तवृत्ति की शुद्धि के लिए आन्तरिक एवं बाह्यक्रियाएँ करना तपश्चर्या है।[३६] बाह्य या आभ्यन्तर जितने भी तप हैं, उनका आचरण इहलौकिक तथा पारलौकिक नामना, कामना या वासना से रहित हो कर केवल निर्जरा (कर्मक्षय द्वारा आत्मशुद्धि) की दृष्टि से करना ही धर्म है।[३६]

तप के मुख्य दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर।

---

३०. दशवैकालिक. (गुजराती अनुवाद-संतबालजी), पृ. ४
३१. दशवैकालिक (आचारमणिमंजूषा व्याख्या) भा. १., पृ. १२ से १६ तक
३२. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ५
३३. दश. अ. ६ गा. ९
३४. हारि. वृत्ति, पत्र २६
३५. (क) तवोनाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठिं नासेति त्ति वुत्तं भवइ। —जिन. चूर्णि, पृ. १५
(ख) तपति ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं कर्म दहतीति तपः। —दशवै. आ. मणि. मं., भाग १, पृ. ६७
३६. (क) 'इच्छानिरोधस्तपः' (ख) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. ६, —दशवै. (गु. अनु. संतबालजी), पृ. ४

बाह्यतप के ६ भेद हैं—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या (अथवा वृत्तिपरिसंख्यान), (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसंलीनता (अथवा विविक्तशयनासन)।[३७]

१. **अनशन**—चतुर्विध या त्रिविध आहार का एक दिन, अधिक दिन या जीवनभर के लिए परित्याग करना। २. **ऊनोदरी**—आहार, उपकरण आदि की मात्रा में कमी करना, क्रोधादि कषायों को घटाना। ३. **भिक्षाचर्या**—(साधुओं की अपेक्षा) विशुद्ध भिक्षा के लिए पर्यटन करना (गृहस्थों की अपेक्षा द्रव्यों अथवा उपभोग्य पदार्थों की प्रतिदिन गणना का नियम रखना। **वृत्तिपरिसंख्यान** है। ४. **रसपरित्याग**—आयम्बिल, निविग्गइ आदि तप के माध्यम से दूध, दही, घी, तेल, मीठा आदि रसों का त्याग करना, स्वादवृत्ति पर विजय प्राप्त करना। ५. **कायक्लेश**—शीत, उष्ण आदि को सहन करना, धर्म पालन के लिए केशलोच, पैदलविहार आदि कष्टों को सहना, वीरासन आदि उत्कट आसनों से शरीर को संतुलित एवं स्थिर रखना। ६. **प्रतिसंलीनता**—इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में रागद्वेष न करना, स्त्रीपशु-नपुंसक-रहित विविक्त स्थान में निवास करना, उदय में आए हुए क्रोधादि को विफल करना और अनुदीर्ण क्रोध आदि का निरोध करना, अकुशल मन आदि को नियंत्रित करके कुशल मन आदि को प्रवृत्त करना।[३८]

आभ्यन्तर तप के ६ भेद हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

१. **प्रायश्चित्त**—साधनामय जीवन में लगे हुए अतिचारों या दोषों की विशुद्धि करने के लिए प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दना, गर्हणा आदि करके प्रायश्चित्त ग्रहण करना। २. **विनय**—देव गुरु और धर्म तथा ज्ञानादि के प्रति विनय करना, श्रद्धा, भक्ति-बहुमान आदि करना। ३. **वैयावृत्त्य**—आचार्य आदि १० प्रकार के साधकों तथा साधर्मी एवं संघ की शुद्ध आहार पानी आदि से सेवा करना। ४. **स्वाध्याय**—वाचना, पृच्छा, अनुप्रेक्षा (चिन्तन), परिवर्तना, और धर्मकथा (व्याख्यान आदि) के द्वारा श्रुतज्ञान की आराधना करना। ५. **ध्यान**—आर्त्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान द्वारा मन को एकाग्र करना, चित्त को तन्मय करना। ६. **व्युत्सर्ग**—काया आदि के व्यापार का एवं शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं, उपकरणों के ममत्व का त्याग करना, कषाय-आदि का व्युत्सर्जन करना।[३९]

---

३७ (क) अणसमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥ —उत्तरा. अ. ३०, गा. ८

(ख) अनशनाऽवमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशाः बाह्यं तपः।
—तत्त्वार्थ. अ. ९

३८. दशवै. (आ.म. मंजूषा टीका) भा. १, पृ. ६७-६८

३९. (क) पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो॥ —उत्तरा. अ. ३०, गा. ३९

(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ६९-७०

अहिंसा से स्व-पर का हित है, सबको शान्ति मिलती है, इसलिए अहिंसा धर्म है। संयम से दुष्प्रवृत्तियाँ रुकती हैं, तृष्णा मन्द हो जाती है, संयमी पुरुषों के संयम-पालन से अनेक दुःखितों को आश्वासन मिलता है, राष्ट्र में शान्ति का प्रचार होता है, इसलिए संयम धर्म है। तप से अन्तःकरण-शुद्धि होती है, इसलिए तप धर्म है।[४०]

धर्म और अहिंसादि के पृथक्-पृथक् उल्लेख का कारण यह है कि धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसा कि पहले बताया गया था। लौकिक धर्म अहिंसादि से युक्त नहीं होते, इसलिए कहीं ये धर्म भी उत्कृष्ट मंगल रूप न समझे जाएँ, इस दृष्टि से उत्कृष्ट मंगल रूप श्रमणधर्म को इनसे पृथक् करने हेतु अहिंसा, संयम और तप का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। इसका फलितार्थ यह है कि जो धर्म अहिंसा, संयम और तप-रूप है, वही उत्कृष्ट मंगल है, शेष गम्यादि धर्म नहीं।[४१]

धर्म का माहात्म्य और फल—धर्म का माहात्म्य अपार है। 'तंदुलवैचारिक' नामक ग्रन्थ में धर्म का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है—"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणात्मक धर्म त्राणरूप है, शरणरूप है, धर्म सुगति रूप है, धर्म संसारगर्त्त में पड़ने वाले के लिए प्रतिष्ठान (आधार) रूप है। सम्यक् प्रकार से आचरित धर्म अजर-अमर स्थान को प्राप्त कराता है। आचरित धर्म उसके पालक के प्रति जनसमुदाय द्वारा यहाँ और परलोक में भी प्रीति उत्पन्न करने वाला है, वह कीर्ति दिलाने वाला है, तेजस्वी बनाता है, यशस्वी बनाता है, प्रशंसनीय एवं रमणीय बनाता है, अभय बनाता है, और निर्वृतिकर (शान्तिप्रद) है, सर्वकर्मक्षय करने वाला है। सम्यक् प्रकार से आचरित धर्म के प्रभाव से मनुष्य महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होकर अनुपम रूप, भोगोपभोग-सामग्री और ऋद्धि प्राप्त करता है। तथा या तो वह केवलज्ञान प्राप्त करता है, अथवा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव, इन चार या तीन ज्ञानों को प्राप्त करता है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति देवेन्द्रपद प्राप्त करता है, अथवा राज्य के समस्त (सप्त) अंगों सहित चक्रवर्ती पद एवं अभीष्ट भोगसामग्री प्राप्त करता है या वह निर्वाण प्राप्त करता है।[४२]

प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध में यह बताया गया है कि जिसका मन सदैव धर्म में लीन एवं तन्मय रहता है, उस धर्मात्मा की महिमा देवों से भी अधिक होती है। साधारण लोग, यहाँ तक कि राजा-महाराजा एवं चक्रवर्ती आदि तो उसका अनुग्रह पाने के लिए उसकी वन्दना, नमन, सेवा-प्रतिष्ठा आदि करते ही हैं, लोकपूज्य तथा महाऋद्धि-द्युति-ऐश्वर्य-सम्पन्न देव एवं देवेन्द्र भी उसकी वन्दना, पर्युपासना, स्तुति आदि करने में अपना अहोभाग्य एवं कल्याण समझते हैं। धर्मिष्ठ पुरुष का जीवन और व्यक्तित्व ही इतना महान् आकर्षक और तेजस्वी होता है कि वह विश्ववन्द्य बन जाता है।[४३] यद्यपि धर्मात्मा पुरुष को धर्म के सम्यक् आचरण से आत्मा की विशुद्धि एवं विकास के साथ-साथ असाधारण सांसारिक पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि आनुषंगिक फल के रूप में स्वतः प्राप्त होते हैं; परन्तु धर्मिष्ठ व्यक्ति धर्म-पालन के आनुषंगिक फलस्वरूप प्राप्त होने वाली ऐसी सांसारिक

४०. दशवै. (गुजराती अनुवाद संतबालजी) पृ. ४.

४१. जिनदासचूर्णि, पृ. ३८

४२. 'तंदुलवेयालियं'

४३. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ७

ऋद्धि, सिद्धि या लब्धि की प्राप्ति या अन्य किसी सांसारिक उपलब्धि के लिए धर्माचरण न करे, केवल निर्जरा (आत्मशुद्धि) या अर्हन्तों द्वारा उपदिष्ट मोक्ष के हेतु से ही धर्माचरण करे; ऐसी तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा है।[४४]

श्रमणधर्म भिक्षाचरी और मधुकर-वृत्ति

२. जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियई रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥

३. एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाण-भत्तेसणे रया॥

४. वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा॥

[२] जिस प्रकार भ्रमर, वृक्षों के पुष्पों में से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, तथा (किसी भी) पुष्प को पीड़ा नहीं पहुँचाता (म्लान नहीं करता); और वह अपने आपको (भी) तृप्त कर लेता है॥ २॥

[३] उसी प्रकार लोक में जो (बाह्य-आभ्यन्तर-परिग्रह से या राग-द्वेष के ग्रन्थि-बन्धन से) मुक्त, श्रमण साधु हैं, वे दान-भक्त (दाता द्वारा दिये जाने वाले निर्दोष आहार) की एषणा (भिक्षा) में रत रहते हैं; जैसे भौंरे फूलों में॥ ३॥

[४] हम इस ढंग से वृत्ति (=भिक्षा) प्राप्त करेंगे, (जिससे) किसी जीव का उपहनन (उपमर्दन) न हो, (क्योंकि) जिस प्रकार भ्रमर अनायास (अकस्मात्) प्राप्त, फूलों पर चले जाते हैं, (उसी प्रकार) श्रमण भी यथाकृत-गृहस्थों के द्वारा अपने लिए सहजभाव से बनाए हुए। आहार के लिए, उन घरों में भिक्षा के लिए जाते हैं॥ ४॥

विवेचन—भ्रमरवृत्ति और साधु की भिक्षावृत्ति—प्रस्तुत तीन गाथाओं (२ से ४ तक) में भ्रमरवृत्ति से साधु की भिक्षावृत्ति की तुलना की गई है।

अहिंसा, श्रमणधर्म और जीवननिर्वाह—प्रश्न होता है कि श्रमणधर्म या चारित्रधर्म का पालन या आचरण शरीर से होता है और शरीर के निर्वाह के लिए आहार की आवश्यकता रहती है, आहार पृथ्वीकायादि षड्जीवनिकाय के आरम्भ के विना निष्पन्न नहीं हो सकता। अगर साधु आरम्भ में पड़ता है तो श्रमणधर्म का पालन नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में साधु अपने अहिंसाधर्म पर कैसे स्थिर रह सकता है?

इस समस्या के समाधान के हेतु इन गाथाओं में भ्रमर का दृष्टान्त देकर साधुओं के लिए निर्दोष भिक्षावृत्ति द्वारा आहार ग्रहण करने और जीवन-निर्वाह करने की विधि बताई गई है। इस

४४. दशवै. अ. ९, उ. ४, सू. ५-६

प्रकार की एषणापूर्वक निर्दोष भिक्षाचर्या से साधु के श्रमणधर्म (चारित्र) पालन में कोई आंच नहीं आ सकती।[४५]

भ्रमरवृत्ति—प्रस्तुत द्वितीय गाथा में भ्रमर की स्वाभाविक वृत्ति का उल्लेख किया गया है। भौंरा अपने जीवन-निर्वाह के लिए मंडराता हुआ किसी वृक्ष या लता, पौधे आदि के फूलों पर जाकर बैठता है, और उनका समूचा रस नहीं, किन्तु थोड़ा-थोड़ा रस मर्यादा-पूर्वक पीता है। ऐसा करके वह उन फूलों को हानि नहीं पहुँचाता, और वह स्वयं की तृप्ति कर लेता है।[४६] इसीलिए इस गाथा में **'दुमस्स पुप्फेसु'** में बहुवचनात्मक पद और **'ण य पुप्फं किलामेइ'** में एकवचनात्मक पद ग्रहण किया गया है। 'दुमेसु' इस बहुवचनात्मक पद से प्रकट किया गया है कि भौंरा एक फूल पर ही नहीं, अनेक फूलों पर जा कर रस चूसने के लिए बैठता है। इसी प्रकार साधु भी एक ही घर से नहीं, अनेक घरों से आहार ग्रहण करे। तथा 'पुप्फं' इस एकवचनात्मक पद से यह आशय निकलता है कि वह किसी एक घर को भी हानि नहीं पहुँचाता।[४७]

भिक्षाचरी की प्रक्रिया द्वारा अहिंसा, संयम और तप इन तीनों से युक्त श्रमणधर्म का भलीभांति पालन कर लेता है। साधु की निर्दोष भिक्षावृत्ति में इन तीनों धर्मांगों का भलीभांति पालन हो जाता है; क्योंकि अपने निमित्त से किसी भी जीव को पीड़ा न पहुँचाना **अहिंसा** है। भिक्षाचर्या में साधु अपने लिए स्वयं आहार बना या बनवा कर किसी प्रकार से जीवों की हिंसा (आरम्भ) नहीं करता और न किसी गृहस्थ के द्वारा उसके स्वयं के लिए बनाये हुए आहार में से बलात् लेता है, स्वेच्छा भावना से जो देता है, उसी में से थोड़ा-सा लेता है, जिससे दाता गृहस्थ को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। इसी प्रकार दूसरों को पीड़ा न पहुँचे, इस तरह से थोड़े-से आहार से अपना जीवन निर्वाह कर लेना **संयम** है। साधु भिक्षाचरी करते समय अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा लेकर मर्यादित आहार से अपना निर्वाह कर लेता है। भिक्षाचरी करते समय पर्याप्त आहार न मिला या अपने नियमानुसार निर्दोष आहार बिलकुल न मिला, तो संतोष करके उपवास करके अपनी इच्छा का निरोध कर लेता है, तो अनायास ही **तप** हो जाता है। इस प्रकार साधुजीवन में भिक्षाचर्या द्वारा स्वाभाविक रूप से स्व (श्रमण) धर्म का निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से पालन हो जाता है।[४८]

भ्रमर और भिक्षु में अन्तर—यहाँ जो भ्रमर का दृष्टान्त दिया गया है, वह देशोपमा है, सर्वोपमा नहीं। भ्रमर में जो अनियतवृत्तिता का गुण है, उसी को लक्ष्य में रख कर शास्त्रकार ने भ्रमर का दृष्टान्त दिया है।[४९]

---

४५. (क) दशवै. (आचारमणि-मंजूषा टीका) भा. १, पृ. ८५
(ख) दशवै. (आ. श्री आत्मारामजी म.) पृ. ८
४६. दशवै. (आचारमणि-मंजूषा टीका) भा. १, पृ. ८६
४७. दशवै. (आचारमणि-मंजूषा टीका) भा. १., पृ. ८६-८७
४८. दशवै. (गुजराती अनुवाद, संतवालजी) पृ. ५
४९. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. १०
(ख) दशवै. निर्युक्ति गा. १००-१०१

भ्रमर और भिक्षाजीवी साधु में भिक्षु की यह विशेषता है कि भ्रमर तो वृक्ष के पुष्प चाहें या न चाहें, तो भी उनमें से रस चूस लेते हैं, किन्तु भिक्षु तो, गृहस्थ अपने आहारादि में से प्रसन्नता से, स्वेच्छा से दें, तभी ग्रहण करते हैं।[५०]

'आवियइ' आदि पदों का फलितार्थ—आवियइ—थोड़ा-थोड़ा पीता है, अथवा मर्यादा (प्रमाण) पूर्वक पीता है। फलितार्थ यह है कि जिस प्रकार पुष्पों से रस ग्रहण करते समय भ्रमर मर्यादा से काम लेता है, उसी प्रकार भिक्षु भी गृहस्थों से भिक्षा ग्रहण करते समय मर्यादा से काम ले। अर्थात् थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे, जिससे बाद में गृहस्थ को दूसरी बार बनाने की तकलीफ न पड़े। **'न य पुप्फं किलामेइ'**—भ्रमर की वृत्ति यह है कि वह पुष्प या पुष्प के वर्ण-गन्ध को हानि न पहुँचाये, अथवा फूल को मुर्झाए बिना रस ग्रहण कर ले। इसी प्रकार भिक्षु भी किसी को हानि न पहुँचाये, डराये-धमकाए या टीकाटिप्पणी करके खिन्न किये बिना, जो दाता प्रसन्न मन से जितना दे, उतना ही लेकर सन्तुष्ट हो।[५१]

समणा, मुत्ता, संति-साहुणो आदि पदों के विभिन्न विशेष अर्थ—'समणा' : चार रूप, चार अर्थ—(१) श्रमण—जो (धर्मपालन में या रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग में) श्रम-पुरुषार्थ करते हैं, अथवा जो कर्मक्षयार्थ श्रम—तप करते हैं; **(२) शमन**—जो कषायों और नोकषायों का शमन करते हैं, इन्द्रियों को शान्त-दान्त रखते हैं, **(३) समण**—जो अपने समान समस्त जीवों के प्रति सम (आत्मवत्) रहते हैं। अथवा समस्त जीवों के प्रति न तो राग रखते हैं, न द्वेष; मध्यस्थ हैं, वे भी समन हैं। **(४) सुमनस्** अथवा **समनस्**—जिसका मन शुभ है, सब का हितचिन्तक है, वह सुमना है, अथवा जिसका मन पाप से रहित है, जो शुभ मन से युक्त है, स्वजन-परजन या सम्मान-अपमान आदि में जो 'सम' है, वह समना है।[५२]

मुत्ता : दो अर्थ—(१) मुक्ताः—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से अथवा राग-द्वेष, मोह, आसक्ति एवं घृणा से मुक्त—निर्ग्रन्थ या मुक्ति—निर्लोभता के गुण से युक्त।

---

५०. दशवै. (गुजराती अनुवाद, संतबालजी) पृ. ५

५१. हारि. वृत्ति, पत्र ३२-३३

५२. (क) श्राम्यन्तीति श्रमणाः, तपस्यन्तीत्यर्थः। —हा. वृ. प. ६८

(ख) शमयन्ति कषाय-नोकषायरूपानलमिति शमनाः। —दश. आचार म. मं. भा. १, पृ. ९२

(ग) जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो॥
नत्थि य से कोइ वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो। सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु॥
—निर्युक्ति गाथा १५४, १५५, १५६

(घ) सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण-पापरहितेन च चेतसा वर्तत इति समनसः॥
—स्थानांगटीका पृ. २६८

संति साहुणो : दो रूप, (१) शान्ति-साधवः—शान्ति-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप गुणविशिष्ट शान्ति की, सिद्धि की, उपशम, निर्वाण या अकुतोभय की या हिंसाविरति की साधना करने वाले।[५३] **(२) अथवा सन्ति साधवः**—(क) साधु हैं, साधु—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के योग से अपवर्ग या निर्वाण की साधना करते हैं, वे साधु हैं।[५४]

लोए : दो अर्थ—(१) लोक में अर्थात् जैनशास्त्रीय दृष्टि से अढाई द्वीप-प्रमाण मनुष्यलोक में। यह अर्थ यहाँ इसलिए संगत है कि मनुष्य सिर्फ अढाई द्वीप में ही उत्पन्न होते हैं, रहते हैं। (२) लोक में अर्थात्—भौगोलिक दृष्टि से वर्तमान जगत् में।[५५]

'विहंगमा व पुप्फेसु' : रहस्यार्थ—यहाँ 'भ्रमर' के बदले 'विहंगम' शब्द का उल्लेख विशेष अर्थ को द्योतित करने के लिए है। 'विहंगम' का अर्थ है—आकाश में भ्रमण-शील भ्रमर। जिस प्रकार भ्रमर स्वयं उड़ता हुआ अकस्मात् स्वाभाविकरूप से किसी वृक्ष के फूलों पर पहुँच जाता है, वह वृक्ष या फूल भ्रमर के पास नहीं आता, उसी प्रकार साधु को भी आकाशी वृत्ति से भिक्षा के लिए स्वयं भ्रमण करते हुए स्वाभाविक रूप से उच्च-नीच-मध्यम, किसी भी कुल या घर में पहुँचना चाहिए, वह घर या गृहस्थ दाता भिक्षु के पास भिक्षा लेकर नहीं आए। यह इन पदों का रहस्यार्थ है।[५६]

'समणा' के तीन विशेषण क्यों ?—प्रस्तुत गाथा में 'समणा' पद दे देने से ही काम चल सकता था, फिर यहाँ समणा, मुत्ता, संति-साहुणो इन तीन विशेषणों के देने का क्या अभिप्राय है ? आचार्य हरिभद्र इसका समाधान करते हुए कहते हैं—लोक में ५ प्रकार के श्रमण प्रसिद्ध हैं—(१) निर्ग्रन्थ, (२) शाक्य, (३) तापस, (४) गैरिक और (५) आजीवक। यहाँ शेष चार प्रकार के श्रमणों का निराकरण करके केवल निर्ग्रन्थ एवं मोक्षसाधक या पंचमहाव्रतपालक श्रमण विशेष की भिक्षावृत्ति बताने के लिए उपर्युक्त तीन विशेषण दिये गए हैं।[५७]

---

५३. (क) 'मुक्ताः वाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन।' —हारि. टीका, पृ. ६८

(ख) शान्ति नाम ज्ञानदर्शनचारित्राणि अभिधीयन्ते····तामेव गुणविशिष्टां शान्ति साधयन्तीति साधवः, अहवा संति अकुओभयं भण्णइ।— जि. चूर्णि पृ. ६६

(ग) संति विज्जंति खेत्तंतरेसु वि एवं धम्मताकहणत्थं। अहवा संति-सिद्धि साधेंति संतिसाधवः। उवसमो वा संती, तं साहेंति संतिसाहवो। णेव्वाणसाहणेण साधवः।

(घ) " संति निव्वाणमाहियं।"—सूत्रकृतांग. १।११।११

(ङ) उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं विज्जा, संति ···॥ सूत्र कृ. १।११।११

५४. साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधवः। —हारि. वृत्ति, पत्र ७९

५५. दशवै. (आचार्य आत्मारामजी म.) पृ. १२

५६. दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ९४

५७. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ९४

(ख) 'निग्गंथ-सक्क-तावस-गेरुय-आजीव पंचहा समणा।' —हारि. वृत्ति, पत्र ६८

भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ श्रमण की भिक्षावृत्ति और मधुकरवृत्ति में अन्तर—प्रश्न होता है, निर्ग्रन्थ श्रमण सर्वथा अपरिग्रही, कंचन-कामिनी का त्यागी होता है, इसी प्रकार भ्रमर भी बाहर से अपने पास कुछ भी नहीं रखता, ऐसी स्थिति में जैसे भ्रमर सीधा ही फूलों के पास पहुँच कर वे (फूल) चाहें या न चाहें, उनका रस चूस लेता है, क्या इसी तरह निर्ग्रन्थ साधु भी अन्य-तीर्थी तापसों की तरह वृक्षों के फल, कन्द-मूल आदि तोड़ कर ग्रहण एवं सेवन करे ?

शास्त्रकार कहते हैं—निर्ग्रन्थ श्रमण कदापि ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसके दो महाव्रत भंग होते हैं—वृक्ष, फल, मूल आदि सजीव होते हैं, उन्हें तोड़ने और खाने से उनकी हिंसा होती है, अतः साधु का प्रथम अहिंसा महाव्रत भंग होता है। दूसरे, वृक्षों के फल आदि को किसी के बिना दिये ग्रहण करने में तीसरा अदत्तादानविरमण (अचौर्य) महाव्रत भंग होता है। ऐसी स्थिति में क्या श्रमण गृहस्थों से आटा, दाल आदि मांग कर लाए और स्वयं आहार पकाए या पकवाए ? इसका समाधान यह है कि अहिंसा महाव्रती श्रमण ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि पचन-पाचन आदि क्रियाओं—आरम्भों में सचित्त अग्नि और जल के जीवों का हनन होगा। इसी प्रकार वह आहार-सामग्री खरीद कर या खरीदवा कर भी नहीं ले सकता, क्योंकि अपरिग्रही और अहिंसक साधु के लिए यह वर्जित है। तब फिर वह अपनी उदरपूर्ति कैसे करे ? इस प्रश्न का समाधान तृतीय गाथा के अन्तिम चरण में किया गया है—**दाण-भत्तेसणे रया**। ये शब्द निर्ग्रन्थ श्रमण की भिक्षावृत्ति के मूलमंत्र हैं, और ये ही मधुकरवृत्ति से भिक्षावृत्ति की विशेषता को द्योतित करते हैं। इनका अर्थ है—भिक्षु गृहस्थों द्वारा प्रदत्त, (प्रासुक) भक्त (भोजन) की एषणा में तत्पर रहें। इसका फलितार्थ यह है कि निर्ग्रन्थ भिक्षु अदत्तादान (चोरी) से बचने के लिए दाता द्वारा स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक दिया हुआ आहार आदि ग्रहण करे। बिना दिया हुआ न ले। अर्थात् दाता के घर में स्वप्रयोजन के लिए बनाया हुआ, वह भी प्रासुक (अचित्त) हो, भिक्षा ग्रहण के किसी नियम के विरुद्ध न हो, ग्रहण-योग्य निर्दोष आहार-पानी हो तो ग्रहण करे।[५८] इस प्रकार की गवेषणा और ग्रहणैषणापूर्वक भिक्षा ग्रहण करने से श्रमण अपने अहिंसा, अपरिग्रह और अचौर्य, तीनों महाव्रतों को अक्षुण्ण रख सकेगा।

एषणा : परिभाषा और प्रकार—साधु को भिक्षाटन के समय प्रासुक, ग्राह्य, कल्पनीय एवं एषणीय आहारादि की खोज, प्राप्ति और उसके उपभोग के समय जो विवेक रखना होता है, उसे ही एषणा अथवा एषणासमिति कहते हैं। उत्तराध्ययन आदि शास्त्रों में एषणा के तीन प्रकार बताए गए हैं—(१) **गवेषणा**—भिक्षाचरी के लिए निकलने पर साधु को आहार के ग्राह्य-अग्राह्य, या कल्पनीय-

---

५८. (क) दाणेत्ति दत्तगिण्हण भत्ते भज सेव फासुगेण्हणया।
एसणतिगंमि निरया उवसंहारस्स सुद्धि इमा॥ —निर्युक्ति गा. १२३.

(ख) 'दानग्रहणाद् दत्तं गृह्णन्ति, नादत्तम्, भक्तग्रहणेन तदपि भक्तं प्रासुकं, न पुनराधाकर्मादि।"
—हारि. वृत्ति, पत्र ६३.

(ग) 'दात्रा दानाय आनीतस्य भक्तस्य एषणे।' —तिलकाचार्यवृत्ति

(घ) दशवै. (गु. अनु. संतबाल) पृ. ५, दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. ११

(ङ) अवि भमर महुयरिगणा अविदिन्नं आवियंति कुसुमरसं। समणा पुण भगवंतो नादिन्नं भोत्तुमिच्छन्ति।
—दश. निर्युक्ति गा. १२४

अकल्पनीय के निर्णय के लिए जिन नियमों का पालन करना है, अथवा जिन १६ उद्गम और १६ उत्पादन के दोषों से बचना है, उसे 'गवेषणा' कहते हैं, (२) **ग्रहणैषणा**—भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ साधु को भिक्षा ग्रहण करते समय जिन १० एषणा-दोषों से बचना है या जिन-जिन नियमों का पालन करना है, उसे ग्रहणैषणा कहते हैं, और (३) **परिभोगैषणा**—भिक्षा में प्राप्त आहारादि का उपभोग (सेवन) करते समय जिन मण्डल के ५ दोषों से बचना है, उसे परिभोगैषणा या ग्रासैषणा कहते हैं। प्रस्तुत तृतीय गाथा में 'एषणा में रत' होने का विशेषार्थ है—भिक्षा की शोध, ग्रहण और परिभोग सम्बन्धी तीनों एषणाओं के ४७ दोषों से रहित शुद्ध भिक्षा की एषणा में तत्पर रहना, पूर्ण उपयोग के साथ सर्वदोषों से रहित गवेषणा आदि में रत रहना।[५९]

प्रतिज्ञा का उच्चारण—गुरु शिष्य के समक्ष अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा को दोहराते हुए कहते हैं—"हम इस तरह से वृत्ति-भिक्षा प्राप्त करेंगे, कि किसी जीव का उपहनन (वध) न हो; अथवा किसी भी दाता को दुःख न हो। इस प्रतिज्ञा के पालन के लिए भिक्षु यथाकृत आहार लेते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों से रस।"[६०]

भिक्षा : स्वरूप, प्रकार और अधिकार—वैसे तो कई भिक्षुक (भिखारी) भी भीख मांगते रहते हैं, और निर्ग्रन्थ श्रमण भी भिक्षाचर्या करते हैं, परन्तु इन दोनों की वृत्ति एवं कोटि में अन्तर है। भिक्षुक दीनता की भाषा में, याचना करके या गृहस्थ के मन में दया पैदा करके भीख मांगता हैं और निर्ग्रन्थ : श्रमण न तो दीनता प्रदर्शित करता है, और न ही याचना करता है,[६१] उसकी इस प्रकार की मांग या बाध्य करके किसी से भिक्षा लेने की वृत्ति नहीं होती, न ही वह जाति, कुल आदि बता कर या प्रकारान्तर से दया उत्पन्न करके भिक्षा लेता है। उसकी भिक्षा अमीरी भिक्षा है। उसकी त्यागवृत्ति से स्वयं आकर्षित होकर गृहस्थ अपने लिए बने हुए आहार में से उसे देता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रमण निर्ग्रन्थों की भिक्षा को **सर्वसंपत्करी** कहा है। दीन, हीन, अनाथ और

---

५९. (क) इरिया-भासेसणादाणे उच्चारे समिती इय।
गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहि-सेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोगम्मि चउक्कं, विसोहेज्ज जयं जई॥ —उत्तराध्ययन अ. २४, गा. २, ११, १२

(ख) "एसणतिगंमि निरया.... ।" —निर्युक्ति गा. १२३

(ग) 'एषणाग्रहणेन गवेषणादित्रय-परिग्रहः।' —हारि. वृत्ति, पत्र ६८

(घ) 'एसणे इति-गवेसण-गहण-घासेसणा सूइता।' —अगस्त्य. चूर्णि

६०. जह दुमगणा उ तह नगरजणवया पयणपायणसहावा।
जह भमरा तह मुणिणो, नवरि अदत्तं न भुंजंति॥
कुसुमे सहावफुल्ले आहारंति भमरा जह तहा उ।
भत्तं सहावसिद्धं समण-सुविहिया गवेसंति।...... निर्युक्ति गा. १२७, १२८ ९९, १०६, ११३, १२९

६१. 'अदीणे वित्तिमेसिज्जा.—उत्तरा.

अपाहिजों को दी जाने वाली भिक्षा (भीख) 'दीनवृत्ति' कहलाती है, और पांच आस्रवों का सेवन करने वाले, पंचेन्द्रियविषयासक्त, प्रमाद में निरन्तर रत, सन्तानों को उत्पन्न करने और पालने-पोसने में व्यस्त, भोगपरायण, आलसी, एवं निकम्मे लोगों को दी जाने वाली भिक्षा 'पौरुषघ्नी' कहलाती है। क्योंकि इससे उनमें पुरुषार्थहीनता आती है।[६२]

श्रमणधर्म-पालक भिक्षाजीवी साधुओं के गुण—

५. महुकारसमा बुद्धा जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो॥
त्तिबेमि।

॥ पढमं दुमपुप्फियऽज्झयणं समत्तं॥ १॥

[५] जो बुद्ध (तत्त्वज्ञ) पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित हैं, नाना पिण्डों में रत हैं और दान्त हैं, वे अपने इन्हीं गुणों के कारण साधु कहलाते हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—साधुता के गुणों की पहिचान—प्रस्तुत ५ वीं गाथा में साधुता की वास्तविक पहिचान के लिए मुख्य चार गुणों का प्रतिपादन किया गया है। (१) बुद्ध, (२) मधुकरवत् अनिश्रित, (३) नानापिण्डरत और (४) दान्त।

चारों गुणों की व्याख्या—(१) **बुद्धा**=प्रबुद्ध, जागृत, तत्त्वज्ञ अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-विवेकी।[६३] (२) **महुकारसमा अणिस्सिया : मधुकरसम अनिश्रित : चार अर्थ**—(क) जैसे मधुकर किसी फूल पर आश्रित नहीं होता, वह विभिन्न पुष्पों से रस लेता रहता है, कभी किसी पुष्प पर जाता है, कभी किसी पुष्प पर। इसी प्रकार श्रमण भी किसी एक घर या ग्राम के आश्रित न हो। (ख) जैसे मधुकर की वृत्ति अनियत होती है, वह किस पुष्प पर रस लेने जाएगा, यह पहले से कुछ भी नियत या निश्चित नहीं होता, इसी प्रकार भिक्षाजीवी साधु भी पहले से किसी घर का कुछ भी निश्चित करके नहीं जाता, अनायास ही अनियत वृत्ति से कहीं भी भिक्षा के लिए पहुँच जाता है, (ग) भ्रमर जैसे किसी एक पुष्प में आसक्त या निर्भर नहीं होता इसी प्रकार श्रमण भी किसी खाद्य पदार्थ घर या गाँव-नगर में आसक्त नहीं होता। (घ) वह किसी निवासस्थान, कुटुम्ब, जाति, वर्ग आदि से प्रतिबद्ध न हो।[६४] (३) **णाणापिंडरया—नानापिण्डरता : पांच अर्थ**—(क) साधु अनेक घरों से ग्रहण किये हुए (थोड़े-थोड़े) पिण्ड=आहार में रत (प्रसन्न) (ख) विविध प्रकार का अन्त प्रान्त, नीरस या तुच्छ आहार ग्रहण करने में रुचि वाले हों, (ग) उक्खित्तचरिया आदि भिक्षाटन की नाना विधियों से भ्रमण करते हुए प्राप्त पिण्ड (आहार) में सन्तुष्ट रहे, (घ) कहाँ, किससे, किस

---

६२. (क) हरिभद्रीय अष्टक (ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ९५-९६
६३. (क) दशवै. (संतबालजी) पृ. ६, (ख) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. १६, (ग) दश. (आचार म. मं.) भा. १ पृ. १०३
६४. (क) दशवै. (मु. नथमलजी) पृ. १३, (ख) दश. (आचार म. मं.) भा. १, पृ. १०३ (ग) दश. (संतबालजी) पृ. ६, (घ) दशवै. (आ. आत्मारामजी) पृ. १६, (ङ) अणिस्सिया णाम अपडिबद्धा"। जि. चू., पृ-६८

प्रकार से अथवा कैसा भोजन मिले तो मैं लूँगा, इस प्रकार के अभिग्रहपूर्वक प्राप्त आहार में सन्तुष्ट अनुरक्त रहे। (ङ) आहार की गवेषणा में नाना प्रकार के वृत्तिसंक्षेप से प्राप्त पिण्ड में रत रहे।[६५]
(४) **दंता = दान्ता : पांच अर्थ**—(क) इन्द्रियों और मन के विकारों को दमन करने वाला, (ख) इन्द्रियों को दमन (नियंत्रित) करने वाला, (ग) संयम और तप से आत्मा को दमन करने वाला, (घ) क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अध्यात्मदोषों के दमन करने में तत्पर और (ङ) जो आत्मा से आत्मा का दमन करता है।

तेण वुच्चंति साहुणो : आशय—इस उपसंहारात्मक वाक्य का आशय यह है कि इस अध्ययन में अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्षरूप से उल्लिखित महत्त्वपूर्ण गुणों से युक्त जो साधक हैं, वे इन्हीं गुणों के कारण साधु कहलाते हैं।

।। दशवैकालिकसूत्र : प्रथम द्रुमपुष्पिका अध्ययन समाप्त ।।

---

६५. नाना अनेकप्रकारोऽभिग्रहविशेषात् प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड-आहारपिण्डः, नाना चासौ पिण्डश्च नानापिण्डः, अन्तप्रान्तादिर्वा तस्मिन् रता—अनुद्वेगवन्तः। —हारि. वृत्ति, पत्र ७३

बिइयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वगं : श्रामण्य-पूर्वक

प्राथमिक

※ दशवैकालिकसूत्र का यह द्वितीय श्रामण्यपूर्वक नामक अध्ययन है।

※ श्रामण्य का अर्थ है—श्रमणत्व अथवा श्रमण धर्म। श्रामण्य से पूर्व को 'श्रामण्यपूर्वक' कहते हैं।

※ श्रामण्य से पूर्व क्या होता है ? ऐसी कौन-सी साधना है जिसके विना श्रामण्य नहीं होता ? जैसे दूध के विना दही नहीं हो सकता, तिल के विना तेल नहीं हो सकता, बीज के विना वृक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही कामनिवारण के विना श्रामण्य नहीं हो सकता। इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर शास्त्रकार ने, जिस के विना श्रामण्य नहीं हो सकता, इस अध्ययन में उसकी चर्चा होने से, इस का नाम 'श्रामण्यपूर्वक' रखा है।[1]

※ टीकाकार के मतानुसार—'श्रामण्य का मूल बीज धृति (धर्म) है। अतः इस अध्ययन में 'धृति' का निरूपण है। कहा भी है—जिसमें धृति होती है, उसके तप होता है, जिसके तप होता है, उसको सुगति सुलभ है। जो धृतिहीन हैं, निश्चय ही उनके लिए तप दुर्लभ है।"[2]

※ शास्त्रकार मूल में काम-निवारण को श्रामण्य का बीज बताते हैं वही समग्र अध्ययन का मूल स्वर है। तात्पर्य यह है कि श्रमणधर्म का पालन करने से पूर्व कामराग का निवारण आवश्यक है।

※ आगे की गाथाओं में बताया गया है कि जो सांसारिक विषयभोगों या उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों का बाहर से त्याग कर देता है, या परवश होने के कारण उन पदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता वह श्रमणत्वपालक या त्यागी नहीं। जो स्वेच्छा से, अन्तर से उन्हें त्याग देता है, वही त्यागी एवं श्रमणत्व का अधिकारी है।

※ यहाँ 'काम' मुख्यतया मदन काम (मोहभाव) के अर्थ में लिया गया है। इसीलिए आगे कामराग-निवारण के ठोस उपाय बतलाये गये हैं। कामनिवारण का उपाय करने पर भी मन नियंत्रण से बाहर हो जाए तो काया की सुकुमारता छोड़ कर धैर्यपूर्वक आतापना आदि कठोर तपस्या करके उसका निवारण करे।

---

१. दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. १७

२. जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलभा।
जे अधिइमंत पुरिसा तवोऽपि खलु दुल्लहो तेसिं ॥—हारि. वृत्ति, प.

※ काम और श्रामण्य दोनों में कैसे टक्कर होती है ? और कामनिवारण का उपाय धैर्यपूर्वक न करने पर बड़े से बड़ा साधक भी काम के आगे कैसे पराजित हो जाता है ? इस तथ्य को भलीभांति समझाने के लिए शास्त्रकार ने कामपराजित रथनेमि और श्रामण्य पर सुदृढ़ राजीमती का ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

※ राजीमती का प्रसंग इस प्रकार है—भगवान् अरिष्टनेमि ने उत्कट वैराग्यपूर्वक एक हजार साधकों के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । बाद में राजीमती ने भी प्रबल वैराग्यपूर्वक सात सौ सहचरियों के साथ प्रव्रज्या अंगीकार की । एक बार रैवतक पर्वत पर विराजमान भ. नेमिनाथ को वन्दना करने साध्वी राजीमती जा रही थीं । मार्ग में बहुत तेज वृष्टि हो जाने से उनके सारे वस्त्र भीग गए । एक गुफा को निरापद एवं एकान्त निर्जन स्थान समझ कर वे वहाँ अपने सब वस्त्र उतार कर सुखाने लगीं । उसी गुफा में ध्यानस्थ रहे हुए रथनेमि (नेमिनाथ भगवान् के छोटे भाई) की दृष्टि राजीमती के रूपयौवनसम्पन्न शरीर पर पड़ी । उनकी कामवासना भड़क उठी । उन्हें अपने श्रमणत्व का भान नहीं रहा । वह साध्वी राजीमती से कामभोग की प्रार्थना करने लगे । इस पर राजीमती एकदम चौंक कर संभल गई । उसने अपने शरीर पर वस्त्र लपेटे और रथनेमि को जो वचन कहे और उन्हें सुनकर वे पुनः आत्मस्थ एवं संयम में सुस्थिर हुए । राजीमती ने रथनेमि को जो प्रबल प्रेरक उपदेश दिया, वह गाथा ६ से ९ तक चार गाथाओं में वर्णित है । उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन में विस्तार से अंकित है ।+

※ उपसंहार में कहा गया है कि साधकों को भी मोहोदयवश संयम से विचलित होने का प्रसंग आने पर इसी प्रकार अपने ऊपर अंकुश लगाकर श्रमणत्व में स्थिर हो जाना चाहिए । □□

+ देखिये. उत्तराध्ययन सूत्र का २२ वाँ अध्ययन ।

बिइयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वगं : श्रामण्य-पूर्वक

कामनिवारण के अभाव में श्रामण्य-पालन असंभव

६. कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥

[६] जो व्यक्ति काम (-भोगों) का निवारण नहीं कर पाता, वह संकल्प के वशीभूत होकर पद-पद पर विषाद पाता हुआ श्रामण्य का कैसे पालन कर सकता है ?※

विवेचन—श्रामण्यपालन-योग्यता की पहली कसौटी—प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा में कामनिवारण के अभाव में संकल्प-विकल्पों के थपेड़ों से आहत एवं विषादग्रस्त व्यक्ति के लिए श्रमण-भाव का पालन अशक्य बताया गया है।

श्रामण्य-पालन का अन्तस्तल—श्रामण्य का यहाँ व्यापक अर्थ है—श्रमणभाव, शमनभाव, समभाव, एवं सममनोभाव। समण शब्द के चार रूप और उनके व्यापक अर्थों पर पिछले अध्ययन में प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से श्रामण्य के भी व्यापक रूप और उनके अर्थों पर विचार करें तो श्रामण्य-पालन के हार्द को पकड़ सकेंगे। जो व्यक्ति तप-संयम में या रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग में स्वयं पुरुषार्थ (श्रमणभाव) नहीं करता, देवी-देवों या किसी अन्य शक्ति के आगे दीनतापूर्वक सांसारिक कामभोगों की याचना करता है, साथ ही कषायों तथा नोकषायों का शमन (शमनभाव) नहीं करता, तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान करता है, एवं इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति समभाव नहीं रख पाता, पुनश्च जो विषय-कषायों के चक्कर में पड़कर अपने मन को प्रतिक्षण पापमय (अशुभ) बनाए रखता है, शुभ मन (सुमन) नहीं रख पाता, अर्थात्—जो श्रामण्य-पालन नहीं कर पाता, वह श्रमण-भाव आदि के अभाव में उपर्युक्त दृष्टियों से कामनिवारण नहीं कर सकेगा। वह विविध प्रकार के विकल्पों की उधेड़ बुन में अहर्निश दुःखी एवं संतप्त होता रहता है। ऐसा व्यक्ति श्रामण्य का आनन्द, मोक्षमार्ग का या आत्मा का स्वाधीन सुख प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ कामनिवारण और श्रामण्य-पालन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बताया है। अर्थात्—कामनिवारण के अभाव में श्रामण्यपालन नहीं हो सकता, और श्रामण्यपालन के अभाव में कामनिवारण नहीं हो सकता। इसीलिए शास्त्रकार ने गाथा के प्रारम्भ में ही कहा है—**'कहं नु कुज्जा सामण्णं'**।

※ तुलना कीजिए—*दुक्करं दुत्तितिखञ्च अव्यत्तेन हि सामञ्ञं। बहूहि तत्थ सम्बाधा, यत्थ बालो विसीदतीति।*
कतिहं चरेय्य सामञ्ञं, चित्तं चे न निवारये। पदे पदे विसीदेय्य संकप्पानं वसानुगो ति ॥ १।१७

—संयुत्तनिकाय १।२।७ पृ. ८

अर्थ—श्रामण्य अव्यक्त होने से दुष्कर, दुस्तितिक्ष्य (दुःसह) लगता है और जब उसके पालन में बहुत बाधाएँ आती हैं तो बाल (अज्ञानी) जन अत्यन्त विषाद पाते हैं। जो व्यक्ति अपने चित्त को कामभोगों से निवारित नहीं कर सकता, वह कितने दिनों तक श्रमणभाव को पालेगा ! क्योंकि यह व्यक्ति संकल्पों के वशीभूत हो कर पद-पद खेदखिन्न होता रहेगा।

प्रकारान्तर से श्रामण्य-पालन के अभाव में—श्रामण्य का अर्थ श्रमणधर्म करते हैं तो क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दशविध श्रमणधर्मों का समावेश श्रामण्य शब्द में हो जाता है। ऐसी स्थिति में **'कहं नु कुज्जा सामण्णं'** का तात्पर्य होगा—जो व्यक्ति कामेच्छा का निवारण नहीं कर सकता, वह दशविध श्रमण-धर्म का पालन कैसे कर सकता है? कामभोगों की लालसा से मन सुखसुविधाशील और शरीर सुकुमार बन जाएगा तो परीषहों एवं उपसर्गों को सहने, उसमें अपकारियों के प्रति भी क्षमाशील रहने की क्षमता (क्षमा) नहीं रहेगी, मृदुता और सरलता की अपेक्षा कामभोगलालसा के साथ उनकी पूर्ति करने हेतु कठोरता और वक्रता (कुटिलता) आ जाएगी। वह अपने कामलालसाजन्य दोषों को छिपाने का प्रयत्न करेगा। शौच भाव—अन्तर्बाह्य पवित्रता भी कामभोगों की लालसा के कारण व्यक्ति सुरक्षित नहीं रख सकेगा। गंदी वासना और मलिन कामना व्यक्ति की पवित्रता को समाप्त कर देगी। सत्याचरण से भी कामभोगपरायण व्यक्ति दूर होता जाता है। संयम का आचरण तो इच्छाओं पर स्वैच्छिक दमन या नियमन मांगता है, वह काम-कामी में कैसे होगा? तपश्चर्या भी इच्छानिरोध से ही सम्भव है, वह काम-कामी व्यक्ति में आनी कठिन है। त्यागभावना से तो वह दूरातिदूर होता जाता है, विषयों की प्राप्ति के तथा अर्थजनित लोभ के वश व्यक्ति अकिंचनता (स्वैच्छिक गरीबी) को नहीं अपना सकता। ऐसा व्यक्ति अधिकाधिक विषयसुखप्राप्ति के लिए अधिकाधिक अर्थ जुटाने में संलग्न रहेगा। कामुक अथवा कामी व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन स्वप्न में भी नहीं करना चाहता। इस प्रकार कामनिवारण के अभाव में श्रामण्य (दशविध श्रमणधर्म) का पालन व्यक्ति के लिए कथमपि संभव नहीं है।

काम : दो रूप : दो प्रकार—निर्युक्तिकार के अनुसार काम के मुख्य दो रूप हैं—द्रव्यकाम और भावकाम।[1] विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य (इच्छित)—इष्ट शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को काम कहते हैं। जो मोहोदय के हेतुभूत द्रव्य हैं, अर्थात्—मोहनीय कर्म के उत्तेजक अथवा उत्पादक (जिनके सेवन से मोह उत्पन्न होता है ऐसे) द्रव्य हैं, वे **द्रव्यकाम** हैं।[2] तात्पर्य यह कि मनोरम रूप, स्त्रियों के हासविलास या हावभाव कटाक्ष आदि, अंगलावण्य, उत्तम शय्या, आभूषण, आदि कामोत्तेजक द्रव्य **द्रव्यकाम** कहलाते हैं।[3]

भावकाम दो प्रकार के हैं—इच्छाकाम और मदनकाम।[4] चित्त की अभिलाषा, आकांक्षा-

---

१. "........दव्वकामा भावकामा य।" —निर्युक्ति गा. १६१

२. (क) ते इट्ठा सद्दरसरूवगन्धफासा कामिज्जमाणा विसयपसत्तेहिं कामा भवंति।
(ख) शब्दरसरूपगन्धस्पर्शाः मोहोदयाभिभूतेः सत्त्वैः। —जिन. चूर्णि पृ. ७५
काम्यन्ते इति कामाः। —हारि. टीका, पृ. ८५

३. (क) जाणिय मोहोदयकारणाणि वियडमासादीणि दव्वाणि तेहिं अब्भवहरिएहिं सद्दादिणो विसया उद्दिज्जंति एते दव्वकामा।—जिन. चूर्णि पृ. ७५
(ख) मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि संधारक विकटमांसादीनि तान्यपि मदनकामाख्य-भावकर्महेतुत्वात् द्रव्यकामा इति। —हारि. वृत्ति, पत्र ८५

४. दुविहा य भावकामा,—इच्छाकामा मयणकामा। —निर्युक्ति गा. १६२

रूप काम को इच्छाकाम कहते हैं ।[५] इच्छा दो प्रकार की होती है—प्रशस्त और अप्रशस्त ।[६] धर्म और मोक्ष से सम्बन्धित इच्छा प्रशस्त है, जबकि युद्ध, कलह, राज्य या विनाश आदि की इच्छा अप्रशस्त है ।[७] मदनकाम कहते हैं—वेदोपयोग को ।[८] जैसे—स्त्री के द्वारा स्त्रीवेदोदय के कारण पुरुष की अभिलाषा करना, पुरुष द्वारा पुरुषवेदोदय के कारण स्त्री की अभिलाषा करना, तथा नपुंसकवेद के उदय के कारण नपुंसक द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों की अभिलाषा करना तथा विषयभोग में प्रवृत्ति करना मदनकाम है ।[९] निर्युक्तिकार कहते हैं—"विषयसुख में आसक्त एवं कामराग में प्रतिबद्ध जीव को काम, धर्म से गिराते हैं । पण्डित लोग काम को एक प्रकार का रोग कहते हैं । जो जीव कामों की प्रार्थना (अभिलाषा) करते हैं, वे अवश्य ही रोगों की प्रार्थना करते हैं ।[१०] वास्तव में 'काम' यहाँ केवल मदनकाम से ही सम्बन्धित नहीं, अपितु इच्छाकाम और मदनकाम दोनों का द्योतक है । और श्रमणत्व पालन करने की शर्त के रूप में अप्रशस्त इच्छाकाम और मदनकाम, इन दोनों का समानरूप से निवारण करना आवश्यक है ।

काम का मूल और परिणाम—प्रस्तुत गाथा में काम को श्रामण्य का विरोधी क्यों बताया गया है, इसके उत्तर में शास्त्रकार गाथा के उत्तरार्द्ध में कहते हैं—**"पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ ।"** फलितार्थ यह है कि काम का मूल संकल्प है ।+ अर्थात् संकल्प-विकल्पों से काम पैदा होता है । अगस्त्यसिंहचूर्णि में एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

काम ! जानामि ते रूपं संकल्पात् किल जायसे ।
न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ।※

अर्थात्—'हे काम ! मैं तुझे जानता हूँ । तू संकल्प से पैदा होता है । मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा, तो तू मेरे मन में उत्पन्न नहीं हो सकेगा । तात्पर्य यह है—जब व्यक्ति काम का संकल्प करता है—अर्थात् मन में नाना प्रकार के कामभोगों या कामोत्तेजक मोहक पदार्थों की वासना, तृष्णा या

---

५. तत्रैषणमिच्छा, सैव चित्ताभिलापरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामा ।'—हारि. वृत्ति, पत्र ८५
६. इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य·····।—निर्युक्ति गा. १६३
७. तत्थ पसत्था इच्छा, जहा—धम्मं कामयति, मोक्खं कामयति; अपसत्था इच्छा—रज्जं वा कामयति, जुद्धं वा कामयति, एवमादि इच्छाकामा ।—जिन. चूर्णि पृ. ७६
८. मयणंमि वेय-उवओगो ।····   —निर्युक्ति गाथा १६३
९. (क) जहा इत्थी इत्थिवेदेण पुरिसं पत्थेइ, पुरिसोवि इत्थिं एवमादी ।   —जिन. चूर्णि पृ. ७६
   (ख) मदयतीति मदनः—चित्रो मोहोदयः स एव कामप्रवृत्ति—
   हेतुत्वात् मदनकामा ।"   —हारि. वृत्ति पृ. ८५-८६
११. विसयसुहेसु पसत्तं, अबुहजणं कामरागपडिबद्धं ।
   उक्कामयति जीवं, धम्माओ, तेण ते कामा ।
   अन्नं पि से नामं कामा रोगत्ति पंडिया विंति ।
   कामे पत्थेमाणो, रोगे पत्थेइ खलु जंतू ॥   —निर्युक्ति गाथा १६४-१६५
+ संकप्पोत्ति वा छंदोत्ति वा कामज्झवसायो ।   —जिनदास. चूर्णि पृ. ७८
※ दशवै. अगस्त्यसिंह चूर्णि, पृ. ४१

इच्छाओं का मेला लगा लेता है, उन काम्य पदार्थों को पाने का अध्यवसाय करता है, उन्हीं के चिन्तन में डूबता-उतराता रहता है, तब कहा जाता है कि वह काम-संकल्पों के वशीभूत (अधीन) हो गया। उसका परिणाम यह आता है—जब काम-संकल्प पूरे नहीं होते या संकल्पपूर्ति में कोई रुकावट आती है या कोई विरोध करने लगता है, अथवा इन्द्रियक्षीणता आदि विवशताओं के कारण काम का या काम्यपदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता, तब वह क्रोध करता है, मन में संक्लेश करता है, झुंझलाता है, शोक और खेद करता है, विलाप करता है, दूसरों को मारने-पीटने, या नष्ट करने पर उतारू हो जाता है। इस प्रकार की आर्त्त-रौद्रध्यान की स्थिति में वह पद-पद पर विषादमग्न हो जाता है। पद-पद पर विषाद ही संकल्प-विकल्पों का परिणाम है।※

भगवद्गीता में भी काम के संकल्प से अधःपतन एवं सर्वनाश का क्रम दिया है—कहा है—"जो व्यक्ति मन से विषयों का स्मरण-चिन्तन करता है, उसकी आसक्ति उन विषयों में हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों को पाने की कामना (काम) पैदा होती है। काम्य पूर्ति में विघ्न पड़ने से क्रोध होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात्—मूढभाव उत्पन्न होता है। सम्मोह (मूढभाव) से स्मृति भ्रान्त हो जाती है। स्मृति के भ्रमित-भ्रष्ट हो जाने से बुद्धि (ज्ञान—विवेक की शक्ति) नष्ट हो जाती है और बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वनाश यानी श्रेयःसाधन (या श्रमणभाव) से सर्वथा अधःपतन हो जाता है।"+

विषादग्रस्तता : स्वरूप, लक्षण और कारण—संयम, और धर्म के प्रति अरति, अरुचि या खिन्नता की भावना उत्पन्न होना विषाद है।

जब साधक पर क्षुधा, तृषा, शर्दी, गर्मी, डांस,-मच्छर, वस्त्र की कमी, अलाभ (आहारादि की अप्राप्ति), शय्या या वसति (आवासस्थान) अच्छा न मिलना, इत्यादि परीषह, उपसर्ग, कष्ट, या वेदना के समय मन में संयम के प्रति अरुचि या खिन्नता उत्पन्न होती है, तब—"इससे बेहतर है, पुनः गृहस्थवास में चले जाना." इस प्रकार सोचता है, एकान्त में या समूह में स्त्रियों का रूप-लावण्य अथवा अनुराग देखकर मन में त्याग का अनुताप होता है, उग्रविहार, पैदल भ्रमण, भिक्षाचर्या, एक स्थान में बैठना (निषद्या) अथवा निवास करना, आक्रोश (किसी के द्वारा कठोर वचन कहे जाने), वध (मार-पीट), रोग, घास या तृण का कठोर स्पर्श, शरीर पर मैल जम जाना, एकान्तवास का भय, दूसरों का सत्कार-पुरस्कार होते देख स्वयं में सत्कार-पुरस्कार की लालसा, प्रज्ञा और ज्ञान न होने की स्थिति से उत्पन्न हीनभावना, ग्लानि, दृष्टि सम्यक् या स्पष्ट न होने से विषयों में रमण या सुखसुविधा, आरामतलबी को अच्छा समझना, आदि परीषहों के उपस्थित होने पर साधक विचलित हो जाता है, मन में आचारभ्रष्ट होने के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, अपने प्रति, समाज, संघ, गुरु आदि निमित्तों के प्रति रोष, झुंझलाहट, अभक्ति-अश्रद्धा उत्पन्न होती है, क्रोधादि कषायों

※ दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. २०

+ ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ —भगवद्गीता अ. २, श्लो. ६२-६३

में उग्रता आ जाती है, भोगी लोगों की देखा-देखी या ईर्ष्यावश मन में इन्द्रियविषयों के प्रति गाढ़ अनुराग पैदा हो जाता है; ये सब विषादग्रस्तता के लक्षण हैं।*

विषादग्रस्तता के उद्गमस्थल—स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषय (अर्थात्—इन्द्रिय विषयों के देखने, सुनने, सूंघने, चखने एवं छूने) से, क्रोध आदि कषायों के निमित्त से, क्षुधा आदि परीषहों से, वेदना (बेचैनी या असुखानुभूति) से तथा देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत उपसर्ग से विषादग्रस्तता के अपराध का उद्गम होता है। अर्थात्—ये अपराध-पद हैं—विषाद-उत्पन्न होने के। ये ऐसे विकारस्थल हैं, जहाँ कच्चे साधक के पद-पद पर स्खलित एवं विचलित होने की सम्भावना है।[११]

विषादग्रस्तता का उदाहरण—कामसंकल्पों के वशीभूत होने वाला व्यक्ति किस प्रकार बात-बात में सुखसुविधावादी, सुकुमार कायर एवं शिथिल होकर विषादग्रस्त हो जाता है ? इसे समझाने के लिए वृत्तिकार एक उदाहरण देते हैं—कोंकण देश में एक वृद्ध पुरुष अपने पुत्र के साथ प्रव्रजित हुआ। युवक शिष्य अभी कामभोगों के रस से बिलकुल विरक्त नहीं हुआ था, किन्तु वृद्ध को वह अत्यन्त प्रिय था। एक दिन शिष्य कहने लगा—"गुरुजी ! ज़ूतों के बिना मुझ से नहीं चला जाता, पैर छिल जाते हैं।" अनुकम्पावश वृद्ध गुरु ने उसे जूते पहनने की छूट दे दी। फिर एक दिन कहने लगा—"ठंड से पैर के तलवे फट जाते हैं।" वृद्ध ने मौजे पहनने की छूट दे दी। एक दिन बोला—"धूप में मेरा मस्तष्क अत्यन्त तप जाता है।" वृद्ध गुरु ने उसे वस्त्र से सिर ढँकने की आज्ञा दे दी। इस पर भी एक दिन शिष्य बोला—"गुरुजी ! अब तो मेरे लिए भिक्षा के अर्थ घूमना कठिन है।" वृद्ध गुरु शिष्यमोहवश उसे वहीं भोजन लाकर देने लगे। एक दिन शिष्य बोला—"गुरुजी !. अब मुझसे भूमि पर शयन नहीं किया जाता।" गुरु ने उसे बिछौने पर सोने की आज्ञा दे दी। एक दिन लोच करने में असमर्थता प्रकट की तो गुरु ने क्षुरमुण्डन करने की छूट दे दी। एक दिन बोला—बिना नहाए रहा नहीं जाता तो गुरु ने प्रासुक पानी से स्नान करने की आज्ञा दी। इस प्रकार ज्यों-ज्यों शिष्य मांग करता गया, वृद्ध उसे मोहवश छूट देता गया। एक दिन शिष्य बोला—"गुरुजी ! अब मुझ से बिना स्त्री के रहा नहीं जाता।" गुरु ने उसे दुर्वृत्तिशील एवं अयोग्य जान कर अपने आश्रय से दूर कर दिया। इस प्रकार जो साधक इच्छाओं और कामनाओं के वशीभूत होकर उनके पीछे दौड़ता है, वह पद-पद पर अपने श्रमणभाव से शिथिल, भ्रष्ट और विचलित होकर शीघ्र ही अपना सर्वनाश कर लेता है।[१२]

फलितार्थ—प्रस्तुत गाथा का फलितार्थ यह है कि जो साधक श्रामण्य (श्रमणभाव, प्रशमभाव या समभाव) का पालन करना चाहता है, उसे समग्र कामभोगों की वाञ्छा, लालसा एवं स्पृहा का

---

*. दशवै. (मुनि नथमलजी) के आधार पर पृ. २३

११. इंदियविसय-कसाया परीसहा वेयणा य उवसग्गा।
एए अवराहपया जत्थ विसीयंति दुम्मेहा॥ —निर्युक्ति, गा. १७५

१२. हारि. वृत्ति, प. ७९

त्याग करना आवश्यक है। गीता की भाषा में देखिए—"जो पुरुष समस्त काम-भोगों का त्याग करके निःस्पृह, निरहंकार और ममत्वरहित होकर विचरण करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है।"[१३]

कई साधक बाह्यरूप से काम्य-भोग्य पदार्थों का त्याग कर देते हैं, किन्तु उनको पाने की कामना मन में संजोए रहते हैं। रोगादि कारणों से काम्य पदार्थों का उपभोग नहीं कर सकते. वे व्यक्ति भी श्रमणत्व एवं त्यागवृत्ति से दूर हैं। यही विश्लेषण अगली दो गाथाओं में देखिये—

अत्यागी और त्यागी का लक्षण

७. वत्थ-गंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥२॥*

८. जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥३॥

[७] जो (व्यक्ति) परवश (या रोगादिग्रस्त) होने के कारण वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियों, शय्याओं और आसनादि का उपभोग नहीं करते, (वास्तव में) वे त्यागी नहीं कहलाते ॥२॥

[८] त्यागी वही कहलाता है, जो कान्त (कमनीय-चित्ताकर्षक) और प्रिय (अभीष्ट) भोग उपलब्ध होने पर भी (उनकी ओर से) पीठ फेर लेता है और स्वाधीन (स्वतन्त्र) रूप से प्राप्त भोगों का (स्वेच्छा से) त्याग करता है ॥३॥

विवेचन—बाह्यत्यागी और आदर्शत्यागी का अन्तर—प्रस्तुत दो गाथाओं में बाह्यत्यागी और आदर्शत्यागी का अन्तर स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

बाह्यत्यागी आदर्शत्यागी नहीं—प्रश्न होता है, किसी व्यक्ति ने घरबार, कुटुम्ब-परिवार, धन, जन तथा सुन्दर वस्त्राभूषण, शयनासनादि एवं कामिनियों का त्याग कर दिया है, वह अनगार बन चुका है, भिक्षावृत्ति से मर्यादित आहार-पानी, वस्त्रपात्रादि ग्रहण करता है, किन्तु उपर्युक्त साधन स्वाधीन न होने (परवश होने) के कारण न मिलने की स्थिति में उनका उपभोग नहीं कर पाता, अथवा जो पदार्थ पास में नहीं है, या जिन पर अपना वश नहीं है, अथवा उपर्युक्त पदार्थ मिलने पर भी रोगादि कारणों से उनका उपभोग नहीं कर सकता, क्या वह त्यागी नहीं है? शास्त्रकार कहते हैं—उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि त्यागी वह होता है, जो अन्तःकरण से परित्याग करता है। जो काम्य वस्तुओं का केवल अपनी परवशता (अस्वस्थता आदि) के कारण सेवन नहीं करता, उसे त्यागी कैसे कहा जाएगा? क्योंकि वह चाहे काम्य पदार्थों का उपभोग न करता हो, किन्तु, उसके मन

---

१३. विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥—गीता अ. २, श्लो. ७१

* इसके आशय की तुलना कीजिए—
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥—गीता अ. ३, श्लो. ६

में काम्य-भोग्य पदार्थों का उपभोग करने की लालसा तो विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि ऐसे बाह्यत्यागी द्रव्यलिंगी के अन्तर में इच्छा रूप भूख जगी हुई है। वह मन ही मन सोचता है कि "मुझे भी सुन्दर वस्त्राभूषण मिलें तो मैं भी पहनूँ, मैं भी सुगन्धित पदार्थों का उपभोग करूँ; मैं भी सुखशय्याओं पर शयन करूँ, या नाना देश की सुन्दरियों के साथ विहरण करूँ, नाना प्रकार के सुन्दर गुदगुदे आसन मुझे भी मिलें तो उनका उपभोग करूँ।" ऐसी स्थिति में पदार्थों का त्याग कर देने से वे पदार्थ तो उसे मिलेंगे नहीं, किन्तु उनकी लालसा बनी रहेगी और जब-तब उनके निमित्त से संकल्प-विकल्प, आर्त्त-रौद्र ध्यान होते रहेंगे।[१४] शास्त्रकार ने ऐसे व्यक्ति को आदर्शत्यागी न मानने का प्रवल कारण बताया है **'अच्छंदा'**। इसके मुख्य अर्थ दो हैं—(१) जो साधु स्वाधीन न होने से—परवश होने से विषय भोगों को नहीं भोगता, (२) जो पदार्थ पास में नहीं हैं, अथवा जिन पदार्थों पर वश नहीं है। इस विषय में चूर्णि एवं टीका में एक उदाहरण दिया गया है—चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य के प्रति द्वेषशील, तथा नन्द के अमात्य सुबन्धु को मृत्यु के भय से अकाम रहने पर भी साधु नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार विवशता के कारण विषयभोगों को न भोगने से कोई सच्चा त्यागी नहीं कहला सकता।[१५]

कान्त एवं प्रिय में अन्तर—स्थूल दृष्टि से देखने पर कान्त और प्रिय दोनों शब्द एकार्थक प्रतीत होते हैं, परन्तु दोनों के अर्थ में अन्तर है। अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार 'कान्त' का अर्थ—सहज सुन्दर और प्रिय का अर्थ—अभिप्रायकृत सुन्दर होता है। जिनदास महत्तर-चूर्णि में 'कान्त' का अर्थ-रमणीय और 'प्रिय' का अर्थ—'इष्ट' किया गया है। इस विषय में यहाँ चतुर्भंगी बन सकती है—(१) एक वस्तु कान्त होती है, पर प्रिय नहीं, (२) एक वस्तु प्रिय होती है, कान्त नहीं; (३) एक वस्तु कान्त भी होती है, प्रिय भी, और (४) एक वस्तु न प्रिय होती है, न कान्त। तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति को कान्तवस्तु में कान्तबुद्धि उत्पन्न होती है, जबकि किसी व्यक्ति को अकान्तवस्तु में भी कान्तबुद्धि उत्पन्न होती है। एक वस्तु, एक व्यक्ति के लिए कान्त होती है, वही वस्तु दूसरे के लिए अकान्त होती है। जैसे—नीम मनुष्य के लिए कड़वा होने से कान्त नहीं होता, किन्तु अमुक रोगी अथवा ऊँट के लिए कान्त होता है। क्रोध, असहिष्णुता, अकृतज्ञता एवं मिथ्याभिनिवेश आदि कारणों से व्यक्ति को गुणसम्पन्न वस्तु भी अगुणयुक्त लगती है। अविद्यमान दोषदर्शन के कारण कान्त में भी अकान्तबुद्धि हो जाती है। एक माता को अपना पुत्र कालाकलूटा और बेडौल (अकान्त) होने पर भी मोहवश कान्त लगता है, इसी प्रकार एक सुन्दर सुरूप सुडौल व्यक्ति कान्त होने पर भी कलहकारी और क्रूर होने के कारण अप्रिय लगता है। अतः जो कान्त हो, वह प्रिय हो ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। यही दोनों विशेषणों में अन्तर है।[१६]

---

१४. हारि. वृत्ति, पत्र ९१

१५. एते वस्त्रादयः परिभोगाः केचिच्छन्दा न भुंजते, नाऽसौ परित्यागः। —जि. चू. पृ. ८१

१६. (क) कंत इति सामन्नं····प्रिय इति अभिप्रायकंतं। —अ. चूर्णि पृ. ४३

(ख) कमनीयाः कान्ताः शोभना इत्यर्थः, प्रिया नाम इट्ठा। —जि. चूर्णि, पृ. ८२

(ग) स्थानांग, स्था. ४।६२१

भोए : व्यापक अर्थ—इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का आसेवन भोग कहलाता है। काम, भोग का पूर्ववर्ती है। पहले काम (विषय की कामना) होती है फिर भोग होता है। इस कारण काम और भोग दोनों शब्द एकार्थक-से बने हुए हैं। भगवतीसूत्र आदि आगमों में काम और भोग का सूक्ष्म अन्तर बताया गया है। वहाँ रूप और शब्द को 'काम' तथा स्पर्श, रस और गन्ध को 'भोग' कहा गया गया है।[१७] यहाँ व्यावहारिक स्थूल दृष्टि से सभी विषयों के आसेवन को 'भोग' कह दिया गया है।

विपिट्ठिकुव्वई : दो रूप : अनेक अर्थ—(१) **विपृष्ठीकरोति**—विविध—अनेक प्रकार की शुभ भावना आदि से भोगों को पीठ पीछे करता है, उनकी ओर पीठ कर लेता है, उनसे मुँह मोड़ लेता है, या उनका परित्याग करता है। (२) (लब्धान्) **अपि पृष्ठीकुर्यात्**—भोग उपलब्ध होने पर भी, उनकी ओर पीठ कर लेता है।[१८]

साहीणे चयइ भोए : दो व्याख्या—(१) चूर्णि के अनुसार स्वाधीन अर्थात्—स्वस्थ और भोगसमर्थ। उन्मत्त, रोगी और प्रोषित आदि पराधीन हैं। अतः अपनी परवशता के कारण वे भोगों का सेवन नहीं कर पाते, इसलिए यह उनका त्याग नहीं है। (२) हरिभद्रसूरि के मतानुसार किसी बन्धन में बद्ध होने से नहीं, वियोगी होने से नहीं, परवश होने से नहीं, किन्तु स्वाधीन होते हुए भी उपलब्ध भोगों का त्याग करता है, वह त्यागी है। इसका फलितार्थ यह है कि जिसे विविध प्रकार के भोग प्राप्त हैं, उन्हें भोगने में भी समर्थ (स्वाधीन) है, वह यदि अनेक प्रकार की शुभ भावनाओं, आदि से उनका परित्याग कर देता है, तो वह सच्चा त्यागी है।[१९]

स्वाधीन भोगों को त्यागने वाले धनी और निर्धन भी—स्वाधीन भोगों को परित्याग करने वालों में वैभवशाली भरतचक्री, जम्बूकुमार आदि का उल्लेख किया गया है, ऐसी स्थिति में क्या धनिकावस्था में भोगों के परित्यागी ही त्यागी कहलाएँगे ? निर्धनावस्था में घरबार आदि सब कुछ त्याग कर प्रव्रजित होने वाले तथा अहिंसादि पंच महाव्रतों से युक्त हो कर श्रामण्य का सम्यक् परिपालन करने वाले त्यागी नहीं हैं ? आचार्य ने एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सुन्दर समाधान दिया है—एक लकड़हारा सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुआ। भिक्षा के लिए जब वह नवदीक्षित मुनि घूमता तो लोग ताना मारते कि सुधर्मा स्वामी ने भी अच्छा दीन-हीन जंगली मनुष्य मूंडा है। नवदीक्षित ने क्षुब्ध होकर आचार्यश्री से अन्यत्र चलने के लिए कहा। आचार्य सुधर्मास्वामी ने

---

१७. (क) भोगा-सद्दादयो विसया। —जि. चू. पृ. ८२,
(ख) भगवती ७।७, (ग) नंदी. २७, गा.७८

१८. (क) तओ भोगाओ विविहेहिं संपण्णा विपट्ठीओ उ कुव्वइ परिचयइत्ति वुत्तं भवइ, अहवा विप्पट्ठि कुव्वंतित्ति दूरओ विवज्जयंती, अहवा विपट्ठिति पच्छओ कुव्वइ, ण मग्गओ। —जि. चू. पृ. ८३
(ख) विविधं-अनेकैः प्रकारैः शुभभावनादिभिः पृष्ठतः करोति-परित्यजति। —हारि. वृत्ति पृ. ९२

१९. (क) स च न बन्धनबद्धः न प्रोषितो वा, किन्तु स्वाधीनः-अपरायत्तः। —हारि. वृत्ति पृ. ९२
(ख) साहीणो नाम कल्लसरीरो, भोगसमत्थोत्ति वुत्तं भवइ, न उम्मत्तो रोगिओ पवसिओवा।
—जि. चू. पृ. ८३

अभयकुमार से यह बात कही तो अभयकुमार के द्वारा कारण पूछे जाने पर नवदीक्षित की सारी बात कह दी। अभयकुमार ने कहा[२०] आप विराजें। मैं नागरिकों को युक्ति से समझा दूंगा। आचार्य श्री नवदीक्षित के साथ वहीं विराजे। दूसरे दिन अभयकुमार ने एक सार्वजनिक स्थान पर तीन रत्नकोटि की ढेरी लगवाई और घोषणा कराई—"जो व्यक्ति, सचित्त अग्नि, पानी और स्त्री, इन तीनों को आजीवन छोड़ देगा, उसे अभयकुमार ये तीन रत्नकोटि देंगे।" लोगों ने घोषणा सुनी तो कहा—"इन तीनों के बिना, तीन रत्नकोटियों से क्या प्रयोजन?" अभयकुमार ने यह सुनकर सबको करारा उत्तर दिया—"जिस व्यक्ति ने इन तीनों चीजों को जीवन भर के लिए छोड़ दिया है, उसने तीन रत्नकोटि का परित्याग किया है। फिर ऐसा क्यों कहते हो कि दीन-हीन जंगली लकड़हारा प्रव्रजित हुआ है।" लोगों ने एक स्वर से अभयकुमार की बात स्वीकार की और क्षमा मांग कर चले गए। आचार्य कहते हैं—अग्नि, जल और स्त्री, इन तीन चीजों को जीवनभर के लिए छोड़ कर प्रव्रज्या लेने वाला धनहीन व्यक्ति भी संयम में सुस्थिर होने पर त्यागी कहलाएगा।[२१]

निष्कर्ष यह है कि धनी हो या निर्धन, जो व्यक्ति वैराग्यपूर्वक मनोरम एवं दिव्यभोगों का स्वेच्छा से त्याग कर देता है, फिर उनका मन से भी विचार नहीं करता, वही त्यागी है।

काम-भोगनिवारण के उपाय

९. समाए पेहाए परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं, नो वि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥४॥

१०. आयावयाही चय सोगुमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं, विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥५॥

[९] समभाव की प्रेक्षासे विचरते हुए (साधु का) मन कदाचित् (संयम से) बाहर निकल जाए, तो 'वह (स्त्री या कोई काम्य वस्तु) मेरी नहीं है, और न मैं ही उसका हूँ' इस प्रकार का विचार करके उस (स्त्री या अन्य काम्य वस्तु) पर से (उसके प्रति होने वाले) राग को हटा लें।

[१०] (गुरु शिष्य से कहते हैं—) 'आतापना ले (या अपने को अच्छी तरह से तपा), सुकुमारता का त्याग कर। कामभोगों (विषयवासना) का अतिक्रम कर। (इससे) दुःख अवश्यमेव (स्वतः) अतिक्रान्त होगा। (साथ ही) द्वेषभाव का छेदन कर, रागभाव को दूर कर। ऐसा करने से तू संसार (इह-परलोक) में सुखी हो जाएगा।

विवेचन—आन्तरिक एवं बाह्य उपाय द्वारा कामनिवारण—प्रस्तुत दो गाथाओं (४-५) में कामरागनिवारण के आन्तरिक और बाह्य दोनों उपाय बतलाए हैं।

समाए पेहाए परिव्वयंतो : दो रूप : तीन अर्थ और तात्पर्य—(१) समया प्रेक्षया परिव्रजतः—चूर्णि और टीका के अनुसार अपने और दूसरे को समप्रेक्षा (समदृष्टि, समभावना,

---

२०. हारि. वृत्ति पृ. ९३

२१. (क) अग. चूर्णि पृ. ४३ (ख) जिन. चूर्णि पृ. ८४ (ग) हारि. वृत्ति, पत्र ९३

आत्मौपम्यभाव) से देख कर विचरण करते हुए, **(२) प्रसंग-संगत अर्थ**— रूप और कुरूप में, या इष्ट और अनिष्ट में समभाव रखते हुए—राग-द्वेष भाव न करते हुए अथवा समदृष्टिपूर्वक अर्थात् प्रशस्त ध्यानपूर्वक विचरण करता हुआ (मन) (३) अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार—**समया प्रेक्षया परिव्रजत** : सम अर्थात्—संयम, उसके लिए प्रेक्षा (अनुप्रेक्षा-चिन्तन) पूर्वक विचरण[२२] करते हुए (साधक का)। **सिया** : स्यात्—कदाचित्, भावार्थ यह है कि प्रशस्तध्यान में या समदृष्टि से विचरण करते हुए भी हठात् मोहनीयकर्म के उदय से।[२३] **मणो निस्सरई बहिद्धा : भावार्थ**—मन (संयम से) बाहर निकल जाय। भावार्थ यह है कि श्रमण के मन के रहने का स्थान वस्तुतः संयम होता है। अतः कदाचित् मोहकर्मोदयवश भुक्तभोगी का पूर्वक्रीड़ा आदि के अनुस्मरण से तथा अभुक्तभोगी का मन कुतूहल आदि वश संयमरूपी गृह से बाहर निकल जाए, यानी मन नियंत्रण में न रहे।[२४]

समूचे वाक्य का तात्पर्य यह कि श्रमण का साम्यदृष्टि या समभाव के चिन्तन में रहा हुआ मन कदाचित् मोहनीय कर्मोदयवश संयमरूपी घर से बाहर निकलने लगे, तो क्या कर्त्तव्य है ? इसे समझाने के लिए वृत्तिकार एक रूपक प्रस्तुत करते हैं। संक्षेप में वह इस प्रकार है—एक दासी पानी का घड़ा लेकर उपस्थानशाला के निकट से निकली। वहीं खेल रहे राजपुत्र ने कंकड़ फैंक कर घड़े में छेद कर दिया। दासी ने निरुपाय होकर तुरन्त ही गीली मिट्टी से घड़े के छेद को वंद कर दिया। इसी प्रकार संयमरूपी उपवन में रमण करते हुए यदि अशुभभाव संयमी के हृदय-घट में छेद करने लगे तो उसे प्रशस्तपरिणाम रूप मिट्टी द्वारा उस अशुभ भाव जन्य छिद्र को चारित्र-जल के रक्षणार्थ शीघ्र ही वंद कर देना चाहिए।[२५]

मोहत्याग का उपाय : प्रशस्त परिणाम—शास्त्रकार इस प्रशस्त परिणाम के रूप में भेदचिन्तन प्रस्तुत करते हैं—**न सा महं नोवि अहंपि तीसे**। इसका सामान्य अर्थ तो मूल में दिया ही है, व्यापक अर्थ इस प्रकार होता है—वह (स्त्री या आत्मा से भिन्न परभावात्मक वस्तु) मेरी नहीं है, न ही मैं उसका हूँ। तलवार और म्यान की तरह आत्मा और देह को या देह से सम्वन्धित प्रत्येक सजीव-निर्जीव वस्तु को भिन्न-भिन्न मानना ही भेदविज्ञान का तत्त्वचिन्तन है।

इस स्त्रीपरक भेदचिन्तन को सुगमता से समझाने के लिए चूर्णि में एक उदाहरण दिया गया है। उसका सारांश इस प्रकार है—एक वणिक्पुत्र ने अपनी पत्नी से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की। फिर वह इस प्रकार रटन करता रहता—"वह मेरी नहीं है, और न ही मैं उसका हूँ।" यों रटन

---

२२. (क) 'समा णाम परमप्पाणं समं पासइ, णो विसमं, पेहा णाम चिन्ता भण्णइ।' —जिन. चू. पृ. ८४
(ख) समया—आत्मपरतुल्यया प्रेक्ष्यतेऽनयेति प्रेक्षा-दृष्टिस्तया प्रेक्षया दृष्ट्या। —हरि. टी. पत्र ९३
(ग) अहवा 'समाय' समो—संजमो, तदत्थं पेहा-प्रेक्षा। —अग. चूर्णि, पृ. ४४

२३. (क) सिय सद्दो आसंकावादी, 'जति' एतम्मि अत्थे वट्टति। —अग. चूर्णि, पृ. ४४
(ख) 'स्यात्'—कदाचिदचिन्त्यत्वात् कर्मगतेः। —हरि. वृत्ति पत्र ९४
(ग) 'पसत्थेहिं झाणठाणेहिं वट्टंतस्स मोहणीयस्स कम्मस्स उदएणं।' —जिन. चूर्णि, पृ. ८४

२४. वहिद्धा-वहिर्धा-वहिः-भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना, अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलादिना मनः—अन्तकरणं, निःसरति = निर्गच्छति, वहिर्धा = संयमगेहाद् बहिरित्यर्थः। —हारि. वृत्ति, पत्र ९४

२५. हारि. वृत्ति, पत्र ९४

करते-करते एक दिन उसके मन में पूर्व-भोग-स्मरणवश चिन्तन हुआ—"वह मेरी है, मैं भी उसका हूँ। वह मुझ में अनुरक्त है, फिर मैंने उसका व्यर्थ ही त्याग किया।" इस प्रकार सोच कर वह उस गाँव में पहुँचा, जहाँ उसकी भूतपूर्व पत्नी थी। उसने अपने भूतपूर्व पति को गाँव में आया देख पहचान लिया, परन्तु वह (साधक) अपनी भूतपूर्व पत्नी को पहचान न सका। अतः उसने पूछा—अमुक की पत्नी मर गई या जीवित है?' संयम से विचलित उक्त साधक का विचार था कि यदि वह जीवित होगी तो प्रव्रज्या छोड़ दूंगा, अन्यथा नहीं। स्त्री ने अनुमान लगाया कि मेरे प्रति मोहवश इन्होंने दीक्षा छोड़ दी तो हम दोनों संसार-परिभ्रमण करेंगे।' ऐसा सोच कर वह बोली—"वह तो दूसरे के साथ चली गई है।" उसकी चिन्तन-दिशा मुड़ी, मोह के बादल फटे, सोचने लगा-जिस स्त्री को मैं कामदृष्टि से देखता था, वह मेरी नहीं है, न ही मैं उसका हूँ। यह जो मंत्र मुझे सिखलाया गया था, वही ठीक है। तात्पर्य यह है कि जब मेरा उससे कुछ सम्बन्ध ही नहीं, तब फिर उस पर मेरा राग (मोह) करना व्यर्थ है। इस प्रकार परमसंवेग उत्पन्न हो जाने से वह पुनः संयम में स्थिर हो गया।[२६]

'इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं' : तात्पर्य—कदाचित् स्त्री या उस परवस्तु के प्रति मोहोदयवश कामराग, स्नेहराग या दृष्टिराग, इन तीनों में से किसी भी प्रकार का राग जागृत हो जाए तो, उसे इस (पूर्वोक्त) प्रकार से दूर करे, उसका दमन करे, मन का निग्रह करे। अर्थात्—संयमी संयम में विषाद-प्राप्त आत्मा को इस प्रकार के चिन्तनमंत्र से पुनः संयम में प्रतिष्ठित करे।[२७]

संयमनिर्गत मन से कामरागनिवारण की बाह्यविधि—प्रस्तुत (५वीं) गाथा में रागनिवारण के अथवा पांचों इन्द्रियों एवं मन पर विजय पाने के, या भावसमाधि प्राप्त करने के चार बाह्य उपाय बताए हैं—(१) आतापना, (२) सौकुमार्यत्याग, (३) द्वेष का उच्छेद, (४) राग का अपनयन। स्थानांगसूत्र में मदनकाम (मैथुन) संज्ञा की उत्पत्ति चार कारणों से बताई गई है—(१) मांस-रक्त के उपचय (वृद्धि) से, (२) मोहनीय कर्म के उदय से, (३) तद्विषयक काम-विषय की मति से, और (४) काम के लिए उपयोग (बार-बार चिन्तन-मनन, स्मरण आदि) से।[२८] मैथुनसंज्ञा की उत्पत्ति के उपर्युक्त चारों कारणों से बचने के चार बाह्य उपाय हैं।

आयावयाही : कायबलनिग्रह का प्रथम उपाय : व्यापक अर्थ—चूर्णिकार का कथन है कि (संयमनिर्गत) मन का निग्रह उपचित शरीर के कारण नहीं होता, अतः उसके लिए सर्वप्रथम कायबल-निग्रह के उपाय बताए गए हैं। अर्थात्—मांस और रक्त को घटाने का सर्वप्रथम उपाय बताया गया है—**आयावयाही। आयावयाही : दो अर्थ**—(१) अपने को तपा, अर्थात् तप कर। 'आतापन'

---

२६. (क) दशवै. हारि. वृत्ति, पत्र ९४

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. २३

(ग) अयं ममेति मंत्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ् पूर्वः, प्रतिमंत्रोऽपि मोहजित्॥ —मोहत्यागाष्टकम्

२७. (क) दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. २८, (ख) दशवै. (आचार्यश्री आ.) पृ. २३

२८. चउहिं ठाणेहिं मेहुणसण्णा समुप्पज्जति, तं.—चितमंससोणियत्ताए, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएण, मतीए, तदट्ठोवयोगेणं। —स्थानांग स्था. ४।५८१

शब्द केवल आतापना लेने (धूप में तपने) के अर्थ में ही नहीं, किन्तु उसमें अनशन, ऊनोदरी आदि बारह प्रकार के तप भी समाविष्ट हैं, जो कायबलनिग्रह के द्वारा कामविजय में सहायक हैं।[२९] (२) आतापना ले। सर्दी-गर्मी की तितिक्षा, अथवा शीतकाल में आवरणरहित होकर शीत सहन करना, ग्रीष्मकाल में सूर्याभिमुख होकर गर्मी सहन करना आदि सब आतापना है।[३०]

सौकुमार्य-त्याग : कायबलनिग्रह का द्वितीय उपाय :—प्राकृत भाषा में सोउमल्लं, सोअमल्लं, सोगमल्लं, सोगुमल्लं ये चारों रूप बनते हैं, संस्कृत में इसका रूपान्तर होता है—सौकुमार्य। जो सुकुमार (आरामतलब, सुखशील, सुविधाभोगी, आलसी या अत्यधिक शयनशील और परिश्रम से जी चुराने वाला) होता है, उसे काम सताता है, विषयभोगेच्छा पीड़ित करती है। और वह स्त्रियों का काम्य हो जाता है। इसलिए कायबलनिग्रह के द्वितीय उपाय के रूप में शास्त्रकार कहते हैं—'चय सोगुमल्लं, अर्थात् सौकुमार्य का त्याग कर।[३१]

छिंदाहि दोसं, विणएज्ज रागं : लक्षण और भावार्थ—द्वेष के यहाँ दो लक्षण अभिप्रेत हैं—(१) संयम के प्रति अरति, घृणा या अरुचि, और (२) अनिष्ट विषयों के प्रति घृणा। इसी प्रकार राग के भी यहाँ दो लक्षण अभिप्रेत हैं—(१) असंयम के प्रति रति और (२) इष्ट विषयों के प्रति प्रीति, आसक्ति, अनुराग अथवा मोह। तात्पर्य यह है कि अनिष्ट विषयों के प्रति द्वेष का छेदन और इष्ट विषयों के प्रति राग का अपनयन करना चाहिए। राग और द्वेष, ये दोनों कर्मबन्धन के बीज-मूलकारण हैं। जहाँ कामराग होगा, वहाँ अमनोज्ञ (विषयों) के प्रति द्वेष भी होगा।[३२]

कामविजय : दुःखविजय का कारण—राग और द्वेष दोनों काम की उत्पत्ति के मूल कारण हैं। जब साधक इष्ट-अनिष्ट या मनोज्ञ-अमनोज्ञ आदि समस्त पर-वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष को त्याग देता है, तो काम के महासागर को लांघ जाता है—पार कर जाता है और काम के महासागर को पार करना ही वास्तव में दुःखों के (जन्म-मरण के महादुःखरूप संसार के) सागर को पार कर जाना है। इसीलिए कहा गया है—काम-भोगों को अतिक्रान्त कर, तो दुःख अवश्य ही अतिक्रान्त होगा।[३३]

एवं सुही होहिसि संपराए : तात्पर्य और विभिन्न अर्थ—'एवं' शब्द यहाँ पूर्वोक्त तथ्यों का सूचक है। अर्थात्—कामनिवारण के बाह्य कारणों के रूप में बताए हुए आतापनादि तप एवं

---

२९. (क) सो य न सक्कइ उवचियसरीरेण णिग्गहेतुं तम्हा कायबलनिग्गहे इमं सुत्तं भण्णइ।
(ख) एगग्गहणे तज्जाइयाण गहणं ति, न केवलं आयावयाहि—ऊणोदरियमवि करेहि।
—जिन. चूर्णि. पृ. ८५।८६

३०. दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. २९

३१. (क) सुकुमालस्स कामेहिं इच्छा भवइ, कमणिज्जो य स्त्रीणां भवति सुकुमालः, सुकुमाल-भावो सोकमल्लं।
—जिन. चूर्णि पृ. ८६
(ख) सौकुमार्यात् कामेच्छा प्रवर्तते, योषितां च प्रार्थनीयो भवति। —हा. टी. पृ. ९५

३२. ते य कामा सद्दादयो विसया तेसु अणिट्ठेसु दोसो छिंदियव्वो। इट्ठेसु वट्टंतो अस्सो इव अप्पा विणयियव्वो।
—जिन. चूर्णि पृ. ८६

३३. दशवै. (मु. नथमलजी) पृ. ३०

सुकुमारता-त्याग का और अन्तरंग कारण के रूप में रागद्वेष के त्याग का आसेवन करने से जब साधक काम-महासागर का अतिक्रमण कर लेगा, तब वह संसार में सुखी हो जाएगा।[३४] 'सम्पराए' का रूपान्तर होता है—सम्पराये। 'सम्पराय' शब्द के चार अर्थ होते हैं—संसार, परलोक, उत्तरकाल-भविष्य और संग्राम। इन चारों अर्थों के अनुसार इस वाक्य का अर्थ और आशय क्रमशः इस प्रकार होगा—(१) 'संसार में सुखी होगा', अर्थात् संसार दुःखों से परिपूर्ण है, परन्तु यदि तू कामनिवारण करके एवं दुःखों पर विजय प्राप्त करके चित्तसमाधि प्राप्त करने के पूर्वोक्त उपाय करता रहेगा तो मुक्ति पाने के पूर्व संसार में भी सुखी रहेगा। (२-३) परलोक में या भविष्य में सुखी होगा, इसका तात्पर्य यह है कि जब तक मुक्ति नहीं मिलती, तब तक प्राणी को विभिन्न गतियों-योनियों में जन्ममरण करना पड़ता है परन्तु हे कामविजयी साधक! तू इन जन्म-जन्मान्तरों (सम्पराय—परलोक या भविष्य) में देवगति और मनुष्यगति को प्राप्त करता हुआ उनमें सुखी रहेगा। (४) संग्राम में सुखी होगा। अर्थात्—ऐसा (पूर्वोक्त रूप से) भेद चिन्तन करके इष्टानिष्ट में या सुख-दुःख में सम रहने वाला स्थितप्रज्ञ साधक परीषह-उपसर्गरूप संग्राम में सुखी—प्रसन्न रह सकेगा।[३५]

भगवद्गीता में भी कहा है—जिसका मन दुःखों में अनुद्विग्न और सुखों में स्पृहारहित रहता है, उस प्रसन्नचेता स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के चित्त की प्रसन्नता से सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं।[३६] निष्कर्ष यह है कि अगर तू इन कामनिवारणोपायों को करता रहेगा, रागद्वेष त्याग कर मध्यस्थभाव प्राप्त करेगा, तो परीषहसंग्राम में विजयी बन कर सुखी हो जाएगा।

कामपराजित रथनेमि को संयम में स्थिरता का, राजीमती का उपदेश

११. पक्खंदे जलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे ॥६॥

---

३४. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. २५
(ख) तुलना कीजिए—आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
—भगवद्गीता अ. २ श्लो. ७०

३५. (क) 'सम्पराओ = संसारो।'—अगस्त्य. चूर्णि पृ. ४५
(ख) सम्पर ईयते इति सम्पराय: परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः।—कठोपनिषद् शांकरभाष्य १।२।६
(ग) सम्पराये वि दुक्खबहुले देवमणुस्सेसु सुही भविस्ससि। —अग. चू. पृ. ४५
(घ) यावदपवर्गं न प्राप्स्यति तावत् सुखी भविष्यसि। —हारि. वृ. पत्र ९५
(ङ) युद्धं वा संपरायो बावीसपरीसहोवसग्ग-जुद्धलद्धविजयो परमसुही भविस्ससि। —अ. चूर्णि पृ. ४५
(च) सम्पराये—परीसहोपसर्गसंग्राम इत्यन्ये। —हारि. वृत्ति, पत्र ९५
(छ) जुत्तं मण्णइ, जया रागदोसेसु मज्झत्थो भविस्ससि तओ जियपरीसहसंपराओ सुही भविस्ससि त्ति।
—जिन. चूर्णि पृ. ८६

३६. भगवद्गीता अ. २, श्लो. ५५, ६५,

१२. धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

१३. अहं च भोगरायस्स, तं च सि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो संजमं निहुओ चर ॥८॥

१४. जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥९॥

[११] (राजीमती रथनेमि से—) "अगन्धनकुल में उत्पन्न सर्प प्रज्वलित दुःसह अग्नि (ज्योति) में कूद (प्रवेश कर) जाते हैं, (किन्तु जीने के लिए) वमन किये हुए विष को वापिस चूसने की इच्छा नहीं करते ॥६॥"

[१२] हे अपयश के कामी ! तुझे धिक्कार है !, जो तू असंयमी (अथवा क्षणभंगुर) जीवन के लिये वमन किये हुए (पदार्थ) को (वापिस) पीना चाहता है। इस (प्रकार के जीवन) से तो संयमपूर्वक तेरा मर जाना ही श्रेयस्कर है ॥७॥

[१३] मैं (राजीमती) भोजराज (उग्रसेन) की पुत्री हूँ, और तू (रथनेमि) अन्धकवृष्णि (समुद्रविजय) का पुत्र है। (उत्तम) कुल में (उत्पन्न हम दोनों) गन्धन कुलोत्पन्न सर्प के समान न हों। (अतः) तू निभृत (स्थिरचित्त) हो कर संयम का पालन (आचरण) कर ॥८॥

[१४] तू जिन-जिन नारियों को देखेगा, उनके प्रति यदि इस प्रकार रागभाव करेगा तो वायु से आहत (अबद्धमूल) हड नामक (जलीय वनस्पति) की तरह अस्थिरात्मा हो जाएगा ॥९॥

विवेचन—प्रस्तुत चार गाथाओं (११ से १४ तक) में संयम से अस्थिर होते हुए रथनेमि को संयम में स्थिरता के लिये साध्वी राजीमती द्वारा दिया गया प्रबल प्रेरक उपदेश है।

अगन्धनकुल के सर्प का दृष्टान्तबोध—सर्प की दो जातियाँ होती हैं—गन्धन और अगन्धन। गन्धन जाति के सर्प मंत्रादि के बल से आकर्षित किये जाने पर विवश होकर उगले हुए विष को मुँह लगाकर वापिस चूस लेते हैं; अगन्धन जाति के सर्प प्राण गंवाना पसंद करते हैं, किन्तु उगले विष को वापिस नहीं पीते। इस दृष्टान्त के द्वारा राजीमती रथनेमि से यह कहना चाहती है कि अगन्धनकुल का सर्प जिस किसी को डस लेता है, मंत्रबल से आकृष्ट किये जाने पर आता है, किन्तु उगला हुआ विष वापस नहीं चूसता, भले ही उसे धधकती हुई आग में कूद कर मर जाना पड़े। इसी प्रकार हे रथनेमि ! तुम्हें भी अगन्धन-सर्प की तरह वमन किये हुए काम-भोगों को पुनः अपनाना कथमपि श्रेयस्कर नहीं है। साथ ही इस गाथा द्वारा यह भी सूचित कर दिया है कि तुम्हें यह सोचना चाहिए कि अविरत और धर्मज्ञान-हीन तिर्यञ्च अगन्धन सर्प भी केवल कुल का अवलम्बन लेकर अपने प्राण होमने को तैयार हो जाता है, किन्तु उगले हुए विष को पुनः पीने जैसा घृणित काम नहीं करता। हम तो मनुष्य हैं, उच्चकुलीन हैं, धर्मज्ञ हैं, फिर भला, क्या हमें कुल और जाति की आन-मानमर्यादा

को तिलांजलि देकर स्वाभिमान का त्याग करके परित्यक्त एवं दारुणदु:खमूलक विषयभोगों का पुन: कायरतापूर्वक सेवन करना चाहिए ? [३७]

धूमकेउं, दुरासयं जोइं, 'जलियं' : 'दुरासयं' के दो अर्थ हैं—(१) जिसका संयोग सहन करना दुष्कर हो, वह दुरासद, (२) चूर्णि के अनुसार—दहनसमर्थ। 'धूमकेतु' शब्द ज्योति (अग्नि) का पर्यायवाची है, उसका शब्दश: अर्थ होता है—धूम ही जिसका केतु (चिह्न) हो; ज्योति उल्कादिरूप भी होती है, इसलिए विशेष रूप से 'प्रज्वलित अग्नि' को सूचित करने के लिए 'धूमकेतु' विशेषण दिया है, अर्थात्—जिससे धूंआ निकल रहा है, वह अग्नि (प्रज्वलित ज्योति)। धूमकेउं आदि तीनों 'ज्योइं' के विशेषण हैं। इनका परस्पर विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध है। [३८]

उपालम्भात्मक उपदेश—प्रस्तुत ७ वीं गाथा में राजीमती ने रथनेमि को उपालम्भपूर्वक समझाया है। इसमें राजीमती द्वारा धिक्कार, अपयशकामी तथा असंयमी जीवन जीने के लिए वमन किये हुए भोगों को पुन: सेवन करने की अपेक्षा मरण की श्रेयस्करता का प्रतिपादन किया गया है।

जसोगामी : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **अयशस्कामिन्**—हे अपयश की कामना करने वाले ! (२) **अयशस्कामिन्**—यश अर्थात् संयम, अयश अर्थात्—असंयम। हे असंयम के कामी ! (३) **यशस्कामिन्**—हे यश की चाह वाले ! अथवा हे कामी ! तुम्हारे यश को धिक्कार है ! भावार्थ यह है—हे यश की चाह वाले ! तुम यश चाहते हो और तुम्हारा विचार इतना नीच है ! इसलिए तुम्हें धिक्कार है ! [३९]

'जो तं जीवियकारणा' : दो फलितार्थ—(१) जिनदास महत्तरकृत चूर्णि के अनुसार—कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दु के समान क्षणभंगुर जीवन के लिए, (२) हरिभद्रसूरिकृत टीका के अनुसार—असंयमी जीवन के लिए। [४०]

'सेयं ते मरणं भवे' : तात्पर्य—(१) मरण श्रेयस्कर इसलिए माना गया कि अकार्य सेवन से व्रतों का भंग होता है, इसकी अपेक्षा व्रतों की रक्षा करता हुआ साधक यदि मरण-शरण हो जाता

---

३७. (क) अगस्त्य-चूर्णि, पृ. ४५, (ख) जिन. चूर्णि, पृ. ८७, (ग) हारि. वृत्ति, पृ. ९५
(घ) दशवै. (मु. नथमलजी) पृ. ३२, (ङ) दशवै. (आ. आत्मारामजी, म.), पृ. २६

३८. (क) दुरासदं—दु:खेनासाद्यतेऽभिभूयते इति दुरासदस्तं, दुरभिभवमित्यर्थ:।—हा. वृ., पृ. ९५
(ख) दुरासयो नाम डहणसमत्थत्तणं, दुक्खं तस्स संजोगो सहिज्जइ दुरासओ, तेण।—जि. चू., पृ. ८७
(ग) जोती अग्गी भण्णइ, धूमो तस्सेव परियाओ, केऊ उस्सओ चिंधं वा सो धूमे केतू जस्स भवई धूमकेऊ।
—जिन. चूर्णि, पृ. ८७
(घ) अग्निं धूमकेतुं धूमचिह्नं धूमध्वजं, नोल्कादिरूपम्। —हारि. वृत्ति, पत्र ९५

३९. (क) जिनदास. चूर्णि, पृ. ८८, (ख) हारि. वृत्ति, पत्र ९६, (ग) यश: शब्देन संयमोऽभिधीयते। हारि. वृत्ति, पत्र ९६, (घ) दशवै. (आचार्य आत्मारामजी म.), पृ. २८

४०. (क) "जो तुमं इमस्स कुसग्गजलबिंदुचंचलस्स जीवियस्स अट्ठाए।"—जि. चू., पृ. ८८
(ख) 'जीवितकारणात्=असंयमजीवितहेतो:।' —हारि. वृत्ति, पत्र ९६

है तो वह 'आत्मघाती' नहीं, अपितु 'व्रतरक्षक' कहलाता है। (२) भूखा मनुष्य चाहे कष्ट पा ले, परन्तु वह धिक्कारा नहीं जाता, किन्तु वमन किये हुए को खाने वाला धिक्कारा जाता है, घृणा का पात्र बनता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति शीलभंग करने की अपेक्षा मृत्यु को अंगीकार कर लेता है, वह एक बार ही मृत्यु का कष्ट महसूस करता है, किन्तु अपने गौरव तथा श्रमणधर्म की रक्षा कर लेता है, परन्तु जो परित्यक्त (वान्त) भोगों का पुनः उपभोग करता है, वह अनेक बार धिक्कारा जाकर बार-बार मृत्यु तुल्य अपमान अनुभव करता है। अतः कहा गया कि—"मर्यादा का अतिक्रमण करने की अपेक्षा तो मरना श्रेयस्कर है।'[४१]

'अहं च भोगरायस्स०' इत्यादि पाठ : दो अभिप्राय—प्रस्तुत ८ वीं गाथा में राजीमती ने अपने और रथनेमि के कुलों की उच्चता का परिचय देकर अकुलीन व्यक्ति का-सा अकार्य न करने की प्रबल प्रेरणा देते हुए रथनेमि को संयम में स्थिर होने का उपदेश दिया है। **'भोगरायस्स'** पद के **'भोगराजस्य'** और **'भोजराजस्य'** इन दोनों का षष्ठ्यन्तपद में रूपान्तर डॉ. जेकोबी ने सूचित किया है। किसी का मानना है—'भोगरायस्स और अंधकवण्हिणो' ये दोनों पद कुल के वाचक हैं।[४२] दूसरा मत है—इन दोनों षष्ठ्यन्त पदों का सम्बन्ध किसके साथ है? इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, इसलिए उपर्युक्त मतानुसार कुल शब्दों का दोनों जगह अध्याहार किया जाता है। दूसरे मतानुसार दोनों षष्ठ्यन्त पदों का सम्बन्ध क्रमशः 'पुत्री' और 'पुत्र' शब्द से है, इनका भी अध्याहार किया गया है।

इन पदों द्वारा कुल की निर्मलता एवं विशुद्धता अथवा उच्चता या प्रधानता की ओर रथनेमि का ध्यान खींचा गया है, क्योंकि शुद्ध कुलीन व्यक्ति प्रायः अकृत्य में प्रवृत्त नहीं होते। वे कष्टों के सामने दृढ़तापूर्वक डटे रहते हैं। वे स्वाभाविक रूप से धीर होते हैं। इसीलिए राजीमती ने कहा—

'मा कुले गंधणा होमो'—अर्थात्—"हम दोनों ही महाकुल में उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार गन्धन सर्प वमन किये हुए विष को पुनः पी लेता है, उसी प्रकार हम भी परित्यक्त भोगों का पुनः उपभोग करने वाले न हों।"[४३]

'निहुओ' : अर्थ और अभिप्राय—यहाँ 'निभृत' पद का अर्थ है,—निश्चल चित्त वाला, अव्याक्षिप्तचित्त। जिसका चित्त निश्चल या स्थिर होता है, वही सर्वदुःखनिवारक संयम के विधि-

---

४१. (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. २८
(ख) दशवै. जि. चू. ८७ (ग) हारि. वृत्ति, पत्र ९६
(घ) दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. ३२-३३

४२. (क) दशवै. (संत बालजी) पृ. ११
(ख) "तुमं च तस्स तारिसस्स अंधगवण्हिणो कुले पसूओ समुद्दविजयस्स पुत्तो।" —जिन. चूर्णि, पृ. ८८
(ग) हारि. वृत्ति. पृ. ९७; उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, अ. २२।४३ गा.
(घ) दशवै. (आचार्य आत्मा.) पृ. २९
(ङ) दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. ३३

४३. (क) दशवै. (डॉ. जेकोबी), (आचार्य आत्मा.) पृ. २९, अर्धमागधी गुजराती कोष पृ. १२, ५९६

विधान या क्रियाकलाप का यथावत् पालन कर सकता है। व्याक्षिप्तचित्त वाला पुरुष धैर्यच्युत होकर संयम की विराधना कर बैठता है। इसलिए यहाँ 'निभृत' (निहुओ) पद दिया गया है।[४४]

'हड' वनस्पति की तरह अस्थितात्मा हो जाएगा—प्रस्तुत ९ वीं गाथा में राजीमती ने संयम में स्थिरचित्त होकर रमण न करने वाले साधकों की अस्थिरतर दशा का निरूपण हड वनस्पति से तुलना करके किया है।

'जा जा दिच्छसि नारीओ' आदि : तात्पर्य—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि यह वसुन्धरा नाना स्त्रीरत्नों से परिपूर्ण है। यत्र-तत्र अनेक नारियाँ दृष्टिगोचर होंगी। यदि तुम उन कामिनियों को देख कर उनके प्रति अभिलाषा या अनुरक्ति करने लगोगे तो याद रखो, जिस प्रकार अबद्धमूल हड नामक समुद्रीय वनस्पति वायु के एक हलके-से स्पर्श से इधर से उधर बहने लगती है, उसी प्रकार तुम भी संयम में अबद्धमूल (अस्थिर) होने से संसार-समुद्र में प्रमादरूपी पवन से प्रेरित होकर चतुर्गत्यात्मक संसार में इधर से उधर भटकते रहोगे। अथवा संयम में अबद्धमूल होने से श्रमणगुणों से शून्य होकर संयम में अस्थिरात्मा केवल द्रव्यलिंगधारी हो जाओगे।[४५]

निष्कर्ष यह है कि जब साधक का मन विषयों की ओर आकृष्ट हो जाता है, तब वह एकाग्रता से हट कर अस्थिर एवं डांवाडोल हो जाता है। यों तो संसार के सभी इष्ट पदार्थ मन की चंचलता को बढ़ाने वाले हैं, परन्तु स्त्री उन सबमें प्रबल है; मोह और राग की उत्तेजक है। सुन्दर ललना के प्रति अनुराग और असुन्दर के प्रति घृणा-अरुचि। यही तो चंचलता या विषादमग्नता है।[४६]

हड : अनेक अर्थ—(१) हड—अबद्धमूल वनस्पतिविशेष, (२) समुद्रतटीय अबद्ध मूल वनस्पति, जिसके सिर पर अधिक भार होता है। समुद्रतट पर हवा का अधिक जोर होने से उसका पौधा उखड़ कर समुद्र में गिर कर वहाँ इधर-उधर डोलता रहता है। (३) वनस्पतिविशेष, जो द्रह, तालाब आदि में होती है, उसका मूल छिन्न होता है। (४) हट—जलकुंभिका या जिसकी जड़ जमीन से न लगी हुई हो ऐसा तृणविशेष। (५) उदक में उत्पन्न वनस्पति। अथवा (६) साधारणशरीर बादर वनस्पतिकायिक हढ नामक जीव।[४७]

---

४४. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. ३०

४५. (क) दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. ३५

(ख) सकलदुःखक्षयनिवन्धनेषु संयमगुणेष्ववद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसीति। —हारि. वृत्ति, पत्र ९७

(ग) हढो वातेण य आइद्धोइओ-इओ य निज्जइ, तहा तुमंपि एवं करेंतो संजमे अबद्धमूलो समणगुणपरिहीणो केवलं द्रव्यलिंगधारी भविस्ससि। —जिन. चूर्णि, पृ. ८९

४६. दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्रीआत्माराजी) पृ. ३०

४७. (क) अवद्धमूलः वनस्पतिविशेषः

(ख) दशवै. (जीवराज छेलाभाई) पत्र ६

(ग) हडो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिषु छिण्णमूलो भवति। —जिन. चूर्णि पृ. ८९

(घ) हटः जलकुम्भिका, अभूमिलग्नमूलस्तृणविशेषः। —सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४४।७ पादटिप्पणी

(ङ) प्रज्ञापना १।४५, १।४३; सूत्रकृ. २।३।५४

राजीमती के सुभाषित का परिणाम

१५. तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥ १० ॥

[१५] उस संयती (संयमिनी राजीमती) के सुभाषित वचनों को सुन कर वह (रथनेमि) धर्म में उसी प्रकार स्थिर हो गया जिस प्रकार अंकुश से नाग (हाथी) हो जाता है।

विवेचन—राजीमती के सुभाषित वचनों का प्रभाव —प्रस्तुत १० वीं गाथा में राजीमती के पूर्वोक्त प्रेरणादायक सुभाषित वचनों का रथनेमि के मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा, उसी का यहाँ प्रतिपादन है।

सुभासियं: सुभाषित: दो विशेषार्थ—(१) संवेग—वैराग्य उत्पन्न करने के कारणभूत सुभाषित (अच्छे कहे हुए), संसार भय से उद्विग्न करने वाले सुभाषित।[४८]

संपडिवाइओ: दो रूप—सम्प्रतिपादित, अर्थात्—सम्यक् रूप से श्रमणधर्म के प्रति गतिशील हो गया। (२) **सम्प्रति पातित**—सम्यक्रूप से पुन: संयम धर्म में व्यवस्थित (सुस्थिर) हो गया।[४९]

जिस प्रकार अंकुश से मदोन्मत्त हाथी का मद उतर जाता है उसी प्रकार राजीमतीरूपी महावत के वचनरूपी अंकुश से रथनेमिरूपी हाथी का विषयवासनारूपी काममद उत्तर गया और वे जिनोक्त संयमधर्म में सुस्थित अथवा प्रवृत्त हो गए।

उपदेश की सफलता—एक सुसंयमिनी साध्वी के वचनों की सफलता इस बात को सूचित करती है कि स्वयं श्रमणभाव एवं कामनिवारण में दृढ़ चारित्रसम्पन्न आत्मा का प्रभाव अवश्य होता है।

धैर्यशाली हाथी के समान, धैर्यशाली कुलीन साधक—हाथी जिस प्रकार स्वभाव से ही धैर्यवान् होता है, इसलिए इशारे से वश में हो जाता है। कुलीन एवं धैर्यवान् रथनेमि ने भी राजीमती जैसी एक सुसंयमिनी की शिक्षा को शीघ्र और नम्रतापूर्वक स्वीकार कर लिया।[५०]

समस्त साधकों के लिए प्रेरणा

१६. एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसोत्तमो ॥ ११ ॥
—त्ति बेमि ॥

॥ बिइयं सामण्णपुव्वगऽज्झयणं समत्तं ॥

---

४८. (क) "सुभाषितं संवेगनिबन्धनम्।" —हारि. वृत्ति, पत्र ९७
(ख) "संसारभउव्वेगकरेहिं वयणेहिं।" —जिन. चूर्णि, पृ. ९१

४९. (क) दशवै. (आचार्य आत्मारामजी) पृ. ३०
(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १ पृ. १४७

५०. वही, (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. ३१

अर्थ—[१६] सम्बुद्ध, प्रविचक्षण और पण्डित ऐसा ही करते हैं। वे भोगों से उसी प्रकार निवृत्त (विरत) हो जाते हैं, जिस प्रकार वह पुरुषोत्तम रथनेमि हुए ॥११॥

विवेचन—प्रस्तुत उपसंहारात्मक अन्तिम गाथा में सम्बुद्ध, पण्डित एवं विचक्षण साधकों को पुरुषोत्तम रथनेमि की तरह कामभोगों से विरत होने की प्रेरणा दी गई है।

संम्बुद्धा, 'पंडिया' एवं 'पवियक्खणा' में अन्तर—प्रश्न होता है कि '**सम्बुद्धा, पंडिया और पवियक्खणा**' ये तीनों शब्द एकार्थक प्रतीत होते हैं, फिर इन तीनों को प्रस्तुत गाथा में अंकित क्यों किया गया? क्या एक शब्द से काम नहीं चल सकता था? इसका समाधान आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस प्रकार किया है—यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर तीनों समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु ये विभिन्न अपेक्षाओं से अलग-अलग अर्थों को द्योतित करते हैं। यथा—जो सम्यग्-दर्शनसहित बुद्धिमान् होता है, वह सम्बुद्ध कहलाता है। अर्थात्—सम्यक्दर्शन की प्रधानता से साधक सम्बुद्ध होता है अथवा विषयों के स्वभाव को जानने वाला सम्बुद्ध होता है। पण्डित का अर्थ है—सम्यग्ज्ञानसम्पन्न। अतः सम्यग्ज्ञान की प्रधानता से साधक पण्डित कहलाता है। प्रविचक्षण का अर्थ है—सम्यक्चारित्र-सम्पन्न, अथवा पापभीरु—संसारभय से उद्विग्न। सम्यक्चारित्र की प्रधानता से साधक प्रविचक्षण कहलाता है। शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को जो धारण करता है वह कामभोगों से उसी प्रकार निवृत्त हो जाता है, जिस प्रकार पुरुषोत्तम रथनेमि हो गए थे।[५१]

संयमविचलित को पुरुषोत्तम क्यों?—प्रश्न होता है—विरक्तभाव से दीक्षित होने पर भी राजीमती को देख कर उनके प्रति सराग भाव से श्री रथनेमि का चित्त चलायमान हो गया और वे संयम से चलित होकर राजीमती से विषयभोगों की याचना करने लगे। फिर उन्हें पुरुषोत्तम क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि मन में विषयभोगों की अभिलाषा उत्पन्न होने पर कापुरुष तदनुरूप दुष्प्रवृत्ति करने लगता है, परन्तु पुरुषार्थी पुरुष कदाचित् मोहकर्मोदयवश विषयभोगों की अभिलाषा उत्पन्न हो जाए और उसे किसी का सदुपदेश मिल जाए तो वह पापभीरु अपनी गिरती हुई आत्मा को पुनः संयमधर्म में सुस्थिर कर लेता है। उसे पाप से वापस मोड़ लेता है। रथनेमि का चित्तरूपी वृक्ष विषयभोग-दावानलजन्य संताप से संतप्त हो गया था, किन्तु तत्काल वैराग्य-रस की वर्षा करने वाले राजीमती के वचन-मेघ से सींचे जाने पर शीघ्र ही संयमरूपी अमृत के रसास्वादन में तत्पर हो गया। अतः अपनी गिरती हुई आत्मा को पुनः स्थिर कर रथनेमि ने जो प्रबल पुरुषार्थ दिखलाया तथा एकान्तस्थान में विषयभोग का प्रबल सान्निध्य रहने पर भी राजीमती की शिक्षा से इन्द्रियनिग्रह करके विषयों को विषतुल्य समझ कर तुरंत उनको त्याग दिया, और वे प्रायश्चित्तपूर्वक

---

५१. (क) पंडिया णाम चत्ताणं भोगाणं पडियाइणे जे दोसा परिजाणंति पंडिया। —जि. चू. पृ. ९२

(ख) पण्डिताः-सम्यग्ज्ञानवन्तः। —हा. टी. पत्र ९९

(ग) संवुद्धा बुद्धिमन्तो सम्यग्दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा वुद्धा-सम्बुद्धा-सम्यग्दृष्टयः, विदितविषय-स्वभावाः। —हा. टी. पत्र ९९

(घ) प्रविचक्षणाः-चरणपरिणामवन्तः अवद्यभीरवः। —हा. टी. पत्र ९९

(ङ) वज्जभीसणा णाम संसारभयुविग्गा, थोवमवि पावं णेच्छंति। —जि. चू. पृ. ९२

(च) दशवै. (आ. आ.) पृ. ३२

अपने श्रमणधर्म में दृढ़ हो गए। उग्र तपश्चरण एवं संयम-पालन किया। इसी कारण उन्हें 'पुरुषोत्तम' कहा गया।[५२]

सर्वोत्तम पुरुष तो वह है, जो चाहे जैसी विकट एवं मोहक परिस्थिति में भी विचलित न हो, किन्तु वह भी पुरुषोत्तम है जो प्रमादवश एक बार डिग जाने पर भी सोच-समझ कर संयमधर्म के नियमों-व्रतों में पुनः सुस्थिर हो जाए। अन्त में वे अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त हुए।[५३]

सारांश यह है—कदाचित् मोहोदयवश किसी साधक के मन में विषयभोगों का विकल्प पैदा हो जाए तो वह स्वाध्याय, सदुपदेश या ज्ञान बल से या शुभ भावनाओं से रथनेमि के पथ का अनुसरण करे।

।। द्वितीय : श्रामण्यपूर्वक अध्ययन समाप्त ।।

---

५२. (क) दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. ३६
(ख) आचार्य श्री आत्मारामजी सम्पादित, पृ. ३२-३३

५३. (क) आचारमणि मं. टीका, भा. १, पृ. १५०
(ख) उत्तराध्ययन, अ. २२।४७-४८

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

खुड्डियायारकहा : क्षुल्लिकाचार-कथा

प्राथमिक

※ दशवैकालिक सूत्र का यह तीसरा अध्ययन है। इसका नाम 'क्षुल्लिकाचारकथा' अथवा 'क्षुल्लकाचारकथा' है।

※ इस अध्ययन में अनाचीर्णो (साधु के लिए अनाचरणीय विषयों) का निषेध करके आचार (साध्वाचार अथवा साधुवर्ग के लिए आचरणीय) का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इसका नाम आचार-कथा है। इसी शास्त्र के छठे अध्ययन—'महाचारकथा' में वर्णित विस्तृत आचार की अपेक्षा इस अध्ययन में आचार का संक्षिप्त निरूपण है। इसलिए इसका नाम 'क्षुल्लिकाचारकथा' अथवा 'क्षुल्लकाचारकथा' रखा गया है। 'क्षुल्लिक' शब्द का अर्थ—क्षुद्र-छोटा या अल्प है। अल्प 'महान्' की अपेक्षा रखता है। इसी कारण 'महाचार' की अपेक्षा अल्प या छोटा होने के कारण इसका नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' पड़ा। एक प्रकार से यह साधुसंस्था की आचारसंहिता है।[1]

※ भारतीय संस्कृति में आचार का बहुत अधिक महत्त्व है। चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक या राजा-महाराजा, धनाढ्य अथवा मंत्री आदि जब भी त्यागी या साधु-संन्यासीवर्ग के चरणों में दर्शन-वन्दन या उपासना के लिए पहुँचता था, तो सर्वप्रथम उनके आचार-विचार की पृच्छा करता था,—**'कहं भे आयार-गोयरो'**[2] यह वाक्य इस का प्रमाण है। इसीलिए **'आचारः प्रथमो धर्मः'** कह कर आचार को पहला धर्म माना, क्योंकि धर्म का कोरा ज्ञान कर लेना या ज्ञान बघार देना ही पर्याप्त नहीं, आचार ही कर्ममुक्ति का मार्ग है। इसीलिए आचारांगसूत्र के निर्युक्तिकार ने कहा—समस्त तीर्थंकर तीर्थप्रवर्तन के प्रारम्भ में सर्वप्रथम 'आचार' का ही उपदेश करते हैं।[3] क्योंकि आचार ही परम और चरम कल्याण का साधकतम हेतु माना गया है।[4] अंगों (द्वादशांगी या सकल वाङ्मय) का सार एवं आधार आचार है, आचार ही मोक्ष का प्रधान हेतु है।[5]

---

१. एएसि महंताणं पडिवक्खे खुड्डया होंति। —निर्युक्ति गा. १७८

२. 'रायाणो रायमच्चा य ·· कहं भे आयारगोयरो ?' —दशवै. अ. ६ गा. २

३. 'सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।' —निर्युक्ति गाथा

४. 'आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यथा। जगाद वीरो जगतो हिताय॥' —शीलांकाचार्य आचा. वृत्ति

५. अंगाणं किं सारो ? आयारो। —आचा. निर्युक्ति

❋ जिसकी आत्मा संयम में सुस्थित होती है,[६] धर्म में जिसकी धृति होती है, अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म जिसके जीवन में रम जाता है, वही आचार को निभाता है और अनाचार से अपने आपको बचाता है। संयम में स्थिरता, अहिंसादि रूप धर्म में धृति और आचार का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।[७]

❋ आचार और अनाचार की परिभाषा शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार होती है—जो अनुष्ठान या प्रवृत्ति मोक्ष के लिए हो, या जो आचरण या व्यवहार अहिंसादि-धर्म से सम्मत एवं शास्त्रविहित हो, वह आचार है। आचार का प्रतिपक्षी, या आचार के विपरीत जो हो वह अनाचार है।

❋ शास्त्रों में आचरणीय वस्तु पांच बताई हैं—१. ज्ञान, २. दर्शन, ३. चारित्र, ४. तप और ५. वीर्य। इसलिए आचार के ५ प्रकार बनते हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार। इसलिए आचार-अनाचार का लक्षण यह भी हो सकता है कि जो अनुष्ठान, आचरण या व्यवहार ज्ञानादि पंचविध आचारों के अनुकूल हो वह आचार या आचीर्ण है, और जो इनसे प्रतिकूल हो, वह अनाचार या अनाचीर्ण है। आचार धर्म या कर्त्तव्य है, जब कि अनाचार, अधर्म या अकर्त्तव्य है। अनाचार का अर्थ होता है—निषिद्ध आचरण या कर्म, परिज्ञापूर्वक प्रत्याख्यातव्य कर्म।[८]

❋ शास्त्रकार ने **'तेसिमेयमणाइण्णं'** (महर्षियों के लिए ये अनाचीर्ण हैं) कह कर संख्यानिर्देश के बिना अनाचारों का उल्लेख किया है। वृत्ति तथा दोनों चूर्णियों में भी संख्या का निर्देश नहीं है। हाँ, दीपिका में अनाचारों की ५४ संख्या का उल्लेख अवश्य है। वर्त्तमान में अनाचारों की परम्परागत-मान्य संख्या ५२ है। कहीं-कहीं अनाचारों की संख्या ५३ भी बताई गई है। किन्तु संख्या का भेद तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। ५३ की परम्परा वाले 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' को एक मानते हैं, और ५२ की परम्परा वाले 'आसन्दी' तथा पर्यंक को, और गात्राभ्यंग तथा विभूषण को एक-एक अनाचीर्ण मानते हैं।[९]

❋ अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'औद्देशिक' से लेकर 'विभूषण' तक की प्रवृत्तियों को अनाचार मानने के कारणों का निर्देश भी किया है।

---

६. संजमे सुट्ठिअप्पाणं ···तेसिमेयमणाइण्णं। —दशवै. मूलपाठ अ. ३ गा. १

७. (क) धम्मे धितिमतो आयारसुट्ठितस्स फलोवदरिसणोवसंहारे। —अग. चूर्णि, पृ. ४९
(ख) तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारे रतः सदा। स एवं धृतिमान्, धर्मस्तस्यैव च जिनोदितः।
—हारि. वृत्ति, पत्र १००

८. दंसण-नाण-चरित्ते तव-आयारे य वीरियायारे।
एसो भावायारो पंचविहो होइ नायव्वो॥ —निर्युक्ति गा. १८१

९. सर्वमेतत् पूर्वोक्त-चतुपंचाशद् भेदभिन्नमौद्देशिकादिकं यदनन्तरमुक्तं तत्सर्वमनाचरितम् उक्तम्। —वही, पृ. ७

※ नीचे हम अनाचारों को सुगमता से समझने के लिए कारण निर्देशपूर्वक एक तालिका दे रहे हैं[11]

क्रम	नाम	अर्थ	अनाचार का कारण
१.	औद्देशिक	साधु के निमित्त बना आहार आदि लेना	जीववध
२.	क्रीतकृत	साधु के निमित्त खरीदा हुआ आहार लेना	अधिकरण
३.	नित्याग्र	निमंत्रित होकर नित्य आहार लेना	भोजन-समारम्भ मुनि के लिए
४.	अभिहृत	सामने लाया हुआ आहार लेना	षट्जीवनिकाय का वध
५.	रात्रिभोजन		जीववध
६.	स्नान		विभूषा एवं उत्प्लावन
७.	गन्धविलेपन	सुगन्धित पदार्थों का लेप करना	विभूषा तथा आरम्भ
८.	माल्यधारण	माला आदि धारण करना	पुष्पादि के जीवों की हिंसा
९.	बीजन	पंखे आदि से हवा लेना	वायुकायिक संपातिम जीववध
१०.	सन्निधि	खाद्य-पेय आदि वस्तुओं को संचित करके रखना	चींटी आदि जीवों की हानि
११.	गृहि-अमत्र	गृहस्थ के बर्तन में भोजन करना	अप्कायिक जीववध, गुम हो जाने पर आपत्ति
१२.	राजपिण्ड	अभिषिक्त राजा के लिये बना आहार लेना	भीड़ के कारण विराधना तथा गरिष्ठ भोजन से एषणा-घात
१३.	किमिच्छक	क्या चाहिये ? पूछ कर दिया हुआ आहारादि लेना	निमित्त दोष
१४.	संबाधन	शरीरमर्दन, पगचंपी आदि कराना	सूत्र और अर्थ की हानि
१५.	दंतप्रधावन	दांतों को धोना	विभूषा

११. (क) दशवै. (आचार्य आत्मारामजी म.) पृ. ३४ से ५२ तक
(ख) अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६२-६३

क्रम	नाम	अर्थ	अनाचार का कारण
१६.	सम्पृच्छन	गृहस्थों से सावद्य प्रश्न करना, पूछताछ करना	पाप का अनुमोदन
१७.	देहप्रलोकन	दर्पण आदि में मुख शरीरादि देखना	विभूषा, अहंकार, ब्रह्मचर्यविघात
१८.	अष्टापद	शतरंज खेलना	अदत्त का ग्रहण, लोकापवाद
१९.	नालिका	एक प्रकार का जूआ खेलना	,, ,, ,, ,,
२०.	छत्रधारण	छाता लगाकर चलना	अहंकार, लोकापवाद
२१.	चिकित्सा	सावद्य उपचार कराना	हिंसा, सूत्र और अर्थ की हानि
२२.	उपानह पहनना	जूते मौजे, खड़ाऊँ आदि पहनना	गर्व, आरम्भ आदि
२३.	अग्निसमारम्भ	आग जलाना, तापना आदि	जीवहिंसा
२४.	शय्यातरपिण्ड	वसतिदाता का आहार लेना	एषणादोष
२५.	आसन्दी का उपयोग	लचीली स्प्रिंगदार कुर्सी आदि का उपयोग करना	छिद्रस्थ जीवों की विराधना की सम्भावना
२६.	पर्यंक का उपयोग	पलंग, ढोलिया, स्प्रिंगदार ढीले खाट आदि का उपयोग	छिद्रस्थ जीवों की विराधना तथा ब्रह्मचर्यभंग की सम्भावना
२७.	गृहिनिषद्या	गृहस्थ के घर में बैठना, गृहान्तर में (अकारण) बैठना	ब्रह्मचर्य में आशंका आदि दोष
२८.	गात्रउद्वर्तना	शरीर पर पीठी, उबटन आदि लगाना, मालिश आदि कराना	विभूषा
२९.	गृहि-वैयावृत्त्य	गृहस्थों की शारीरिक सेवा	अधिकरण, आसक्ति
३०.	आजीववृत्तिता	शिल्प आदि से आजीविका करना	आसक्ति, परिग्रह
३१.	तप्तानिर्वृतभोजित्व	पूर्णतः शस्त्रअपरिणत (अनिर्वृत) आहार-पानी लेना	जीवहिंसा
३२.	आतुरस्मरण या आतुर-शरण	रुग्ण होने पर पूर्व कुटुम्बियों का या पूर्वभुक्त-भोगों का स्मरण या चिकित्सालय की शरण लेना	दीक्षा त्याग की सम्भावना, संयम से विचलितता

क्रम	नाम	अर्थ	अनाचार का कारण
३३.	सचित्त मूलक	मूली लेना	सचित्त वनस्पति ग्रहण करने से वनस्पतिकायिक जीवों का वध होता है
३४.	सचित्त शृंगबेर	सचित्त अदरक लेना	,, ,, ,, ,, ,, ,,
३५.	सचित्त इक्षुखण्ड	इक्षुखण्ड, कन्द, मूल, फल, फूल, पत्ते बीज आदि सचित्त लेना या तोड़ना, उपभोग करना	,, ,, ,, ,, ,, ,,
३६.	सचित्त कन्द		,, ,, ,, ,, ,, ,,
३७.	सचित्त मूल	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,, ,,
३८.	सचित्त फल	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,, ,,
३९.	सचित्त बीज	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,, ,,
४०.	सचित्त सौवर्चल लवण	सचित्त सँचल नमक	पृथ्वीकायिक जीववध
४१.	सचित्त सैंधव लवण	सैंधा नोन	,, ,,
४२.	सचित्त लवण	साधारण नमक	,, ,,
४३.	सचित्त रुमा लवण	रोमा नमक	,, ,,
४४.	सचित्त समुद्री लवण	समुद्री नमक	,, ,,
४५.	सचित्त पांशुक्षार लवण	सचित्त खार वाला नमक	,, ,,
४६.	सचित्त कृष्ण लवण	सचित्त काला नमक	,, ,,
४७.	धूमनेत्र	धूप करना, धुंआ करना, धूम्रपान करना	अग्निकाय समारम्भ, विभूषा
४८.	वमन	कै करना	अत्यधिक मात्रा में भोजन करने से असंयम
४९.	बस्तिकर्म	एनिमा वगैरह लेना	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
५०.	विरेचन	जुलाब, रेचन लेना	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
५१.	अंजन	आँखों में सुरमा, काजल आदि लगाना	परोक्ष हिंसा

क्रम	नाम	अर्थ	अनाचार का कारण
५२.	दन्तवन	दतौन की लकड़ी से दांतुन करना	वनस्पतिकायवध
५३.	गात्राभ्यंग	शरीर पर तेल आदि की मालिश करना	विभूषा, शरीरपुष्टि से ब्रह्मचर्यबाधा
५४,	विभूषा	श्रृंगार प्रसाधन करना, साजसज्जा वस्त्राभूषण	विभूषा

इसके अतिरिक्त सूत्रकृतांग (श्रु. १, अ. ६,) में धावण (वस्त्रादि धोना) रयण (रंगना) आदि कुछ अनाचार बताये हैं। इससे सिद्ध होता है, अनाचारों की यह संख्या अन्तिम नहीं, उदाहरण स्वरूप है। अन्य अनेक अनाचार भी हो सकते हैं। उत्सर्ग विधि से जितने भी अग्राह्य, अभोग्य, अनाचरणीय अकरणीय कार्य बताए हैं, वे सब अनाचार या अनाचीर्ण है।[१२]

---

१२. (क) सूत्रकृतांग १, ९।१२, १४, १६, १७, १८, २०, २९
(ख) दशवै. अ. ६, गा. ५९

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

खुड्डियायारकहा : क्षुल्लिकाचार-कथा

निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए अनाचीर्ण

१७. संजमे सुट्ठिअप्पाणं विप्पमुक्काण ताइणं।
तेसिमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ॥ १ ॥

[१७] जिनकी आत्मा संयम में सुस्थित (सुस्थिर) है; जो (बाह्य-आभ्यन्तर-परिग्रह से) विमुक्त हैं; (तथा) जो (स्व-पर-आत्मा के) त्राता हैं; उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये (निम्न-लिखित) अनाचीर्ण (=अनाचरणीय, अकल्प्य, अग्राह्य या असेव्य) हैं ॥१॥

विवेचन—ये अनाचीर्ण किनके लिए ?—प्रस्तुत प्रथम गाथा में उन महर्षियों के लिए ये अनाचरणीय (अनाचार) बताए गए हैं, जो संयम में सुस्थित हैं, परिग्रहमुक्त हैं, स्वपरत्राता हैं और निर्ग्रन्थ हैं।

ये विशेषण परस्पर हेतु-हेतुमद्भावक्रिया से युक्त—आशय यह है कि यदि निर्ग्रन्थ साधु वर्ग (साधु-साध्वी) की आत्माएँ संयम में सुस्थिर होंगी तो वे सर्व (सांसारिक) संयोगों, संगों या साधनों से मुक्त हो सकेंगी। जो साधु-साध्वी सांसारिक (बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह-) बन्धनों से मुक्त होंगे, वे ही स्व-पर के रक्षक हो सकेंगे और जो स्वपर के रक्षक होंगे, वे ही महर्षिपद के योग्य हो सकेंगे।[1]

संजमे सुट्ठि-अप्पाणं : भावार्थ—जिनकी आत्मा संयम (१७ प्रकार के संयम अथवा पंचास्रव-विरमण, पंचेन्द्रिय निग्रह, चार कषाय-विजय एवं दण्डत्रयत्यागरूप संयम) में भलिभाँति स्थित है।[2]

विप्पमुक्काण : विप्रमुक्त—विविध प्रकार से—तीन करण तीन योग के सर्वभंगों से, प्रकर्षरूप से—तीव्रभाव से। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित (मुक्त), अथवा सर्वसंयोगों—बन्धनों से मुक्त, या सर्वसंग-परित्यागी (माता-पिता आदि कुटुम्ब तथा परिजनों की आसक्ति से रहित अथवा शरीरादि के ममत्व से रहित)।[3]

---

१. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. ३५

२. (क) शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मानः। —हारि. वृत्ति, पत्र ११६
   (ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. १५३

३. (क) विविधं अनेकैः प्रकारैः-प्रकर्षेण-भावसारं मुक्ताः परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ताः। —हारि. वृत्ति, पत्र ११६
   (ग) विप्पमुक्काण-अब्भितर-बाहिर-गंथ-बंधण विविहप्पगारमुक्काणं विप्पमुक्काणं।—अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ५९
   (ख) 'संजोगा विप्पमुक्कस्स.......' —उत्तरा. अ. १।१
   (घ) 'सव्वओ विप्पमुक्कस्स....।' 'सव्वसंगविनिम्मुक्के....।' —उत्तरा. अ, ९।१६, १८।५३

'ताइणं' : तीनरूप—(१) **त्रायिणाम्**—जो शत्रु से अपनी और दूसरों की रक्षा करते हैं; (२) आत्मा को दुर्गति से बचाने के लिए रक्षणशील (३) सदुपदेश से दूसरों को आत्मा की रक्षा करने वाले; उन्हें दुर्गति से बचाने वाले। (४) जीवों को आत्मवत् मानते हुए जो उनको हिंसा से विरत हैं, वे। (५) **त्रातृणाम्**—त्राता-सुसाधु। (६) **तायिनाम्**—सुदृष्ट मार्गों की देशना देकर शिष्यों की रक्षा करने वाले, (७) तय गतौ धातु से, तायी—मोक्ष के प्रति गमनशील।[४]

निग्गंथाणं : व्याख्या—(१) जैनमुनियों के लिए आगमिक और प्राचीनतम शब्द : निर्ग्रन्थ है, (२) ग्रन्थ—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह, से सर्वथा मुक्त। (३) जो अष्टविध कर्म, मिथ्यात्व, अविरति, एवं दुष्ट मन-वचन-काययोग हैं, उन पर विजय पाने के लिए निश्छल रूप से सम्यक् प्रयत्न करता है, वह निर्ग्रन्थ है। (४) जो एकाकी (राग-द्वेषरहित होने से), बुद्ध, संछिन्नस्रोत, सुसंयत, सुसमित, सुसमाहित, सुसामायिक, आत्मप्रवादज्ञाता, विद्वान्, बाह्य आभ्यन्तर दोनों ओर से छिन्नस्रोत, धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, नियागप्रतिपन्न (मोक्ष के प्रति प्रस्थित) साम्याचारी, दान्त, बन्धनमुक्त होने योग्य और ममत्वरहित (निर्मम) है। वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।[५]

महेसिणं : दो रूप : दो अर्थ—(१) महर्षि—महान् ऋषि, (२) महैषी—महान् मोक्ष की एषणा करने वाला।[६]

निर्ग्रन्थ-महर्षियों के लिए ये अनाचरणीय क्यों?—ये कार्य निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए अयोग्य या अनाचरणीय क्यों हैं? इसका उत्तर प्रस्तुत गाथा में निर्ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त महर्षि, संयम में सुस्थित, विप्रमुक्त और त्रायी विशेषणों में है। निर्ग्रन्थ महान् (मोक्ष) की खोज में रत रहते हैं, वे महाव्रती और सर्व संयम में सुस्थित एवं विप्रमुक्त होते हैं, वह त्रायी—अहिंसक होते हैं। ज्ञानाचारादि पंचाचारों में ही अहोरात्र लीन रहते हैं. तथा (स्त्री साधिका पुरुष कथा से) स्त्रीकथा, देशकथा,

---

४. (क) शत्रोः परमात्मानं च त्रायंत इति त्रातारः। —जि. चूर्णि, पृ. १११

(ख) आत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा त्रायी।

—सूत्र. १४।१६ वृत्ति, पत्र २४७

(ग) तायते, त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानम्, एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी त्रायी वेति।

उत्तरा. ८।४ टीका पृ. २०१

(घ) 'पाणे य नाइवाएज्जा से समिएत्ति वुच्चई ताई।' —उत्तरा. ८।९

(ङ) त्रातृभिः साधुभिः। हा. टी. प. २०१। तायः सुदृष्टमार्गोक्तिः सुपरिज्ञातदेशनया विनेयपालयितेत्यर्थः।

—हा. टी. प. २६२

(च) तायी=मोक्षं प्रति गमनशीलः। —सूत्र. २।६।२४ टीका प. ३९६

५. (क) दशवै. (मु. नथ.) पृ. ४९

(ख) ग्रन्थः कर्माष्टविधं मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च। तज्जयहेतोरशठं संयतते यः स निर्ग्रन्थः।

—प्रशमरति श्लो. १४२

(ग) एत्थ वि णिग्गंथे ···णिग्गंथेति वुच्चे। —सू. १।१६।६

६. (क) महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयः यतयः। —हा. टी. प. ११६

(ख) महानिति मोक्षस्तं एसंति महेसिणो। —अ. चू. पृ. ५९

भक्तकथा, राज्यकथा, तथा मोहकथा, विप्रलापकथा और मृदुकारुणिककथा आदि विकथाओं से दूर रहते हैं।[७] आगे की गाथाओं में बताए गए कार्य सावद्य, आरम्भजनक और हिंसाबहुल हैं, निर्ग्रन्थ संयमी के जीवन से विपरीत हैं, गृहस्थों द्वारा आचरित हैं। भूतकाल में निर्ग्रन्थ महर्षियों ने कभी उनका आचरण नहीं किया। इन सब कारणों से मुक्ति की कामना से उत्कट साधना में प्रवृत्त निर्ग्रन्थों के लिए ये अनाचीर्ण हैं।[८]

अनाचीर्णों के नाम

१८. उद्देसियं १ कीयगडं २ नियागं ३ अभिहडाणि ४ य।
राइभत्ते ५, सिणाणे ६ य, गंधमल्ले ७-८ य वीयणे ९ ॥ २ ॥

१९. सन्निही १० गिहिमत्ते ११ य रायपिंडे किमिच्छए १२। ※
संबाहणा १३, दंतपहोयणा १४ य, संपुच्छणा १५ देहपलोयणा १६ य ॥ ३ ॥

२०. अट्ठावए १७ य नाली य १८ छत्तस्स य धारणट्ठाए १९।
तेगिच्छं २० पाहणापाए २१, समारंभं च जोइणो २२ ॥ ४ ॥

२१. सेज्जायरपिंडं च २३, आसंदी २४ पलियंकए २५।
गिहंतरनिसेज्जा य २६, गायस्सुव्वट्टणाणि २७ य ॥ ५ ॥

२२. गिहिणो वेयावडियं २८, जा य आजीववत्तिया २९।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं ३०, आउरस्सरणाणि ३१ य ॥ ६ ॥

२३. मूलए ३२, सिंगबेरे य ३३, उच्छुखंडे अणिव्वुडे ३४।
कंदे ३५ मूले ३६ सच्चित्ते फले ३७ बीए य आमए ३८ ॥ ७ ॥

२४. सोवच्चले ३९ सिंधवे लोणे ४० रोमालोणे य आमए ४१।
सामुद्दे ४२, पंसुखारे ४३ य, कालालोणे य आमए ४४ ॥ ८ ॥

२५. धूवणेत्ति ४५ वमणे ४६ य, वत्थीकम्म ४७ विरेयणे ४८।
अंजणे ४९, दंतवणे ५० य, गायब्भंग ५१ विभूसणे ५२ ॥ ९ ॥

अर्थ—[१८] १. औद्देशिक (निर्ग्रन्थ के निमित्त से बनाया गया), २. क्रीत—कृत—(साधु के निमित्त खरीदा हुआ) ३. नित्याग्र (सम्मानपूर्वक निमंत्रित करके नित्य दिया जाने वाला), ४. अभिहृत—(निर्ग्रन्थ के लिये सम्मुख लाया गया भोजन) ५. रात्रिभक्त—(रात्रिभोजन करना),

---

७. (क) जि. चू. पृ. १११ (ख) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. ३५

८. तेसिं पुव्वनिद्दिट्ठाण वहिब्भंतरगंथविप्पमुक्काणं आयपरोभयतातीणं एयं नाम जं उवरि एयंमि अज्झयणे भणिहिति, तं पच्चक्खं दरिसेति। —जि. चूर्णि, पृ. १११

※ यहाँ 'रायपिंड' और 'किमिच्छए' दोनों पदों को एक माना गया है। —सं.

६. स्नान ७. गन्धः (सुगन्धित द्रव्य को सूंघना या लेपन करना) ८. माल्य (माला पहनना) ९. वीजन (—पंखा झलना) ॥ २ ॥

[१९] १०. **सन्निधि**—(खाद्य आदि पदार्थों को संचित करके रखना), ११. **गृहि-अमत्र** (गृहस्थ के वर्तन में भोजन करना), १२-१ **राजपिण्ड** (मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से भिक्षा लेना, १२-२ **किमिच्छक** ('क्या चाहते हो ?' इस प्रकार पूछ-पूछ कर दिया जाने वाला भोजनादि ग्रहण करना), १३. **सम्बाधन**—(अंगमर्दन, पगचंपी आदि करना), १४. **दंतप्रधावन**—(दांतों को धोना, साफ करना), १५. **सम्पृच्छना** (गृहस्थों से कुशल आदि पूछना, सावद्य प्रश्न करना); १६. **देह-प्रलोकन** (दर्पण आदि में अपने शरीर तथा अंगोपांगों को देखना) ॥ ३ ॥

[२०] १७. **अष्टापद** (शतरंज खेलना), १८. **नालिका** (नालिका से पासा फेंक कर जुआ खेलना), १९. **छत्रधारण**—(विना प्रयोजन के छत्रधारण करना), २०. **चिकित्सा कर्म**—(गृहस्थों की चिकित्सा करना अथवा रोगनिवारणार्थ सावद्य चिकित्सा करना-कराना), २१. **उपानत्** (पैरों में जूते, मोजे, वूट या खड़ाऊँ पहनना). तथा २२. **ज्योति-समारम्भ**—(अग्नि प्रज्वलित करना) ॥ ४ ॥

[२१] २३. **शय्यातरपिण्ड**—(स्थानदाता के यहाँ से आहार लेना), २४. **आसन्दी**—(बेंत की या अन्य किसी प्रकार की छिद्र वाली लचीली कुर्सी या आराम कुर्सी अथवा खाट, मांचे आदि पर बैठना), २५. **पर्यंक** (पलंग, ढोलया, या स्प्रिंगदार तखत आदि पर बैठना, सोना), २६. **गृहान्तर-निषद्या**—(भिक्षादि करते समय गृहस्थ के घर में या दो घरों के वीच में बैठना), और २७. **गात्र-उद्वर्तन** (शरीर पर उवटन पीठी आदि लगाना) ॥ ५ ॥

[२२] २८. **गृहि-वैयावृत्य**—(गृहस्थ की सेवा-शुश्रूषा करना, या गृहस्थ से शारीरिक सेवा लेना) २९. **आजीववृत्तिता**—(शिल्प, जाति, कुल, गण और कर्म का अवलम्वन लेकर आजीविका करना या भिक्षा लेना) ३०. **तप्ताऽनिर्वृतभोजित्व**—(जो आहारपानी अग्नि से अर्धपक्व या अशस्त्र-परिणत हो, उसका उपभोग करना) ३१. **आतुरस्मरण**—(आतुरदशा में पूर्वभुक्त भोगों या पूर्वपरिचित परिजनों का स्मरण करना) ॥ ६ ॥

[२३] ३२. **अनिर्वृतमूलक**—(अपक्व सचित्त मूली), ३३ **(अनिर्वृत) शृंगवेर**—(अदरख), ३४. **(अनिर्वृत्त) इक्षुखण्ड**—(सजीव ईख के टुकड़े लेना), ३५. **सचित्त कन्द**—(सजीव कन्द), ३६. **(सचित्त) मूल** (सजीव मूल या जड़ी लेना या खाना) ३७. **आमक फल** (कच्चा फल), ३८. **(आमक) वीज** (अपक्व वीज लेना व खाना) ॥ ७ ॥

[२४] ३९. **आमक सौवर्चल**—(अपक्व-अशस्त्रपरिणत संचल नमक) ४०. सैन्धव-लवण (अपक्व सेंधानामक), ४१. रुमा लवण (अपक्व रुमा नामक नमक). ४२. सामुद्र (अपक्व समुद्री नमक). ४३. पांशु-क्षार (अपक्व ऊषरभूमि का नमक या खार), ४४. काल-लवण (अपक्व काला नमक लेना व खाना) ॥ ८ ॥

[२५] ४५. **धूमनेत्र अथवा धूपन**—(धूम्रपान करना या धूम्रपान की नलिका या हुक्का आदि रखना, अथवा वस्त्र, स्थान आदि को धूप देना); ४६. वमन (औषध आदि ले कर वमन—कै करना), ४७. वस्तिकर्म (गुह्यस्थान द्वारा तेल, गुटिका या एनिमा आदि से मलशोधन करना),

४८. विरेचन (विना कारण औषध आदि द्वारा जुलाब लेना), ४९. अंजन (आँखों में अंजन—सुरमा या काजल आदि आंजना या लगाना), ५०. दंतवन—दांतुन करना, अथवा दांतों को मिस्सी आदि लगाकर रंगना), ५१. गात्राभ्यंग—(शरीर पर तेल आदि की मालिश करना), और ५२. विभूषण (शरीर की वस्त्राभूषण आदि से साजसज्जा—विभूषा करना) ।। ९ ।।

विवेचन—औद्देशिक आदि ५२ अनाचरित—प्रस्तुत ८ गाथाओं (२ से लेकर ९ गा. तक) में 'औद्देशिक' से लेकर 'विभूषण' तक साधु-साध्वियों के लिए अनाचरणीय, अग्राह्य, असेव्य ५२ अनाचीर्णो का उल्लेख किया गया है ।

औद्देशिक आदि शब्दों की व्याख्या—औद्देशिक व्याख्या—निर्ग्रन्थ साधुसाध्वी को अथवा परिव्राजक श्रमण, निर्ग्रन्थ, तापस आदि सभी को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, पानी, वस्तु या मकान आदि औद्देशिक कहलाता है । इस प्रकार का उद्दिष्ट भोजनादि निर्ग्रन्थ साधुसाध्वियों के लिए अग्राह्य और असेव्य होता है ।[८]

क्रीतकृत : दो अर्थ—(चूर्णि के अनुसार—जो वस्तु खरीद कर दी जाए, (२) वृत्ति के अनुसार—जो वस्तु साधु के लिए खरीदी गई हो, वह क्रीत और जो खरीदी हुई वस्तु से कृत—बनी हुई हो, वह क्रीतकृत । क्रीतकृत दोष साधु के लिए उसमें होने वाली हिंसा की दृष्टि से वर्जनीय है ।[९]

नियाग-दोष : कहाँ और कहाँ नहीं ?—वैसे तो आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि में नियागशब्द का प्रयोग मोक्ष, संयम या मोक्षमार्ग अर्थ में हुआ है, परन्तु अनाचार के प्रकरण में नियाग एक प्रकार का आहार-ग्रहण से सम्बन्धित दोष है, जिसका चूर्णियों और टीका में अर्थ किया गया है—आदरपूर्वक निमंत्रित होकर किसी एक नियत घर से प्रतिबद्ध होकर प्रतिदिन भिक्षा लेना । जैसे—किसी भावुक भक्त ने साधु से कहा—'भगवन् ! आप मेरे यहाँ प्रतिदिन भिक्षा लेने का अनुग्रह करना' इसे स्वीकार कर भिक्षु उस भिक्षा को ग्रहण करता है वहाँ नियाग-नित्यपिण्ड दोष है । निमंत्रण में साधु को आहार अवश्य देने की बात होने से स्थापना, आधाकर्म, क्रीत और प्रामित्य (उधार लेना) न्यौता देने वाले गृहस्थ के प्रति रागभाव, न देने वाले के प्रति द्वेषभाव आदि दोषों की संभावना होने से नियाग को दोष बताया है । निशीथ सूत्र में 'नियाग' के बदले 'नित्यअग्रपिण्ड' (णितियं अग्गपिण्डं) का प्रायश्चित्त बताया है । वहाँ आमंत्रण और प्रेरणापूर्वक वादा करके जो नित्य अग्र (सर्वप्रथम दिया जाने वाला) पिण्ड लिया जाता है, वह अग्राह्य एवं प्रायश्चित्तयोग्य दोष है, किन्तु सहज भाव से भिक्षा में प्राप्त भोजन नित्य लिया जाए तो नित्यपिण्ड दोष नहीं माना जाता । नियाग का अनाचार प्रकरण में शब्दशः अर्थ होता है—नि+याग, अर्थात् जहाँ यज—दान

---

८. (क) "उद्दिस्स कज्जइ तं उद्देसियं साधुनिमित्तं आरम्भोत्ति वुत्तं भवति ।" —जि. चू. पृ. १११
(ख) उद्देसियंति उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशस्तत्र भवमौद्देशिकम् । —हारिवृत्ति. पत्र ११६

९. (क) कीतकडं—जं किणिऊण दिज्जति ।—अगस्त्य चूर्णि. पृ. ६०
(ख) क्रयणं क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः । साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते तेन कृतं क्रीतकृतम् ।
—हारि. वृत्ति, पत्र ११६

निश्चित हो, वहाँ नियाग दोष है। णियाग (नियाग) का णीयग्ग (नित्याग्र) रूपान्तर भी मिलता है।[१०]

अभिहृत : विशेष अर्थ—साधु के निमित्त, उसे देने के लिए गृहस्थ द्वारा अपने गाँव, घर आदि से उसके सम्मुख लाई हुई वस्तुएँ लेना। इसमें आरम्भादि दोषों की संभावना है।[११]

रात्रिभक्तः—(१) पहले दिन, दिन में लाकर दूसरे दिन, दिन में खाना, (२) दिन में लाकर रात्रि में खाना, (३) रात्रि में लाकर दिन में खाना, और (४) रात्रि में लाकर रात्रि में खाना। ये चारों ही विकल्प रात्रिभोजन दोष के अन्तर्गत होने से वर्जनीय हैं।[१२]

स्नान : दो प्रकार—(१) देशस्नान, और (२) सर्वस्नान। दोनों ही तरह के स्नान अहिंसा की दृष्टि से वर्जित हैं।[१३]

गन्ध-माल्य—गन्ध—इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ और माल्य—पुष्पमाला। गन्ध और माल्य दोनों शब्दों का यहाँ पृथक् पृथक् प्रयोग हैं।, पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय आदि जीवों की हिंसा, विभूषा और परिग्रह आदि की दृष्टि से वर्जित और अनाचरणीय हैं।[१४]

बीजन : व्याख्या—व्यजन—पंखा, ताड़वृन्त, व्यजन मयूर पंख आदि किसी से भी हवा करना, हवा लेना या ओदनादि को ठंडा करने के लिए हवा करना व्यजन दोष है। ऐसा करने से सचित्त वायुकायिक जीव मारे जाते हैं, संपातिम जीवों का हनन होता है।[१५]

सन्निधि : व्याख्या—सन्निधि का अर्थ है—संचय—संग्रह करना। खाद्य वस्तुएँ तथा औषध-भैषज्य आदि का लेशमात्र या लेपमात्र भी संचय न करें, ऐसी शास्त्राज्ञा है। यहाँ तक कि भयंकर, दुःसाध्य रोगातंक उपस्थित होने पर भी औषधादि का संग्रह करना वर्जित है; संग्रह करने से गृद्धि या लोभवत्ति बढ़ती है।[१६]

---

१०. (क) नियागं नाम निययत्ति वुत्तं भवइ, तं तु यदा आयरेण आमंतिओ भवइ। —जि. चू., पृ. १११
(ख) नियागं-प्रतिणियतं जं निब्बंधकरणं, ण तु जं अहासमावत्तीए दिणेदिणे भिक्खागहणं —अ. चू., पृ. ६०
(ग) नियाणमित्यामंत्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं, न तु अनामंत्रितस्य हा. व., प. ११६
(घ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. ६७

११. (क) "अभिहडं—जं अभिमुहाणीतं उवस्सए आणेऊण दिण्णं।" —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६०
(ख) "स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम्।" —हारि. वृत्ति, पत्र ११६

१२. अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६०

१३. जि. चू. पृ. ११२

१४. जिन. चूर्णि पृ. ११२

१५. जिन. चूर्णि. पृ. ११२

१६. (क) सन्निहिं च न कुव्वेजा लेवमायाए (अणुमायं पि) संजए।' उत्तरा. ६।१५, दशवै. ८।२४
(ख) प्रश्नव्याकरण २।५

गृहि-अमत्र :—गृहस्थ के बर्तन में भोजन या पान करना या उसका उपयोग करना अनाचीर्ण इसलिए है, कि गृहस्थ बाद में उन वर्त्तनों को सचित्त पानी से धोए तो उसमें जल का आरम्भ होगा, जल यत्र-तत्र गिरा देने से अयतना होगी, जीवहिंसा होगी। इसलिए गृहस्थों के बर्तन में भोजन-पान करने वाले को आचार-भ्रष्ट कहा है। दूसरे, गृहस्थ के बर्तन धातु के होते हैं, खो जाने या चुराये जाने पर उसकी क्षतिपूर्ति करना साधु के लिए कठिन होता है।[17]

राजपिण्ड किमिच्छक : दो या एक अनाचारी : व्याख्या—मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से आहार लेने में अनाचीर्ण इसलिए बताया है कि अनेक राजा अव्रती तथा मांसाहारी होते हैं। उनके यहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विवेक प्रायः नहीं होता। दूसरे, राजपिण्ड अत्यन्त गरिष्ठ होता है, इस दृष्टि से मुनि के रसलोलुप तथा संयमभ्रष्ट होने का खतरा है। 'किमिच्छक' का अर्थ है—जिन दानशालाओं आदि में 'तुम कौन हो?, क्या चाहते हो? इत्यादि पूछ कर आहार दिया जाता है, उसे ग्रहण करना अनाचीर्ण है, क्योंकि एक तो उसमें उद्दिष्ट दोष लगता है, दूसरे भिक्षा के दोषों से बचने की सम्भावना नहीं रहती। दोनों चूर्णियों के अनुसार—राजपिण्ड और किमिच्छक, ये दो अनाचार न होकर, एक अनाचार है। राजा याचक को, वह जो चाहता है, देता है, वहाँ किमिच्छक—राजपिण्ड नामक अनाचार है। निशीथचूर्णि में बताया है कि सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाहसहित जो राजा राज्यभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण और उपभोग करने से चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[18]

संबाधन : संवाहन : अर्थ और प्रकार—इसका अर्थ है—मर्दन। यानी शरीर दाबना या दबवाना ये दोनों ही रागवर्द्धक हैं। इसके चार प्रकार हैं—अस्थि (हड्डी), मांस, त्वचा और रोम, इन चारों को सुखप्रद या आनन्दप्रद।[19]

सम्पृच्छना : दो रूप : पांच अर्थ—(१) सम्पृच्छा—(क) गृहस्थ से अपने अंगोपांगों की सुन्दरता के बारे में पूछना, (ख) गृहस्थों से सावद्य—आरम्भ सम्बन्धी प्रश्न पूछना अथवा गृहस्थों से कुशलक्षेम पूछना, (ग) रोगी से तुम कैसे हो, कैसे नहीं? इत्यादि कुशल प्रश्न पूछना; (घ) अमुक ने यह कार्य किया या नहीं? यह दूसरे व्यक्ति (गृहस्थ) से पुछवाना, (२) **संप्रोञ्छक या सम्प्रोञ्छणा**—(च) शरीर पर गिरी हुई रज को पोंछना या पोंछवाना। इसे सावद्य, असत्य, विभूषा, आदि का पोषक होने से अनाचार कहा गया है।[20]

---

१७. (क) 'परमत्ते अन्नपाणं ण भुंजे कयाइ वि।' —सूत्र. १।९।२० (ख) दशवै. अ. ६।५२
१८. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. ३९
(ख) "मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिंडो। रायपिंडे-किमिच्छए-राया जो जं इच्छति तस्स तं देति-एस रायपिंडो किमिच्छत्तो। तेहिं णियत्तणत्थं—एसणारक्खणाय एतेसिं अणातिण्णो।"—अगस्त्यचूर्णि पृ. ६०
(ग) जे भिक्खं रायपिंडे गेण्हति गेण्हंतं वा (भुंजति भुजंतं वा) सातिज्जति।
(घ) दशवै. (मु. नथमलजी) पृ. १८ —निशीथ ९।१-२
१९. संवाहणा नाम चउव्विहा भवति, तं० अट्ठिसुहा, मंससुहा तयासुहा रोमसुहा। —जि. चू. पृ. ११३
२०. (क) 'संपुच्छणा नाम अप्पणो अंगावयवाणि आपुच्छमाणो परं पुच्छइ।' —जि. चू. पृ. ११३
(ख) अहवा गिहीण सावज्जारम्भा कता पुच्छति। —अगस्त्य चूर्णि पृ. ६०
(ग) गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छनं —सू. १।९।२१ टीका
(घ) अण्णे ग्लानं पुच्छति—किं ते वट्टति। —सू. १।९।२१ चूर्णि।
(ङ) संपुच्छण णाम किं तत्कृतं, न कृतं वा पुच्छावेति —सू. १।९।२१ चू.।
(च) संपुंछणो—कहिंचि अंगे रयं पडितं पुंछति लूहेति। —अ. चू. पृ. ६०

देहप्रलोकन : विशेषार्थ—दर्पण, पात्र, पानी, तेल, मधु, घृत, मणि, खड्ग एवं रात्र आदि में अपना चेहरा आदि देखना देह-प्रलोकन है, निशीथ में निर्ग्रन्थ के ऐसा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।[२१]

अट्ठावए : दो रूप : तीन अर्थ—(१) अष्टापद—(१) द्यूत, अथवा विशेष प्रकार का द्यूत-शतरंज (२) अर्थपद (क) गृहस्थ के आश्रित अर्थनीति आदि के विषय में बताना, अथवा गृहस्थ को सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि के विषय में भविष्यकथन करना अथवा सूत्रकृतांग के अनुसार—प्राणि-हिंसाजनक शास्त्र या कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि या द्यूत-क्रीड़ाविशेष का नाम अष्टापद है, उसे सिखाना अनाचार है।

नालिका—द्यूत का ही एक विशेष प्रकार जिसमें पासों को नालिका द्वारा डालकर जुआ खेला जाता है।[२२]

छत्रधारण—(निष्प्रयोजन) वर्षा, आतप, महिमा, शोभा (बड़प्पन)—प्रदर्शन आदि कारणों से छत्र (छाता) धारण करना अनाचार है, किन्तु स्थविरकल्पी साधु के लिए प्रगाढ़ रोग आदि की अवस्था में या स्थविर (वृद्ध-अशक्त एवं ग्लान) के लिए छत्र-धारण करना अनाचार नहीं, यह अपवाद है।[२३]

चैकित्स्य—अर्थात् व्याधि का प्रतीकार, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण आदि शास्त्रों का मुख्य स्वर निर्ग्रन्थ साधुसाध्वियों के लिए चिकित्सा न करने, कराने तथा चिकित्सा का अभिनन्दन तक न करने का रहा है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि श्रमणोपासक के लिए बारहवें व्रत में साधु को औषध-भैषज्य से भी प्रतिलाभित करने का विधान है। यदि चिकित्सा करना—कराना अनाचीर्ण है तो यत्र-तत्र निर्ग्रन्थों के औषधोपचार एवं रोगशमन की चर्चा मिलती है, उसके साथ इसकी संगति कैसे होगी ? अतः परम्परागत अर्थ इस प्रकार किया गया कि जिनकल्पी मुनि के लिए तो चिकित्सा कराना निषिद्ध है, किन्तु स्थविरकल्पी के लिए विधिपूर्वक निरवद्य उपचारों से

---

२१. (क) हारि वृत्ति. पृ. ११७, (ख) निशीथ. १३।३१ से ३८ गा.

२२. (क) अष्टापदं द्यूतम्, अर्थपदं वा गृहस्थमधिकृत्य नीत्यादिविषयम्। —हा. वृत्ति. ११७ पृ.
(ख) 'अट्ठावयं न सिक्खिज्जा"। —सूत्र कृ. टीका १।९।१७, पत्र १८१
(ग) निशीथ भाष्य गा. ४२८ पृ.
(घ) हा. टी. पृ. ११७

२३. (क) आतपादिनिवारणाय छत्रं....तदेतत्सर्वं कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। — सूत्र. १।९।१८ टीका
(ख) छत्रस्य लोकप्रसिद्धस्य च धारणमात्मानं परं वा प्रति अनर्थाय इति आगाढग्लानाद्यालम्बनं मुक्त्वा अनाचरितम्। —हा. टी. पत्र ११७
(ग) 'अकारणे धारिउं न कप्पइ, कारणेण पुण कप्पति' —जि. चूर्णि पृ. ११३
(घ) 'थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा।' —व्यवहार ८।५

चिकित्सा करना-कराना निषिद्ध नहीं, किन्तु कन्दमूल, फल, फूल, बीज हरित वनस्पति छाल आदि का उच्छेदन करके उसे पका करके मुनि की सावद्य चिकित्सा करनी-करानी नहीं चाहिए। इस दृष्टि से सावद्य चिकित्सा करना-कराना ही अनाचार है।[२४]

इसके अतिरिक्त शरीर को बलवान् एवं पुष्ट बनाने के लिए घृतपानादि आहारविशेष करना या रसायन आदि सेवन करना भी अनाचीर्ण है। सूत्रकृतांग में इसका सर्वथा निषेध किया गया है। चैकित्स्य का एक अर्थ—वैद्यकवृत्ति—गृहस्थों की चिकित्सा करना भी है; जो कि अनाचरणीय है।[२५]

उपानत्-धारण : चार अर्थ—पादुका, पादरक्षिका, पादत्राण अथवा पैरों के मौजे। निष्कर्ष यह है कि काष्ठ या चमड़े आदि के जूते धारण करना साधु के लिए सर्वथा अनाचरणीय है, जिनदास महत्तर एवं हरिभद्रसूरि के अनुसार शरीर की अस्वस्थ अवस्था में पैरों के या चक्षुओं के दुर्बल होने पर या आपत्काल में जूते (चमड़े या काष्ठ के सिवाय) धारण किये जा सकते हैं।[२६]

ज्योति समारम्भ—ज्योति—अग्नि, उसका समारम्भ करना अनाचीर्ण है; क्योंकि अग्नि को उत्तराध्ययनसूत्र में अत्यन्त प्राणिनाशक, सर्वत्र फैलने वाली, अति तीक्ष्ण, प्राणियों के लिए आघात-जनक एवं पापकारी शस्त्र कहा गया है। इसलिए अग्नि के आरम्भ को दुर्गतिवर्धक दोष मान कर उसका यावज्जीवन के लिए साधुवर्ग त्याग करे। अग्निसमारम्भ में अग्नि के अन्तर्गत उसके समस्त रूप—अंगार, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात (मशाल), शुद्ध अग्नि और उल्का आदि सभी आ जाते हैं। प्रकारान्तर से अग्नि से आहारादि पकाना-पकवाना, अग्नि जलाना-जलवाना, प्रकाश

---

२४. (क) तेगिच्छं—रोगपडिकम्मं। —अगस्त्य. चूर्णि पृ. ६१
(ख) चैकित्स्यं—व्याधिप्रतिक्रियारूपमनाचरितम्। —हारि. वृत्ति पत्र ११७
(ग) देखिये उत्तराध्ययनसूत्र में चिकित्सा न करने-कराने का विधान ——अ. २-३२-३३
अ. १९। गा. ७५-७६,७८,७९; उत्तरा. १५-८
(घ) आचा. ९-४-१ मूल तथा टीका, पत्र २८४
(ङ) सूत्रकृतांग १-९-१५ टीका (च) उपासकदशांग १-५
(छ) प्रश्न सं. ५ (ज) भगवती शतक १५, पृ. ३९३-३९४

२५. (क) येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशूनः सन् आ—समन्तात् शूनीभवति—बलवानुपजायते तदाऽऽशूनीत्युच्यते॥ —सूत्रकृ.
(ख) "मंतं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं……… तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू।" —उत्त. १५-८
(ग) "जे भिक्खू तेगिच्छापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा सातिज्जति।" —निशीथ १३-६९

२६. (क) उपानहौ काष्ठपादुके—सूत्र. टीका १-९-१८, पत्र १८१
(ख) 'पादरक्षिकाम्'—भगवती २-१ टीका, (ग) उवाहणा पादत्राणम्। —अग. चूर्णि पृ. ६१
(घ) "तथोपानहौ पादयोरनाचरिते, पादयोरिति साभिप्रायकं, न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन।" —हारि. वृत्ति पत्र ११७
(ङ) "……… दुव्वलपाओ चक्खुदुव्वलो वा उवाहणाओ आविंधेज्जा ण दोसो भवइ त्ति।…… ……असमत्थेण पओयणे उप्पण्णे पाएसु कायव्वा, ण उण सेसकालं।" —जि. चू., पृ. ११३

करना, बुझाना आदि भी ज्योति समारम्भ अनाचार के अन्तर्गत है; इनसे अग्निकायिक जीवों की हिंसा होती है।[२७]

शय्यातरपिण्ड : (सेज्जायरपिंडं) तीन रूप : अर्थ एवं व्याख्या—(१) शय्यातर—श्रमणवर्ग को शय्या देकर भवसमुद्र तरनेवाला, (२) शय्याधर—शय्या (वसति) का धारक (मालिक), और (३) शय्याकर—शय्या (उपाश्रय, स्थानक आदि) को बनाने वाला। 'शय्यातर' शब्द वर्तमान में प्रचलित है, उसका पिण्ड-आहार इसलिए वर्जित एवं अनाचीर्ण बताया गया कि उस पर साधु को स्थान प्रदान करने के उपरांत आहारादि देने का भी बोझ न हो जाए तथा उसको साधुओं के प्रति अश्रद्धा अभक्ति न हो जाए। शय्यातर का आहार लेने से वह भक्तिवश साधु के लिए बनाकर दोषयुक्त आहार भी दे सकता है। अतः यह उद्गमशुद्धि आदि की दृष्टि से भी वर्जनीय है। शय्यातर किसे और कब से माना जाए ? इस विषय में निशीथ भाष्य में विभिन्न आचार्यों के मतों का संकलन किया गया है, यथा—(१) उपाश्रय, स्थान या मकान का स्वामी या स्वामी की अनुपस्थिति में उसके द्वारा संदिष्ट मकान का संरक्षक। (२) उपाश्रय की आज्ञा देते ही शय्यातर हो जाता है, (३) गृहस्वामी के मकान के अवग्रह में प्रविष्ट होने पर (४) आंगन में प्रवेश करने पर, (५) प्रायोग्य तृण (घास) ढेला आदि की आज्ञा लेने पर, (६) उपाश्रय (स्थानक) में प्रविष्ट होने पर, (७) पात्रविशेष के लेने तथा कुलस्थापना करने (अपने गच्छ (कुल) के किसी साधु को ठहराने) पर, (८) स्वाध्याय प्रारम्भ करने पर, (९) उपयोग सहित भिक्षाचरी के लिए निकल जाने पर, (१०) उक्त स्थानक में भोजन प्रारम्भ करने पर, (११) पात्र आदि भंडोपकरण उपाश्रय (स्थान) में रखने पर, (१२) दैवसिक आवश्यक (प्रतिक्रमण) कर लेने पर, (१३) रात्रि का पहला पहर बीत जाने पर, (१४) रात्रि का द्वितीय प्रहर व्यतीत होने पर, (१५) रात्रि का तीसरा प्रहर बीत जाने पर अथवा (१६) रात्रि का चौथा पहर (उस मकान में) बीतने पर शय्यातर होता है। भाष्यकार के मतानुसार साधुवर्ग रात में जिस उपाश्रय में सोए, और अन्तिम आवश्यक (प्रतिक्रमण) क्रिया कर ले, उस मकान का स्वामी शय्यातर है। शय्यातर के यहाँ से अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य होते हैं, लेकिन उसके यहाँ से तृण (घास), राख, बाजोट, पट्टा, पटिया आदि लिये जा सकते हैं।

---

२७. (क) 'जोई अग्गी, तस्स जं समारंभणं।' —अग. चूर्णि पृ. ६१
(ख) दशवै. ६-३२-३३, (ग) उत्तरा. ३५-१२
(घ) "पयण-पयावण-जलावण-विद्धंसणेहिं अगणिं ......।" —प्रश्नव्या. आस्रव. १-३

२८. (क) 'शय्या वसतिः (आश्रयः) तया तरति संसारमिति शय्यातरः—साधुवसतिदाता तत्पिण्डः।' —हारि. वृत्ति, पत्र ११७
(ख) जम्हा सेज्जं पडमाणिं छज्ज-लेप्पमादीहिं धरेति तम्हा सेज्जाधरो, अहवा सेज्जादाणपाहण्णतो अप्पाणं नरकादिसु पडंतं धरेति त्ति सेज्जाधरो। जम्हा सो सिज्जं करेति, तम्हा सो सिज्जाकरो भण्णति। सेज्जाए संरक्खणं संगोवणं जेण तरति काउं, तेण सेज्जातरो।—निशीथ भाष्य २। ४५-४६,
(ग) सेज्जातरो प्रभू वा, पभुसंदिट्ठो होति कातव्वो। —निशीथ भाष्य गा. ११४४
(घ) निशीथ भाष्य गा. ११४६-४७ (ङ) निशीथ भाष्य गा. ११४८,११५१,११५४

आसंदी : विशेष अर्थ—आसंदी एक प्रकार का बैठने का आसन, अथवा बैठने योग्य मांची, खटिया या पीढी, बेंत की कुर्सी को भी आसंदी कहते हैं। आसंदी पर बैठना इसलिए वर्जित है कि इस पर बैठने से प्रतिलेखनादि होना कठिन है। असंयम होने की सम्भावना है।

पर्यंक—जो सोने के काम में आए उसे पर्यक कहते हैं। आसन्दी, पलंग, खाट, मंच, आशालक, निषद्या आदि का प्रतिलेखन होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इनमें गम्भीर छिद्र होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना सम्भव नहीं होता है। अत: सर्वज्ञों के वचन को मानने वाला न इन पर बैठे, न ही इन पर सोए।[२९]

गृहान्तरनिषद्या—चूर्णि और टीका में इसका अर्थ किया है—घर में अथवा दो घरों के अन्तर (मध्य) में बैठना। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग आदि में गृहान्तर का अर्थ किया है—परगृह (स्वगृह—उपाश्रय या स्थानक से भिन्न परगृह—यानी गृहस्थ के घर) दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन में कहा गया है—'गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि कहीं न बैठे। यहाँ 'कहीं' का अर्थ किया है—'किसी घर, देवालय, सभा, प्याऊ आदि में।' बृहत्कल्पभाष्य में गृहान्तर के दो प्रकार बताए हैं—सद्भाव गृहान्तर (दो घरों का मध्य) और असद्भावगृहान्तर (एक ही घर का मध्य)। निष्कर्ष यह है कि गोचरी करते समय किसी गृहस्थ के घर में या सभा प्रपा आदि परगृह में या दो घरों के मध्य में (वृद्ध, रुग्ण, या तपस्वी के अतिरिक्त) मुनि का बैठना अनाचार है। अनाचार बताने का कारण यह है कि इससे ब्रह्मचर्य पर विपत्ति आती है, प्राणियों का वध होता है, दीन भिक्षार्थियों को बाधा पहुँचती है, गृहस्थों को क्रोध उत्पन्न होता है और कुशील की वृद्धि होती है।[३०]

गात्र-समुद्वर्तन—इसका अर्थ प्रसिद्ध है। दशवैकालिक में ही छठे अध्ययन में कहा गया है—"संयमी साधु चूर्ण, कल्क, लोध्र आदि सुगन्धित पदार्थों का अपने शरीर के उबटन (पीठी आदि) के

---

२९. (क) 'आसन्दीत्यासनविशेष:।' सूत्र कृ. टीका १।९।२१ प. १८२
(ख) आसन्दिकामुपवेशनयोग्यां मंचिकाम्। सू.—१।४।२।१५ टीका पत्र १८२
(ग) "स्याद्वेत्रासनमासन्दी।" अभिधानचिन्तामणि ३।३४८
(घ) पर्यंकशयनविशेष:। —सू. १।९।२१ टीका
(ङ) दशवै. ६।५४-५६
(च) आसंदीपलियंके……तं विज्जं परिजाणिया। —सू. १।९।२१

३०. (क) गृहमेव गृहान्तरम् (गृहस्यान्तर्मध्ये), गृहयोर्वा मध्ये (अपान्तरालं) तत्र उपवेशनं। (निषद्यां वा आसनं वा) संयमविराधनाभयात् परिहरेत्। —हारि. वृत्ति, पृ. ११७, सू. १।९।२१, टीका प. १२८
(ख) गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्वं कत्थइ—घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि। —जि. चू. पृ. १९५
(ग) साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्ट: सन् परो—गृहस्थस्तस्य गृहं-परगृहं, तत्र न निषीदेत्—नोपविशेत्। —सू. १।९।२९ टीका पत्र १८४
(घ) मध्यं (गृहान्तरं) द्विधा—सद्भावमध्यमसद्भावमध्यम्। सद्भावमध्यं नाम-यत्र गृहपतिर्गृहस्य पार्श्वेन गम्यते आगम्यते वा छिण्डिकया।

लिए कदापि सेवन नहीं करते, क्योंकि शरीरविभूषा सावद्यबहुल है। इससे गाढ़ कर्मबन्धन होता है।[३१]

गिहिणो वेयावडियं : दो रूप (१) **गृहस्थ-वैयापृत्य**—(१) गृहस्थ का व्यापार करना, (२) उनके उपकार के लिए उनके कर्म (कृषि व्यापार आदि) को स्वयं करना, (३) असंयम का अनुमोदन करने वाला गृहस्थ का प्रीतिजनक उपकार करना, (४) गृहस्थों के साथ अन्न-पानादि का संविभाग करना, (५) गृहस्थों का आदर करने में प्रवृत्त होना, (२) **गृहस्थ-वैयावृत्य**—(६) गृहस्थ की शारीरिक सेवा-शुश्रूषा करना, (७) अथवा गृहस्थ को दूसरे के यहाँ से आहार-पानी, दवा आदि लाकर देना, (८) या गृहस्थ से शारीरिक सेवा लेना।[३२]

आजीववृत्तिता : स्वरूप, प्रकार एवं व्याख्या—आजीव शब्द का अर्थ है—आजीविका के साधन या उपाय और वृत्तिता का अर्थ है—उनके आधार पर वृत्ति (आहारादि भिक्षा) प्राप्त करना आजीववृत्तिता है। स्थानांग तथा दशवैकालिक चूर्णि आदि के अनुसार आजीव के ५ और व्यवहार भाष्य के अनुसार ७ प्रकार हैं। यथा—जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प, तथा तप और श्रुत। इन ७ प्रकार के आजीवों में से किसी भी आजीव का आश्रय लेकर आजीविका (भिक्षा या आहारादि) प्राप्त करना आजीववृत्तिता नामक अनाचार है। जाति आदि का कथन दो प्रकार से होता है—स्पष्ट शब्दों में, अथवा प्रकारान्तर से प्रकट करके। दोनों ही प्रकार से जाति आदि का कथन करना आजीववृत्तिता नामक अनाचरित है। यथा—मैं अमुक जाति (ब्राह्मण आदि जाति या मातृपक्ष) का हूँ, अथवा मैं अमुक कुल (उग्र, भोग आदि कुल या पितृपक्ष) का रहा हूँ, या गणादि गण या अमुक गच्छ, संघ या संघाटक) का हूँ, या मैं अमुक कर्म (कृषि, वाणिज्य आदि) अथवा अमुक शिल्प (बुनाई, सिलाई, आभूषण घड़ाई, लुहारी आदि) में बहुत कुशल था, अथवा मैं बहुत बड़ा तपस्वी या बहुश्रुत (ज्ञानी) हूँ, अथवा मैं अमुक लिंग—वेष वाला—साधु हूँ।" इस प्रकार जाति आदि के सहारे आजीविका या आहारादि भिक्षा प्राप्त करना आजीववृत्तिता है।[३३] सूत्रकृतांग में तो यहाँ तक बताया

---

३१. (क) दशवै. ६।६४-६७।
(ख) गातं सरीरं तस्स उव्वट्टणं अब्भंगणुव्वलणाईणि। —अ. चू. पृ. ६१

३२. (क) गृहस्थस्य वैयावृत्यम्। —हरि. वृत्ति प. ११७
(ख) "गिहीणं वेयावडियं जं तेसिं उपकारे वट्टति।" —अगस्त्य. चूर्णि पृ. ६१
(ग) '....जं गिहीण अण्णपाणादीहिं विसूरंताण विसंविभागकरणं एयं वेयावडियं भण्णइ,....वेयावडियं नाम तथाऽदरकरणं, तेसिं वा पीतिजणणं।' —जिनदास चूर्णि, पृ. ११४, ३७३
(घ) '....गृहस्थं प्रति अन्नादिसम्पादनम्;' 'गृहिणो-गृहस्थस्य वैयावृत्यं गृहिभावोपकाराय तत्कर्मसु आत्मनो व्यावृत्तभावं न कुर्यात्।' —हारि. वृत्ति पत्र ११७, २८१
(ङ) 'व्यावृत्तः-परिचारकः, तस्य कर्म वैयावृत्यं—परिचर्या।'

३३. (क) 'आजीवं-आजीविकाम्-आत्मवर्त्तनोपायाम्। —सू. कृ. १।१३।१२ टीका, पत्र २३७
(ख) 'जाति-कुल-गण-कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा।' —अ. चू. पृ. ६१
(ग) जाति कुले गणे वा, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव।
सत्तविहं आजीवं, उपजीवइ जो कुसीलो उ॥ —व्यवहार. भाष्य प. २५३

गया है कि जो भिक्षु अकिंचन और रूक्षजीवी है, उसका गौरव (सम्मान) प्रिय, अथवा प्रशंसाकामी होना—आजीव है। (आजीववृत्तिक) भिक्षु इस तत्त्व को नहीं समझता हुआ, पुनः पुनः भवभ्रमण करता है।" व्यवहारभाष्य में आजीव से जीने वाले भिक्षु को कुशील कहा गया है। तथा यह उत्पादना के १० दोषों में से एक है। निशीथभाष्य में आजीववृत्तिता से प्राप्त आहार का सेवन करने वाले को आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व, और विराधना का भागी बताया है। आजीववृत्ति से जीने वाला साधु जिह्वालोलुप बन जाता है। वह मुधाजीवी नहीं रहता। उसमें दीनवृत्ति आ जाती है।[३४]

तप्तानिर्वृत भोजित्व : विश्लेषण—तप्त और अनिर्वृत ये दोनों विशेषण मिश्र जल तथा वनस्पति के लिए यहाँ प्रयुक्त हैं। जो जल गर्म (तप्त) होने के बाद अमुक समयावधि के बाद ठंडा होने से सचित्त हो जाता है, उसे तप्तानिर्वृत जल कहते हैं। अगस्त्य सिंह चूर्णि के अनुसार ग्रीष्मकाल में एक अहोरात्र के पश्चात् तथा हेमन्त और वर्षा ऋतु में पूर्वाह्न में गर्म किया हुआ जल अपराह्न में सचित्त हो जाता है। तप्तानिर्वृत जल का एक अर्थ यह भी है कि जो जल गर्म तो हुआ हो, किन्तु पूर्णमात्रा में अर्थात्—तीन बार उबाल आया हुआ (त्रिदण्डोद्वृत्त) न हो वह तप्तानिर्वृत जल है। इसी शास्त्र में तप्तप्रासुक जल लेने की आज्ञा है। जल और वनस्पति सचित्त होते हैं, वे शस्त्रपरिणत होने या अग्नि में उबलने पर अचित्त हो जाते हैं। किन्तु जल और वनस्पति, यथेष्ट मात्रा में उबाले हुए न हों तो उस स्थिति में 'मिश्र' (कुछ सचित्त—कुछ अचित्त) रहते हैं। इस प्रकार के पदार्थों को तप्तानिर्वृत कहते हैं। तप्तानिर्वृत के साथ 'भोजित्व' शब्द है, इसलिए इसका सम्बन्ध 'भक्त और पान' दोनों से है। कुछ अनाज (धान्य) जो थोड़ी मात्रा में, कहीं भुने हुए हों, कहीं नहीं, वे भी 'तप्तनिर्वृत' भोजन हैं।[३५]

(घ) 'आजीववृत्तिता जात्याद्याजीवनेनात्मपालनेत्यर्थः इयं चानाचरिता।' —हा. टी., पत्र ११७

(ङ) जातिः ब्राह्मणादिका....अथवा मातुः समुत्था जातिः, कुलं-उग्रादि, अथवा पितृसमुत्थं कुलम्। कर्म-कृष्यादिः, अन्ये त्वाहुः-अनाचार्योपदिष्टं कर्म, शिल्पं-तूर्णन-सीवनप्रभृति, आचार्योपदिष्टं तु शिल्पमिति। गणः-मल्लादिवृन्दम्। —पिण्डनिर्युक्ति ४३८ टीका

(च) लिंगं—साधुलिंगं तदाजीवति, ज्ञानादिशून्यस्तेन जीविकां कल्पयतीत्यर्थः।
—स्था. ५।७१, टीका, प. २८९

(छ) मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कथयति। तपसः उपजीवना, क्षपकोऽहमिति जनेभ्यः कथयति। श्रुतोपजीवना-बहुश्रुतोऽहमिति। —व्यवहार भाष्य २५३ टीका

(ज) सा चाजीवना द्विधा-सूचया, असूचया च। तत्र सूचा वचनं भंगिविशेषेण कथनम् असूचा-स्फुटवचनेन।
—पिण्डनिर्युक्ति, ४३७ टीका

३४. (क) सूत्र कृ. १।१३।१२ (ख) उत्तरा. १५।१६ (ग) आवश्यक सूत्र (घ) निशीथ भाष्य गा. ४४१०

३५. (क) तत्तं पाणीयं तं पुणो सीतलीभूतंमनिव्वुडं भण्णइ तं च ण गिण्हे, रत्तिपज्जुसियं (अहोरत्तेण) सचित्तीभवइ, हेमन्तवासासु पुव्वण्हे कयं अवरण्हे सचित्तीभवति, एवं सचित्तं जो भुंजइ सो तत्तानिव्वुडभोई भवइ। —जिन. चूर्णि, पृ. ११४

(ख) 'जाव णातीव अगणिपरिणतं तं तत्त-अपरिणिव्वुडं।' अहवा तत्तमवि तिण्णिवारे अणुव्वत्तं अणिव्वुडं।
—अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६१

(ग) तप्ताऽनिर्वृतभोजित्वं—तप्तं च तदनिर्वृतं च-अत्रिदण्डोद्वृत्तं चेति विग्रहः। उदकमिति विशेषणाऽन्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं-मिश्रसचित्तोदकभोजित्वमित्यर्थः। —हा. टी., प. ११७

आउरस्सरणाणि : दो रूप : पांच अर्थ—(१) **आतुरस्मरणानि**—(१) क्षुधादि से पीड़ित होने पर पूर्वभुक्त वस्तुओं का स्मरण करना, (२) पूर्वभुक्त कामक्रीड़ा का स्मरण करना, (३) रोगातुर होने पर माता-पिता आदि का स्मरण करना, (२) **आतुरशरणानि**—(४) शत्रुओं द्वारा पीड़ित या भयभीत गृहस्थ को शरण (उपाश्रय में स्थान) देना, (५) रुग्ण होने पर स्वयं आतुरालय (आरोग्यशाला, हॉस्पिटल) में प्रविष्ट (भर्ती) होना। शत्रुओं से अभिभूत को शरण देना अनाचार इसलिए है कि जो साधु स्थान (आश्रय) देता है, उसे अधिकरण दोष होता है। साथ ही, उसके शत्रु के मन में प्रद्वेष उत्पन्न होता है। आरोग्यशाला में प्रविष्ट होना साधु के लिए अकल्पनीय होने से अनाचार है।[३६]

अनिर्वृत, सचित्त और आमक में अन्तर—यों तो तीनों शब्द एकार्थक हैं, किन्तु प्रक्रिया का अन्तर है। जिस वस्तु पर शस्त्रादि का प्रयोग तो हुआ है, पर जो प्रासुक (जीवरहित) नहीं हो पाई हो, वह अनिर्वृत है। जिस पर शस्त्रादि का प्रयोग ही नहीं हुआ है, अर्थात् जो वस्तु मूलत: ही सजीव हैं वह सचित्त है। आमक का अर्थ है—कच्चा, अपरिणत—अपरिपक्व अर्थात्—जो फलादि सूर्य की धूप, वायु आदि से पके नहीं हैं, वे आमक (सजीव) हैं। तीनों शब्द सामान्यत: सजीवता के द्योतक हैं।

इक्षुखण्ड : अनिर्वृत कब ?—जिस ईख में दो पोर मौजूद हों, वह इक्षुखण्ड या गंडेरी सचित्त ही रहता है, ऐसा चूर्णिद्वय और टीका का मत है।[३७]

कंद, मूल, बीज : विशेषार्थ—कंद का अर्थ है शक्करकंद सूरण आदि का ऊपरी भाग यानि कन्दिल जड़, और मूल का अर्थ है—इन्हीं की सामान्य जड़। जहाँ 'मूल-कन्द' शब्द का प्रयोग हो, वहाँ वह वृक्ष की जड़ और उसके ऊपर के भाग का द्योतक समझना चाहिए। बीज का अर्थ—गेहूँ, जौ, तिल आदि है जो उगने योग्य हों।[३८]

---

३६. (क) 'आतुरस्मरणानि····आतुरशरणानि वा।' —हारि. टीका, पृ. ११७-११८
(ख) 'क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणाणि।' —वही, टीका, पृ. ११७
(ग) छुहादीहिं परीसहेहिं आउरेणं सीतोदकादि-पुव्वभुत्तसरणं। —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६१
(घ) 'पूर्वक्रीडितस्मरणम्।' —सू. कृ. १।९।२१
(ङ) आतुरस्य रोगपीडितस्य स्मरणं हा तात ! हा मात: ! इत्यादिरूपम्।
—उत्तरा. १५।८ नेमि. टीका, प. २१७
(च) सत्तूहिं अभिभूतस्स सरणं देइ, सरणं नाम उवस्सए ठाणं ति वुत्तं भवइ। —जिन. चूर्णि, पृ. ११४
(छ) आतुरशरणानि वा दोषातुराश्रयदानानि। —हारि. टीका प. ११८
(ज) 'अहवा सरणं आरोग्गसाला, तत्थ पवेसो गिलाणस्स (मुणिस्स)।' —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ६१
(झ) 'तत्थ अधिकरणदोसा, पदोसं वा ते सत्तू जाएज्जा।' —अ. चूर्णि, पृ. ६१
(ञ) 'तत्थ न कप्पइ गिलाणस्य पविसिउं, एतमवि तेसिं अणाइण्णं।' —जिन. चूर्णि, पृ. ११४
३७. (क) अणिव्वुडं····पुण जीव-अविप्पजढं, 'आमगं अपरिणतं, सच्चित्तं।' —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६२
(ख) 'उच्छुखंडमवि दोसु पोरेसु वट्टमाणेसु अणिव्वुडं भवइ।' —जिन. चूर्णि
३८. (क) 'कन्दो वज्रकन्दादि:, मूलं च सट्टामूलादि।' —हारि. टीका, पत्र ११८
(ख) 'बीजा गोधूमतिलादिणो।' —जिन. चूर्णि, पृ. ११५

सौवर्चल आदि लवण—यहाँ ६ प्रकार के लवण सचित्त हों तो अग्राह्य बताए हैं—(१) सौवर्चल, (२) सैन्धव, (३) रोमा, (४) सामुद्र, (५) पांशुक्षार और (६) काला लवण। **सौवर्चल**—संचल नमक। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार उत्तरापथ के एक पर्वत की खान से निकलता था, वह सौवर्चल लवण है। सम्भव है इसे 'लाहौरी नमक' कहते हों। सैन्धव—सेंधा नमक, सिन्धु देश के पर्वत की खान से पैदा होने वाला नमक। आचार्य हेमचन्द्र इसे (सिन्धु) नदी में उत्पन्न होने वाला तथा हरिभद्र सूरि सांभर का नमक मानते हैं।[३९]

रोमालवण : अर्थ—रूमा देश में होने वाला, रूमाभव, सांभर का नमक या रुमा अर्थात् लवण की खान में उत्पन्न होने वाला। **सामुद्रलवण**—समुद्र के पानी को क्यारियों में भर कर जमाया जाने वाला नमक सामुद्र लवण, सांभर का लवण। **पांशुखार**—ऊपर जमीन से निकाला हुआ या खारी मिट्टी से निकाला हुआ क्षार नमक। **कालालवण**—चूर्णि के अनुसार—कृष्ण नामक, सैन्धव-पर्वत के बीच-बीच खानों में होने वाला अथवा दक्षिण समुद्र के निकट होने वाला।[४०]

धूवणेत्ति : तीन रूप : तीन अर्थ—(१) **धूमनेत्र**—मस्तिष्कपीड़ा का रोग न हो, इस दृष्टि से धूम्रपान करना, (२) **धूमवर्त्ति**—धूमपानार्थ उपयुक्त होने वाली वर्त्ति (शलाका) रखना, उस वर्त्तिका का एक पार्श्व घी आदि स्नेह से चुपड़ कर धूमनेत्र पर लगाया जाता था, और दूसरे पार्श्व पर आग लगाई जाती थी। यह धूमपान खांसी आदि को मिटाने के लिए वर्त्तिका द्वारा किया जाता था। (३) धूपन-रोग, शोक आदि से बचने के लिए या मानसिक आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग करना अथवा अपने वस्त्र, शरीर या मकान को धूप से सुवासित करना। ये सब अनाचीर्ण हैं।[४१]

---

३९. (क) 'उत्तरापहे पव्वतस्स लवणखाणीसु संभवति।' —जिन. चूर्णि, पृ. ६२
(ख) सोवच्चलं नाम सेंधवलोणपव्वयस्स अंतरंतरेसु लोणखाणीओ भवति।' जिन. चूर्णि, पृ. ११५
(ग) सेंधवं सेंधवलोणपव्वते संभवति। —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६२
(घ) 'सेंधवं तु नदीभवम्।' —अभि. चिं. ४।७
(ङ) (सेंधवं) लवणं च सांभरिलवणम्। —हारि. वृत्ति, पत्र ११८

४०. (क) "रुमालोणं रुमाविसए भवइ।" —जि. चू., पृ. ११५,
(ख) 'रुमा लवणखानिः स्यात्।' —अभिधानचिन्तामणि, ४-७
(ग) सामुद्दलोणं समुद्दपाणीयं, तं खड्डीए निग्गंतूण रिणभूमिए आरिज्जमाणं लोणं भवइ।' —जि. चू., पृ. ११५ (घ) 'सांभरीलोणं सामुद्दं' —अ. चू., पृ. ६२
(ङ) 'पांशुखारश्च ऊषरलवणं।' —हारि. टी., पत्र ११८ (च) 'तस्सेव सेन्धवपव्वयस्स अंतरतरेसु काललोणखाणीओ भवंति।' —जिन. चू., पृ. ११५ (छ) 'काललवणं सौवर्चलमेवागन्धं दक्षिण-समुद्रसमीपे भवति इत्याह।' —चरक. सू. २७-२९६, पाद टि. १

४१. (क) धूमं पिबति—"मा शिररोगातिणो भविस्संति आरोगपडिकम्मं। अहवा धूमणेत्ति धूमपानसलाका, धूवेति अप्पाणं वत्थाणि वा। —अग. चू., पृ. ६२ (ख) चरक., सूत्र, ५-२३
(ग) तथा नो शरीरस्स स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात्, नाऽपि कासाद्यपनयनार्थं तं धूमं योगवर्तिनिष्पादितमापिवेदिति।—सू. २-९-१५ टीका, पत्र २९९

विरेचन के तीन प्रयोग : वमन, वस्तिकर्म और विरेचन—वमन—ऊर्ध्वविरेक है, वस्तिकर्म मध्यविरेक है और विरेचन अधोविरेक। **वमन**—मदनफल आदि के प्रयोग से आहार को बाहर निकालना, पौष्टिक औषधिसेवन के पूर्व वमन करना आदि। **वस्तिकर्म**—वस्ति—चर्मनली, (वर्तमान में रबर-नली) के द्वारा कटिवात, अर्शरोग आदि को मिटाने के लिए अपानद्वार से तेल आदि चढ़ाना। विरेचन—जुलाब लेकर मल निकालना। ये तीनों आरोग्यप्रतिकर्म हैं। अतः प्रायश्चित्तसूत्र के अनुसार अरोगप्रतिकर्म की दृष्टि से तथा रूप, बल आदि को बनाए रखने की दृष्टि से वमनादि करना अनाचीर्ण एवं निषिद्ध कहा गया है।[४२]

दंतवणे : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **दन्तवन**—दांतों को वन यानी वनस्पति या वृक्षजन्य काष्ठ से साफ करना, (२) मंजन आदि से दांतों को साफ (पावन) करना। (३) दन्तवर्ण—दांतों को मिस्सी आदि लगा कर रंगना, दाँतों को विभूषित करना।[४३]

गात्राभ्यंग : विश्लेषण—शरीर का तेल, घृत, वसा, चर्बी अथवा नवनीत से मालिश या मर्दन करना, भिक्षु के लिए प्रायश्चित्तयोग्य अनाचरणीय कर्म है, ऐसा निशीथसूत्र का विधान है।[४४]

विभूसणे : विभूषा—शरीर को वस्त्र, आभूषण आदि से मण्डित करना, केश-प्रसाधन करना, दाढ़ी, मूंछ, नख आदि को शृंगार की दृष्टि से काटना, शरीर की साज-सज्जा करना आदि विभूषा है। विभूषा ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। इसी शास्त्र में विभूषा को १८ वाँ वर्ज्यस्थान तथा आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष कहा है। उत्तराध्ययन में नौवीं ब्रह्मचर्यगुप्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि विभूषा करने वाला साधु स्त्रीजन द्वारा प्रार्थनीय हो जाता है। स्त्रियों द्वारा अभिलषित होने से उसके ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा उत्पन्न

---

४२. (क) वमनं मदनफलादिना। —हा. टी., पत्र ११८
  (ख) वमनं ऊर्ध्वविरेकः। —सू. कृ. १-९-१२ टीका पत्र १८०
  (ग) वत्थी-णिरोहादिदाणत्थं चम्ममयो णालियाउत्तो कीरति, तेण कम्मं—अपाणाणं सिणेहादिदाणं वत्थिकम्मं। —अ. चू., पृ. ६२
  (घ) कडिवाय-अरिस-विणासणत्थं च अपाणद्दारेण वत्थिणा तेल्लादिप्पदाणं वत्थिकम्मं।
  —निशीथ भाष्य, गा. ४३३०, चूर्णि पृ. ३३२
  (ङ) वस्तिकर्म—पुटकेन अधिष्ठाने स्नेहदानम्। —हारि. वृत्ति, पत्र ११८
  (च) विरेयणं कसायादीहिं सोधणं। —अ. चू., पृ. ६२
  (छ) विरेचनं—निरूहात्मकमधोविरेको। —सू. १-९-१२, टी. १८०
  (ज) 'एतानि आरोग्गपडिकम्माणि रूव-बलत्थमणातिण्णं।' —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ६२
  (झ) प्रायश्चित्तयोग्य—वण्ण-सर-रूव-मेहा, वंग-वलीपलित-णासट्ठा वा।
  दीहाउ-तट्ठता वा, थूल-किसट्ठा व तं कुज्जा॥ —निशीथ भाष्य, गा. ४३३१
४३. (क) दन्ताः पूयन्ते—पवित्रीक्रियन्ते येन काष्ठेन तद्दन्तपावनम्। —प्रवचन. ४-२१०, टीका प. ५१
  (ख) दन्तप्रधावनम् चांगुल्यादिना क्षालनम् —हारि. टीका, पत्र ११७
  (ग) दंतमणं—दसणाणं (विभूसा) —अगस्त्य-चूर्णि, पृ. ६२
४४. निशीथ. ३-२४

हो जाती है और अन्त में या तो उसका ब्रह्मचर्य भग्न हो जाता है या वह उन्माद को प्राप्त हो जाता है, दीर्घव्याधिग्रस्त हो जाता है अथवा वह सर्वज्ञप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः ब्रह्मचारी के लिए विभूषात्याग अनिवार्य है। विभूषानुवर्ती भिक्षु चिकने कर्म बांधता है, जिसके कारण वह दुरुत्तर घोर संसारसागर में गिर जाता है।[४५]

निर्ग्रन्थों के लिए पूर्वोक्त अनाचीर्ण अनाचरणीय

२६. सव्वमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं।
संजमम्मि य जुत्ताणं लहुभूय विहारिणं॥ १०॥

[२६] 'जो संयम (और तप) में तल्लीन (उद्युक्त) हैं, वायु की तरह लघुभूत हो कर विहार (विचरण) करते हैं, तथा जो निर्ग्रन्थ महर्षि हैं, उनके लिए ये सब अनाचीर्ण (अनाचरणीय) हैं।' ॥ १०॥

विवेचन—ये सब अनाचीर्ण क्यों और किन के लिए?—प्रस्तुत गाथा में पूर्वोक्त ५२ अनाचारों का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने विशेष रूप से प्रतिपादित किया है कि ये सब अनाचीर्ण किन के लिए और क्यों हैं?

चार अर्हताओं से युक्त श्रमणवरों के लिए ये अनाचीर्ण—(१) संयम में युक्त, (२) लघुभूत विहारी, (३) निर्ग्रन्थ और (४) महर्षि या महैषी। इन चार अर्हताओं से युक्त श्रमणों के लिए ये आजीवन अनाचरणीय हैं। क्योंकि ये संयम के विघातक हैं।

विशेष बात यह कि पूर्वोक्त ५२ अनाचीर्णों में से कई अनाचीर्ण ऐसे भी हैं, जिन्हें सद्गृहस्थ भी वर्जित समझते हैं और उनसे दूर रहते हैं, तब फिर जिनका तप-संयम उच्च एवं उज्ज्वल है, वे महर्षि इन अनाचीर्णों से सर्वथा दूर रहें, इसमें आश्चर्य ही क्या?[४६]

संजमम्मि य जुत्ताणं : संयम में उद्युक्त—तत्पर या तल्लीन।[४७]

लघुभूतविहारी : (१) वायु की तरह अप्रतिबद्ध विहारी—द्रव्य (उपकरणों) से भी हल्के एवं भाव (कषाय) से भी हल्के होकर विचरण करने वाले, (२) मोक्ष के लिए विहार करने वाले, संयम में विचरण करने वाले।[४८]

---

४५. उत्तराध्ययन, अ. १६-११

४६. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ४७

४७. (क) हारि. वृत्ति, पत्र ११८

(ख) युक्त इत्युज्यते योगी : युक्तः समाहितः। गीता शांकरभाष्य ६-८, पृ. १७७

४८. (क) "लघुभूतो—वायुः, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणः।"
—हारि. वृत्ति, पत्र ११८

(ख) "लघुभूतो मोक्षः संयमो वा, तं गन्तुं शीलमस्येति लघुभूतगामी।"
—आचा. ३-४९, शीलांक वृत्ति, पत्र १४८

निर्ग्रन्थों का विशिष्ट आचार

२७. पंचासव-परिन्नाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ।। ११ ।।

२८. आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ।। १२ ।।

२९. परीसह-रिऊ-दंता, धुयमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ।। १३ ।।

[२७] (वे पूर्वोक्त) निर्ग्रन्थ पांच आश्रवों को भलीभांति जान कर उनका परित्याग करने वाले, तीन गुप्तियों से गुप्त, षड्जीवनिकाय के प्रति संयमशील, पांच इन्द्रियों का निग्रह करने वाले, धीर और ऋजुदर्शी होते हैं ।। ११ ।।

[२८] (वे) सुसमाहित संयमी (निर्ग्रन्थ) ग्रीष्म ऋतु में (सूर्य की) आतापना लेते हैं; हेमन्त ऋतु में अपावृत (खुले वदन) हो जाते हैं, और वर्षा-ऋतु में प्रतिसंलीन हो जाते हैं ।। १२ ।।

[२९] (वे) महर्षि परीषहरूपी रिपुओं का दमन करते हैं; मोह (मोहनीय कर्म) को प्रकम्पित कर देते हैं और जितेन्द्रिय (हो कर) समस्त दुःखों को नष्ट करने के लिए पराक्रम करते हैं ।। १३ ।।

विवेचन—अनाचीर्णत्यागी निर्ग्रन्थों की १४ आचार-अर्हताएँ—प्रस्तुत तीन गाथाओं (११-१२-१३) में पूर्वोक्त अनाचीर्णत्यागी निर्ग्रन्थ महर्षियों की आचार-अर्हताएँ प्रस्तुत की हैं। तात्पर्य यह है—जिनका आचार इतना कठोर होगा, जिन निर्ग्रन्थों की ऐसी कठोर आचारचर्या (प्रणाली) होगी, वे ही अनाचीर्णों से सर्वथा दूर रहने में सक्षम होंगे। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पंचाश्रव-परिज्ञाता—जिनसे आत्मा में कर्मों का आगमन होता है, वे आश्रव कहलाते हैं। वे आश्रव मुख्यतया पांच हैं—हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह। ये पांच आश्रव (आश्रव द्वार) हैं। वैसे आगमों में कर्मों के आश्रव (आगमन) के पांच कारण बताए हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। आश्रव के कारण होने से इन्हें भी आश्रव कहा जाता है। 'परिज्ञा' शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। उसके दो प्रकार हैं—'ज्ञपरिज्ञा' और 'प्रत्याख्यानपरिज्ञा।' जो पंचाश्रव के विषय में दोनों परिज्ञाओं से युक्त हैं वे ही पंचाश्रवपरिज्ञाता हो सकते हैं। ज्ञपरिज्ञा से पांचों आश्रवों का स्वरूप भलीभांति जाना जाता है, और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका परित्याग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जो पांचों आश्रवों को अच्छी तरह जान कर उन्हें त्याग चुका है, या उनका निरोध कर चुका है, वही पंचाश्रवपरिज्ञाता होता है। जो केवल आश्रवों को जानता है, और जानते हुए भी उनका आचरण करता है, वह पंचाश्रव-परिज्ञाता नहीं, अपितु बालकवत् अज्ञानी है।[४९]

---

४९. जिनदास. चूर्णि, पृ. ११६

'त्रिगुप्त'—मन, वचन और काया, इन तीनों की विषय-कषायों या पापों से रक्षा (गुप्ति) करना, क्रमशः मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। जिसकी आत्मा इन तीन गुप्तियों से रक्षित (गुप्त—निगृहीत) है, वह 'त्रिगुप्त' है।[५०]

'छसु संजया'—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय में, संसार के समस्त प्राणी अन्तर्गत हैं। जो साधक इन षड्जीवनिकायों के प्रति मन-वचन-काय से सम्यक् प्रकार से यत (यतनाशील) है, संयमी है, वह संयत है।[५१]

पंचनिग्गहणा—इन्द्रियाँ पांच हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय; इन पांचों इन्द्रियों का दमन करने वाले साधक 'पंचेन्द्रियनिग्रही' कहलाते हैं।[५२]

धीरा : तीन अर्थ—(१) जो बुद्धि से सुशोभित (राजित) हैं, वे धीर हैं, अर्थात्—जिनकी प्रज्ञा स्थिर है, (२) जो धैर्यगुण से युक्त हैं, और (३) जो शूरवीर, (संयम में पराक्रम करने में वीर) हैं।[५३]

उज्जुदंसिणो : ऋजुदर्शी : पांच अर्थ—(१) जिनदास महत्तर के अनुसार जो केवल ऋजु—संयम को देखते (ध्यान रखते) हैं, (२) जो स्वपर के प्रति ऋजुदर्शी—समदर्शी हैं; अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार—(३) ऋजुदर्शी—रागद्वेषपक्षरहित—(समत्वदर्शी) (४) अविग्रहगति-दर्शी, अथवा (५) मोक्षमार्ग-दर्शी। तात्पर्य यह है कि जो मोक्ष के सीधे-सरल मार्गरूप संयम को ही उपादेयरूप से देखते हैं, एकमात्र संयम से प्रतिबद्ध हैं, वे ऋजुदर्शी हैं।[५४]

निर्ग्रन्थों की ऋतुचर्या—ऋतुएँ मुख्यतया तीन हैं—ग्रीष्म, शीत (हेमन्त) और वर्षा। श्रमणनिर्ग्रन्थों की इन तीनों ऋतुओं की चर्या तपश्चरण एवं संयम से युक्त होती है। अगस्त्यचूर्णि में बताया है कि ग्रीष्मऋतु में श्रमण को स्थान, मौन एवं वीरासनादि विविध तप करना चाहिए, विशेषतः एक पैर से खड़े होकर सूर्य के सम्मुख मुख करके खड़े-खड़े आतापना लेनी चाहिए। जिनदास महत्तर ने 'ऊर्ध्वबाहु होकर उकडू आसन से आतापना लेने का अभिप्राय व्यक्त किया है।

---

५०. (क) 'मण-वयण-कायजोगनिग्गहपरा।' —अ. चू., पृ. ६३
(ख) त्रिगुप्ताः—मनोवाक्कायगुप्तिभिः गुप्ताः। —हारि. वृत्ति, पत्र ११८

५१. (क) छसु पुढविकायादिसु त्रिकरण-एकभावेण जता-संजता। —अ. चू., पृ. ६३
(ख) षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यताः। —हारि. वृत्ति, पत्र ११९

५२. 'सोतादीणि पंच इंदियाणि णिगिण्हंति।' —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६३

५३. (क) 'धीरा बुद्धिमन्तः स्थिरा वा।' —हारि. वृत्ति, पत्र ११९
(ख) "धीरा णाम धीरत्ति वा सूरेत्ति वा एगट्ठा।" —जिन. चूर्णि, पृ. ११६

५४. (क) उज्जू-संजमो··· तमेव एगं पासंतीति तेण उज्जुदंसिणो। अहवा उज्जुत्ति समं भण्णइ, सममप्पाणं परं च पासंतीति उज्जुदंसिणो। —जिन. चूर्णि, पृ. ११६
(ख) "··· उज्जू—रागदोसपक्खविरहिता, अविग्गहगती वा उज्जू—मोक्खमग्गो तं पस्संतीति उज्जुदंसिणो।" —अग. चूर्णि, पृ. ६३।
(ग) ऋजुदर्शिनः—संयमप्रतिबद्धाः। —हा. टी. पृ. ११९

जो वैसा न कर सकें, वे अन्य तप करें। हेमन्त ऋतु (शीतकाल) में अप्रावृत-अर्थात्—प्रावरण (चादर) से रहित होकर अग्नि तथा निर्वात स्थान के आश्रय से दूर रह कर तपोवीर्यसम्पन्न श्रमण प्रतिमास्थित होने चाहिए। तथा वर्षाऋतु में स्नेह—सूक्ष्मजल के स्पर्श से बचने के लिए, वह पवनरहित आवासस्थान में रहें, ग्रामानुग्राम विचरण न करें। तथा उन्हें अपनी इन्द्रियों और मन का आत्मा में संलीन करके एक स्थान में स्थित होकर, तपोविशेष में उद्यम करना चाहिए।[५५]

सुसमाहित संयत—जो संयमी साधु-साध्वी अपने सिद्धान्तों के प्रति भलीभांति समाधान-प्राप्त हैं, अथवा मन में सुनिश्चित हैं, वे सुसमाहित हैं, अथवा जिनका मन समाधि (अर्थात्—रत्नत्रय में अथवा श्रुत, विनय, आचार और तप रूप चार प्रकार की समाधि में) अचल है।[५६]

परीषहरिपुदान्त—मोक्षमार्ग से विचलित या भ्रष्ट न होने तथा कर्मनिर्जरा के लिए जिनका समभाव से सहन करना आवश्यक है, उन्हें परीषह कहते हैं। वे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि बाईस हैं। उन्हें रिपु (शत्रु) इसलिए कहा गया है कि वे दुर्दम हैं। उनके सम्पर्क से साधक के मोक्षमार्ग से च्युत होने की संभावना रहती है। किन्तु निर्ग्रन्थ इन परीषह-रिपुओं को भलीभांति जीत लेता है।[५७]

धुतमोह—मोह का अर्थ टीकाकार ने अज्ञान किया है, किन्तु मोह का अर्थ मोहनीय कर्म या मोह (आसक्ति) भी होता है। धुतमोहा का अर्थ है—जिन्होंने मोह को प्रकम्पित कर दिया है, मोह की जड़ें हिला दी हैं। उसे विक्षिप्त या पराजित कर दिया है।[५८]

सव्वदुक्खपहीणट्ठा—आशय—दुःख संसार में ही है, मोक्ष में नहीं। इसीलिए जन्म-मरणरूप संसार को दुःखमय बताया गया है। उन समस्त शारीरिक, मानसिक दुःखों के निवारण या विनाश के लिए महर्षि (अनन्तसुखमय मोक्ष के लिए) पराक्रम करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—

---

५५. (क) अगस्त्यचूर्णि, पृ. ६३
(ख) जिनदास चूर्णि, पृ. ११६
(ग) हारि. टीका, पत्र ११९
(घ) अगस्त्यचूर्णि, पृ. ६३
(ङ) 'तवा इंदिय—णोइंदिय पडिसंलीणा, विसेसेण सिणेहसंघट्टपरिहरणत्थं निवातलतणयता वासासु पडिसंलीणा ण गामाणुगामं दूतिज्जंति।" —अ. चू. पृ. ६३
(च) वासासु पडिसंलीणा नाम (एक) आश्रयस्थिता इत्यर्थः। तवविसेसेसु उज्जमंति, नो गमनपराइसु विहरंति। —जिन. चू. पृ. ११६

५६. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. ५०
(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा) भा. १, पृ. १८९

५७. 'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।' —तत्त्वार्थसूत्र ९-८, उत्तरा. अ. २

५८. (क) 'धुतमोहा' विक्षिप्तमोहा इत्यर्थः। मोहः अज्ञानम्। —हारि. टीका, पत्र ११९
(ख) मोहो—मोहणीयमण्णाणं वा। —अगस्त्य चू., पृ. ६४
(ग) धुयमोहा नाम विगतमोहत्ति वुत्तं भवइ। —जिन. चूर्णि, पृ. ११७
(घ) 'जो विहुणइ कम्माइं भावधुयं तं वियाणाहि' —आचारांग निर्युक्ति, गा. २५१

जन्म, जरा, रोग, मृत्यु आदि दुःख हैं। यह संसार ही दुःखरूप है, जहाँ प्राणी क्लेश पाते हैं।[५९] उत्तराध्ययनसूत्र में ही बताया है कि 'कर्म ही जन्म-मरण का मूल है, और जन्ममरण ही दुःख हैं।" इस वाक्य का तात्पर्य यह हुआ कि जितेन्द्रिय महर्षि जन्म-मरण के दुःखों, अर्थात्—उनके निमित्त-भूत कर्मों के क्षय के लिए पुरुषार्थ करते हैं। कर्मों का क्षय होने से समस्त दुःख स्वतः ही क्षीण हो जाते हैं।[६०]

शुद्ध श्रमणाचार-पालन का फल

> ३०. दुक्कराइं करेत्ता णं, दुस्सहाइं सहेत्तु य।
> केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥ १४ ॥
>
> ३१. खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
> सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडा ॥ १५ ॥
> —त्ति बेमि ॥

॥ खुड्डियायारकहा : तइयं अज्झयणं समत्तं ॥

[३०] दुष्कर (अनाचीर्णों का त्याग एवं आतापना आदि क्रियाओं) का आचरण करके तथा दुःसह (परीषहों और उपसर्गों) को सहन कर, उन (निर्ग्रन्थों) में से कई देवलोक में जाते हैं और कई नीरज (कर्मरज से रहित) होकर सिद्ध हो जाते हैं ॥ १४ ॥

[३१] (देवलोक से क्रमशः) सिद्धिमार्ग को प्राप्त, (स्व-पर के) त्राता (वे निर्ग्रन्थ) संयम और तप के द्वारा पूर्व—(संचित) कर्मों का क्षय करके परिनिर्वृत्त (मुक्त) हो जाते हैं ॥ १५ ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—दुष्कर और दुःसह आचरण का परिणाम—प्रस्तुत दो गाथाओं (१४-१५) में पूर्वोक्त अनाचीर्णों का त्याग एवं कठोर आचार का परिपालन करने वाले निर्ग्रन्थों को प्राप्त होने वाले अनन्तरागत और परम्परागत फल का निरूपण किया गया है।

दुक्कराइं करेत्ता—आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार—औद्देशिक आदि पूर्वोक्त अनाचीर्णों का त्याग आदि दुष्कर है, उसे करके। उत्तराध्ययनसूत्र में इसका विशद निरूपण है कि श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए क्या-क्या दुष्कर हैं ?'[६१]

दुस्सहाइं सहेत्तु—अगस्त्यचूर्णि के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में आतापना आदि श्रमणों के पूर्वोक्त आचार दुःसह हैं, उनको समभावपूर्वक सहन करके। जिनदास महत्तर के अनुसार—आतापना,

---

५९. जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य
अहो दुक्खो हु संसारे जत्थ कीसंति जंतवो ॥ —उत्तरा. अ. १९-१५

६०. कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति। —उत्तरा. ३२।७

६१. 'दुष्कराणि कृत्वा औद्देशिकादि—(अनाचीर्णादि) त्यागादीनि।' —हारि. वृत्ति, पत्र ११९

अकंडूयन, आक्रोश, तर्जना, ताड़ना आदि का सहन करना दु:सह है। तात्पर्य यह है कि श्रमण जीवन में जो अनेक दु:सह परीषह और दु:सह्य उपसर्ग आते हैं, उन्हें समभावपूर्वक सहन करे। दु:सह परीषहों और उपसर्गों के प्राप्त होने पर जो साधक क्षुब्ध एवं खिन्न होकर रोते-बिलखते दीनतापूर्वक सहन करते हैं, वे कर्मक्षय नहीं कर पाते, किन्तु जो उन्हें शान्तभाव से समभावपूर्वक किसी निमित्त को दोष न देते हुए सहन कर लेते हैं, वे पूर्वकृत कर्मों को क्षीण कर देते हैं।[६२]

दो परिणाम—पूर्वोक्त आचरण से कई निर्ग्रन्थ श्रमण, जिनके कर्मक्षय करने शेष रह गए हैं, वे पूर्वकृत शुभकर्मों के फलस्वरूप देवलोक में जाते हैं, किन्तु कई श्रमण, जो **नीरजस्क**, अर्थात्—आठों ही प्रकार के कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, वे उसके फलस्वरूप सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। सांसारिक जीवों की आत्मा में कर्मपुद्गलों की रज, कुप्पी में काजल की तरह ठूंस-ठूंस कर भरी हुई होती है, उसे पूर्ण रूप से सर्वथा बाहर निकालने (अष्टविधकर्म का आत्यन्तिक क्षय करने) पर आत्मा नीरज या **नीरजस्क** हो जाती है।[६३]

ताइणो सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता—जो साधक इसी भव में मोक्ष नहीं पाते, वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके अवशिष्ट कर्मों का क्षय करने हेतु मनुष्य भव में उत्पन्न होते हैं, जहाँ उन्हें इस प्रकार का उत्तम सुयोग मिलता है कि वे संसार से विरक्त होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष (सिद्धि) मार्ग को क्रमश: प्राप्त कर लेते हैं। निर्ग्रन्थ मुनि होकर षट्काय के त्राता (रक्षक) बन जाते हैं। यही इन विशेषणों का आशय है।[६४]

संयम और तप द्वारा कर्मक्षय क्यों और कैसे?—जब षट्काय के रक्षक, निर्ग्रन्थ मुनि मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होते हैं, तब उनका उद्देश्य पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करना और नये आते हुए कर्मों को रोकना ही रह जाता है। क्योंकि सर्वथा कर्मक्षय किये बिना वे नीरजस्क और मुक्त नहीं हो सकते। कर्मक्षय करने के दो ही अमोघ उपाय हैं—संयम और तप। संयम से नये कर्मों का आश्रव रुक जाता है, अर्थात्—संयम – संवर नूतन कर्मों के आश्रव (आगमन) को रोक देता है और तप पूर्वसंचित कर्मों को नष्ट कर देता है।

संयम और तप के द्वारा असंख्य भवों में संचित कर्म कैसे नष्ट हो जाते हैं? यह तथ्य उत्तराध्ययन में एक रूपक द्वारा समझाया गया है। जैसे किसी बड़े तालाब में पानी के आने के मार्ग को रोक देने पर, तथा पूर्वसंचित जल को उलीचने से और सूर्य के ताप लगने से वह जल क्रमश: सूख जाता है, उसी प्रकार पापकर्मों के आश्रव (आगमन) संयम (संवर) से रुक जाने पर बारह प्रकार के सम्यक् तप से संयमी पुरुष के भी करोड़ों भवों में संचित कर्म निर्जीर्ण (क्षीण) हो जाते हैं।

---

६२. (क) 'आयावयंति गिम्हेसु' एवमादीणि दुस्सहादीणि (सहेत्तु य) —अगस्त्य. चूर्णि पृ. ६४

(ख) आतापना—अकंडूयनाक्रोश-तर्जना-ताडनाधिसहनादीनि, दूसहाइं सहिउं। —जिन. चू. पृ. ११७

(ग) 'परीसहा दुव्विसहा अणेगे '' संगामसीसे इव नागराया।' —उत्तराध्ययन अ. २१।१७-१८

६३. 'णीरया नाम अट्ठ (विह) कम्मपगडी-विमुक्का भण्णंति।' —जिन. चूर्णि, पृ. ११७

६४. सिद्धिमग्गं दरिसण-नाण-चरित्तमतं अणुप्पत्ता। —अ. चू. पृ. ६४

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप सिद्धिमार्ग पर आरूढ़ निर्ग्रन्थ श्रमण की आत्मा संयम और तप की साधना से क्रमशः सर्वथा विशुद्ध—सर्वकर्मनिर्मुक्त हो जाती है।

परिनिव्वुडा—परिनिर्वृत्त होते हैं—जन्म, जरा, मरण, रोग आदि से सर्वथा मुक्त होते हैं, भवधारण करने में सहायक अघाति और घाति सर्वकर्मों का सब प्रकार से क्षय करके जन्ममरणादि से रहित हो जाते हैं, सर्वथा निर्वाण (सिद्धि—मुक्ति) को प्राप्त होते हैं।

।। तृतीयः क्षुल्लिकाचारकथा अध्ययन समाप्त ।। □

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

प्राथमिक

※ यह दशवैकालिक सूत्र का चतुर्थ अध्ययन है। इसका नाम 'षड्जीवनिका' अथवा 'षड्जीवनिकाया' है। इसका दूसरा नाम 'धर्मप्रज्ञप्ति' भी है,[1] जिसका उल्लेख प्रारम्भ में ही शास्त्रकार ने किया है। निर्युक्तिकार के मतानुसार यह अध्ययन आत्मप्रवाद (सप्तम) पूर्व से उद्धृत किया गया है।[2]

※ यह अध्ययन गद्य और पद्य दोनों में ग्रथित है। इसका गद्यविभाग प्रारम्भ में प्रश्नोत्तररूप में निबद्ध है।

※ इस अध्ययन के प्रारम्भ में समग्र विश्व के छह प्रकार (निकाय) के जीवों के स्वरूप और प्रकार का वर्णन होने से इसका नाम 'षड्जीवनिका' या 'षड्जीवनिकाया' रखा गया है। निर्युक्तिकार के अनुसार जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्मप्रज्ञप्ति, चारित्रधर्म, चरण और धर्म, ये छहों शब्द 'षड्जीवनिका' के पर्यायवाची हैं।[3]

※ परन्तु इससे आगे का वर्णन स्पष्टतः श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को व्यक्त करता है, इसलिए इसका दूसरा नाम 'धर्म-प्रज्ञप्ति' भी रखा गया है। वस्तुतः इस अध्ययन का 'धर्मप्रज्ञप्ति' नाम समग्र-अध्ययनस्पर्शी है और वह उचित भी है।

※ उसी के अन्तर्गत 'श्रुतधर्म' या सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान में 'षड्जीवनिकाय' का समावेश हो जाता है।

※ यह एक सैद्धान्तिक तथ्य है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना अथवा श्रुतधर्म के बिना चारित्र सम्यक् नहीं होता, सम्यक् चारित्र के बिना मोक्ष नहीं हो सकता।[4]

---

१. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १., पृ. १९८
(ख) "....अज्झयणं धम्मपन्नत्ती।" अ. ४, सू. १

२. 'आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।' दशवै. निर्युक्ति १।१६

३. जीवाजीवाभिगमो आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
ततो चरित्तधम्मो चरणे धम्मे य एगट्ठा ॥—दशवै. निर्युक्ति ४।२३३

४. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्खस्स निव्वाणं ॥ उत्तरा. अ. २८ गा. ३०

※ स्थानांगसूत्र में १० प्रकार के मिथ्यात्व का निरूपण है—जीव को अजीव, अजीव को जीव, धर्म (संवर-निर्जरारूप) को अधर्म और अधर्म को धर्म, साधु को असाधु और असाधु को साधु, अष्टविध कर्मों से मुक्त को अमुक्त और अमुक्त को मुक्त आदि जाने-माने और श्रद्धे तो मिथ्यात्व है। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण भी यही बताया गया है—जीवादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धान करना।[५] तत्त्व नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इन नौ तत्त्वों का मुख्य सम्बन्ध जीव से है। जीव न हो तो पुण्य-पाप आदि से लेकर मोक्ष तक के जानने मानने आदि का कोई प्रयोजन नहीं है। अजीव का ज्ञान तथा अजीवतत्त्व का श्रद्धान जीव से उसे पृथक् करने तथा जीव या जीवतत्त्व को निश्चित करने के लिए आवश्यक है।

※ इसी दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन में नौवें सूत्र तक सर्वप्रथम विश्व के समग्र जीवों को छह निकायों में विभक्त करके उनका स्वरूप, उनकी चेतना, उनके सुख-दुःख संवेदन, उनके प्रकार आदि का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यद्यपि पृथ्वीकाय आदि पांच प्रकार के एकेन्द्रिय (स्थावर) जीव लोकप्रसिद्ध नहीं हैं और साधारण छद्मस्थ साधक चर्मचक्षुओं से उनकी सजीवता का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता, तथापि सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर भगवन्तों के वचन पर श्रद्धा रख कर उनमें जीवत्व मानना, तथा युक्तियों एवं तर्कों से उनमें जीवत्व जानना सम्यग्दृष्टि साधक का कर्त्तव्य है, जिससे कि वह अहिंसादि महाव्रतों का सम्यक् पालन कर सके। इसके लिए आगे इसी अध्ययन में कोष्ठकान्तर्गत १२ गाथाएं जिनप्रज्ञप्त पृथ्वीकायादि षड्जीवनिकायों के जीवत्व (चैतन्य) के अस्तित्व की श्रद्धा करने वाले साधक को ही उपस्थापन के योग्य मानने के विषय में दी गई हैं।[६]

※ यद्यपि इस अध्ययन में अजीव का साक्षात् वर्णन नहीं है, तथाऽपि **'अन्नत्थ सत्थपरिणएणं'** आदि वाक्यों द्वारा तथा जीव-अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जान सकता है? इत्यादि गाथाओं द्वारा जीव-अजीव का यथार्थ ज्ञान तथा श्रद्धान अनिवार्य माना गया है।[७]

※ दसवें से १७वें सूत्र तक अहिंसादि चारित्रधर्म के पालन की प्रतिज्ञा का निरूपण है। हिंसा-अहिंसा का, सत्य-असत्य का, चौर्य-अचौर्य का, ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य का तथा परिग्रह-अपरिग्रह का आचरण जीव और अजीव के निमित्त से होता है, इसलिए जीव-अजीव का निरूपण करने के पश्चात् अहिंसादि चारित्रधर्म के स्वीकार का निरूपण है।

※ तत्पश्चात् १८वें से २३वें सूत्र तक पूर्वोक्त जीवों की यतना (अहिंसामहाव्रत से सम्बन्धित) का वर्णन है। फिर २४वीं से ३२वीं गाथा तक में यतना से पापकर्म के अबन्ध और अयतना से बन्ध का वर्णन है।

---

५. (क) दसविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते ते. धम्मे अधम्मसन्ना, जीवे अजीवसन्ना·····।''—स्थानांग, स्था. १०
(ख) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।'—तत्त्वार्थसूत्र अ. १. सू. २

६. पुढवीक्कातिए जीवे सद्दहती जो जिणेहि पण्णत्ते। अभिगतपुण्णपावो से हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥७॥
—दश. मू. पा., पृ. ७

७. ''जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ?'' —दश. मू. पा., अ. ४-३५, पृ. १६

※ उसके वाद ३३वीं गाथा से ३८वीं गाथा तक जीव-अजीव आदि से लेकर मोक्ष तत्त्व तक के सम्यग्ज्ञान-विज्ञान का अन्योन्याश्रित सम्वन्ध और महत्त्व वताया गया है। फिर ३९वीं गाथा से ४८वीं गाथा तक भोगों से निर्वेद से लेकर सिद्ध (मुक्त) होने तक की धर्मसाधना का निरूपण है।

※ अन्तिम गाथाओं में धर्माराधना के फल का दिग्दर्शन कराया गया है।[८]

※ नवदीक्षित साधु या साध्वी के लिए जीव से मोक्ष तत्त्व तक हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वों की सम्यक् ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र की दृष्टि से सम्यक् आराधना का निष्कर्ष इस अध्ययन में दे दिया गया है। साथ ही मोक्षमार्ग के अधिकारी साधक को इस मार्ग की आराधना करने की सांगोपांग विधि इसमें वता दी गई है। सिद्धि के आरोहक्रम को जानने की दृष्टि से यह अध्ययन अतीव उपयोगी है। □

---

८. जीवाजीवाहिगमो चरित्तधम्मो तहेव जयणा य।
उवएसो धम्मफलं छज्जीवणियाइ अहिगारा ॥ —दश. नि. ४-२१६

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

षड्जीवनिकाय : नाम, स्वरूप और प्रकार

३२. सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ॥ १ ॥

३३. "कयरा खलु सा छज्जीवणिया णामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ?" ॥ २ ॥

३४. इमा खलु सा छज्जीवणिया नामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती । तं जहा—पुढविकाइया १, आउकाइया २, तेउकाइया ३, वाउकाइया ४, वणस्सइकाइया ५, तसकाइया ६ ॥ ३ ॥

३५. पुढवि चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा* पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ४ ॥

३६. आउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ५ ॥

३७. तेउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ६ ॥

३८. वाउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ७ ॥

३९. वणस्सइ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीयरुहा सम्मुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया, चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥ ८ ॥

४०. से+ जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयजा जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं, आगइ-गइ-विन्नाया, जे य कीड-पयंगा, जा य कुंथु-पिवीलिया, सव्वे बेइंदिया, सव्वे तेइंदिया, सव्वे चउरिंदिया, सव्वे पंचिंदिया, सव्वे तिरिक्खजोणिया, सव्वे नेरइया, सव्वे मणुया, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमाहम्मिया । एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओत्ति पवुच्चइ ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तर—'अणेगे जीवा'

+ वृद्ध विवरण में अधिक पाठ—"तसा चित्तमंता अक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं ।"

—दशवै. मूलपाठ टिप्पणयुक्त, पृ. ७

[३२] (सुधर्मस्वामी अपने सुशिष्य जम्बूस्वामी से) हे आयुष्मन् ! (जम्बू !) मैंने सुना है, उन भगवान् ने इस प्रकार कहा—इस (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) में निश्चित ही (षट्काय के जीवों का निरूपण करने वाला) षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सुआख्यात और सुप्रज्ञप्त है। (इस) धर्मप्रज्ञप्ति (जिसमें धर्म की प्ररूपणा है) अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है ॥१॥

[३३ प्र.] वह षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन कौन-सा है, जो काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् द्वारा प्रवेदित है, सु-आख्यात और सुप्रज्ञप्त है; जिस धर्मप्रज्ञप्ति-अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है? ॥२॥

[३४ उ.] वह 'षड्जीवनिकाय' नामक अध्ययन, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सुप्रज्ञप्त है, (और) जिस धर्मप्रज्ञप्ति-अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है, यह है, जैसे कि—पृथ्वीकायिक (जीव), अप्कायिक (जीव), तेजस्कायिक (जीव), वायुकायिक (जीव) वनस्पतिकायिक (जीव) और त्रसकायिक जीव ॥३॥

[३५] शस्त्र-परिणत के सिवाय पृथ्वी सचित्त (चित्तवती) कही गई है, वह अनेक जीवों और पृथक्सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतंत्र अस्तित्व) वाली है ॥ ४ ॥

[३६] शस्त्र-परिणत को छोड़ कर अप्काय (जल) सचित्त (सजीव) कहा गया है; वह अनेक जीवों और पृथक्-पृथक् सत्त्वों वाला है ॥५॥

[३७] शस्त्र-परिणमन हुए विना अग्निकाय सचेतन (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीवों और पृथक्-पृथक् सत्त्वों से सम्पन्न होता है ॥६॥

[३८] शस्त्र-परिणत के सिवाय वायुकाय सचेतन कहा गया है। वह अनेक जीवों और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव के स्वतंत्र अस्तित्व) वाला है ॥७॥

[३९] शस्त्र-परिणत के सिवाय वनस्पति चित्तवती (सजीव) कही गई है। वह अनेक जीवों और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अस्तित्व) वाली है। उसके प्रकार ये हैं—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह, सम्मूर्छिम तृण और लता। शस्त्रपरिणत के सिवाय (ये) वनस्पतिकायिक जीव बीज-पर्यन्त सचेतन कहे गए हैं। वे अनेक जीव हैं और पृथक् सत्त्वों (प्रत्येक जीव स्वतंत्र अस्तित्व) वाले हैं ॥ ८ ॥

[४०] (स्थावरकाय के) अनन्तर ये जो अनेक प्रकार के बहुत—से त्रस प्राणी हैं, वे इस प्रकार हैं—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज (और) औपपातिक। जिन किन्हीं प्राणियों में अभिक्रमण (सम्मुख जाना), प्रतिक्रमण (पीछे लौटना), संकुचित होना (सिकुड़ना), प्रसारित होना (फैलना, पसरना), शब्द (आवाज) करना, भ्रमण करना (इधर-उधर गमन करना), त्रस्त (भयभीत) होना (घबराना), भागना (पलायित होना, दौड़ना)--(आदि क्रियाएँ स्वतः प्रेरित) हों, तथा जो आगति और गति के विज्ञाता हों, (वे सब त्रस हैं।)

जो कीट और पतंगे हैं, तथा जो कुन्थु और पिपीलिका (चींटियाँ आदि) हैं, वे सब द्वीन्द्रिय (स्पर्शन और रसन, इन दो इन्द्रियों वाले जीव), सब त्रीन्द्रिय (स्पर्शन, रसन और घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले जीव), समस्त चतुरिन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु, इन चार इन्द्रियों वाले जीव) तथा समस्त पंचेन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पांच इन्द्रियों वाले जीव; यथा—) समस्त तिर्यञ्चयोनिक, समस्त नारक, समस्त मनुष्य, समस्त देव और समस्त प्राणी परम सुख-स्वभाव वाले हैं। यह छठा जीवनिकाय त्रसकाय कहलाता है ।। ९ ।।

विवेचन—धर्मप्रज्ञप्ति का प्ररूपण—प्रस्तुत धर्मप्रज्ञप्ति, जो कि षड्जीव-निकाय अध्ययन का ही दूसरा नाम है, भ. महावीर के द्वारा प्रवेदित सु-आख्यात और सुप्रज्ञप्त हैं, यह प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में कहा गया है। किन्तु 'आयुष्मन्' सम्बोधन के द्वारा कौन किससे कह रहा है ? और किसने किस भगवान् से सुना है ? यह भी यहाँ स्पष्ट नहीं है। हरिभद्रसूरि तथा चूर्णिकार जिनदास महत्तर का इस विषय में स्पष्टीकरण यह है कि 'आयुष्मन् !' सम्बोधन गणधर श्रीसुधर्मास्वामी के द्वारा अपने प्रिय सुशिष्य जम्बूस्वामी के लिए किया गया है। तथा 'मैंने सुना है' का अभिप्राय है—सुधर्मास्वामी ने सुना है। उन भगवान् ने ऐसा कहा है, इसका स्पष्टीकरण किया गया है कि भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है। परन्तु इसकी आगे के पाठ के साथ संगति नहीं बैठती कि भगवान् ही अपने मुंह से यह कहें कि काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने ऐसा प्रवेदित किया, कहा आदि। अतः जैसे उत्तराध्ययन के १६ वें अध्ययन में **'थेरेहिं भगवंतेहिं'** कह कर स्थविर भगवन्तों को उसका प्ररूपक माना गया, इसी प्रकार यहाँ प्रथम बार आया हुआ 'भगवान्' शब्द भ. महावीर का द्योतक न होकर शास्त्रकार के किसी प्रज्ञापक आचार्य या स्थविर भगवान् का द्योतक प्रतीत होता है। अर्थात् मैंने उन (अपने प्रज्ञापक आचार्य) भगवान् से ऐसा सुना है। यही आशय संगत बैठता है।[1]

आउसं तेण भगवया: चार रूप अर्थ और व्याख्या—(आउसं तेण) (१) आयुष्मन् ! तेन भगवता—हे आयुष्मन् जम्बू ! उन प्रज्ञापक आचार्य भगवान् ने। **(२) (आउसंतेण भगवया) आयुष्मता भगवता**—आयुष्मान् (चिरंजीवी) भगवान् ने। **(३) आवसंतेण (आवसता मया)** = गुरुकुल (गुरुचरणों) में रहते हुए मैंने (सुना)। **(५) आमुसंतेण (आमृशता मया)**—मस्तक से चरणों का स्पर्श (आमर्श) करते हुए (मैंने सुना)।[2]

'आयुष्मन्' सम्बोधन का रहस्य—जिसकी अधिक आयु हो उसे आयुष्मान् कहते हैं। 'आउस' या 'आउसो' शब्द द्वारा शिष्य को आमंत्रित (सम्बोधित) करने की पद्धति जैन-बौद्ध आगमों में यत्र-

---

१. (क) तेन भगवता वर्धमानस्वामिना।····हारि. टी., पृ. १३६
   (ख) ····भावसमण-भावभगवंत महावीरगहणनिमित्त पुणो गहणं कयं। —जि. चू., पृ. १३१।
   (ग) दशवै. (मुनि नथमलजी), पृ. १२०

२. (क) 'आउसंतेण' भगवत एव विशेपणम्। आयुष्मता भगवता चिरजीविनेत्यर्थः। अथवा जीवता साक्षादेव।
   —हारि. टी., पत्र १३७
   (ख) श्रुतं मया गुरुकुलसमीपावस्थितेन तृतीयो विकल्पः —जिन. चू., पृ. १३१
   (ग) सुयं मया एयमज्झयणं आमुसंतेण-भगवतः पादौ आमृशता। —वही, पृ. १३१

तत्र दृष्टिगोचर होती है। यहाँ शंका उपस्थित होती है कि शिष्य को सम्बोधित करने के लिए यही शब्द क्यों चुना गया? जिनदास महत्तर इसका समाधान इस प्रकार करते हैं—देश, कुल, शील आदि से सम्बन्धित समस्त गुणों में विशिष्टतम गुण दीर्घायुष्कता है। जो शिष्य दीर्घायु होता है, वह पहले स्वयं ज्ञान प्राप्त करके बाद में अन्य भव्यजनों को ज्ञान दे सकता है, इस, प्रकार शासनपरम्परा अविच्छिन्न चलती है। अतः 'आयुष्मान्' शब्द का विशिष्ट अर्थ है—उत्तम देश, कुल, शील आदि समस्त गुणों से समन्वित प्रधान दीर्घायु गुण वाला। प्रधानगुण (दीर्घायुष्कत्व) निष्पन्न आमंत्रण-वचन का एक आशय यह भी है कि गुणी शिष्य को आगमरहस्य देना चाहिए, अगुणी को नहीं। कहा भी है—"जिस प्रकार कच्चे घड़े में भरा हुआ पानी उस घड़े को ही विनष्ट कर देता है, वैसे ही गुणरहित शिष्य (पात्र) में उंड़ेला हुआ सिद्धान्तरहस्य रूपी जल, उस अल्पाधार को ही विनष्ट कर देता है।"[3]

'आयुष्मान् भगवान्' कहने का आशय—जिनदास महत्तर ने इसका आशय स्पष्ट किया है कि सुधर्मास्वामी कहते हैं—मैंने आयुसहित भगवान् से अर्थात्—तीर्थंकर भगवान् के (जीवित रहते) उनसे सुना है।

कासवेणं समणेणं भगवया महावीरेणं : व्याख्या—काश्यपः दो—अर्थ (१) भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप होने के कारण वे काश्यप के अपत्य (संतान) काश्यप कहलाए, (२) काश्य कहते हैं—इक्षुरस को, उसका पान करने वाले को 'काश्यप' कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव इक्षुरस का पान करने के कारण काश्यप कहलाए। उनके गोत्र में उत्पन्न होने के कारण भगवान् महावीर भी काश्यप कहलाए। अथवा भगवान् ऋषभ के धर्मवंशज या विद्यावंशज होने के कारण भी चौवीसवें तीर्थंकर भ. महावीर 'काश्यप' कहलाए।[4]

समण—तीन अर्थ—सहज समत्वादिगुणसम्पन्न होने से वे समन (समण) कहलाए, तपस्या में दीर्घकाल तक पुरुषार्थ (श्रम) करने के कारण 'श्रमण' (दीर्घतपस्वी) कहलाए, तथा विषय-कषायों का शमन करने के कारण 'शमन' कहलाए।[5]

---

३. (क) अनेन····गुणाश्च देशकुलशीलादिका अन्वाख्याता भवन्ति, दीर्घायुष्कत्वं च सर्वेषां गुणानां प्रति विशिष्टतमं, कहं? जम्हा दिग्घायू सीसो तं नाणं अन्नेसिं पि भवियाणं दाहिति। तओ अवोच्छित्ती सासणस्स कया भविस्सइ, तम्हा आउसंतग्गहणं कयंति। —जिन. चूर्णि, पृ. १३१
  (ख) प्रधानगुणनिष्पन्नेनामंत्रणवचसा गुणवते शिष्यायागमरहस्यं देयं, नागुणवते, इत्याह। उक्तं च—'आमे घडे निहत्तं०' —हारि. वृत्ति, पृ. १३७

४. (क) काश्यपं गोत्तं कुलं यस्य सोऽयं काश्यपगोत्तो। —जिन. चूर्णि, पृ. १३२
  (ख) कासं-उच्छू, तस्य विकारो—काश्यः रसः, सो जस्स पाणं सो कासवो उसभसामी, तस्स जे गोत्तजाता ते कासवा, तेण वद्धमाणसामी कासवो। —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ७३

५. (क) सहसंमुहए समणे —आचा०, चूर्णि, १५-१६
  (ख) श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः —दशवै. हारि. वृत्ति, अ. १
  (ग) शमयति विषयकषायादीन् इति शमनः।

भगवान् : व्याख्या—'भग' शब्द ६ अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) समग्र ऐश्वर्य, (२) रूप, (३) यश, (४) श्री, (५) धर्म और (६) प्रयत्न। जिसमें ऐश्वर्य आदि समग्ररूप में होते हैं, वह 'भगवान्' कहलाता है।[६]

महावीर : व्याख्या—भयंकर भय, भैरव तथा प्रधान अचेलकत्व आदि कठोर परीषहों को सहन करने के कारण देवों ने भगवान् का नाम 'महावीर' रखा। यश और गुणों (को अर्जित करने) में महान् वीर होने से भगवान् को 'महावीर' कहते हैं। कषायादि महान् आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण भी भगवान् महाविक्रान्त—महावीर कहलाए। कहा भी है—'जो कर्मों को विदीर्ण करता है, तपश्चर्या से सुशोभित है, तपोवीर्य से युक्त होता है, इस कारण वह 'वीर' कहलाता है।[७] इन गुणों को अर्जित करने में वे महान् वीर थे, इसलिए महावीर कहलाए।

'पवेइया, सुयक्खाया, सुपन्नत्ता': तीनों विशेषणों का विशेषार्थ—प्रवेदित : तीन अर्थ—(१) सम्यक् प्रकार से विज्ञात किया—जाना हुआ; (२) केवलज्ञान के आलोक में स्वयं भलीभांति वेदित—जाना हुआ; (३) विविध रूप से अनेक प्रकार से कथित।

सुआख्यात:—(१) सम्यक् प्रकार से कहा, (२) देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् में सम्यक् प्रकार से (षड्जीवनिका अध्ययन) कहा।

सुप्रज्ञप्त : दो अर्थ—(१) जिस प्रकार प्ररूपित किया गया, उसी प्रकार आचरित भी किया गया है, अतएव सुप्रज्ञप्त है। जो उपदिष्ट तो हो पर आचरित न हो, वह सुप्रज्ञप्त नहीं कहलाता। (२) सम्यक् प्रकार से प्रज्ञप्त, अर्थात्—जिस प्रकार कहा गया, उसी प्रकार सुष्ठु—सूक्ष्म दोषों के परिहारपूर्वक प्रकर्षरूप से—सम्यक् आसेवित किया गया। यहाँ ज्ञप् धातु आसेवन अर्थ में प्रयुक्त है। षड्जीवनिका के इन तीनों विशेषणों का संयुक्त अर्थ हुआ—श्रमण भ. महावीर ने षड्जीविका को सम्यक् प्रकार से जाना, उसका उपदेश किया और जैसा उपदेश किया, वैसा स्वयं आचरण भी किया।[८]

---

६. (क) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥

(ख) भगशब्देन ऐश्वर्य-रूप-यशः-श्री-धर्म-प्रयत्ना अभिधीयन्ते, ते यस्य सन्ति स भगवान्।
—जिन. चूर्णि, पृ. १३१

७. (क) भीमं भय-भेरवं उराले अचेलयं परीसहं सहइ त्ति कट्टु देवेहिं से नाम कयं समणे भगवं महावीरे।
—आचा. चूर्णि, पृ.१५-१६

(ख) कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः। —हारि. वृत्ति, पत्र १३७

(ग) विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते, तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद् वीर इति स्मृतः। —हा. टी., १६७

८. (क) 'स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण वेदिता-विज्ञातेत्यर्थः।' —हारि. वृत्ति, पत्र १३७

(ख) प्रवेदिता नाम विविहमनेकपकारं कथितेत्युक्तं भवति। —जिन. चूर्णि, पृ. १३२

(ग) सोभणेण पगारेण अक्खाता सुट्ठु वा अक्खाया। —जिन. चूर्णि, पृ. १३२

(घ) 'सदेवमनुष्यासुराणां पर्षदि सुष्ठु आख्याता स्वाख्याता। —हारि. वृत्ति, पत्र १३७

(ङ) 'जहेव परूविया तहेव आइण्णावि।' —जिनदास. चूर्णि, पृ. १३२

धम्मपन्नत्ती : धर्मप्रज्ञप्ति : अर्थ—जिससे श्रुत-चारित्ररूप धर्म अथवा सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय-रूप धर्म जाना जाए अथवा जिसमें धर्म का प्रज्ञपन किया गया हो, वह धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययन है।[९]

अहिज्जिउं :—अध्ययन करना—पढ़ना, पाठ करना, सुनना और चिन्तन करना—स्मरण करना।[१०]

'मे' शब्द का आशय—प्रस्तुत में 'मे' शब्द अपनी आत्मा के लिए, स्वयं के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ के अनुसार इस वाक्य का अनुवाद होगा—'इस धर्मप्रज्ञप्ति-अध्ययन का पठन मेरे—आत्मा के लिए श्रेयस्कर है।[११]

पृथ्वीकायिक से त्रसकायिक तक : लक्षण, अर्थ प्रकार तथा सचेतनतासिद्धि (१) पृथ्वीकायिक—काठिन्य आदि लक्षणों से जानी जाने वाली पृथ्वी ही जिनका शरीर (काय) होता है, वे पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक कहलाते हैं। मिट्टी, मुरड, खड़ी, गेरू, हींगलू, हिरमच, लवण, पत्थर, बालू, सोना, चांदी, अभ्रक, रत्न, हीरा, पन्ना आदि पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार हैं। केवलज्ञान-रूपी आलोक से लोक-अलोक को प्रत्यक्ष जानने वाले भगवान् ने पृथ्वी को सचेतन (सजीव) कहा है। पृथ्वी की सचेतनता सिद्धि के लिए आगमप्रमाण के अतिरिक्त अनुमानप्रमाण भी हैं—(१) पृथ्वी सचेतन है, क्योंकि खोदी हुई खान आदि की मिट्टी सजातीय अवयवों से स्वयमेव भर जाती है। जो सजातीय अवयवों से भर जाता है, वह सचेतन होता है। जैसे—चेतनायुक्त मानवशरीर। जीवित मानवशरीर में घाव हो जाता है, तब वह उसी तरह के अवयवों से स्वयं भर जाता है, उसी प्रकार खोदी हुई खान आदि की पृथ्वी उसी प्रकार के अवयवों से भर जाती है और पूर्ववत् हो जाती है। इसलिए पृथ्वी सचेतन (सजीव) है।

(२) पृथ्वी सचित्त है, क्योंकि उसमें प्रतिदिन घर्षण और उपचय दृष्टिगोचर होता है, जैसे-पैर का तलुआ। पैर का तलुआ घिस जाने के बाद पुनः भर जाता है, वैसे ही पृथ्वी भी घिस जाने के बाद फिर भर जाती है, इसलिए वह सजीव है।

(३) विद्रुम (मूंगा) पाषाण आदि-रूप पृथ्वी सजीव (सचित्त) है क्योंकि कठिन होने पर भी उसमें वृद्धि देखी जाती है, जैसे—जीवित प्राणी के शरीर की हड्डी। अर्थात्—जीवित प्राणी के शरीर की हड्डी आदि कठोर होने पर भी बढ़ती है, इसलिए सचेतन है, उसी प्रकार विद्रुम, शिला आदि रूप पृथ्वी में काठिन्य होने पर भी वृद्धि आदि गुण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इससे सिद्ध है कि पृथ्वी सचित्त (सजीव) है।[१२]

---

९. 'धम्मो पण्णविज्जए जाए सा धम्मपण्णत्ती अज्झयणविसेसो।' —अगस्त्य. चू., पृ. ७३

१०. 'अध्येतुमिति पठितुं श्रोतुं भावयितुम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

११. (क) 'मे इति अत्तणो निद्देसे।' —जिन. चूर्णि, पृ. १३२

(ख) ममेत्यात्मनिर्देशः। —हा. वृत्ति, पत्र १३८

१२. (क) पृथ्वी काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता, सैव कायः शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः पृथ्वीकाया एव पृथिवीकायिकाः।' —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २०६ से २०८

अप्कायिकजीव—जल ही जिनका काय अर्थात् शरीर है, उन्हें अप्काय या अप्कायिक कहते हैं। शुद्धोदक, ओस, हरतनु, महिका (धूंवर), ठार, हिम, ओला, आदि सब अप्काय (सचित्त जल) के प्रकार हैं। पार्थिव और आकाशीय दोनों प्रकार के जलों को केवलज्ञानी वीतराग प्रभु ने सचित्त कहा है। आगम प्रमाण के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण से भी जल की सचेतनता सिद्ध होती है—(१) भूमिगत जल सचेतन है, क्योंकि खोदी हुई भूमि में सजातीय—स्वभाव वाला जल उत्पन्न होता है, जैसे—मेंढक। भूमि को खोदने से जैसे मेंढक निकलता है, जो सचेतन होता है, उसी प्रकार पानी भी निकलता है, अतएव वह भी सचेतन है। आकाशीय जल भी सचित्त है, क्योंकि मेघादि विकार होने पर जल स्वयं ही गिरने लगता है, जैसे—मछली आदि।[१३] वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप यंत्र आदि से वर्तमान युग में पानी की एक बून्द में हजारों त्रस जीव रहे हुए हैं, यह सिद्ध कर दिया है।

तेजस्कायिक जीव—अग्नि (तेज) उष्ण लक्षण वाली प्रसिद्ध है। वही जिनका काय—शरीर हो, उन जीवों को तेजस्काय या तेजस्कायिक कहते हैं। उनके अनेक प्रकार हैं—अग्नि, अंगारे, मुर्मुर (चिनगारी), अर्चि, ज्वाला, उल्कापात, विद्युत् आदि। तेजस्काय को भी भगवान् ने सजीव कहा है, इसलिए आगमप्रमाण से तेजस्काय में सचेतनता सिद्ध होती है। अनुमान प्रमाण से भी इसकी सचेतनता सिद्ध होती है—(१) तेजस्काय सजीव हैं, क्योंकि ईन्धन आदि आहार देने से उसकी वृद्धि और न देने से उसकी हानि (मन्दता) होती है, जैसे—जीवित मनुष्य का शरीर। अर्थात्—जीवित मनुष्य का शरीर आहार देने से बढ़ता और न देने से घटता है, अतः वह सचेतन है। इसी प्रकार तेजस्काय (अग्निकाय) भी ईन्धन देने से बढ़ता और न देने से घटता है, इसलिए वह भी सचित्त है। (२) अंगार आदि की प्रकाशशक्ति जीव के संयोग से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि वह देहस्थ है। जो-जो देहस्थ प्रकाश होता है, वह-वह आत्मा के संयोग के निमित्त से होता है। जैसे—जुगनू के शरीर का प्रकाश। जुगनू के शरीर में प्रकाश तभी तक रहता है, जब तक उसके साथ आत्मा का संयोग रहता है। इसी प्रकार अंगार आदि का प्रकाश भी तभी तक रहता है, जब तक उसमें आत्मा रहे।[१४]

वायुकायिक जीव—भगवान् ने अपने केवलज्ञानालोक में देखकर वायुकाय को सचित्त कहा है, इसलिए आगमप्रमाण से वायुकाय की सजीवता सिद्ध है। अनुमान-प्रमाण से भी देखिये—(१) वायु सचेतन है, क्योंकि वह दूसरे की प्रेरणा के बिना अनियतरूप से तिर्यग्गमन करता है, जैसे मृग। मृग अन्य की प्रेरणा के बिना ही तिर्यग् गमन करता है, अतः वह सजीव है, इसी प्रकार वायु

---

१३. (क) आपो-द्रवाः प्रतीता एव, ता एव कायः शरीरं येषां ते अप्कायाः, अप्काया एव अप्कायिकाः।
—हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २०९

१४. (क) 'तेजः उष्णलक्षणं प्रतीतं, तदेव कायः-शरीरं येषां ते तेजस्कायाः, तेजस्काया एव तेजस्कायिकाः।'
—हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) दशवैकालिक (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २१२-२१३

भी अन्य से प्रेरित हुए विना तिर्यग्गमन करता है, इसलिए वह सचेतन है। इस प्रकार अनुमानप्रमाण से भी वायुकाय की सचेतता सिद्ध होती है।[१५]

वायु चलनधर्मा प्रसिद्ध है। वही जिनका काय-शरीर है, वे जीव वायुकाय या वायुकायिक कहलाते हैं। इनके उत्कलिका वायु, मण्डलिका वायु, घनवायु, तनुवायु, गुंजावायु, शुद्धवायु, संवर्त्तक वायु आदि प्रकार हैं।[१६]

वनस्पतिकायिक जीव—वनस्पति लता आदि के रूप में प्रसिद्ध है। वही (वनस्पति ही) जिनका काय—शरीर है, वे जीव वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। बीज, अंकुर, तृण, कपास, गुल्म, गुच्छ, वृक्ष, शाक, हरित, लता, पत्र, पुष्प, फल, मूल, कन्द, स्कन्ध आदि वनस्पतिकायिक जीवों के प्रकार हैं। वनस्पतिकाय की सजीवता सर्वज्ञ आप्तपुरुषों के वचनों से (आगम प्रमाण से) सिद्ध है। अनुमान प्रमाण से भी इसकी सजीवता देखिये—वनस्पति सचित्त है, क्योंकि उसमें बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ, तथा छेदन-भेदन करने से म्लानता आदि सचेतन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे—जीवित मानवशरीर। जैसे—जीवित मानव का शरीर, बाल्यादि अवस्थाओं तथा छेदन-भेदन आदि करने से म्लानता आदि के कारण सचेतन है, वैसे वनस्पतिकाय भी सचेतन है। वर्तमान युग में जीवविज्ञानशास्त्री प्रो. जगदीशचन्द्र बोस ने प्रयोग करके वनस्पति की सजीवता सिद्ध कर दी है।[१७]

त्रसकायिक जीव—त्रसनशील को त्रस कहते हैं, अथवा जो स्वतःप्रेरित (स्वतंत्ररूप से) गमनागमन करता हो, वह त्रस कहलाता है। त्रस ही जिनका काय हो, अथवा जिनमें द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक हों या जिनमें छह द्रव्यप्राणों से लेकर १० प्राणों तक हों, वे त्रसकाय या त्रसकायिक कहलाते हैं। कृमि, शंख, कुन्थु, चींटी, मक्खी, मच्छर, भौंरा, आदि तथा मनुष्य, तिर्यञ्च (पशुपक्षी आदि), देव और नारक जीव[१८] त्रसकायिक हैं।

त्रस जीवों की सचेतनता आबालप्रसिद्ध एवं प्रत्यक्षसिद्ध है। आगम प्रमाण से भी सिद्ध है। यहाँ भी **'से जे पुण इमे अणेगे'** कहकर त्रसकाय का प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होना सिद्ध किया है। जो द्वीन्द्रिय आदि के भेद से अनेक प्रकार के, एक-एक जाति में बहुत-से, अथवा भिन्न-भिन्न योनि वाले, आतप (धूप, गर्मी) आदि से पीड़ित होने पर त्रास (उद्वेग) पाने वाले अथवा स्वतःप्रेरणा से छायादार शीतल और निर्भयस्थान में चले जाने वाले, एवं व्यक्त चेतनावान् जीव हैं, वे त्रस कहलाते हैं।[१९] कहीं-कहीं पृथ्वीकाय आदि के सूत्रोक्त क्रम का कारण भी स्पष्ट किया गया है।[२०]

---

१५. दशवैकालिक आचारमणिमंजूषा टीका, भा., पृ. २१५

१६, (क) वायुश्चलनधर्मा प्रतीत एव, स एव कायः—शरीरं येषां ते वायुकायाः, वायुकाया एव वायुकायिकाः। —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) दशवै. (मुनिनथमलजी), पृ. १२३,　　(ग) प्रज्ञापना, पद १

१७. दशवै. आचारमणिमंजूषा टीका, भा. १, पृ. २१७

१८. हारि. वृत्ति, पत्र १३८

१९. दशवैकालिक, आचारमणिमंजूषा टीका भाग १, पृ. २२२

२०. दशवैकालिक (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ६१

चित्तमंतं, चित्तमत्तं : तीन रूप, तीन अर्थ—(१) **चित्तवत्**—चित्त का अर्थ है—जीव या चैतन्य। जिसमें चेतना या चैतन्य हो, उसे चित्तवत् कहते हैं।[२१] तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर जीवनिकायों में चेतना होती है; वे चैतन्यवान्—सजीव कहे गए हैं। (२) **चित्तमात्रं**—मात्र शब्द के दो अर्थ होते हैं—स्तोक (अल्प) और परिमाण। प्रस्तुत प्रसंग में मात्र शब्द स्तोक-वाचक है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकाय आदि पांच जीवनिकायों (स्थावरों) में चैतन्य स्तोक—अल्प विकसित होता है। उनकी चेतना अव्यक्त होती है, त्रस जीववत् उच्छ्वास, निःश्वास, निमेष गति-प्रगति आदि चेतना के व्यक्त चिह्न इनमें नहीं होते हैं। अथवा (३) **चित्तमत्तं** - मत्त का अर्थ—मूर्च्छित भी है। जिस प्रकार मद्यपान, सर्पदंश आदि चित्तविघात के कारणों से अभिभूत मनुष्य का चित्त मत्त—मूर्च्छित हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरणीय एवं मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों का चित्त (चैतन्य) सदैव मूर्च्छित-सा रहता है।[२२] अर्थात्—एकेन्द्रियों में चैतन्य सबसे जघन्य होता है। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च व सम्मूर्च्छिम मनुष्य, गर्भजतिर्यञ्च, गर्भजमनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवनवासी देव, ज्योतिष्क देव, और वैमानिक देव (कल्पोपपन्न, कल्पातीत, ग्रैवेयक और अनुत्तरौपपातिक देव) के चैतन्य का विकास उत्तरोत्तर अधिक होता है।[२३]

अक्खाया : तात्पर्य—यहां 'अक्खाया' शब्द प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकाय आदि चैतन्यवान् (सजीव) हैं, यह मैं (सुधर्मास्वामी) नहीं कह रहा हूँ, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् ने कहा है।[२४]

अणेगजीवा पुढोसत्ता : व्याख्या—अनेकजीवा का अर्थ है—पृथ्वीकायादि प्रत्येक काय के अनेक-अनेक जीव हैं, एक जीव नहीं है। जैसे वैदिक मतानुसार वेदों के पृथिवी देवता, आपो

---

२१. (क) प्रचलित मूलपाठ 'चित्तमंतं' है, किन्तु हरिभद्रसूरि, जिनदास महत्तर आदि ने पाठान्तर माना है—'पाठान्तरं वा पुढवी चित्तमत्तमक्खाया' इत्यादि। —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) चित्तं जीवलक्षणं तदस्यास्तीति चित्तवत् चित्तवती वा, सजीवेत्यर्थः। —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

२२. (क) "मत्तासद्दो दोसु अत्थेसु वट्टइ, तं.—थोवे वा परिमाणे वा।" —जिन. चूर्णि, पृ. १३५

(ख) 'अत्र मात्र शब्दः स्तोकवाची, यथा सर्षपत्रिभागमात्रमिति।' ततश्च चित्तमात्रा—स्तोकचित्ता इत्यर्थः। —हारि. वृत्ति, पृ. १३८

(ग) "चित्तमात्रमेव तेषां पृथ्वीकायिनां जीवितलक्षणं, न पुनरुच्छ्वासादीनि विद्यन्ते।" —जिनदास. चूर्णि, पृ. १३६

(घ) अहवा चित्तं मत्तं (मुच्छियं) एतेसिं ते चित्तमत्ता। जहा पुरिसस्स मज्जपाण-विसोवयोग-सप्पावराह-हिप्पूरभक्खण-मुच्छादीहिं चेतोविघातकारणेहिं जुगपदभिभूतस्स चित्तं मत्तं, एवं पुढविक्कातियाणं। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ७४

२३. (क) प्रबलमोहोदयात् सर्वजघन्यं चैतन्यमेकेन्द्रियाणाम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) सव्वजहण्णं चित्तं एगिंदियाणं ततो विसुद्धतरं बेइंदियाणं····जाव सव्वुक्कसं अणुत्तरोववातियाणं देवाणं। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ७४।

२४. दशवै. आचार म. मं. टीका भा. १, पृ. २०५

देवता' इत्यादि सूक्तों को प्रमाण मान कर पृथ्वी आदि को एक-एक माना गया है, इस प्रकार जैनदर्शन नहीं मानता।[२५] इसीलिए यहाँ पृथ्वी आदि प्रत्येक स्थावर को अनेकजीव कहा गया है। अर्थात्—उनमें जीव या आत्मा एक नहीं, किन्तु संख्या की दृष्टि से असंख्यात और अनन्त हैं। शास्त्रीय दृष्टि से वनस्पति के सिवाय शेष पांच जीवनिकायों में से प्रत्येक में असंख्यात जीव हैं, वनस्पतिकाय में अनन्त जीव हैं। यहाँ 'असंख्य' और 'अनन्त' दोनों के लिए 'अनेक' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात्—मिट्टी के कण, जलविन्दु, अग्नि की चिनगारी और वायु में और प्रत्येक वनस्पति में असंख्यजीव तथा साधारण वनस्पति में अनन्त जीव पिण्डित या समुदित होते हैं। इन सवका एक शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता, इनके शरीरों का पिण्ड ही हमें चक्षुगोचर होता है।[२६]

कई वेदान्त-दार्शनिक सव में एक ही आत्मा मानते हैं। उनका अभिमत है—जैसे—चन्द्रमा एक होने पर भी विभिन्न जल पात्रों में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, इसी तरह एक ही भूतात्मा (जीव) प्रत्येक भूत में पृथक् पृथक् दिखाई देता है। शास्त्रकार ने इस मत का निराकरण करते हुए कहा है—**'पुढोसत्ता'**—पृथ्वीकाय आदि प्रत्येक में अनेक जीव हैं, और वे एकात्मा नहीं, किन्तु उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता है—स्वतंत्र अस्तित्व है। अथवा वे पृथक्भूत सत्त्व (आत्माएं) हैं। इनके पृथक्भूत सत्त्व होने का प्रमाण जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत किया है कि यदि उन्हें शिला आदि पर पीसा जाए तो कुछ पिसते हैं, कुछ नहीं पिसते। इस दृष्टि से उनका पृथक् सत्त्व (अस्तित्व या आत्मत्व) सिद्ध होता है। शास्त्रों में वताया गया है कि इन (स्थावर जीवों) की अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र को अवगाहन करके अनेक जीव समा जाते हैं।[२७]

वनस्पतिकाय के विभिन्न रूप—प्रस्तुत में वनस्पतिकाय के विभिन्न रूप वतलाए हैं, उनका विश्लेषण इस प्रकार है—वनस्पति के ये पृथक्-पृथक् रूप उत्पत्ति की भिन्नता के आधार पर वताए गए हैं। उनके उत्पादक भाग या उत्पत्ति के मूल को 'वीज' संज्ञा दी गई है। ये भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए इनके अलग-अलग नाम रखे गए हैं। जैसे—**अग्रबीज**—जिनके वीज अग्रभाग में होते हैं वे कोरंटक आदि अग्रवीज कहलाते हैं। **मूलबीज**—जिनका मूल ही वीज हो, वे कमलकन्द आदि मूलवीज कहलाते हैं। **पर्वबीज**—पोर (गांठ) या पर्व ही उनका वीज हो वे पर्ववीज कहलाते हैं, जैसे

---

२५. (क) इयं च 'अनेकजीवा' अनेके जीवा यस्यां साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां पृथिवी देवता, आपो देवतेत्येवमादिवचन-प्रामाण्यादिति। —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

२६. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २०७

(ख) "असंखेज्जाणं पुण पुढविजीवाणं सरीराणि संहिताणि (समुदिताणि) चक्खुविसयमागच्छंति।"

—जिनदास. चूर्णि, पृ. १३६

२७. (क) अनेकजीवाऽपि कैश्चिदेकभूतात्माऽपेक्षयेष्यत एव, यथाहुरेके—'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा वहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥' अत आह—'पृथक्सत्त्वा।' पृथक्भूताः सत्त्वा-आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा। —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) 'अंगुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिकयाऽनेकजीवसमाश्रितेति भावः।'

(ग) पुढो सत्ता नाम पुढविकम्मोदएण सिलेसेण वट्टिया वट्टी पिहप्पिहं चऽवत्थियत्ति वृत्तं भवइ।

—जिन. चूर्णि, पृ. १३६

ईख आदि। **स्कन्धबीज**—स्कन्ध (थुड़) ही जिनका बीज हो, वे स्कन्धबीज कहलाते हैं। जैसे बड़, पीपल, थूहर, कपित्थ (कैथ) आदि। **बीजरुह**—बीज से उगने वाली वनस्पति या जिसके बीज में ही बीज रहे वह वनस्पति बीजरुह कहलाती है। जैसे—चावल, गेहूँ आदि।[२८]

सम्मूर्च्छिम—जो प्रसिद्ध बीज के बिना, केवल पृथ्वी, वर्षा (वृष्टिजल) आदि कारणों से दग्धभूमि में भी उत्पन्न हो जाती है, ऐसी पद्मिनी, तृण आदि को सम्मूर्च्छिमवनस्पति कहते हैं। **तृण:**—घासमात्र को तृण कहते हैं। तृण शब्द के द्वारा दूब, काश, नागरमोथा, कुश, दर्भ, उशीर आदि सभी प्रकार के तृणों का ग्रहण किया गया है। **लता**—पृथ्वी पर या किसी बड़े पेड़ पर लिपट कर उसके सहारे से ऊपर फैल जाने वाली वनस्पति को लता कहते हैं, इसे बेल, वल्लरी आदि भी कहते हैं। लता शब्द के द्वारा चंपा, जाई, जूही, वासन्ती आदि सभी प्रकार की लताओं का ग्रहण किया गया है। यहाँ तक सभी प्रकार की वनस्पतियों का दिग्दर्शन कराया गया है।[२९]

वणस्सइकाइया सबीया : तात्पर्य—प्रस्तुत सूत्र में दूसरी बार 'वनस्पतिकायिक' का उल्लेख किया गया है, वह ऊपर बताये गए वनस्पति भेदों के अतिरिक्त सूक्ष्म, बादर आदि, तथा बीजपर्यन्त वनस्पति के दस प्रकारों का ग्रहण करने के लिए किया गया है, इसीलिए **'वणस्सइकाइया'** के साथ **'सबीया'** विशेषण दिया गया है। यही कारण है कि 'सबीया' का अर्थ—'बीजयुक्त वनस्पति' न करके (मूल से लेकर) बीजपर्यन्त किया है। अर्थात्—सबीज शब्द से यहाँ—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज, वनस्पति के इन दसों भेदों का ग्रहण हो जाता है।[३०]

पंच स्थावरों का उपयोग और अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा—यहाँ एक ज्वलन्त प्रश्न उपस्थित होता है कि जब पृथ्वी आदि पांचों जीवनिकाय, जीवों के पिण्डरूप हैं, तब अहिंसामहाव्रती साधु-साध्वी पृथ्वी पर गमनागमन, शयन, उच्चार-प्रस्रवण, आदि क्रियाओं में पृथ्वी की हिंसा होने से ये क्रियाएं कैसे कर सकेंगे? जीवों के पिण्डरूप जल का उपयोग कैसे कर सकेंगे? अग्नि-संयोग से निष्पन्न उष्ण आहार-पानी का उपयोग कैसे कर सकेंगे? अंगसंचालन, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाओं में वायु का सेवन कैसे कर सकेंगे? और शाकभाजी, पक्के फल, घास आदि के रूप में वनस्पति का

---

२८. (क) अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः—कोरण्टकादयः। मूलं बीजं येषां ते मूलबीजा-उत्पलकन्दादयः। पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजा—इक्ष्वादयः। स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः—शल्लक्यादयः। बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहा-शाल्यादयः। —हारि. वृत्ति, पत्र १३८-१३९

२९. (क) "सम्मूर्च्छन्तीति सम्मूर्च्छिमाः—प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवी-वर्षादि-समुद्भवास्तृणादयः। न चैते न सम्भवन्ति, दग्धभूमावपि सम्भवात्।" —हारि. वृत्ति, पृ. १४०

(ख) 'पउमिणिमादी उदगपुढवि-सिणेह-संमुच्छणा संमुच्छिमा।' —अग. चूर्णि, पृ. ७५

(ग) तत्थ तणग्गहणेण तणभेया गहिया। लतागहणेण लताभेदा गहिया। —जिन. चूर्णि, पृ. १३८

३०. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २२०

(ख) सबीयग्गहणेण एतस्स चेव वणस्सइकाइयस्स बीयपज्जवसाणा दस भेदा गहिया भवंति, तंजहा—

मूले कंदे खंधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥ —जिन. चूर्णि, पृ. १३८

उपयोग भी कैसे कर सकेंगे ? और इनका उपयोग किये विना उनका जीवन कैसे टिक सकेगा तथा संयम का पालन कैसे हो सकेगा ? इन्हीं ज्वलन्त प्रश्नों को अन्यतीर्थिक लोग आक्षेपरूप में प्रस्तुत करते हैं,—"जल में जन्तु है, स्थल में जन्तु है, पर्वत के शिखर पर जन्तु है, यह सारा लोक जन्तुसमूह से व्याप्त है, ऐसी स्थिति में भिक्षु कैसे अहिंसक रह सकेगा ?"[३१]

इन्ही प्रश्नों का समाधान करने के लिए शास्त्रकार ने प्रत्येक स्थावर जीवनिकाय का परिचय देने के साथ-साथ एक पंक्ति अंकित कर दी है—**'अन्नत्थ सत्थपरिणएण'**। इसका शाब्दिक अनुवाद होगा—शस्त्रपरिणत (पृथ्वी आदि) को छोड़ कर—वर्जन कर, या शस्त्रपरिणत के सिवाय, किन्तु इसका भावानुवाद होगा—शस्त्रपरिणत होने से पूर्व। तात्पर्य यह है कि जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति शस्त्रपरिणत—शस्त्र के द्वारा खण्डित-विदारित—जीवच्युत हो जाएगी, उसके अचित्त (जीवरहित-प्रासुक) हो जाने से, उनका उपयोग करने में साधु-साध्वी को हिंसा नहीं लगेगी, और संयम का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए जीवननिर्वाह भी हो जाएगा।[३२]

'शस्त्र-परिणत' की व्याख्या—जिससे प्राणियों का घात हो, उसे शस्त्र कहते हैं। वह शस्त्र दो प्रकार का है—द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के प्रति मन के दुष्ट परिणाम करना भावशस्त्र है। द्रव्यशस्त्र तीन प्रकार के हैं—स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र और उभयकायशस्त्र। इन तीनों में से किसी भी द्रव्यशस्त्र से पृथ्वी आदि परिणत हो जाए तो वह अचित्त हो जाती है।

शस्त्र-परिणत पृथ्वीकाय—अपने से भिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाली पृथ्वी (मिट्टी आदि) ही पृथ्वीकाय के जीवों के लिए स्वकायशस्त्र है। जल, अग्नि, पवन, सूर्यताप, पैरों से रोंदना आदि पृथ्वीकायिक जीवों के लिए परकायशस्त्र हैं। इन परकायशस्त्रों से मिट्टी के जीवों का घात हो जाने से वे अचित्त हो जाते हैं। स्वकाय (मिट्टी) और परकाय (जल आदि) दोनों संयुक्तरूप से घातक हों तो उन्हें उभयकायशस्त्र कहा जाता है। जैसे—काली मिट्टी जल में मिलने पर जल और सफेद मिट्टी दोनों के लिए शस्त्र हो जाती है। इस प्रकार शस्त्रपरिणत पृथ्वी जीवरहित होने से अचित्त होती है। उस पर आहार विहारादि क्रियाएं करने से साधु-साध्वियों के अहिंसा महाव्रत की क्षति नहीं होती।[३३]

---

३१. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २८० से २१३ तक
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ६३
(ग) जले जन्तुः स्थले जन्तुः, जन्तुः पर्वतमस्तके।
जन्तुमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ? ॥ —प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में उद्धृत

३२. (क) अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टति। —अगस्त्य. चूर्णि पृ. ७४
(ख) अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः-शस्त्रपरिणतां पृथिवीं विहाय—परित्यज्य अन्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः।
—हारि. वृत्ति, पत्र १३८-१३९
(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ६३
(घ) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २०९, २१२

३३. (क) दशवैकालिक निर्युक्ति गा. २३१. हारि वृत्ति. पत्र १३९, जिन. चूर्णि पृ. १३७
(ख) दशवै. (आ. आत्मारामजी म.) पृ. ६३, दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. १२४
(ग) दशवैकालिक (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २०८

शस्त्रपरिणत अप्काय—इसी प्रकार तालाब आदि के जल के लिए कुए आदि का जल स्वकायशस्त्र है परन्तु ऐसा जल शस्त्रपरिणत होने पर भी व्यवहार से अशुद्ध होने के कारण ग्राह्य नहीं है। जल, द्राक्षा, लवंग, चावल, आटा, चूना आदि वस्तुएं परकायशस्त्र हैं। एक स्थान (कुए) के जल के साथ तालाब आदि (अन्य स्थान) का जल और अग्नि, चावल, आटा, चूना, मिट्टी आदि मिलने पर उभयकाय शस्त्र हैं। जल का वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श बदल जाना उसका शस्त्रपरिणत हो जाना है। इस प्रकार का शस्त्रपरिणत जल या अग्निशस्त्र परिणत उष्ण जल अचित्त अथवा प्रासुक हो जाता है, जो अहिंसक साधुवर्ग के लिए ग्राह्य है।

शस्त्रपरिणत तेजस्काय—तेजस्काय के शस्त्र ये हैं—कंडे की अग्नि के लिए तृण की अग्नि स्वकायशस्त्र है, परन्तु ऐसी स्वकायशस्त्रपरिणत अग्नि व्यवहार से अशुद्ध होने के कारण तथा भगवदाज्ञा न होने से साधुवर्ग के लिए ग्राह्य नहीं है। जल, मिट्टी आदि अग्नि के लिए परकायशस्त्र है। उष्णजल आदि उभयकायशस्त्र हैं। गर्म खिचड़ी, भात आदि उष्ण आहार; साग, दाल, चावलों का मांड आदि उष्ण पान; आग में तपी हुई ईंट, बालू आदि शस्त्रपरिणत अचित्त अग्निकाययुक्त हैं। ये सब अग्नि के संयोग से निष्पन्न होते हैं, इसलिए इनमें अचित्त अग्निकाय शब्द की प्रवृत्ति होती है। साधुवर्ग के लिए ऐसे शस्त्रपरिणत अचित्त अग्निकाय से युक्त आहारादि ग्राह्य होते हैं।

शस्त्रपरिणत वायुकाय—पूर्व आदि दिशा के वायु के लिए, पश्चिम आदि दिशा का वायु-स्पर्श स्वकायशस्त्र है, अग्नि आदि परकायशस्त्र हैं और उभयकायशस्त्र अग्नि, सूर्यताप आदि से तपा हुआ वायु है।

शस्त्रपरिणत वनस्पतिकाय—अमुक वनस्पति के लिए लकड़ी, सूखी घास, आदि स्वकायशस्त्र हैं, लोह, पत्थर, अग्नि सूर्यताप, उष्ण या शस्त्रपरिणत जल आदि वनस्पति के लिए परकायशस्त्र हैं। फरसा (कुल्हाड़ी), दात्र (दरांती) आदि उभयकायशस्त्र हैं। जो शस्त्रपरिणत वनस्पति है, वह एषणीय और कल्पनीय हो तो दाता के द्वारा दिये जाने पर साधुसाध्वी के लिए ग्राह्य है।[३४]

निष्कर्ष यह है कि पृथ्वीकाय आदि पांचों स्थावर जीवनिकायों के शस्त्रपरिणत हो जाने पर जीवच्युत हो जाने से पृथ्वी आदि पांचों का उपयोग समिति, एषणा और यतना से शुद्ध होने पर पूर्वोक्त (अमुक) मर्यादा में साधुसाध्वी के द्वारा किया जा सकता है। इससे उनके अहिंसाव्रत और संयम में कोई आँच नहीं आती।

त्रसजीवः स्वरूप, प्रकार और व्याख्या—प्रस्तुत में त्रसजीवों के लिए तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं—**अणेगे बहवे, पाणा**। इनका आशय यह है—त्रसजीवों के द्वीन्द्रिय आदि अनेक भेद हैं और उन द्वीन्द्रिय आदि प्रत्येक कोटि के त्रसजीव के जाति, कुलकोटि, योनि इत्यादि की अपेक्षा से लाखों भेद हैं। इसलिए उन द्वीन्द्रियादि अनेक भेदों के पुनः बहुत से अर्थात् संख्यात भेद हैं। इस

---

३४. (क) दशवैकालिक (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २०९ से २१८ तक
(ख) वायुकाय की शस्त्रपरिणति के लिए देखिये—भगवती सूत्र शतक २, उ. १ वायु-अधिकार।

दृष्टि से 'अणेगे और 'बहवे' इन दो विशेषणों का प्रयोग किया गया। इनमें श्वासोच्छ्वास आदि प्राण विद्यमान होते हैं, इसलिए 'पाणा' (प्राणी) विशेषण प्रयुक्त किया गया है।[३५]

त्रस के प्रकार—त्रस दो प्रकार के होते हैं—गतित्रस और लब्धित्रस। जिन जीवों में अभिप्रायपूर्वक गति करने की शक्ति होती है, वे लब्धित्रस कहलाते हैं और जिन जीवों की गति अभिप्रायपूर्वक नहीं होती, केवल गतिमात्र होती है, वे गतित्रस कहलाते हैं। स्थानांगसूत्र में तीन प्रकार के त्रस बताए हैं, उनमें अग्नि और वायु को गतित्रस और द्वीन्द्रियादि उदार त्रस प्राणियों को लब्धित्रस कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र में लब्धित्रस के लक्षण बताए हैं।[३६]

त्रस के लक्षण—शास्त्रकार ने मूल में ही **'अभिक्कंतं'** पद से लेकर **'आगइ-गइ-विन्नाया'** पद तक त्रसजीवों के लक्षण बतलाए हैं। तात्पर्य यह है कि त्रसजीवों का यह स्वभाव होता है कि वे स्वतः प्रेरणा से सम्मुख आते हैं, पीछे भी हट जाते हैं, कई त्रसजीव अपने शरीर को सिकोड़ लेते हैं, कई फैला देते हैं। कई त्रसजीव आपत्ति या कष्ट आ पड़ने पर अथवा अमुक प्रयोजनवश जोर-जोर से चिल्लाते हैं, आवाज करते हैं, भौंकते हैं, गर्जते या गुर्राते या चिंघाड़ते हैं। भयभीत होने पर इधर-उधर स्वयं प्रेरणा से भागदौड़ भी करते हैं। कुत्ते आदि कई पशु भूल-भटक गए हों, दूर चले गए हों तो भी लौट कर अपने मालिक के यहाँ आ जाते हैं। कई पशुओं में यह विशिष्ट ज्ञान होता है कि हम अमुक जगह जा रहे हैं या अमुक जगह से आये हैं। यदि उन्हें कोई जबरन पीछे हटाता या आगे भगाता है तो वे यह जानते हैं कि हमें पीछे हटाया या आगे भगाया जा रहा है। ओघसंज्ञावश कई त्रस धूप से छाया में और छाया से अरुचि होने पर धूप में स्वतः चले जाते हैं।[३७]

उत्पत्ति की दृष्टि से त्रसजीवों के प्रकार—शास्त्रकार ने मूल में अण्डज आदि कई प्रकार त्रसजीवों की उत्पत्ति की अपेक्षा से दिये हैं। उनका अर्थ इस प्रकार है—(१) **अण्डज**—अण्डे से पैदा होने वाले मोर, कबूतर आदि। (२) **पोतज**—जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता, जो सीधे शिशुरूप में माता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं। जैसे हाथी, चर्मजलौका आदि। (३) **जरायुज**—जरायु का अर्थ गर्भवेष्टन या झिल्ली होता है जो शिशु को आवृत किये रहती है। गर्भ से जरायुवेष्टित दशा में निकलने वाले जरायुज होते हैं, जैसे—गाय, भैंस, मनुष्य आदि।[३८] (४) **रसज**—दूध, दही, घी, मट्ठा

---

३५. (क) 'अणेगा'-अनेकभेदा वेइंदियादतो। 'बहवे' इति बहुभेदा जाति-कुलकोडि-जोणीपमुहसतसहस्सेहिं पुणरवि संखेज्जा। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ७७

(ख) अणेगे नाम एक्कंमि चेव जातिभेदे असंखेज्जा जीवा। जिन. चूर्णि, पृ. १३९

(ग) 'प्राणा—उच्छ्वासादय एषां विद्यन्त इति प्राणिनः।' —हारि. वृत्ति, पत्र १४१

३६. (क) दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. १२८, (ख) तिविहा तसा प. तं.—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा। —स्थानांग, स्थान ३।३२६

३७. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ६७

३८. (क) अंडसंभवा अंडजा जहा—हंसमयूरायिणो।'—जिन. चूर्णि, पृ. १३९

(ख) पोता एव जायन्त इति पोतजाः····ते च हस्तीवल्गुली-चर्मजलौकादयः। हा. टी., प. १४१

(ग) जरायुवेष्टिता जायन्ते इति जरायुजाः,—गो-महिष्यजाविकमनुष्यादयः। —वही, पृ. १४१

आदि तरल पदार्थ रस कहलाते हैं। उनके विकृत हो जाने पर उनमें उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे जीव 'रसज' कहलाते हैं। (५) **संस्वेदज**—पसीने के निमित्त से उत्पन्न होने वाले जीव संस्वेदज होते हैं, जैसे जूं, खटमल आदि। सम्मूर्च्छिम-शीत, उष्ण आदि बाहरी कारणों के संयोग से या इधर-उधर के आसपास के परमाणुओं या वातावरण से मातृ-पितृ संयोग के विना ही पैदा हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम या सम्मूर्च्छनज कहलाते हैं। सम्मूर्च्छन कहते हैं—घना होने, बढ़ने या फैलने की क्रिया को। जो जीव गर्भ के विना ही उत्पन्न होते, बढ़ते और फैलते हैं, वे सम्मूर्च्छनज कहलाते हैं, जैसे टिड्डी, पतंगा, चींटी, मक्खी आदि। (६) **उद्भिज्ज**—पृथ्वी को फोड़ (भेद) कर जो जीव पैदा होते हैं, वे उद्भिज्ज कहलाते हैं, जैसे—पतंगा, खंजरीट या शलभ आदि। (७) **औपपातिक**—गर्भ और सम्मूर्च्छन से भिन्न देवों और नारकों के जन्म को उपपात कहते हैं, उससे उत्पन्न होने वाले देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं। देव शय्या में और नारक कुम्भी में स्वयं उत्पन्न होते हैं। उपपात का अर्थ होता है—अकस्मात् घटित होने वाला—अचानक आ पड़ने वाला। देव और नारक जीव एक ही मुहूर्त्त में पूर्ण युवा बन जाते हैं, इसलिए अकस्मात् उत्पन्न होने के कारण इन्हें औपपातिक कहा जाता है।[39]

सव्वे पाणा परमाहम्मिया : विश्लेषण—इस पंक्ति का शब्दशः अर्थ होता है—सभी प्राणी परम-धार्मिक हैं। किन्तु धार्मिक शब्द तो अहिंसादि धर्मों के पालन करने वाले के अर्थ में रूढ़ है, अतः यहाँ टीकाकार और चूर्णिकार इसका अभिप्रायार्थ स्पष्ट करते हैं—धर्म का अर्थ यहाँ स्वभाव है। परम अर्थात् सुख जिनका धर्म-स्वभाव है, वे परम-धार्मिक हैं। अर्थात्—समस्त प्राणी सुखाभिलाषी हैं, सुखशील हैं। यहाँ 'परमा' शब्द में 'अतः समृद्धयादौ वा' इस हैमसूत्र से 'म' कार दीर्घ हुआ है।[40]

षड्जीवनिकाय पर अश्रद्धा-श्रद्धा के परिणाम

[पुढविक्कातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणा जोग्गो ॥ १ ॥

आउक्कातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ॥ २ ॥

---

३९. (क) रसाज्जाता रसजाः—तक्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयो अतिसूक्ष्मा भवन्ति। —हारि. वृत्ति, पत्र १४१

(ख) संस्वेदाज्जाता इति संस्वेदजा—मत्कुण-यूका-शतपदिकादयः। —वही, पत्र १४१

(ग) सम्मूर्च्छनाज्जाता सम्मूर्च्छनजाः—शलभ-पिपीलिका-मक्षिका-शालूकादयः। —वही, पत्र १४१

(घ) उब्भियानाम भूमिं भेत्तूणं पंखालया सत्ता उप्पज्जंति। —जिन. चू., पृ. १४०
उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदाः अथवा उद्भेदनमुद्भित्, उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जाः—पतंग-खंजरीट-पारिप्लवादयः। —हारि. वृत्ति, पत्र १४१

(ङ) उपपाताज्जाता उपपातजाः, अथवा उपपाते भवा औपपातिका—देवा नारकाश्च। —हारि. वृत्ति, पत्र १४१

४०. (क) 'सव्वे पाणा परमाहम्मिया'—परमं पहाणं, तं च सुहं। अपरमं ऊणं, तं पुण दुःखं। धम्मो सभावो। परमो धम्मो जेसिं ते परमधम्मिता। यदुक्तम्-सुखस्वभावाः। —अगस्त्यचूर्णि, पृ ७७

(ख) सुखधर्माणः—सुखाभिलाषिण इत्यर्थः। —हारि. वृत्ति, पत्र १४२

तेउक्कातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ॥ ३ ॥

वाउक्कातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ॥ ४ ॥

वणस्सतिकातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ॥ ५ ॥

तसकातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ॥ ६ ॥

पुढविक्कातिए जीवे सद्दहती, जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥ ७ ॥

आउक्कातिए जीवे सद्दहती जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥ ८ ॥

तेउक्कातिए जीवे सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥ ९ ॥

वाउक्कातिय जीवे सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥ १० ॥

वणस्सतिकातिए जीवे सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥ ११ ॥

तसकातिए जीवे सद्दहती जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥ १२ ॥*]

[जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित पृथ्वीकायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा नहीं करता, वह पुण्य-पाप से अनभिज्ञ होने के कारण (महाव्रतों के) उपस्थापन (आरोहण) के योग्य नहीं होता ॥१॥

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित अप्कायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा नहीं करता, वह पुण्य-पाप से अनभिज्ञ होने के कारण उपस्थापन के योग्य नहीं होता ॥२॥

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित तेजस्कायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा नहीं करता, वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य नहीं होता ॥३॥

* कोष्ठक के अन्तर्गत अंकित ये १२ गाथाएँ कई आचार्य सूत्र (मूल) रूप में मानते हैं, कई इन गाथाओं को प्राचीनवृत्तिगत मानते हैं, ऐसा अगस्त्यसिंह स्थविर का मत है ।—सं.

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित वायुकायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा नहीं करता, वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य नहीं होता ॥४॥

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित वनस्पतिकायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा नहीं करता, वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने से उपस्थापन के योग्य नहीं होता ॥५॥

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित त्रसकायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा नहीं करता, वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन (महाव्रतारोहण) के योग्य नहीं होता ॥६॥

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित पृथ्वीकायिक जीव (के अस्तित्व) में श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थान के योग्य होता है ॥७॥

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित अप्कायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है ॥८॥

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित तेजस्कायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है ॥९॥

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित वायुकायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है ॥१०॥

जो जिनवरों द्वारा प्ररूपित वनस्पतिकायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है ॥११॥

जो जिनवरों द्वारा प्ररूपित त्रसकायिक जीवों (के अस्तित्व) में श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन (महाव्रतारोहण) के योग्य होता है ॥१२॥]

विवेचन—षड्जीवनिकाय के ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न ही उपस्थापनार्ह—इससे पूर्व षड्जीवनिकायों का वर्णन, शिष्य को विश्व के समग्र जीवों का ज्ञान कराने के लिए है। प्रस्तुत १२ गाथाएँ, जो कोष्ठकान्तर्गत हैं, समग्र जीवों के अस्तित्व में विश्वास (श्रद्धान) के लिए हैं।

जीवों के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धालु व्यक्ति पुण्य-पाप से अनभिज्ञ होता है। वह एकेन्द्रिय (पंच स्थावर) जीवों के अस्तित्व में शंकाशील या अनजान होता है। इस प्रकार जीवों के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धालु साधक प्राणातिपात आदि के रूप में जो सूक्ष्म दण्ड हैं, उनका भी परित्याग नहीं कर सकता। अतः वह महाव्रतोपस्थापन के योग्य नहीं होता। महाव्रतों की उपस्थापना (महाव्रत-स्वीकार प्रतिज्ञा) से पूर्व षड्जीवनिकायों (जीवों) के सम्यग्ज्ञान और उनमें सम्यक् श्रद्धान की कितनी आवश्यकता है? इसे बताने के लिए जिनदास महत्तर तथा आचार्य हरिभद्र तीन दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—(१) जैसे मलिन वस्त्र पर सुन्दर रंग नहीं चढ़ता, स्वच्छ वस्त्र पर ही सुन्दर रंग चढ़ता है, वैसे ही जिसे जीवों का ज्ञान और उनके अस्तित्व में श्रद्धान (विश्वास) नहीं होता, उन पर अहिंसादि महाव्रतों का सुन्दर रंग नहीं चढ़ सकता, अर्थात्—वे महाव्रतोपस्थापन के अयोग्य होते हैं। परन्तु जिन्हें जीवों का ज्ञान तथा उनके अस्तित्व में श्रद्धान होता है, उन्हीं पर महाव्रतों का सुन्दर रंग चढ़ सकता है, अर्थात् वे महाव्रतोपस्थापन के योग्य होते हैं। उन्हीं के महाव्रत सुन्दर और सुस्थिर होते हैं। (२) जिस प्रकार प्रासाद-निर्माण के पूर्व जमीन को स्वच्छ और समतल कर देने से भवन स्थिर और सुन्दर

होना है, अस्वच्छ व विषम भूमि पर प्रासाद असुन्दर और अस्थिर होता है, इसी तरह मिथ्यात्वरूपी कूड़े कर्कट को साफ किये बिना साधक की जीवन-भूमि पर महाव्रतरूपी प्रासाद की स्थापना कर देने से वह स्थिर और सुन्दर नहीं होता। (३) जिस प्रकार रुग्ण व्यक्ति को औषध देने से पूर्व उसे वमन-विरेचन करा देने से औषध लागू पड़ जाती है, उसी प्रकार जीवों के प्रति अश्रद्धा का वमन-विरेचन करा देने से उनमें प्रगाढ़ व शुद्ध विश्वास होने पर महाव्रतारोहण किया जाता है, तो उसके महाव्रत स्थिर एवं शुद्ध रहते हैं।*

दण्डसमारम्भ के त्याग का उपदेश और शिष्य द्वारा स्वीकार

[४१] **इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा, नेवऽन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा, दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि,× करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ १० ॥+**

अर्थ—[१] (समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी हैं) "इस लिए इन छह जीवनिकायों के प्रति स्वयं दण्ड-समारम्भ न करे, दूसरों से दण्ड-समारम्भ न करावे और दण्डसमारम्भ करने वाले अन्य का अनुमोदन भी न करे।"

(शिष्य द्वारा स्वीकार—) (भंते! मैं) यावज्जीवन के लिए तीन करण एवं तीन योग से (मन-वचन-काया से दण्डसमारम्भ) न (स्वयं) करूंगा, न (दूसरों से) कराऊंगा और (दण्डसमारम्भ) करने वाले दूसरे प्राणी का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भंते! मैं उस (अतीत में किये हुए) दण्डसमारम्भ से प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और (दण्डप्रवृत्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥ १० ॥

विवेचन—प्रस्तुत ४१ वें सूत्र के पूर्वार्द्ध में दण्डसमारम्भ के त्रिविध-त्रिविध त्याग का गुरु द्वारा शिष्य को उपदेश किया गया है तथा उत्तरार्द्ध में शिष्य द्वारा उस त्याग को विधिपूर्वक स्वीकार करने का प्रतिपादन है।

दण्डसमारम्भ: विशिष्ट अर्थ—दण्ड और समारम्भ दोनों जैन शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। राजनीतिशास्त्र में 'दण्ड' शब्द अपराधी को सजा देने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह सजा शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक कई प्रकार की हो सकती है। धर्मशास्त्र में संघीय व्यवस्था या व्रत-नियमों का भंग या अतिक्रमण करने वाले साधक को भी तप, दीक्षाछेद अथवा सांघिक वहिष्कार के रूप में दण्ड दिया जाता है। परन्तु यहाँ 'दण्ड' शब्द इनसे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त है।

---

* (क) जिनदास. चूर्णि. पृ. १४३-१४४
 (ख) हारि. वृत्ति, पत्र १४५

× पाठान्तर-करंतं पि।

+ 'इच्चेसिं' से लेकर 'न समणुजाणेज्जा' तक का पाठ विधायक 'भगवद्वचन' या 'गुरुवचन' है। उससे आगे का "अप्पाणं वोसिरामि' तक के पाठ में शिष्य द्वारा दण्डसमारम्भत्याग का स्वीकार है।—सं.

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार 'दण्ड' का अर्थ—'किसी भी प्राणी के शरीरादि का निग्रह (दमन) करना है। हरिभद्रसूरि और जिनदास महत्तर के अनुसार दण्ड का अर्थ—संघट्टन, परितापन आदि है। वस्तुतः मूलपाठ से ध्वनित होने वाला अर्थ बहुत ही व्यापक है—मन-वचन-काया की कोई भी प्रवृत्ति, जो दूसरे प्राणी के लिए संतापदायक या दुःखोत्पादक हो, वह सब दण्ड है।' दण्ड का सम्बन्ध यहां केवल हिंसा से ही नहीं है, अपितु असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह से भी है।

कौटिल्य ने दण्ड के तीन अर्थ किये हैं—वध, परिक्लेश और अर्थहरण। वध में ताड़न, तर्जन, प्राणहरण बन्धन आदि हिंसाजनक व्यापार आ जाते हैं। अर्थहरण में धन या किसी पदार्थ का हरण चौर्य एवं परिग्रह में आ जाते हैं। तथा परिक्लेश में हिंसा आदि पांचों ही प्रकार से दूसरे को दुःख पहुंचाया जाता है। यद्यपि ये सभी दण्डय प्रवृत्तियां दूसरों के लिए परितापजनक होने से हिंसा के दायरे में आ जाती हैं और असत्य, चौर्य आदि भी दूसरों के लिए दुःखोत्पादक होने से एक प्रकार से हिंसा के ही अन्तर्गत हैं। यहां समारम्भ का अर्थ है—करना या प्रवृत्त होना।[४१]

'इति' शब्द : पांच अर्थों में—प्रस्तुत सूत्र (४१) में प्रारम्भ में 'इच्चेसिं' शब्द के अन्तर्गत 'इति' शब्द पांच अर्थों में व्यवहृत होता है—(१) हेतु-(यथा—वर्षा हो रही है, इस कारण दौड़ रहा है), (२) ऐसा या इस प्रकार (यथा—उसे अविनीत, ऐसा कहते हैं, अथवा इस प्रकार महावीर ने कहा), (३) सम्बोधन—(यथा—धम्मएति=हे धार्मिक!), (४) परिसमाप्ति—(इति भगवइसुत्तं सम्मत्तं) और (५) उपप्रदर्शन (पूर्व वृत्तान्त या पुरावृत्त को बताने के लिए, यथा—इच्चेए पंचविहे-ववहारे—ये पूर्वोक्त पांच प्रकार के व्यवहार हैं।) प्रस्तुत सूत्र में 'इति' शब्द 'हेतु' अथवा 'उपप्रदर्शन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि इससे पूर्व कहा गया था कि समस्त प्राणी सुखाभिकांक्षी हैं, इसलिए ···अथवा इस प्रकार पूर्वोक्त षड्जीवनिकायों के प्रति।[४२]

प्रतिज्ञासूत्रों की व्याख्या—(१) जावज्जीवाए—जीवनपर्यन्त, दण्डप्रत्याख्यान अथवा महाव्रतों की प्रतिज्ञा यावज्जीवन—जीवनभर के लिए होती है। (२) तिविहं तिविहेणं—आगम की भाषा में इन्हें तीन करण और तीन योग कहा जाता है। तिविहं को तीन करण—कृत, कारित और अनुमोदित तथा तिविहेणं को तीन योग—मन, वचन और काया का व्यापार (प्रवृत्ति या कर्म) कहा जाता है। जब कोई भी दण्ड या हिंसा आदि पाप स्वयं किया जाता है, तो उसे 'कृत' कहते हैं, दूसरों से कराया जाता है तो उसे कारित कहते हैं और करने वाले को अच्छा कहना या उसका समर्थन करना

---

४१. (क) 'दंडो सरीरादिनिग्गहो।' अगस्त्य. चूर्णि., पृ. ७८
(ख) 'दंडो संघट्टण-परितावणादि।' —जिन. चूर्णि., पृ. १४२
(ग) 'वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं दण्ड इति।' —कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१०।२८

४२. (क) इतिसद्दो अणेगेसु अत्थेसु वट्टइ, तं.—आमंतणे परिसमत्तीए उवप्पदरिसणे य।" —जिन. चूर्णि, पृ. १४२
(ख) '····हेतौ,····एवमत्थो इति,····आद्यर्थे··· परिसमाप्तौ,···प्रकारे ···।' —अ. चू., पृ. ७८
(ग) इच्चेसिं इत्यादि—सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनेन हेतुना। —हारि. वृत्ति, पत्र १४३
(घ) इह इतिसद्दो उवप्पदरिसणे दट्ठव्वो " (यथा-) चे एते 'जीवाभिगमस्स छभेया भणिया।' —जि. चू., पृ. १४२

अनुमोदन कहलाता है। कृत, कारित और अनुमोदन ये तीनों दण्ड-समारम्भ क्रियाएं हैं, इसलिए जितना भी किया, कराया या अनुमोदन किया जाता है, वह मन, वचन और काया के माध्यम से किया जाता है। मन, वचन और शरीर, ये तीनों एक दृष्टि से साधन = करण भी कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत में निष्कर्ष यह है कि दण्डसमारम्भ के मन, वचन और काया से कृत, कारित और अनुमोदन के भेद से ९ विकल्प (भंग) हो जाते हैं—(१) दण्डसमारम्भ मन से करना, कराना और अनुमोदन करना (२) दण्डसमारम्भ वचन से करना, कराना और अनुमोदन करना। (३) दण्डसमारम्भ काया से करना, कराना और अनुमोदन करना। प्रस्तुत मूलपाठ में पहले कृत, कारित और अनुमोदन से दण्डसमारम्भ करने का निषेध किया गया है, किन्तु उसके साथ मन से, वचन से और काया से शब्द नहीं जोड़े गये हैं, किन्तु बाद में **'तिविहं तिविहेणं'** पदों का संकेत करके **'मणेणं वायाए काएणं'** एवं **'न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि'** का उल्लेख करके शास्त्रकार ने इसे स्पष्ट कर दिया है।[४३]

दण्ड शब्द को हिंसाप्रयोजक मानकर अगस्त्य चूर्णि में हिंसा के आधार पर इन नौ भंगों का स्पष्टीकरण किया है—(१) मन से दण्डसमारम्भ करता है—स्वयं मारने का सोचता है कि इसे कैसे मारूं ? मन से दण्डसमारम्भ कराना, जैसे—वह इसे मार डाले, ऐसा मन में सोचना। मन से अनुमोदन—कोई किसी को मार रहा हो, उस समय मन ही मन राजी (सन्तुष्ट) होना, इसी तरह वचन से हिंसा करना—जैसे इस प्रकार का वचन बोलना—जिससे दूसरा कोई मर जाए। किसी को मारने का आदेश देना वचन से हिंसा कराना है। इसी प्रकार 'अच्छा मारा' यों कहना, वचन से हिंसा का अनुमोदन करना है। स्वयं किसी को मारे—यह काया से स्वयं हिंसा करना है, किसी को मारने का हाथ आदि से संकेत करना काया से हिंसा कराना है, और कोई किसी को मार रहा हो, उसकी शारीरिक चेष्टाओं से प्रशंसात्मक प्रदर्शन करना—हिंसा का काया से अनुमोदन है।

'तस्स० पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि०'—अकरणीय कार्य का प्रत्याख्यान (परित्याग) करने की जैनपद्धति का क्रम इस प्रकार है—(१) अतीत का प्रतिक्रमण, (२) वर्त्तमानकाल का संवर और (३) भविष्यत्काल का प्रत्याख्यान। इस दृष्टि से यहाँ 'तस्स' शब्द दिया है, वह 'देहलीदीपक-न्याय' से **'निंदामि गरिहामि'** के साथ भी सम्बन्धित है। अर्थात्—प्रतिक्रमण का अर्थ है—पापकर्मों से निवृत्त होना। तात्पर्य यह है कि गतकाल में जो दण्ड समारम्भ मैंने किये हैं उनसे निवृत्त होता—वापस लौटता—हूँ। 'निन्दामि' का अर्थ है—निन्दा करता हूँ। यह निन्दा किसी दूसरे की नहीं, स्वयं की निन्दा है, जो पश्चात्तापपूर्वक, आत्मालोचनपूर्वक स्वयं की जाती है। 'गर्हामि' का अर्थ है—गर्हा—घृणा करता हूँ। अर्थात्—जो भी पाप या दण्डसमारम्भ मुझसे हुए हैं, उनसे घृणा करता हूँ।

निन्दा और गर्हा में अन्तर—निन्दा आत्मसाक्षिकी होती है और गर्हा (जुगुप्सा) परसाक्षिकी। (२) अगस्त्य चूर्णि के अनुसार—पहले जो अपराध या पाप अज्ञानवश किये हों, उनकी निन्दा यानी कुत्सा करना। गर्हा का अर्थ है—उन दोषों-अपराधों को गुरुजनों या सभा के समक्ष

---

४३. (क) दशवै. अगस्त्य., चूर्णि पृ. ७८ (ख) दशवै. जिन. चूर्णि, पृ. १४२-१४३

(ग) तिस्रो विधा-विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविध-दण्ड इति गम्यते तम्। त्रिविधेन-करणेन मनसा वचसा कायेन। —हारि. टी., प. १४३। (घ) अ. चू., पृ. ७८

प्रकट करना (३) जिनदास महत्तर के अनुसार—निन्दा (आत्मनिन्दा) है—पहले जो अज्ञानभाव से दोष या अपराध किया हो, उसके सम्बन्ध में पश्चात्तापपूर्वक हृदय में दाह का अनुभव करना, जैसे—मैंने बहुत बुरा किया, बुरा कराया, बुरे का अनुमोदन किया इत्यादि। और गर्हा है—भूत, वर्तमान और अनागत काल में उस अपराध को न करने के लिए अभ्युद्यत होना।[४४]

अप्पाणं वोसिरामि : तात्पर्य—इसका शब्दशः अर्थ है—आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ। परन्तु आत्मा अपने आप में त्याज्य कैसे हो सकती है, उसकी अतीत और वर्तमान की असत् (सावद्य) प्रवृत्तियाँ या पापरूप आत्मा ही त्याज्य होती है, साधना की दृष्टि से हिंसा आदि सावद्य प्रवृत्तियाँ त्याज्य होती हैं, जिनसे आत्मा को कर्मबन्धन होता है। अतः '**अप्पाणं वोसिरामि**' का भावार्थ होगा मैं अतीतकाल में दण्ड-प्रवृत्त (सावद्य या पापयुक्त प्रवृत्ति में प्रवृत्त) आत्मा (आत्मपरिणति) का त्याग (व्युत्सर्ग) करता हूँ।[४५]

प्रश्न हो सकता है कि 'देहलीदीपकन्याय' से यहाँ अतीतकालीन पाप (दण्ड) युक्त आत्मा का ही प्रतिक्रमण यावत् व्युत्सर्ग किया जाता है, वर्तमान दण्ड (पाप) का संवर और भविष्यत्कालीन पाप (दण्ड) का प्रत्याख्यान इससे नहीं होता। इसका समाधान आचार्य हरिभद्र करते हैं कि न करेमि (न करोमि) इत्यादि से वर्तमान के संवर और भविष्यत् के प्रत्याख्यान की भी सिद्धि हो जाती है।[४६]

---

४४. (क) 'योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य सम्बन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रामामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति ···प्रतिक्रामामीति भूताद्दण्डान्निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति।'

(ख) निन्दामि गर्हामीति—अत्राऽऽत्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा—जुगुप्सेत्युच्यते।
—हारि. वृत्ति, पत्र १४४

(ग) "जं पुव्वमण्णाणेण कतं तस्स णिंदामि, णिदि कुत्सायाम् इति कुत्सामि, गर्ह परिभाषणे इति पगासीकरेमि।" —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ७८

(घ) जं पुण पुव्वि अन्नाणभावेण कयं तं णिंदामि वा—'हा! दुट्ठु कयं, हा! दुट्ठु कारियं, अणुमयं हा दुट्ठु। अतो अंतो डज्झइ, हियय पच्छाणुतावेण। 'गरिहामि' णाम तिविहं तीताणागत-वट्टमाणेसु कालेसु अकरणयाए अब्भुट्ठेमि।
—जिनदास चूर्णि, पृ. १४३

४५. (क) दशवै. (मुनि नथमलजी), पृ. १३४

(ख) आत्मानं—अतीतदण्डकारिणमश्लाघ्यं व्युत्सृजामि इति। विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः उच्छब्दो भृशार्थः सृजामि—त्यजामि। ततश्च विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि—व्युत्सृजामीति।
—हारि. वृत्ति, पत्र १४४

(ग) दशवै. (आ. आत्मारामजी), पृ. ७० (घ) दशवै. (आचारमणिमंजूषा) भा. १, पृ. २३३

४६. (क) आह-यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्यैदम्पर्यं, न प्रत्युत्पन्नसंवरणमनागत-प्रत्याख्यानं चेति, नैतदेवं, न करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति। —हारि. वृ., पत्र १४४

(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा) भा. १, पृ. २३३, (ग) दशवै. (आ. आत्मारामजी म.), पृ. ७०

तात्पर्य—यह है कि 'तस्स भंते····वोसिरामि' इत्यादि शब्दों से, शिष्य दण्डसमारम्भ न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद जो दृढीकरण की भावना करता है, वह अभिव्यक्त होती है।[४७]

फलितार्थ—साधक महाव्रत (चारित्र) उपस्थापन के योग्य तभी होता है, जब वह षड्जीवनिकाय को पहले सम्यक् प्रकार से जान ले, उनके अस्तित्व के विषय में उसे दृढ़ श्रद्धा-विश्वास हो जाए और उसकी प्रतीति के लिए वह गुरु द्वारा उपदिष्ट षड्जीव-निकायों के प्रति दण्डसमारम्भ का मन-वचन-काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदितरूप से विधिवत् त्याग कर दे।[४८]

शिष्य द्वारा सरात्रिभोजनविरमण पंचमहाव्रतों का स्वीकार

[४२] पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, × नेव सयं पाणे अइवाएज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं☐ पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि।

पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओपाणाइवायाओ वेरमणं ॥ ११ ॥

[४३] अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा।※ नेव सयं मुसं वएज्जा, नेवऽन्नेहिं मुसं वायावेज्जा, मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि।

दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥ १२ ॥

[४४] अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि। से गामे वा नगरे वा, रन्ने वा, अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा।÷ नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा, अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने

---

४७. दशवै. (मूलपाठ टिप्पणयुक्त), पृ. ९

४८. पढियाए सत्थपरिण्णाए दसकालिए छज्जीवणिकाए वा कहियाए अत्थओ अभिगयाए सम्मं परिक्खिऊण-परिहरइ छज्जीवणियाए मण वयणकाएहिं कय-कारावियाणुमइभेदेण, तओ ठाविज्जइ ॥ —हारि. टीका, पत्र १४५

× अधिकपाठ—"से त पाणातिवाते चतुव्विहे, तं.-दव्वतो, खेत्ततो, कालतो भावतो। दव्वतो-छसु जीवनिकाएसु, खेत्ततो-सव्वलोगे, कालतो-दिया वा राओ वा; भावतो-रागेण वा दोसेण वा।··········"

☐ पाठान्तर—'करेंतंपि' के बदले 'करंतंपि' पाठान्तर भी मिलता है।

※ "से य मुसावाते चउव्विहे, तं.-दव्वतो ४। दव्वतो सव्वदव्वेसु, खेत्ततो-लोगे वा अलोगे वा, कालतो-दिया वा रातो वा, भावतो-कोहेण वा, लोहेण वा, भतेण वा, हासेण वा।"

÷ "से त अदिण्णादाणे चतुव्विहे पण्णत्ते, तं.···दव्वतो ४। दव्वतो-अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा। खेत्ततो-गामे वा, नगरे वा, अरण्णे वा, कालतो-दिया वा, रातो वा; भावतो-अप्पग्घे वा महग्घे वा।·······" —अगस्त्य. चूर्णि

न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ १३ ॥

[४५] अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा, माणुस्सं वा, तिरिक्खजोणियं वा※। नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा, नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि। चउत्थे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥ १४ ॥

[४६] अहावरे पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं। सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि,☐ से अप्पं वा, बहुं वा अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा। नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा, परिग्गहं परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि।
पंचमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥ १५ ॥

[४७] अहावरे छट्ठे भंते! वए राईभोयणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! राईभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा।× नेव सयं राइं भुंजेज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा, राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भंते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ॥ १६ ॥

※ अधिकपाठ—"से य मेहुणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं.—दव्वतो रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु, खेत्ततो—उड्ढलोए वा, अहोलोए वा, तिरियलोए वा; कालतो-दिया वा, रातो वा; भावतो-रागेण वा दोसेण वा,।"
—अग. चूर्णि

☐ से गामे वा, नगरे वा, अरण्णे वा। से य परिग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, तं.······ दव्वतो, खेत्ततो, कालतो, भावतो। दव्वतो सव्वदव्वेहिं, खेत्ततो-सव्वलोए, कालतो-दिया वा रायो वा, भावतो-अप्पग्घे वा महग्घे वा ॥ —अगस्त्य. चूर्णि

× से त रातीभोयणे चतुव्विहे पण्णत्ते, तं.-दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो। दव्वतो असणे वा पाणे वा खादिमे वा सादिमे वा, खेत्ततो-समयखेत्ते, कालतो-राती। भावतो-तित्ते वा कडुए वा, कसाए वा, अंबिले वा महुरे वा लवणे वा। —अगस्त्य चूर्णि।

[४८] इच्चेइयाइं पंचमहव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए* उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ॥ १७ ॥

[४२] भंते ! पहले महाव्रत में प्राणातिपात (जीवहिंसा) से विरमण (निवृत्ति) करना होता है। हे भदन्त ! मैं सर्व प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ। सूक्ष्म या बादर (स्थूल), त्रस या स्थावर, जो भी प्राणी हैं, उनके प्राणों का अतिपात (घात) न करना, दूसरों से प्राणातिपात न कराना, (और) प्राणातिपात करने वालों का अनुमोदन न करना; (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मैं) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से करता हूँ। (अर्थात्) मैं मन से, वचन से और काया से, (प्राणातिपात) स्वयं नहीं करूंगा, न दूसरों से कराऊँगा और अन्य किसी करने वाले का अनुमोदन नहीं करूँगा।

भंते ! मैं उस (अतीत में किये हुए प्राणातिपात) से निवृत्त (विरत) होता हूँ, (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (प्राणातिपात से या पापकारी कर्म से युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं प्रथम महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हुआ हूँ। जिसमें सर्वप्रकार के प्राणातिपात से विरत होना होता है ॥११॥

[४३] भंते ! (प्रथम महाव्रत के अनन्तर) द्वितीय महाव्रत में मृषावाद से विरमण होता है। भंते ! मैं सब (प्रकार के) मृषावाद का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ। क्रोध से, लोभ से, भय से या हास्य से, स्वयं असत्य (मृषा) न बोलना, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाना और दूसरे असत्य बोलने वालों का अनुमोदन न करना; (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मैं) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से करता हूँ। (अर्थात्) मैं मन से, वचन से, काया से, (मृषावाद) स्वयं नहीं करूंगा, न (दूसरों से) कराऊँगा और न अन्य किसी करने वाले का अनुमोदन करूंगा।

भंते ! मैं उस (अतीत के मृषावाद) से निवृत्त होता हूँ; (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूँ; (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (मृषावाद से युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं द्वितीय महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित हुआ हूँ, (जिसमें) सर्व-मृषावाद से विरत होना होता है ॥१२॥

[४४] भंते ! (मृषावादविरमण नामक द्वितीय महाव्रत के पश्चात्) तृतीय महाव्रत में अदत्तादान से विरति होती है। भंते ! मैं सब प्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि—गाँव में, नगर में या अरण्य में, (कहीं भी) अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त (सजीव) हो या अचित्त (निर्जीव), (किसी भी) अदत्त वस्तु का स्वयं ग्रहण न करना, दूसरों से अदत्त वस्तु का ग्रहण न कराना और अदत्त वस्तु का ग्रहण करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन न करना; यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से; (इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता हूँ।) (अर्थात्—) मैं मन से, वचन से, काया से, स्वयं (अदत्त वस्तु को ग्रहण) नहीं करूंगा, न ही दूसरों से कराऊँगा और (अदत्त वस्तु-) ग्रहण करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

* पाठान्तर—'अत्तहियट्ठाए।'

भंते ! मैं उस (अतीत के अदत्तादान) से निवृत्त होता हूँ। (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूँ; (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ, और (अदत्तादान से युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं तृतीय महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित हुआ हूँ, (जिसमें) सर्व-अदत्तादान से विरत होना होता है ।।१३।।

[४५] इसके (अदत्तादान-विरमण के) पश्चात् चतुर्थ महाव्रत में मैथुन से निवृत्त होना होता है। मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी, अथवा तिर्यञ्च-सम्बन्धी मैथुन का स्वयं सेवन न करना, दूसरों से मैथुन सेवन न कराना और अन्य मैथुन-सेवन करने वालों का अनुमोदन न करना; (मैं इस प्रकार की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से (करता हूँ।) (अर्थात्) मैं मन से, वचन से, काया से, (स्वयं मैथुन-सेवन) न करूंगा, (दूसरों से मैथुन सेवन) नहीं कराऊंगा और न ही (मैथुन-सेवन करने वाले अन्य किसी का) अनुमोदन करूंगा।

भंते ! मैं इससे (अतीत के मैथुन-सेवन से) निवृत्त होता हूँ। (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (मैथुनसेवनयुक्त सावद्य) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं चतुर्थ महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हुआ हूँ, जिसमें सब प्रकार के मैथुन-सेवन से विरत होना होता है ।।१४।।

[४६] भंते ! इसके (चतुर्थ महाव्रत के) पश्चात् पंचम महाव्रत में परिग्रह से विरत होना होता है। "भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि—गाँव में, नगर में या अरण्य में (कहीं भी), अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—(किसी भी) परिग्रह का परिग्रहण स्वयं न करे, दूसरों से परिग्रह का परिग्रहण नहीं कराए, और न ही परिग्रहण करने वाले अन्य किन्हीं का अनुमोदन करे; (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मैं) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से (करता हूँ।) (अर्थात्—) मैं मन से, वचन से, काया से (परिग्रह-ग्रहण) नहीं करूंगा, न (दूसरों से परिग्रह-ग्रहण) कराऊँगा, और न (परिग्रह-ग्रहण) करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करूंगा।"

भंते ! मैं उससे (अतीत के परिग्रह से) निवृत्त होता हूँ, उसकी (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (परिग्रह-युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं पंचम-महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हूँ, (जिसमें) सब प्रकार के परिग्रह से विरत होना होता है ।।१५।।

[४७] भंते ! इसके (पंचम महाव्रत के) अनन्तर छठे व्रत में रात्रिभोजन से निवृत्त होना होता है।

भंते ! मैं सब प्रकार के रात्रिभोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य (किसी भी वस्तु) का रात्रि में स्वयं उपभोग न करे, दूसरों को रात्रि में उपभोग न कराए और न रात्रि में उपभोग करने वाले अन्य किन्हीं का अनुमोदन करे, (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मैं) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से (करता हूँ।) (अर्थात्—) मैं मन से, वचन से, काया

से, स्वयं (रात्रिभोजन) नहीं करूंगा; न (दूसरों से रात्रिभोजन) कराऊंगा और न (रात्रिभोजन करने वाले अन्य किसी का) अनुमोदन करूंगा।

भंते ! मैं उससे (अतीत के रात्रिभोजन से) निवृत्त होता हूँ, (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (रात्रिभोजनयुक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं छठे व्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हुआ हूँ, जिसमें सब प्रकार के रात्रि-भोजन से विरत होना होता है ॥१६॥

[४८] इस प्रकार मैं इन (अहिंसादि) पांच महाव्रतों और रात्रिभोजन-विरमण रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए अंगीकार करके विचरण करता हूँ ॥१७॥

विवेचन—सामान्य दण्डसमारम्भ-त्याग के बाद विशेष दण्डसमारम्भ-त्याग—इसके पूर्व के अनुच्छेद में शिष्य द्वारा सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक सामान्य दण्ड-समारम्भ के प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा का उल्लेख है और उसके बाद प्रस्तुत ७ सूत्रों (४२ से ४८ तक) में विशेष रूप से दण्डसमारम्भ का प्रत्याख्यान। इन विशिष्ट दण्ड-समारम्भों से दूसरे जीवों को परिताप होता है। अतः इन ७ सूत्रों में अहिंसादि पांच महाव्रतों और छठे रात्रि-भोजनत्याग रूप व्रत की शिष्य द्वारा की जाने वाली प्रतिज्ञा का निरूपण है।[४९]

महाव्रत और रात्रिभोजनविरमणव्रत में अन्तर—यहाँ प्राणातिपातविरमण आदि को महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण को व्रत कहा गया है। किन्तु यहाँ व्रत शब्द अणुव्रत और महाव्रत दोनों से भिन्न है, क्योंकि अणुव्रत और महाव्रत ये दोनों मूलगुण हैं, किन्तु रात्रिभोजनविरमणव्रत मूलगुण नहीं है। व्रतशब्द का यह प्रयोग सामान्यविरति या नियम के अर्थ में है।[५०]

महाव्रत : क्या, क्यों और कैसे ?—मूलगुण अहिंसादि पांच हैं। इन्हीं की महाव्रत संज्ञा है। व्रतशब्द साधारण है। इसके दो भेद आंशिक विरति (देशविरति) और सर्वविरति के आधार पर किये गए हैं—अणुव्रत और महाव्रत। ये दो शब्द सापेक्ष हैं, तथा विरति की अपूर्णता और पूर्णता की अपेक्षा से प्रयुक्त होते हैं। अर्थात्—मूल में अंकित पाठ के अनुसार मन-वचन-काया से प्राणाति-पातादि न करना, न कराना और न अनुमोदन करना, यों नौ कोटि प्रत्याख्यानों से महाव्रत पूर्णविरति रूप होते हैं, जबकि अणुव्रत में इनमें से कुछ विकल्प (छूटें-रियायतें) रख कर शेष प्राणातिपात आदि का त्याग किया जाता है। इस प्रकार अपूर्ण विरति अणुव्रत कहलाती है और पूर्ण विरति महाव्रत। व्रत के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों रूप होते हैं। इस प्रकार (१) अणुव्रतों की अपेक्षा महान् (विशाल) होने के कारण ये (अहिंसादि पांचों) महाव्रत कहलाते हैं। (२) दूसरा कारण है—संसार के सर्वोच्च महाध्येय—मोक्ष के अतिनिकट के साधक होने से ये महाव्रत कहलाते हैं। (३) इन व्रतों को धारण करने वाली आत्मा अतिमहान् एवं उच्च हो जाती है, इन्द्र एवं चक्रवर्ती आदि उसको

---

४९. अयं च आत्मप्रतिपत्त्यर्हो दण्डनिक्षेपः सामान्यविशेषरूप इति, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स तु विशेषतः पंचमहाव्रतरूपतयाऽभ्युपगमनीयकर्त्तव्य इति महाव्रतान्याह। —हारि. वृत्ति, पत्र १४४

५०. दशवै. (मुनि नथमलजी), पृ. १३६

मस्तक झुकाते हैं, इसलिए भी ये महाव्रत कहलाते हैं ।[५१] (४) अथवा इन्हें चक्रवर्ती, राजा, महाराजा अथवा तीव्रवैराग्य सम्पन्न महान् वीर व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) धारण कर सकते हैं, इनका पालन कर सकते हैं, इस कारण भी ये महाव्रत कहलाते हैं; (५) ये सकलरूप से अंगीकार किये जाते हैं, विकल-रूप से नहीं, तथा इनमें हिंसादि पांच पापों का जो त्याग किया जाता है, वह समग्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से किया जाता है, इस कारण भी इन्हें महाव्रत कहा गया है ।[५२]

महाव्रत : सर्वविरमणरूप—पांचों ही महाव्रतों के मूलपाठ में **'सव्वं'** या **'सव्वाओ'** शब्द निहित है, जिसका तात्पर्य है—सभी प्रकार के (समस्त) प्राणातिपात आदि से विरतिरूप ये पांचों महाव्रत हैं । तत्पश्चात् प्रत्येक महाव्रत की प्रतिज्ञा के पाठ में सर्वशब्द का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है । जैसे कि—सर्वप्राणातिपात विरमण महाव्रत में **'से सुहुमं वा बायरं वा'** इत्यादि कहा गया है । तत्पश्चात् इसी सर्वशब्द के सन्दर्भ में तीनकरण, तीनयोग से (कृत, कारित, अनुमोदनरूप से, मन-वचन-काया से) प्राणातिपात आदि पांचों पापों के सर्वथा प्रत्याख्यान का उल्लेख किया गया है । पांचों महाव्रतों के प्रतिज्ञा-पाठ में उक्त सर्वप्राणातिपात आदि का तात्पर्य है—मैं मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदनरूप प्राणातिपात, मृषावाद, आदि का आचरण नहीं करूंगा, मैं पूर्वोक्त सभी प्रकार के प्राणातिपात, मृषावाद आदि का प्रत्याख्यान करता हूँ । त्रिकरण-त्रियोग का स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है । अर्थात्—साध्वी या साधु महाव्रतों की प्रतिज्ञा के समय कहता है—श्रमणो-पासक की तरह प्रत्येक व्रत में कुछ छूट रखकर मैं स्थूलरूप से प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान नहीं करता, अपितु सर्व प्रकार के प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान करता हूँ । **सर्व का अर्थ है**—निरवशेष । महाव्रतों में किसी भी प्रकार की छूट या रियायत नहीं रहती । **विरमण का अर्थ है**—सम्यग्ज्ञान और सम्यक् श्रद्धापूर्वक प्राणातिपात आदि पापों से सर्वथा निवर्तन—निवृत्ति करना ।[५३] प्रत्येक महाव्रत के साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हिंसादि पापों से विरत होने का विधान भी 'सर्वविरमण' के अन्तर्गत आता है ।

प्रत्याख्यान : प्रतिज्ञा का प्राण—प्रत्येक महाव्रत की प्रतिज्ञा के प्रारम्भ में **'पच्चक्खामि'** शब्द आता है । 'प्रत्याख्यान' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार होता है—प्रत्याख्यान में तीन शब्द

---

५१. (क) 'एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतं, सर्वतो विरतिर्महाव्रतम् ।' —तत्त्वार्थ. ७।२ भाष्य
(ख) तत्त्वार्थ. ७।१ भाष्य सिद्धसेनीया टीका,
(ग) 'अकरणं निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम् ।' —तत्त्वार्थ. ७।२ भाष्य
(घ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ७२-७३

५२. (क) महच्च तद्व्रतं महाव्रतं; महत्त्वं चास्य श्रावकसम्बन्ध्यणुव्रतापेक्षयेति । —हारि. वृत्ति, पत्र १४४
(ख) 'सकले महति वते महव्वते ।' —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ८०
(ग) जम्हा य भगवंतो साधवो तिविहं तिविहेण पच्चक्खायंति, तम्हा तेसिं महव्वयाणि भवंति, सावयाणं पुण तिविहं दुविहं पच्चक्खायमाणाणं देसविरईए खुड्डुलगाणि वयाणि भवंति । —जिनदास. चूर्णि, पृ. १४६

५३. (क) सर्वमिति निरवशेषं, न तु परिस्थूरमेव । —हारि. वृत्ति, पत्र १४४
(ख) 'विरमणं नाम सम्यग्ज्ञान-श्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्त्तनम् ।' —हारि. वृत्ति, पत्र १४४
(ग) दशवैकालिक (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. ७३

हैं—प्रति+आ+ख्यान। प्रति शब्द (उपसर्ग) प्रतिषेध-निषेध अर्थ में, आ—अभिमुख अर्थ में, और 'ख्या' धातु कथन अर्थ में है। इन तीनों शब्दों का मिलकर प्रत्याख्यान का अर्थ हुआ—प्रतिषेध (प्रतीप)—अभिमुख कथन करना, प्रत्येक महाव्रत के पाठ में जब 'प्रत्याख्यामि' शब्द आता है तो उसका अर्थ हो जाता है—प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे—मैं अहिंसामहाव्रत के प्रतीप (हिंसा) प्राणातिपात के प्रतिषेध के अभिमुख कथन करता हूँ। अर्थात्—मैं प्राणातिपात न करने के लिए वचनबद्ध या प्रतिज्ञाबद्ध हो रहा हूँ। अथवा 'पच्चक्खामि' शब्द का संस्कृतरूप 'प्रत्याचक्षे' होता है—तब इसका स्पष्टार्थ होता है—"मैं संवृतात्मा सम्प्रति (इस समय) भविष्य में हिंसादि पाप के प्रतिषेध के लिए आदरपूर्वक (श्रद्धा-भक्तिपूर्वक) अभिधान (कथन) करता हूँ।" निष्कर्ष यह है कि प्रत्याख्यान महाव्रतों की प्रतिज्ञा का प्राण है, जिसके द्वारा संवृतात्मा साधक गुरु के समक्ष वर्तमान में उपस्थित होकर भविष्य में किसी प्रकार का पाप न करने के लिए प्रत्याख्यान करता है, वचनबद्ध होता है। यहीं से उसके महाव्रतारोपण का श्रीगणेश होता है। उसी प्रत्याख्यान (वचनबद्धता) को साधु या साध्वी द्वारा गुरु या गुरुणी के समक्ष **'पडिक्कमामि, निंदामि, गरहामि, अप्पाणं वोसिरामि'** के रूप में विस्तृतरूप से दोहराया जाता है। इनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।[५४]

भंते : तीनरूप एवं उद्देश्य—वृत्तिकार के अनुसार इस शब्द के तीन रूप होते हैं—भदन्त, भवान्त और भयान्त। भदन्त का अर्थ है—जिसके अन्तस् (हृदय) में शिष्य का एकमात्र कल्याण निहित है। भवान्त का अर्थ भव—संसार का अन्त कराने वाला तथा भयान्त का भावार्थ है—जन्म-मरणादि दुःखों के भय का अन्त कराने वाला। 'भंते' शब्द शास्त्रों में यत्र तत्र गुरु या भगवान् को आमंत्रित (सम्बोधित) करने के लिए प्रयुक्त होता है। महाव्रतस्वीकार गुरु की साक्षी से ही उचित होता है, इसलिए शिष्य गुरु को सम्बोधित करके प्रतिज्ञाबद्ध होने का निवेदन करता है। चूर्णिकार का मत है कि गणधरों ने भगवान् से अर्थ (प्रतिज्ञावस्तु)[५५] सुनकर व्रत अंगीकार करते समय **'तस्स भंते०'** इत्यादि उद्गार प्रकट किये। तभी से लेकर आज भी व्रतग्रहण करते समय शिष्य द्वारा गुरु को आमंत्रण करने के लिए 'भंते' शब्द का प्रयोग होता आ रहा है।

अहिंसामहाव्रत को प्राथमिकता देने के कारण—प्रश्न होता है—अहिंसा महाव्रत को ही प्राथमिकता क्यों दी गई है? अन्य व्रतों (महाव्रतों) को क्यों नहीं? यहाँ अहिंसा महाव्रत को प्राथमिकता देने के पांच कारण प्रस्तुत किये जाते हैं—(१) **'पढमे भंते' महव्वए०'** पाठ में 'प्रथम' शब्द सापेक्ष है, मृषावाद विरमण आदि की अपेक्षा से इसे प्रथम कहा गया है। (२) सूत्रक्रम के

---

५४. (क) प्रत्याख्यामीति-प्रतिशब्दः प्रतिषेधे, आङाभिमुख्ये, ख्या-प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं (प्राणातिपातस्य) करोमि प्रत्याख्यामीति; अथवा प्रत्याचक्षे-संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्य आदरेणाभिधानं करोमीत्यर्थः। —हारि. वृत्ति, पत्र १४४-१४५

(ख) 'संपइकालं संवरियप्पणो अणागते अकरणनिमित्तं पच्चक्खाणं।' —जिन. चूर्णि पृ. १४६

५५. (क) भदन्तेति गुरोरामंत्रणम् भदन्त भवान्त भयान्त इति साधारणा श्रुतिः। एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १४४

(ख) 'भंते! इति भगवतो आमंत्रणं।' —अ. चू., पृ. ७८

(ग) गणहरा भगवतो सकासे अत्थं सोऊण वतपडिवत्तीए एवमाहु-तस्स भंते०। तहा जे वि इमम्मि काले ते वि वताइं पडिवज्जमाणा एवं भणंति—तस्स भंते.। —अ. चू., पृ. ७८

अनुसार भी सर्वप्राणातिपातविरमण महाव्रत को प्रथम स्थान दिया गया है। (३) चूर्णिद्वय के अनुसार—अहिंसा मूलव्रत है, अथवा प्रधान मूलगुण है, क्योंकि 'अहिंसा परमधर्म' है। शेष महाव्रत इसी (अहिंसा) के अर्थ (प्रयोजन) में विशेषता लाने वाले हैं, अथवा शेष महाव्रत उत्तर गुण हैं, क्योंकि वे अहिंसा के ही अनुपालन के लिए प्ररूपित हैं। (४) पांचों महाव्रतों में अहिंसा ही प्रधान है, शेष सत्य आदि महाव्रत, धान्य की रक्षा के लिए खेत के चारों ओर लगाई गई बाड़ के समान अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए होने से उसी के अंगभूत हैं। कहा भी है—

'सभी जिनवरों ने एक प्राणातिपात-विरमण को ही मुख्य व्रत कहा है, शेष (मृषावाद-विरमणादि) व्रत उसी की रक्षा के लिए हैं।'

सब पापों में मुख्य पाप हिंसा ही है, इसलिए उसकी निवृत्ति करने वाला अहिंसा-महाव्रत भी सब में प्रधान है। एक आचार्य ने कहा है—असत्यवचन आदि सभी आत्मा के परिणामों की हिंसा के कारण होने से एक प्रकार से हिंसारूप ही हैं। (अतः हिंसा से विरतिरूप अहिंसा-महाव्रत ही मुख्य है।) मृषावादविरमण आदि शेष महाव्रतों का कथन केवल शिष्यों को स्पष्टतया समझाने के लिए किया गया है। इन सब कारणों से अहिंसामहाव्रत को प्राथमिकता दी गई है।[५६]

प्राणातिपात-विरमण : व्याख्या—प्राणातिपात का अर्थ है—प्राणी के दस प्राणों में से किसी भी प्राण का अतिपात—वियोग—विसंयोग करना। शास्त्र में दस प्राण कहे गए हैं—"श्रोत्रेन्द्रिय-बलप्राण, चक्षुरिन्द्रियबलप्राण, घ्राणेन्द्रियबलप्राण, रसनेन्द्रियबलप्राण, स्पर्शेन्द्रियबलप्राण, मनोबलप्राण, वचनबलप्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासबलप्राण और आयुष्यबलप्राण।" इन दस प्राणों का वियोग करना हिंसा है। अथवा प्राणातिपात का अर्थ है—जीवों को किसी प्रकार का दुःख (कष्ट) पहुँचाना। प्राणातिपात के बदले यहाँ जीवातिपात न कहने का एक कारण यह है कि केवल जीवों को मारना ही अतिपात (हिंसा) नहीं है, किन्तु उनके प्राणों को किसी प्रकार का दुःख पहुँचाना भी हिंसा है। दूसरा कारण यह है कि जीव (आत्मा) का अतिपात (नाश) तो होता ही नहीं है, वह तो सदा नित्य है, अविनाशी है। अतिपात (वियोग या नाश) केवल प्राणों का होता है और प्राणों

---

५६. (क) पढमं ति नाम सेसाणि मुसावादादीणि पडुच्च एतं पढमं भण्णइ। —जिन. चूर्णि., पृ. १४४

(ख) सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्राणातिपातविरमणं प्रथमम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १४४

(ग) महाव्वतादौ पाणातिवाताओ वेरमणं पहाणो मूलगुण इति, जेण 'अहिंसा परमो धम्मो', सेसाणि महव्वताणि एतस्सेव अत्थविसेसगाणीति तदणंतरं। —अगस्त्य चूर्णि., पृ. ८२

(घ) '.....एतं मूलवयं, अहिंसा परमो धम्मोत्ति, सेसाणि पुण महव्वयाणि उत्तरगुणा, एतस्य चेव अणुपालणत्थं परूवियाणि। —जिन. चूर्णि., पृ. १४७

(ङ) दशवै. (आचारमणिमंजूषाटीका) भा. १ पृ. २३८
'एगं चिव इत्थ वयं निदिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं। पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥'

(च) आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्। अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥
—दशवै. (आ. आत्मारामजी म.) पृ. ७३

के वियोग से ही जीव को अत्यन्त दुःख उत्पन्न होता है, इसीलिए 'प्राणातिपात' शब्द का ग्रहण किया गया है। इसी कारण प्रथम महाव्रत का नाम प्राणातिपात-विरमण रखा गया है।[५७]

सर्व-प्राणातिपात—प्रस्तुत पाठ में सभी प्रकार के प्राणातिपात के सर्वथा त्याग (प्रत्याख्यान) का कथन है। उसमें सर्वप्रथम प्राणियों के ४ मुख्य प्रकार दिये गये हैं—सूक्ष्म, बादर, त्रस और स्थावर। सूक्ष्म वे जीव हैं, जिनके शरीर की अवगाहना अत्यन्त अल्प होती है, और बादर (स्थूल) वे जीव हैं, जिनके शरीर की अवगाहना बड़ी होती है। सूक्ष्मनामकर्म के उदय के कारण जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है। क्योंकि ऐसे सूक्ष्म जीव की काया द्वारा हिंसा संभव नहीं है। स्थूल दृष्टि[५८] से सूक्ष्म या स्थूल अवगाहना वाले जीवों को ही यहाँ सूक्ष्म या बादर कहा गया है।

त्रस और स्थावर—ऊपर जो सूक्ष्म और बादर जीव कहे गये हैं, उनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—त्रस और स्थावर। जो त्रास या उद्वेग पाते हैं, वे त्रस हैं, जो स्थान से विचलित नहीं होते—एक स्थान पर ही अवस्थित रहते हैं, वे स्थावर कहलाते हैं। कुंथु आदि सूक्ष्म त्रस हैं, और गाय, बैल आदि बादर त्रस हैं, वनस्पति आदि सूक्ष्म स्थावर हैं, और पृथ्वी आदि बादर स्थावर हैं।[५९]

प्राणातिपात किन साधनों से और किस-किस प्रकार से?—सर्वप्राणातिपात के सन्दर्भ में ही यहाँ बताया गया है कि प्राणातिपात मन, वचन और शरीर, इन तीन साधनों (योगों) से, तथा कृत, कारित और अनुमोदन से होता है। इन सब प्रकारों से होने वाले प्राणातिपातों से नवदीक्षित साधु-साध्वी विरत होने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं।[६०] इस विषय की व्याख्या पूर्वपृष्ठों में की जा चुकी है।

---

५७. (क) 'पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥'
(ख) प्राणा इन्द्रियादयस्तेषामतिपातः प्राणातिपातः जीवस्य महादुःखोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव।
—हारि. वृत्ति, पत्र १४४

५८. (क) सुहुमं अतीव अप्पसरीरं तं वा, वातं रातीति वातरो महासरीरो ते वा। अ. चू., पृ. ८१
(ख) सुहुमं नाम जं सरीरावगाहणाए सुट्ठु अप्पमिति, बादरं नाम थूलं भण्णइ। —जि. चू. पृ. १४६
(ग) अत्र सूक्ष्मोऽल्पः परिगृह्यते, न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनासंभवात्।
—हारि. टीका, पत्र १४५

५९. (क) तसं वा-'त्रसी उद्वेजने' त्रस्यतीति त्रसः, तं वा, 'थावरो' जो थाणातो ण विचलति तं वा। ···सव्वे पगारा ण हंतव्वा। —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ८१
(ख) "तत्थ जे ते सुहुमा बादरा य ते दुविहा, तं. तसा य थावरा वा। तत्थ तसंतीति तसा, जे एगंमि ठाणे अवट्ठिया चिट्ठंति ते थावरा भण्णंति।" —जिन. चूर्णि, पृ. १४६-१४७
(ग) "सूक्ष्मत्रसः कुन्थ्वादिः स्थावरो वनस्पत्यादिः, बादरस्त्रसो गवादिः, स्थावरः पृथिव्यादिः।"
—हारि. वृत्ति, पत्र १४५

६०. तिविहं ति-मणो-वयण-कायातो, तिविहेणं ति करण-कारावण-अणुमोयणाणि। —अगस्त्य.चूर्णि, पृ. ७८

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्राणातिपात का त्याग—इसके अतिरिक्त सर्वप्राणातिपात-विरमण में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्राणातिपात का विचार करके उनसे विरत होना आवश्यक है। द्रव्यदृष्टि से प्राणातिपात का विषय षड्जीवनिकाय है, अर्थात्—हिंसा छह प्रकार (निकाय) के सूक्ष्म एवं बादर जीवों की होती है। क्षेत्रदृष्टि से प्राणातिपात का विषय समग्र लोक है, क्योंकि समग्र लोक में ही जीव हैं, अतः प्राणातिपात लोक में ही सम्भव है। काल की दृष्टि से प्राणातिपात का विषय सर्वकाल है, क्योंकि दिन हो या रात, सब समय सूक्ष्म बादर जीवों की हिंसा हो सकती है तथा भावों की दृष्टि से हिंसा का हेतु राग और द्वेष हैं। जैसे—मांसादि या शरीर आदि के लिए रागवश तथा शत्रु आदि को द्वेषवश मारा जाता है।

इसके अतिरिक्त द्रव्यहिंसा-भावहिंसा आदि अनेक विकल्प हिंसा के हैं। निष्कर्ष यह है कि शिष्य गुरु के समक्ष प्रतिज्ञाबद्ध होता है कि मैं (उपर्युक्त) सभी प्रकार से प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ।[६१]

मृषावाद : प्रकार, कारण और विरमण—मृषावाद का विशेष रूप से अर्थ होता है—मन से असत्य सोचना, वचन से असत्य बोलना, और काया से असत्य आचरण करना, असत्य लिखना, असत्य चेष्टा करना। इसी दृष्टि से मृषावाद (असत्य) चार प्रकार का होता है—(१) सद्भाव-प्रतिषेध, (२) असद्भाव-उद्भावन, (३) अर्थान्तर और (४) गर्हा।

(१) सद्भावप्रतिषेध—जो विद्यमान है, उसका निषेध करना। जैसे आत्मा नहीं है, पुण्य या पाप नहीं है, बन्ध-मोक्ष नहीं है, इत्यादि।

(२) असद्भाव—उद्भावन—अविद्यमान (असद्भूत) वस्तु का अस्तित्व कहना अथवा जो नहीं है या जैसा नहीं है, उसके विषय में कहना कि यह वैसा है। जैसे-आत्मा के सर्वगत—सर्वव्यापक न होने पर भी उसे वैसा कहना अथवा आत्मा को श्यामाक तन्दुल के बराबर कहना, इत्यादि।

(३) अर्थान्तर—किसी वस्तु को अन्य रूप में बताना अथवा पदार्थ का स्वरूप विपरीत बताना। जैसे—गाय को घोड़ा, और घोड़े को हाथी कहना।

(४) गर्हा—जिसके बोलने से दूसरों के प्रति घृणा एवं द्वेष उत्पन्न होने से उनका हृदय दुःखित होता है। जैसे-काने को काना, नपुंसक को हींजड़ा, चोर को 'चोर!' इत्यादि कहना।[६२]

मृषावाद के कारण—असत्य बोलने, लिखने या असत्याचरण करने के चार मुख्य कारण बताए गए हैं—क्रोध से, लोभ से, भय से और हास्य से। वास्तव में मनुष्य क्रोध आदि चार कषायों

---

६१. (क) इयाणिं एस एव पाणाइवाओ चउव्विहो सवित्थरो भण्णइ, तं.—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ·······दोसेण वितियं मारेइ। —जिन. चूर्णि, पृ. १४७

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ६४

६२. तत्थ मुसावाओ चउव्विहो, तं.—सब्भावपडिसेहो, असब्भूयुब्भावणं, अत्थंतरं, गरहा। तत्थ सब्भावपडिसेहो णाम जहा—णत्थि जीवो, णत्थि पुण्णं पावं, णत्थि बंधो, णत्थि मोक्खो एवमादी। असब्भूयुब्भावणं नाम जहा अत्थि जीवो सव्ववावी, सामाग-तंदुलमेत्तो वा एवमादी। पयत्थंतरं नाम जो गावि भणइ एसो अस्सोत्ति। गरहा णामं—तहेव काणं काणित्ति, एवमादी। —जिनदास चूर्णि, पृ. १४८

के प्रवाह में वह कर असत्य बोलता, लिखता या आचरता है; किन्तु यह निश्चित समझना चाहिए कि असत्य के ये चार कारण तो उपलक्षणमात्र हैं। क्रोध के ग्रहण द्वारा मान (अहंकार, दर्प या गर्व अथवा मद) को भी ग्रहण कर लिया गया है। लोभ के ग्रहण से माया का भी ग्रहण हो जाता है। कपट, छल, धोखाधड़ी, झूठ-फरेब, पैशुन्य, मक्कारी, वंचना, ठगी, परनिन्दा आदि सब माया के दायरे में हैं। भय और हास्य के ग्रहण से राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि का ग्रहण हो जाता है। इस तरह मृषावाद अनेक कारणों से बोला, लिखा तथा आचरित किया जाता है। यही बात अन्य पापों के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए।[६३]

द्रव्यादि की अपेक्षा से मृषावाद—मृषावादविरमण महाव्रती को चार दृष्टियों से इसका विचार करना चाहिए—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः। **द्रव्यदृष्टि से** मृषावाद का विषय सर्वद्रव्य है, क्योंकि सजीव, निर्जीव सभी द्रव्यों के विषय में असत्य बोला जाता है। **क्षेत्रदृष्टि से** मृषावाद का विषय लोक और अलोक दोनों हो सकते हैं। **कालदृष्टि से** इसका विषय दिन और रात (सर्वकाल) हैं। **भावदृष्टि से**—मृषावाद के हेतु—क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि कई विकारभाव या विभाव हो सकते हैं।[६४]

सर्वमृषावादविरमण : सत्य महाव्रत के लिए—जब साधु-साध्वी प्रतिज्ञाबद्ध हों, तब मृषावाद के इन प्रकारों तथा चार प्रकार की भाषाओं (सत्यभाषा, असत्यभाषा, मिश्रभाषा, व्यवहारभाषा), १० प्रकार के सत्य (जनपदसत्य आदि) एवं काया, भाषा तथा भावों की ऋजुता और अविसंवादी योग (मन-वचन-काया) इत्यादि का ध्यान रखते हुए पूर्ववत् मन वचन काया से, कृत-कारित-अनुमोदित रूप से मृषावाद के यावज्जीव-प्रत्याख्यान के लिए गुरु के समक्ष विधिवत् प्रतिज्ञाबद्ध होना चाहिए।

अदत्तादान : स्वरूप और विविधरूप—बिना दिया हुआ लेने (चोरी, अपहरण, लूटपाट आदि) की बुद्धि से, दूसरे के स्वामित्व या अधिकार के या दूसरे के द्वारा परिगृहीत या अपरिगृहीत तृण, काष्ठ आदि किसी भी द्रव्य या भाव (विचार) का ग्रहण करना, उसे अपने अधिकार या स्वामित्व में ले लेना अदत्तादान है।[६५] इसका उग्ररूप चौर्य या चोरी डकैती लूट आदि है। सब प्रकार के अदत्तादान से विरत होने के लिए साध्वी या साधु प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं। उस समय अदत्तादान के विविध रूपों का ध्यान रखना आवश्यक है, यह मूलपाठ में बतलाया गया है—गाँव में, नगर में या अरण्य में, किसी भी जगह, किसी भी क्षेत्रविशेष में अदत्तादान नहीं करना चाहिए।

अल्प या बहुत—अल्प के दो प्रकार हैं—(१) जो मूल्य की दृष्टि से अल्प मूल्य का पदार्थ हो, जैसे-एक कौड़ी। अथवा परिमाण की दृष्टि से अल्प हो, जैसे—एक एरण्डकाष्ठ। बहुत के दो प्रकार—(१) जो मूल्य की दृष्टि से बहुमूल्य हो, जैसे—हीरा आदि। (२) अथवा परिमाण या संख्या की दृष्टि से बहुत परिमाण या संख्या की वस्तु हो।

---

६३. ·····कोहग्गहणेण माणस्स वि गहणं कयं, लोभगहणेण माया गहिया, भय-हासगहणेण पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाणाइणो गहिया।····· —जिनदास चूर्णि, पृ. १४८

६४. जिन. चूर्णि, पृ. १४८

६५. जिन. चूर्णि, पृ. १४९

अणु (सूक्ष्म) एवं स्थूल—सूक्ष्म (छोटी)—जैसे एरण्ड की पत्ती या काष्ठ की चिरपट या तिनका आदि। स्थूल—जैसे सोने का टुकड़ा या रत्न आदि।

सचित्त एवं अचित्त—पदार्थ तीन प्रकार के हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र।[६६] सचित्त, जैसे-मनुष्यादि, अचित्त—जैसे-कार्षापण आदि, मिश्र-जैसे-वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित मनुष्य।

सर्व-अदत्तादानविरमण : विश्लेषण—प्रस्तुत में अदत्तादान के प्रकार बताए हैं, वैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से भी अदत्तादान का विचार कर लेना चाहिए—**द्रव्यदृष्टि से**—अदत्तादान का विषय अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल, सचित्त, अचित्त, आदि द्रव्य अदत्तादान के विषय हैं। **क्षेत्रदृष्टि से** इसका विषय-ग्राम, नगर, अरण्य आदि स्थान हैं। **कालदृष्टि से** इसका विषय दिन और रात्रि आदि सर्वकाल हैं। **भावदृष्टि से** अल्पमूल्य, बहुमूल्य पदार्थ हैं, अथवा लोभ, मोह, आदि भाव हैं। इसी-तरह पांच प्रकार के अदत्त हैं—देव-अदत्त (देव का या देवाधिदेव तीर्थंकर की आज्ञा से बाह्य), गुरु-अदत्त, राजा-अदत्त, गृहपति-अदत्त और साधर्मि-अदत्त। इन 'पांच प्रकार के अदत्त में से किसी भी प्रकार का अदत्त मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदितरूप से लेना अदत्तादान है। उससे विरत होकर गुरुदेव के समक्ष प्रतिज्ञाबद्ध होना सर्व-अदत्तादान-विरमण महाव्रत का स्वीकार है।[६७]

सर्व-मैथुनविरमण : विश्लेषण—केवल रतिकर्म का नाम ही मैथुन नहीं है, अपितु रति-भाव या रागभाव पूर्वक जीव की जितनी भी चेष्टाएँ हैं, वे सभी मैथुन हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने मैथुन के अनेक भेद किये हैं। चित्त में रतिभाव-कामभाव उत्पन्न करने वाले अनेक कारण हैं। उनमें से दो मुख्य हैं—रूप और रूपसहित द्रव्य। रूप के दो अर्थ हैं—(१) निर्जीव वस्तुओं का सौन्दर्य (जैसे मृत शरीर या प्रतिमा आदि) को देख कर, अथवा (२) आभूषणरहित सौन्दर्य को देख कर। रूपसहित द्रव्य के भी दो अर्थ हैं—(१) स्त्री आदि सजीव वस्तु के सौन्दर्य आदि को देख कर। इसके मुख्य तीन प्रकार हैं—देवांगना सम्बन्धी मैथुन (दिव्य), मनुष्य से सम्बन्धित मैथुन (मानुषिक) और पशु-पक्षी आदि तिर्यञ्च के साथ मैथुन (तिर्यञ्चसम्बन्धी)। अथवा (२) आभूषणसहित सौन्दर्य को देखकर होने वाला रूपसहगत मैथुन।[६८] इस प्रकार **द्रव्यदृष्टि से** पूर्वोक्त सचेतन, अचेतन सभी द्रव्य मैथुन के विषय हैं। **क्षेत्रदृष्टि से**—मैथुन का विषय तीनों लोक (ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक) हैं; **कालदृष्टि से**—उसका विषय दिन और रात्रि आदि सर्वकाल हैं, और **भावदृष्टि से**—मैथुन का हेतु राग (कामराग, दृष्टिराग, स्नेहराग) और द्वेष हैं। इसी प्रकार काम (मैथुनभाव) की उत्पत्ति की

---

६६. 'अप्पं परिमाणतो मुल्लतो वा, परिमाणतो जहा—एगा सुवण्णगुंजा मुल्लतो कवड्डियामुल्लं वत्थू। बहुं परिमाणतो वा मुल्लतो वा। परिमाणतो-सहस्सपमाणं, मुल्लतो एकं वेरुलितं। अणुं-मूलगपत्तादी अथवा कट्ठं कलिचं वा एवमादी, थूलं सुवण्णखोडी वेरुलिया वा उवगरणं। —जिन. चूर्णि, पृ. १४९

६७. जिनदास चूर्णि, पृ. १४९

६८. (क) दव्वतो रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु, रूवं-पडिमामयसरीरादि, रूवसहगतं सजीवं।
—अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ८४

(ख)····रूवसहगयं तिविहं भवति, तं.—दिव्वं माणुसं तिरिक्खजोणियं ति।
अहवा रूवं भूसणवज्जियं, सहगयं भूसणेण सह। —जिन. चूर्णि, पृ. १५०

दृष्टि से ब्रह्मचर्य की नौ वाड़ से विपरीत प्रवृत्ति करना है, अथवा स्मरण, कीर्त्तन, क्रीड़ा, प्रेक्षण, एकान्त भाषण, संकल्प, अध्यवसाय एवं क्रियानिष्पत्ति, ये आठ मैथुनांग भी हैं। इन सब मैथुनों से मन वचन काया से, कृत-कारित-अनुमोदनरूप से यावज्जीवन के लिए विरत होना सर्व-मैथुन-विरमण का स्वरूप है। साधु और साध्वी को अपनी-अपनी जाति के अनुसार विजातीय के प्रति सर्वमैथुन का प्रत्याख्यान ग्रहण करना और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होकर पालन करना आवश्यक है।[६९]

सर्व-परिग्रह-विरमण : विश्लेषण—सचित्त-अचित्त, तथा विद्यमान या अविद्यमान, स्वाधीन या अस्वाधीन पदार्थों के प्रति मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह के दो प्रकार हैं। धन, धान्य, क्षेत्र (खेत या खुला स्थान), वास्तु (मकान) हिरण्य, सुवर्ण, दासी-दास, द्विपद-चतुष्पद, एवं कुप्य आदि बाह्य-परिग्रह हैं। चार कषाय, नौ नोकषाय, मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर परिग्रह हैं। परिग्रह के तीन भेद भी शास्त्र में बताये गए हैं—(१) शरीर, (२) कर्म और उपधि। फिर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से परिग्रह के चार प्रकार भी चूर्णिकार ने सूचित किये हैं—**द्रव्यदृष्टि से**—अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, बहुमूल्य-अल्पमूल्य, सचित्त (शिष्य-शिष्या आदि), अचित्त आदि सर्वद्रव्य परिग्रह (मूर्च्छाभाव) का विषय हैं। **क्षेत्रदृष्टि से**—समग्र लोक उसका विषय है। **कालदृष्टि से**—दिन और रात उसका विषय है और **भावदृष्टि से**—अल्पमूल्य और बहुमूल्य वस्तु के प्रति आसक्ति, मूर्च्छा, राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि भाव उसके विषय हैं। इस प्रकार समग्र परिग्रह[७०] से मन, वचन, काया से, कृत, कारित और अनुमोदनरूप से सर्वथा विरत होना सर्वपरिग्रहविरमण का स्वरूप है। साधु या साध्वी को गुरु या गुरुणी के समक्ष अपरिग्रह नामक पंचम महाव्रत के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते समय सर्व-परिग्रह से विरत होना आवश्यक है। उसके पास जो भी संयम पालन के लिए आवश्यक वस्त्र पात्रादि उपकरण या शरीरादि रहें, उन्हें भी ममता-मूर्च्छारहित होकर रखना या उनका उपयोग करना है।

छठा रात्रिभोजनविरमण व्रत : एक चिन्तन—रात्रिभोजन को इसी शास्त्रके तृतीय अध्ययन में अनाचीर्ण तथा छठे अध्ययन में उल्लिखित छह व्रतों (वयछक्कं) में तथा उत्तराध्ययन में रात्रिभोजनत्याग को कठोर आचारगुणों में से एक गुण बताया गया है; तथा इस अध्ययन में पांच विरमणों को महाव्रत और सर्वरात्रिभोजनविरमण को 'व्रत' कहा गया है। यद्यपि रात्रिभोजनत्याग को महाव्रतों की तरह ही दुष्कर माना गया है, रात्रिभोजनविरमण को साधु-साध्वियों के लिए अनिवार्य और निरपवाद माना गया है। ऐसी स्थिति में प्रथम के पांच विरमणों को महाव्रत कहने और रात्रिभोजनविरमण को व्रत कहने में आचरण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ता। तथापि साधु-

---

६९. (क) जिनदास चूर्णि, पृ. १५०

(ख) स्मरणं, कीर्त्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांगम्।.......

७०. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.)

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ. १५१

साध्वियों के लिए प्रथम पांच व्रतों को प्रधान गुणों की दृष्टि से महाव्रत और सर्वरात्रिभोजनविरमण-व्रत को उत्तर (सहकारी) गुणरूप मान कर उसे मूलगुणों से पृथक् समझाने हेतु केवल 'व्रत' संज्ञा दी है। यद्यपि मैथुन-सेवन करने वाले के समान ही रात्रिभोजन करने वाला भी अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का भागी होता है, इस दृष्टि से रात्रिभोजनत्याग का पालन उतना ही अनिवार्य माना है, जितना कि अन्य महाव्रतों का। रात्रि में भोजन करना, आलोकितपान-भोजन और ईर्यासमिति (भिक्षाटन के लिए देख कर चलने) के पालन में बाधक है, जो कि अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ हैं, तथा रात्रि में आहार का संग्रह (भोजन को संचित) रखना (सन्निधि) अपरिग्रह की मर्यादा में बाधक है। इन्हीं सब कारणों से रात्रिभोजन का निषेध किया गया है और रात्रिभोजनत्याग को अगस्त्यसिंह चूर्णि में मूलगुणों की रक्षा का हेतु बताया गया है। यही कारण है कि रात्रिभोजनविरमण को मूलगुणों के साथ[७१] प्रतिपादित किया गया है। जिनदास महत्तर के मतानुसार—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का साधुवर्ग क्रमशः ऋजुजड़ और वक्रजड़ होता है, इसलिए वे रात्रिभोजनविरमण व्रत का, महाव्रतों की तरह पालन करें, इस दृष्टि से इसे महाव्रतों के साथ बताया गया है। मध्यवर्ती तीर्थंकरों का साधु-वर्ग ऋजुप्राज्ञ होने से वह रात्रिभोजन को सरलता से छोड़ सकता है, इस दृष्टि से रात्रिभोजन-विरमण व्रत को[७२] उत्तर गुण माना है। सर्वरात्रिभोजनविरमण व्रत के पालन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होने से पूर्व साधु-साध्वी वर्ग को इसका चार दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है—(१) **द्रव्यदृष्टि से**—रात्रिभोजन का विषय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आदि वस्तु-समूह है। **अशन**—उस वस्तु को कहते हैं, जिसका क्षुधानिवारण के लिए भोजन किया जाए, जैसे—चावल, रोटी आदि। **पान**—उसे कहते हैं जो पिया जाए; जैसे—द्राक्षा का पानी, संतरे या मौसम्बी का रस, आम्ररस, इक्षुरस व अन्य सभी प्रकार के पेय आदि। **खाद्य**—उसे कहते हैं, जो खाया जाए, जैसे—मोदक, खजूर, सूखे मेवे, पके फल आदि। **स्वाद्य**—उसे कहते हैं, जिसका मुखशुद्धि के या मुंह का जायका ठीक रखने के लिए उपयोग किया जाए, जैसे—सौंफ, इलायची, सोंठ आदि। **क्षेत्रदृष्टि से**—उसका विषय मनुष्यलोक है। **कालदृष्टि से**—उसका विषय रात्रि है, और **भावदृष्टि से**—(पूर्वोक्त) चतुर्भंग उसका हेतु है। शेष 'तीन करण, तीन योग से, यावज्जीव' रात्रिभोजनत्याग की व्याख्या पहले की जा चुकी है।[७३]

व्रत-ग्रहण-पालन : केवल आत्महितार्थ—प्रतिज्ञा का यह ('अत्तहियट्ठयाए.') सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि साधु-साध्वी वर्ग पूर्वोक्त महाव्रतों का रात्रिभोजनविरमण व्रत को इहलौकिक-पारलौकिक सुख के लिए, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, प्रशंसा या यशकीर्ति के लिए अथवा किसी अन्य भौतिक लाभ के लिए अंगीकार या पालन नहीं करता, न किसी देवी, मानुषी या भागवती शक्ति को प्रसन्न करने की दृष्टि से ऐसा करता है, अपितु आत्महित के लिए ही इन महाव्रतों को स्वीकार

---

७१. किं रातीभोयणं मूलगुणः उत्तरगुणः ? उत्तरगुण एवायं। तहावि सव्वमूलगुणरक्खाहेतुत्ति मूलगुणसम्भूतं पढिज्जति। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ८६

७२. पुरिमजिणकाले पुरिसा उज्जुजडा, पच्छिमजिणकाले पुरिसा वंकजडा, अतोनिमित्तं महव्वयाण उपरिं ठवियं, जेण तं महव्वयमिव मन्नंता ण पिल्लेहिंति, मज्झिमगाणं पुण एयं उत्तरगुणेसु कहियं, किं कारणं ? जेण ते उज्जुपण्णत्तणेण सुहं चेव परिहरंति। —जिन. चूर्णि, पृ. १५३

७३. असिज्जइ खुहितेहिं जं तमसणं जहा-कूरो एवमादीति, पिज्जंतीति पाणं, जहा-मुद्दियापाणगं एवमाइ, खज्जतीति खादिमं, जहा-मोदगो एवमादिं, सादिज्जति सादिमं, जहा—सुंठिगुलादि। —जि. चू., १५२

और पालन करना चाहिए। आत्महित का अर्थ मोक्ष (कर्ममुक्ति) है। इसमें कर्म, जन्म-मरणरूप संसार आदि से मुक्ति, आत्मशुद्धि अथवा आत्मकल्याण, या उत्कृष्ट मंगलमय धर्म-पालन से आत्म-रक्षा आदि का समावेश हो जाता है। आत्महित के विपरीत अन्य किसी उपर्युक्त भौतिक या लौकिक हेतु से व्रत ग्रहण करने पर व्रत का अभाव हो जाता है, आत्महित से बढ़कर कोई स्वाधीन सुख नहीं है। इसीलिए भगवान् ने इहलौकिक-पारलौकिक सुखाभिलाषा, समृद्धि या भोगाकांक्षा के हेतु आचार का स्वीकार या पालन करने की अनुज्ञा नहीं दी।[७४]

उवसंपज्जित्ताणं विहरामि : भावार्थ—उपसम्पद्य का अर्थ है—स्वीकार करके। इसका भावार्थ यह है कि गुरु के समीप, सुसाधु (शिष्य) की विधि के अनुसार इन (महाव्रतों तथा रात्रिभोजन-विरमण व्रत) को ग्रहण करके विहरण-विचरण करूंगा। वृत्तिकार के अनुसार ऐसा न करने पर अंगीकृत व्रतों का भी अभाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि गुरुचरणों में व्रतों का आरोहण करके उनका सम्यक् अनुपालन करता हुआ मैं अप्रतिबद्ध रूप से अभ्युद्गत विहारपूर्वक ग्राम, नगर, पट्टन आदि में विचरण करूंगा। अगस्त्यचूर्णि में इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार किया है—अथवा 'भगवान् से गणधर पांच महाव्रतों के अर्थ को सुन कर ऐसा कहते हैं कि हम इन्हें ग्रहण करके विहार करेंगे।'

अहिंसा महाव्रत के सन्दर्भ में : षट्काय-विराधना से विरति—

[४९] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा; से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा कलिंचेण वा* अंगुलियाए वा सलागाए वा सलागहत्थेण वा नाऽऽलिहेज्जा, न विलिहेज्जा, न घट्टेज्जा, न भिंदेज्जा, अन्नं नाऽऽलिहावेज्जा, न विलिहावेज्जा, न घट्टावेज्जा, न भिंदावेज्जा, अन्नं आलिहंतं वा, विलिहंतं वा, घट्टंतं वा, भिंदंतं वा, न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि, करेंतं+ पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि॥ १८॥

[५०] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा, उदओल्लं वा कायं उदओल्लं वा वत्थं, ससिणिद्धं☐ वा कायं, ससिणिद्धं वा वत्थं, नाऽऽमुसेज्जा, न संफुसेज्जा, न आवीलेज्जा, न पवीलेज्जा न अक्खोडेज्जा, न पक्खो-

---

७४. (क) अत्तहियट्ठताए—अप्पणो हितं—जो धम्मो मंगलमिति भणितं तदट्ठं। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ८६

(ख) आत्महितो—मोक्षस्तदर्थं, अन्येनान्यार्थं तत्त्वतो व्रताभावमाह, तदभिलाषानुमत्या हिंसादावनुमत्यादि भावात्। —हारि. वृत्ति, पत्र १५०

पाठान्तर— * किलिंचेण वा।
+ करंतं।
☐ ससणिद्धं।

डेज्जा, न आयावेज्जा, न पयावेज्जा; अन्नं नाऽऽमुसावेज्जा, न संफुसावेज्जा, न आवीलावेज्जा, न पवीलावेज्जा; नक्खोडावेज्जा, न पक्खोडावेज्जा; न आयावेज्जा, न पयावेज्जा; अन्नं आमुसंतं वा, संफुसंतं वा, आवीलंतं वा, पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंतं वा, आयावंतं वा, पयावंतं वा, × न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ १९ ॥

[५१] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिया वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा; से अगणिं वा इंगालं वा अच्चिं वा जालं वा, अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा; न उंजेज्जा, न घट्टेज्जा, न उज्जालेज्जा, [न पज्जालेज्जा], न निव्वावेज्जा; अन्नं न उंजावेज्जा, न घट्टावेज्जा, न उज्जालावेज्जा, [न पज्जालावेज्जा], न निव्वावेज्जा; अन्नं उंजंतं वा, घट्टंतं वा, उज्जालंतं वा, [पज्जालंतं वा], निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं; मणेणं वायाए काएणं; न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ २० ॥

[५२] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिया वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा; से सिएण वा, विहुयणेण वा, तालियंटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभंगेण वा, साहाए वा, साहाभंगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुणहत्थेण वा, चेलेण वा, चेलकण्णेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा; अप्पणो वा कायं, बाहिरं वावि पोग्गलं; न फूमेज्जा, न वीएज्जा; अन्नं न फूमावेज्जा न वीयावेज्जा, अन्नं फूमंतं वा, वीयंतं वा न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ २१ ॥

[५३] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीयपइट्ठेसु वा, रुढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा जायपइट्ठेसु वा, हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा छिन्न-पइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा; न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा न निसीएज्जा, न तुयट्टेज्जा; अन्नं न गच्छावेज्जा, न चिट्ठावेज्जा, न निसीयावेज्जा, न तुयट्टावेज्जा, अन्नं गच्छंतं वा, चिट्ठंतं वा, निसीयंतं वा, तुयट्टंतं वा, न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं,

---

× अक्खोडेंतं वा, पक्खोडेंतं वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा।

—दसवेयालियंसुत्तं (मूलपाठ, टिप्पण), पृ. ११-१२

[ ] इस प्रकार के कोष्ठक के अन्तर्गत अंकित पाठ अधिक है। —सं.

न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि ।। २२ ।।

[५४] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा, राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा, से कीडं वा, पयंगं वा, कुंथुं वा, पिवीलियं वा; हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा, ऊरुंसि वा, उदरंसि वा, सीसंसि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कंबलंसि वा, पायपुंछणंसि वा, रयहरणंसि वा, गोच्छगंसि वा, उंडगंसि वा दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सेज्जंसि वा, संथारगंसि वा, अन्नयरंसि वा, तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणेज्जा,* नो णं संघायमावज्जेज्जा ।। २३ ।।

[४९] (पांच महाव्रतों को धारण करने वाला) वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत है, विरत है, जो पापकर्मों का निरोध और प्रत्याख्यान कर चुका है, दिन में या रात में, एकाकी (या एकान्त में) हो या परिषद् में, सोते अथवा जागते; पृथ्वी को, भित्ति (नदी तट की मिट्टी) को शिला को, ढेले (या पत्थर) को, सचित्त रज से संसृष्ट काय, या सचित्त रज से संसृष्ट वस्त्र को, हाथ से, पैर से, काष्ठ से, अथवा काष्ठ के खण्ड (टुकड़े) से, अंगुलि से, लोहे की सलाई (शलाका) से, शलाका-समूह (अथवा सलाई की नोक) से, न आलेखन करे, न विलेखन करे, न घट्टन करे, और न भेदन करे; दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए; तथा आलेखन, विलेखन, घट्टन और भेदन करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन न करे; (भंते ! मैं पृथ्वीकाय की पूर्वोक्त प्रकार की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से (करता हूँ ।) (अर्थात्—) मैं (स्वयं पृथ्वीकाय-विराधना) नहीं करूंगा, न दूसरों से कराऊँगा और न पृथ्वीकाय-विराधना करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करूंगा ।

भंते ! मैं उस (अतीत की पृथ्वीकाय-विराधना) से निवृत्त होता हूँ; उसकी (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता हूँ; (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ, (उक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।। १८ ।।

[५०] वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि संयत है, विरत है, तथा जिसने पापकर्मों का निरोध (प्रतिहत) और प्रत्याख्यान किया है; दिन में अथवा रात में, एकाकी (या एकान्त में) हो या परिषद् में, सोते या जागते; उदक (कुंए आदि के सचित्त जल) को, ओस को, हिम (बर्फ) को, धुंअर को, ओले को, भूमि को भेद कर निकले हुए जलकण को, शुद्ध उदक (अन्तरिक्ष-जल) को, अथवा जल से भीगे हुए शरीर को, या जल से भीगे हुए वस्त्र को, जल से स्निग्ध शरीर को अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र को न (आमर्श) एक बार थोड़ा-सा स्पर्श करे न बार-बार अथवा अधिक संस्पर्श करे, न आपीडन (थोड़ा-सा या एक बार भी पीडन) करे, या न प्रपीडन करे (बारबार या अधिक पीडन करे); अथवा न आस्फोटन करे (एक बार या थोड़ा-सा भी झटकाए) और न प्रस्फोटन करे (बार-बार या अधिक झटकाए); अथवा न आतापन करे (एक बार या थोड़ा-सा भी

पाठान्तर—* "अवक्कमेज्जा ।"

आग में तपाए) और न प्रतापन करे (बार-बार या अधिक तपाए); (इसी प्रकार) दूसरों से न आमर्श कराए, (और) न संस्पर्श कराए अथवा न आपीडन कराए (और) न प्रपीडन कराए, अथवा न आस्फोटन कराए (और) न प्रस्फोटन कराए, अथवा न आतापन कराए (और) न प्रतापन कराए, (एवं) न आमर्श, संस्पर्श, आपीडन, प्रपीडन, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करे। (भंते ! मैं अप्काय-विराधना से विरत होने की ऐसी प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए, तीन करण-तीन योग से, (करता हूँ।) (अर्थात्—) मैं मन से, वचन से, काया से; (अप्काय की पूर्वोक्त प्रकार से विराधना) स्वयं नहीं करूंगा, (दूसरों से) नहीं कराऊंगा और करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भंते ! मैं उस (अतीत की अप्काय-विराधना) से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥ १९ ॥

[५१] संयत, विरत, प्रतिहत और प्रत्याख्यात-पापकर्मा वह भिक्षु या भिक्षुणी, दिन में या रात में, अकेले (या एकान्त) में या परिषद में, सोते या जागते; अग्नि को, अंगारे को, मुर्मुर (बकरी आदि की मींगनों की आग) को, अर्चि (टूटी हुई अग्नि-ज्वाला) को, ज्वाला को अथवा अलात को, शुद्ध अग्नि को, अथवा उल्का को, न उत्सिंचन करे (लकड़ी आदि देकर सुलगाए), न घट्टन करे, न उज्ज्वालन करे, [न प्रज्वालन करे], और न निर्वापन करे (बुझाए), (तथा) न दूसरों से उत्सेचन कराए, न घट्टन कराए, न उज्ज्वालन कराए, (न प्रज्वालन कराए), और न निर्वापन कराए (बुझवाए); एवं न उत्सेचन करने, घट्टन करने, उज्ज्वालन करने, (प्रज्वालन करने) और निर्वापन करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करे; (भंते ! मैं इस प्रकार अग्निकाय की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए, तीन करण-तीन योग से (करता हूँ)। (अर्थात्—) मैं मन से, वचन से और काया से (अग्निसमारम्भ) नहीं करूंगा, न दूसरों से (अग्निसमारम्भ) कराऊंगा, और न (अग्नि-समारम्भ) करने वाले का अनुमोदन करूंगा।

भंते ! मैं उस (अतीत की अग्नि-विराधना) से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और उस आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥ २० ॥

[५२] संयत, विरत, प्रतिहत और प्रत्याख्यातपापकर्मा, वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी; दिन में या रात में, अकेले (एकान्त) में या परिषद् में, सोते या जागते, श्वेत चामर से, या पंखे से, अथवा ताड़ के पत्तों से बने हुए पंखे से, पत्र (किसी भी पत्ते या कागज आदि के पतरे) से, शाखा से, अथवा शाखा के टूटे हुए खण्ड से, अथवा मोर की पांख से, मोरपिच्छी से, अथवा वस्त्र से या वस्त्र के पल्ले से, अपने हाथ से या मुँह से, अपने शरीर को अथवा किसी बाह्य पुद्गल को (स्वयं) फूंक न दे, (पंखे आदि से) हवा न करे, दूसरों से फूंक न दिलाए, न ही हवा कराए तथा फूंक मारने वाले या हवा करने वाले अन्य किसी का भी अनुमोदन न करे। (भंते ! वायुकाय की इस प्रकार की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए तीन करण—तीन योग से (करता हूं।) अर्थात्—मैं (पूर्वोक्त वायुकाय-विराधना) मन से, वचन से और काया से, स्वयं नहीं करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा और नहीं करने वाले अन्य किसी का भी अनुमोदन करूंगा।

भंते ! मैं उस (अतीत में हुई वायुकाय-विराधना) से निवृत्त होता हूँ, उसकी (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और उस आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥ २१ ॥

[५३] संयत, विरत, प्रतिहत और प्रत्याख्यातपापकर्मा, वह भिक्षु या भिक्षुणी; दिन में अथवा रात में, अकेले (एकान्त) में हो या परिषद् (समूह) में हो, सोया हो या जागता हो; बीजों पर अथवा बीजों पर रखे हुए पदार्थों पर, फूटे हुए अंकुरों (स्फुटित बीजों) पर अथवा अंकुरों पर रखे हुए पदार्थों पर, पत्रसंयुक्त अंकुरित वनस्पतियों पर अथवा पत्रयुक्त अंकुरित वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर, हरित वनस्पतियों पर या हरित वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर; छिन्न (सचित्त) वनस्पतियों पर, अथवा छिन्न-वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर, सचित्त कोल (अण्डों एवं घुन) के संसर्ग से युक्त काष्ठ आदि पर, न चले, न खड़ा रहे, न बैठे और न करवट बदले (या सोए); दूसरों को न चलाए, न खड़ा करे, न बिठाए और न करवट बदलाए (या सुलाए), न उन चलने वाले, खड़े होने वाले, बैठने वाले अथवा करवट बदलने (या सोने) वाले अन्य किसी का भी अनुमोदन करे। (भंते ! मैं इस प्रकार वनस्पतिकाय की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए तीन करण—तीन योग से (करता हूँ।) (अर्थात्—) मन से, वचन से और काया से वनस्पतिकाय की विराधना) नहीं करूंगा; न (दूसरों से) कराऊंगा और न ही वनस्पतिकाय की विराधना करने वाले अन्य किसी का भी अनुमोदन करूंगा।

भंते ! मैं उस (अतीत में हुई वनस्पतिकाय की विराधना) से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और उस आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥२२॥

[५४] जो संयत है, विरत है, जिसने पाप-कर्मों का निरोध और प्रत्याख्यान कर दिया है, वह भिक्षु या भिक्षुणी, दिन में या रात में, अकेले (एकान्त) में हो या परिषद् में हो, सोते या जागते; कीट (कीड़े) को, पतंगे को, कुंथु को अथवा पिपीलिका (चींटी) को हाथ पर, पैर पर, भुजा (बाँह) पर, उरु (साथल या जंघा) पर, उदर (पेट) पर, सिर पर, वस्त्र पर, पात्र पर, रजोहरण पर; अथवा गुच्छक (पात्रपोंछने के वस्त्र) पर, उंडग (प्रस्रवणपात्र—भाजन या स्थण्डिल) पर या दण्डक (डंडे या लाठी) पर, अथवा पीठ (पीढे या चौकी) पर, या फलक (पट्टे या तख्त) पर, अथवा शय्या पर, या संस्तारक (बिछौने—संथारिये) पर, अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी उपकरण पर चढ़ जाने के बाद यतना-पूर्वक (सावधानी से धीमे-धीमे) देख-देख (प्रतिलेखन) कर, (तथा) पोंछ-पोंछ (प्रमार्जन) कर एकान्त स्थान में ले जाकर रख दे (या एकान्त स्थान में पहुँचा दे) उनको एकत्रित करके घात (पीडा या कष्ट) न पहुँचाए ॥२३॥

विवेचन—षड्जीवनिकाय की विराधना की विरति का निर्देश और प्रतिज्ञा—प्रस्तुत ६ सूत्रों (४९ से ५४ तक) में पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों के मुख्य-मुख्य प्रकारों, तथा विभिन्न प्रकार एवं साधनों से उनकी विराधना होने की संभावना तथा त्रिकरण-त्रियोग से यावज्जीवन के लिए उनकी विराधना के त्याग का गुरु द्वारा निर्देश किया गया है। इस निर्देश से सहमत शिष्य द्वारा प्रत्येक जीवनिकाय की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा का निरूपण है। दूसरे शब्दों में कहें तो चारित्रधर्म का अंगीकार (महाव्रत ग्रहण) करने के बाद षट्कायिक जीवों की रक्षा की विधि जान कर प्रतिज्ञाबद्ध होने का निरूपण है। व्रतारोपण के बाद साधु-साध्वी का व्यवहार षड्जीवनिकाय के प्रति कैसा रहना चाहिए ? इसका सांगोपांग वर्णन इनमें है।[७५]

७५. (क) दशवै. (मुनि नथमलजी), पृ. १४७ (ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २६५
(ग) दश. (आ. आत्मा.), पृ. १८०

भिक्षु और भिक्षुणी दोनों के लिए समान विशेषण—प्रस्तुत ६ सूत्रों के प्रारम्भ में जो चार विशेषण प्रयुक्त किये हैं, वे भिक्षु और भिक्षुणी दोनों के लिए हैं; भिक्षु उसे कहते हैं, जो भिक्षणशील या भिक्षाजीवी है, आहारादि प्रत्येक वस्तु याचना या भिक्षा करके लेता है। गेरुआ, भगवाँ या अन्य किसी प्रकार के रंग से रंगे हुए कपड़े पहनने वाले भी भिक्षा मांग कर जीवननिर्वाह करते हैं, इसलिए वे भी 'भिक्षु' कहलाने लगेंगे, इस आशय से शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ भिक्षु-भिक्षुणी की वास्तविक पहचान के लिए यहाँ संयत, विरत, प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, ये विशेषण दिये हैं। संन्यासी या गेरुआ वस्त्र वाले साधु आदि स्वामी की आज्ञा के विना भी जलाशय आदि से अपने हाथों से भी जल ले लेते हैं, तथा जब भिक्षा नहीं मिलती, तब वे स्वयं पचन-पाचनादि करते-कराते हैं, अथवा कंदमूल आदि स्वयं उखाड़कर ग्रहण तथा उपभोग कर लेते हैं। अतः जो भिक्षावृत्ति के सिवाय अन्य वृत्ति को कदापि स्वीकार नहीं करते, तथा १७ प्रकार के संयम से रत (संयत) हैं, पचन-पाचनादि—हिंसादि पापकर्मों से विरत हैं, वे ही वास्तव में भिक्षु-भिक्षुणी हैं। महाव्रत ग्रहण करने के बाद भिक्षुवर्ग किस स्थिति में पहुँचता है, उसका सरल सजीव चित्रण इन विशेषणों में किया गया है।[७६]

संयत—जो १७ प्रकार के संयम में सम्यक् प्रकार से अवस्थित हो, या जो सब प्रकार से यतनावान् हो। **विरत**—पापों से निवृत्त या बारह प्रकार के तप में विविध प्रकार से या विशेष रूप से रत। 'पापकर्मा' शब्द प्रतिहत और प्रत्याख्यात इनमें से प्रत्येक[७७] के साथ सम्बन्धित है। **प्रतिहतपापकर्मा**—जिसने ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से प्रत्येक को हत किया हो वह।[७८] **प्रत्याख्यातपापकर्मा**—जिसने आस्रवद्वार (पापकर्म आने के मार्ग) का निरोध कर लिया हो। निर्ग्रन्थ भिक्षु प्रतिहत-पापकर्मा इसलिए कहलाता है कि वह महाव्रत ग्रहण करने की प्रक्रिया में अतीत के पापों का प्रतिक्रमण, भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान और वर्तमान में मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से पापकर्म न करने की प्रतिज्ञा कर चुका है।[७९]

---

७६. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १ पृ. २६८;
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ९२

७७. (क) 'संजतो एकीभावेण सत्तरसविहे संजमे ट्ठितो।' अगस्त्य चूर्णि, पृ. ८७
(ख) संजओ नाम सोभणेण पगारेण सत्तरसविहे, संजमे अवट्ठिओ संजतो भवति।' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५४
(ग) सामस्त्येन यतः—संयतः। —हारि. वृत्ति, पत्र १५२
(घ) 'पावेहिंतो विरतो पडिनियत्तो।'—अग. चू., पृ. ८७
(ङ) 'अनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः।' —हारि. वृत्ति, पृ. १८२
(च) पावकम्मसद्दो पत्तेयं पत्तेयं दोसु वि वट्टइ, तं....पडिहयपावकम्मे, पच्चक्खायपावकम्मे य। —जिन. चूर्णि, पृ. १५४

७८. (क) 'तत्थ पडिहयपावकम्मो नाम नाणावरणादीणि अट्ठकम्माणि पत्तेयं पत्तेयं जेण हयाणि, सो पडिहयपावकम्मो।' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५४
(ख) 'प्रतिहतं—स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन।' —हारि. वृत्ति, पत्र १५२

७९. (क) 'पच्चक्खाय-पावकम्मो नाम निरुद्धासवदुवारो भण्णति।' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५४
(ख) 'प्रत्याख्यातं हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन पापं कर्म ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविधः।" —हारि. वृत्ति, पृ. १५२
(ग) दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. १४७

प्रत्येक परिस्थिति में साधु अकरणीय कृत्य नहीं करता—कई साधक जब कोई देखता हो या परिषद् में हो, तब तो बहुत ही फूंक-फूंक कर चलते हैं, अपनी क्रिया-पात्रता दिखलाते हैं, किन्तु जब कोई न देखता हो, या अकेले में हो, तब वे अपनी त्यागवैराग्य-भावना को ताक में रख देते हैं। अन्तर्दृष्टिपरायण साधु-साध्वी सदैव आत्महित की दृष्टि से चलते हैं। वे गाढ़ कारणवश कभी अपवाद का सेवन करते हैं तो भी उनके मन में पश्चात्ताप होता है और वे प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि भी कर लेते हैं। तात्पर्य यह है कि अध्यात्मरत श्रमण-श्रमणी के लिए दिन हो या रात, एकान्त हो या समूह, शयनावस्था हो या जागरणावस्था[८०] वे हर समय, स्थान एवं परिस्थिति में सतर्क रहते हैं और अकरणीय कृत्य नहीं करते। पाप एवं आत्मपतन से बचते हैं। वे परम (शुद्ध) आत्मा के सान्निध्य में रहते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने **'दिया वा राओ वा'** इत्यादि पंक्तियाँ अंकित की हैं, जो प्रत्येक परिस्थिति, समय एवं स्थान-विशेष की सूचक हैं।

एगओ वा : आशय—'एगओ' का शब्दश: अर्थ होता है, एकाकी या अकेला, परन्तु इसका वास्तविक अर्थ 'एकान्त में' है। कई साधु एक साथ हों, किन्तु वहाँ कोई गृहस्थ आदि उपस्थित न हों तो किसी अपेक्षा से उन साधुओं के लिए इसे भी 'एकान्त' कहा जा सकता है।[८१]

पृथ्वीकाय के प्रकार एवं उपयुक्त अर्थ—प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वीकाय के कई प्रकार बताए हैं। यदि वे सूर्यताप, अग्नि, हवा, पानी या मनुष्य के अंगोपांगों से बार-बार क्षुण्ण होकर शस्त्रपरिणत न हुए हों तो सचित्त होते हैं। इनके उपयुक्त अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—पुढवि—पृथ्वी, पाषाण, ढेला आदि से रहित पृथ्वी; **भित्ति**—(१) जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार 'नदी' (२) अगस्त्य चूर्णि के अनुसार-नदी-पर्वतादि की दरार, रेखा या राजि। **शिला**—विशाल पाषाण या विच्छिन्न विशाल पत्थर। लेलु—ढेला (मिट्टी का छोटा-सा पिण्ड या पत्थर का छोटा-सा टुकड़ा)। **ससरक्खं : दो रूप : दो अर्थ (१) ससरक्ष**—राख के समान सूक्ष्म पृथ्वी की रज से युक्त, (२) **सरजस्क**—गमनागमन से अक्षुण्ण अरण्य रजकण जो प्राय: सजीव होते हैं, इसलिए सरजस्क पृथ्वी से संस्पृष्ट शरीर या वस्त्र को सचित्तसंस्पृष्ट माना है।[८२]

---

८०. दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ २७४

८१. (क) 'सव्वकालितो णियमो त्ति कालविसेसणं—दिता वा रातो वा सव्वदा।'
(ख) नेट्ठा अवत्थंतरविसेसणत्थमिदं-सुत्ते वा जहाभणितनिद्दामोक्खत्थसुत्ते जागरमाणे वा सेसं कालं —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ८७
(ग) 'कारणिएण वा एगेण।' —जिन. चूर्णि, पृ. १५४। (घ) दशवै. (मुनि नयमलजी) पृ. १४८

८२. (क) "पुढविग्गहणेणं पासाणलेट्ठुमाईहिं रहियाए पुढवीए गहणं।"
(ख) 'भित्ती नाम नदी भण्णइ।' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५४
(ग) 'भित्तिः नदीतटी।' —हारि. वृत्ति, पृ. १५२
(घ) भित्ती नदी-पव्वतादितडी, ततो वा जं अवद्दलितं।:—अगस्त्य चूर्णि, पृ. ८७
(ङ) 'सिला नाम विच्छिण्णो जो पहाणो, स सिला।' —जि. चू., पृ. १५४
(च) 'विशाल: पाषाण:।' —हा. वृ., पृ. १५२
(छ) 'लेलू मट्टियापिंडो।' —अ. चू. पृ. ८७, (ज) "लेलु लेट्ठुओ।" —जि. चू. पृ. १५४
(झ) "सरक्खो=सुसण्हो छारसरिसो पुढविरतो, सहसरक्खेण ससरक्खो।" —अग. चूर्णि, पृ. १०१
(ञ) 'सह रजसा-अरण्यपांशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्क:।' —हारि. वृत्ति, पत्र १५२

पृथ्वीकायविराधना के साधन—काष्ठ, किलिंच आदि को शास्त्रकार ने पृथ्वीकायविराधना के साधन माने हैं। किलिंचेण : कलिंजेण : दो अर्थ—किलिंच—बांस की खपच्ची को कहते हैं, कलिंज कहते हैं, छोटे-से लकड़ी के टुकड़े को। **सलागहत्थेण : दो अर्थ**—(१) लकड़ी, तांबा या लोहे का अनगढ़ या गढ़ा हुआ टुकड़ा शलाका, उनका हस्त अर्थात् समूह। (२) सलाई की नोक।[८३]

पृथ्वी-विराधना की विभिन्न क्रियाओं का अर्थ—आलेखन, विलेखन : पांच अर्थ—(१) एक बार या थोड़ा खोदना, बार-बार या अधिक खोदना, (२) एक बार या थोड़ा कुरेदना, बार-बार या अधिक कुरेदना, (३) लकीर खींचना, (४) विन्यास करना—घिसना अथवा (५) चित्रित करना।

घट्टन—चलाना या हिलाना, संघट्टा (स्पर्श) करना। **भेदन**—भेदन करना, तोड़ना, विदारण करना, दो-तीन आदि भाग करना।

तात्पर्य यह है कि भिक्षु पृथ्वीकायिक जीवों का किसी भी साधन से, किसी भी अवस्था में किसी भी स्थान या समय में मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदित रूप से विराधन नहीं करता।[८४]

अप्कायिक जीवों के विविध प्रकार और अर्थ—उदक : भूमि के आश्रित या भूमि के स्रोतों में बहने वाला भौम जल। **ओस**—(१) रात्रि में, पूर्वाह्न या अपराह्न में गिरने वाला सूक्ष्म जलकण, या शरद्ऋतु की रात में मेघ से उत्पन्न स्नेह-विशेष। **महिका**—शिशिरऋतु में अन्धकारजनक जो तुषार या पाला पड़ता है, उसे महिका, धूमिका (धूंअर धुंध) या कोहरा कहते हैं। **करक**—आकाश से वर्षा के साथ गिरने वाले कठिन उदकखण्ड-ओले। **हरतनुक**—(१) जिनदासचूर्णि के अनुसार—भूमि को भेद कर ऊपर उठने वाला जलबिन्दु, जो कि सील वाली जमीन पर रखे बर्तन के नीचे दिखाई देता है, (२) भूमि को भेदन कर तृणाग्र आदि पर विद्यमान औद्भिद जलबिन्दु। **शुद्धोदक**—अन्तरिक्ष

---

८३. (क) 'किलिंचो-वंसकप्परो।' —निशीथचूर्णि, ४।१०७
(ख) कलिंजेण वा-क्षुद्रकाष्ठरूपेण। —हा. टी., पत्र १५२
(ग) 'सलागा कट्ठमेव घडितगं, अघडितगं कट्ठं।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ८७
(घ) सलागा घडियाओ तंबाईणं। —जि. चू. पृ. १५४
(ङ) 'सलागाहत्थओ बहुयरिआयो, अहवा सलागातो घडिल्लियाओ, तासिं सलागाणं संघाओ सलागाहत्थो।' —जि. चू., पृ. १५४
(च) शलाकया-अयःशलाकादिरूपया, शलाकाहस्तेन वा-शलाकासंघातरूपेण। —हारि. वृत्ति, पत्र १५२

८४. (क) 'ईषद् सकृद्वाऽऽलेखनं, नितरामनेकशो वा विलेखनम्।' —हा. वृ.. पत्र १५२
(ख) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. ९२
(ग) आलिहणं नाम ईसिं, विलिहणं-विविहं लिहणं। —जि. चू., पृ. १५४
(घ) दशवै. (आ. म. मं. टीका) भा. १, पृ. २७५ (ङ) 'घट्टणं संचालणं।' —अ. चू., पृ. ८७
(च) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. ९० (छ) 'भिंदणं भेदकरणं।' —अ. चू., पृ. ८७
(ज) भेदो-विदारणम्। —हा. टी., प. १५२ (झ) भिंदणं दुहा वा तिहा वा करणं —जि. चू., पृ. १५४

से गिरने वाला पानी। **उदकार्द्र**—उपर्युक्त जलप्रकार के बिन्दुओं से आर्द्र-गीला शरीर या वस्त्र आदि। **सस्निग्ध**—जो स्निग्धता-जलबिन्दुरहित आर्द्रता से युक्त हो।[८५]

संभावित अप्कायिक विराधना की क्रियाएँ : अर्थ—आमर्श—थोड़ा या एक वार स्पर्श। **संस्पर्श**—अधिक या वार-वार स्पर्श। **आपीड़न**—थोड़ा या एक वार पीलना, दबाना, निचोड़ना या पीड़ा देना। **प्रपीडन**—अधिक या वार-वार पीलना, दबाना, निचोड़ना या पीड़ा देना। **आस्फोटन**—थोड़ा या एक वार झटकना, फटकारना, **प्रस्फोटन**—अधिक या वार-वार झटकना या फटकारना। **आतापन**—एक वार या थोड़ा-सा सुखाना या तपाना। **प्रतापन**—अधिक वार या अधिक सुखाना या तपाना।[८६]

तेजस्काय के प्रकार एवं अर्थ—अग्नि—लोहपिण्डानुगत स्पर्शग्राह्य लोहपिण्ड अथवा तेजस्। **अंगार : दो अर्थ**—(१) ज्वाला रहित कोयले, (२) लकड़ी के जलते हुए धूँए से रहित टुकड़े। **मुर्मुर**—कंडे या छाणे की आग, चोकर या भूसी की अग्नि, राख आदि में रहे हुए विरल अग्निकण, भोभर—अत्यल्प अग्निकण से युक्त गर्म राख। **अर्चि : तीन अर्थ**—(१) दीप शिखा का अग्रभाग—लौ (२) आकाशानुगत परिच्छिन्न (टूटती हुई) अग्निशिखा, अथवा (३) मूल अग्नि से टूटती हुई ज्वाला। **ज्वाला**—प्रदीप्त अग्नि से सम्बद्ध अग्निशिखा—आग की लपट। **अलात-तीन अर्थ**—(१) भट्ठे की अग्नि, (२) अधजली लकड़ी अथवा (३) मशाल (जलती हुई)। **शुद्ध अग्नि**—काष्ठादिरहित अग्नि। **उल्का**—आकाशीय अग्नि—विद्युत् आदि। तेजोलेश्या या पार्थिव मणि आदि का प्रकाश अचित्त है। शेष सूत्रोक्त अग्नियाँ सचित्त हैं जिनका उपयोग साधु-साध्वी के लिए वर्जित है।[८७]

अग्निकाय-विराधना की क्रियाएँ : अर्थ उत्सेचन : उंजन—अग्नि प्रदीप्त करना, सुलगाना या सींचना। **घट्टन**—सजातीय या अन्य पदार्थों से परस्पर घर्षण करना या चालन करना। **उज्ज्वालन-प्रज्ज्वालन**—पंखे आदि से हवा देकर अग्नि को प्रज्वलित करना, उसकी अत्यन्त वृद्धि करना। **निर्वाण : निर्वापन**—बुझाना, शान्त करना।[८८]

---

८५. (क) दशवै. जिनदासचूर्णि, १५४-१५५ (ख) अगस्त्यचूर्णि, पृ. ८७-८८
(ग) हारि. वृत्ति, पत्र १५३ (घ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. ९४

८६. (क) आमुसणं नाम ईषत्-स्पर्शनं अहवा एकवारं फरिसणं आमुसणं। पुणो पुणो संफुसणं।—जि. चू., पृ. १५५
(ख) सकृदीषद् वा पीडनमापीडनमतोऽन्यत् प्रपीडनम्। —हा. टी., पृ. १५३
(ग) अच्चत्थं पीलणं पवीलणं। —जि. चू., पृ. १५५
(घ) 'सकृदीषद् वा स्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्।' —हा. टी., पत्र १५३
(ङ) 'सकृदीषद्वा तापनमातापनं, विपरीतं प्रतापनम्।' —वही, पत्र १५३
(च) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ९५

८७. (क) जिनदासचूर्णि, पृ. १५६, (ख) अगस्त्यचूर्णि, पृ. ८९; (ग) हारि. वृत्ति, पत्र १५४
(घ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ९९

८८. (क) उञ्जनमुत्सेचनम्। (ख) 'घट्टनं-सजातीयादिना चालनम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १५४
(ग) घट्टणं परोप्परं उम्मुगाणि घट्टयति, वा अण्णेण तारिसेण दव्वजाएण घट्टयति।' जि. चू, पृ. १५६
(घ) 'उज्जलणं वीयणमाईहिं जालाकरणं।' वही, पृ. १५६
(ङ) उज्ज्वालनं-व्यजनादिभिर्वृद्धयापादनम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १५४
(च) 'विज्झवणं निव्वावणं।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ८९

वायुकायिक विराधना के साधन—**सित**—श्वेत चामर। निशीथभाष्य में **'सिएण'** के बदले 'सुप्पे' (शूर्प—सूपड़ा) का प्रयोग मिलता है। **विधुवन**—व्यजन या पंखा। **तालवृन्त**—ताड़ पत्र का पंखा, जिसके बीच में पकड़ने के लिए छेद हो और जो दो पुट वाला हो। पत्र, शाखा, शाखाभंग आदि प्रसिद्ध हैं। **पेहुण**—मोर का पंख, मोरपिच्छ या वैसा ही दूसरा पिच्छ। पहुण—**हस्त**—जिसके हत्था बंधा हुआ हो ऐसा मोर की पांखों का गुच्छ या मोरपिच्छी अथवा गृद्धपिच्छी। चेलकण्ण—वस्त्र का पल्ला।[८९]

वनस्पतिकायिक जीवों के प्रकार, विराधना और अर्थ—**बीएसु**—बीजों पर, **बीयपइट्ठेसु**—उपर्युक्त बीज वाली वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर। **रूढेसु : दो अर्थ**—(१) अंकुर न निकला हो, ऐसे स्फुटित (भूमि फ़ोड़ कर बाहर निकले हुए) बीजों पर, अथवा (२) बीज फूट कर जो अंकुरित हुए हों, उन पर। **रूढपइट्ठेसु**—स्फुटित बीजों पर रखे हुए पदार्थों पर। **जाएसु : विशेषार्थ**—(१) बद्धमूल वनस्पति, (२) स्तम्बीभूत वनस्पति, जो अंकुरित हो गई हो, जिसकी पत्तियाँ भूमि पर फैल गई हों। (३) अल्पवृद्धिगत घास। **जायपइसुट्ठेसु**—जो उगकर पत्रादि युक्त हो गई हों, ऐसी जात-वनस्पति पर रखे पदार्थों पर। **छिन्नेसु**—हवा के जोर से टूटे हुए या कुल्हाड़ी आदि से काट कर वृक्षादि से अलग किये हुए शस्त्र-अपरिणत शाखादि अंगों पर। **छिन्नपइट्ठेसु**-कटी हुई आर्द्र वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर। **हरिएसु**-हरी दूब या अन्य हरियाली पर। **हरियपइट्ठेसु**—हरित पर रखी हुई वस्तुओं पर। **सचित्तेसु**-सजीव अण्डे आदि से संश्रित वनस्पति पर, **सचित्तकोल-पडिनिस्सिएसु**—सचित्त कोल अर्थात् घुण-काष्ठकीट अथवा दीमक के द्वारा आश्रय लिए हुए काष्ठ या वनस्पति विशेष पर[९०]

त्रसकायिक जीव विराधना से विरति में विकलेन्द्रिय का ही उल्लेख क्यों?—प्रश्न होता है कि त्रसकाय के अन्तर्गत तो द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव हैं, फिर यहाँ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति के ही एक-एक दो-दो जीवों का उल्लेख त्रसकाय-विराधना से विरति के प्रसंग में क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि वैसे तो समस्त त्रसकायिक जीवों की किसी भी प्रकार की विराधना हिंसा है और हिंसा का त्रिकरण-त्रियोग से त्याग प्रथम महाव्रत में आ ही जाता है, इसलिए यहाँ उल्लेख न किया जाता तो भी चलता, किन्तु यहाँ उन जीवों की विशेषरूप से रक्षा एवं यतना बताने के लिए यह पाठ दिया गया है। इसमें चारों प्रकार के पंचेन्द्रिय जीवों की विराधना से विरति का उल्लेख इसलिए नहीं किया गया है कि ये जीव तो आँखों से दिखाई देते हैं, इनकी विराधना साधु-साध्वी अपनी आहार-विहारादि चर्या के समय कर ही नहीं सकते। किन्तु द्वीन्द्रियादि त्रसजीवों का उल्लेख करना इसलिए आवश्यक था कि साधु-साध्वी के शरीर के अंगोपांग, उपकरण

---

८९. (क) 'सितं चामरम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १५४।
(ख) विधुवनं-व्यजनम्। —वही, पत्र १५४
(ग) 'तालवृन्तं—तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रम् द्विपुटम्। (घ) पत्रं-पद्मिनीपत्रादि।
(ङ) शाखा-वृक्षडालं. शाखाभंगं—तदेकदेशः। —हारि. वृत्ति, पत्र १५४
(च) "पेहुणं मोरपिच्छगं वा, अण्णं किंचि वा तारिसं पिच्छं।" —जिनदासचूर्णि, पृ. १५६
(छ) पिहुणाहत्थओ मोरिगकुच्चओ, गिद्धपिच्छाणि वा एगओ बद्धाणि। —जि. चू., पृ. १५६
(ज) पेहुणहस्तः- तत्समूहः।" —हारि. वृत्ति, पत्र १५४। (झ) चेलकर्णः-तदेकदेशः।—वही, पत्र १५४

९०. अगस्त्यचूर्णि, पृ. ९०

आदि के लेने, रखने, बैठने, चलने-फिरने, सोने, भोजन करने आदि क्रियाओं में असावधानी से, अविवेक से या प्रतिलेखन-प्रमार्जन न करने से इनकी विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए यहाँ द्वीन्द्रियादि त्रसजीवों को एक या दो प्रतीक का नाम लेकर उपलक्षण से समस्त विकलेन्द्रियों का ग्रहण करने का संकेत किया गया है।[९१]

विराधना कहाँ-कहाँ और कैसे सम्भव?—प्रस्तुत सूत्र के अनुसार पूर्वोक्त हाथ, पैर, भुजा, उरु, उदर, सिर आदि अंगोपांगों तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन, रजोहरण, गोच्छक, दण्ड, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक तथा इसी प्रकार के अन्य (मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि) उपकरणों पर पूर्वोक्त द्वीन्द्रियादि त्रसजीवों के चढ़ जाने पर विराधना होने की सम्भावना है।[९२]

उपकरण : परिग्रह एवं विशेषार्थ—प्रश्न हो सकता है कि साधु-साध्वी जब पंचम महाव्रत में परिग्रह का सर्वथा त्याग कर चुके होते हैं, तब उपकरणों का रखना कैसे विहित या संगत हो सकता है? इसका समाधान यह है, कि शास्त्रों में उपकरणों का सर्वथा त्याग कहीं नहीं बताया। हाँ, उनकी मर्यादा अवश्य बताई है। जो भी उपकरणादि धर्मपालन या संयमपालन आदि के उद्देश्य से रखे जाते हैं, उन पर तनिक भी ममता-मूर्च्छा न रखी जाए तो वे परिग्रह की कोटि में नहीं आते, यह इसी शास्त्र में आगे बताया गया है। वस्तुतः उपकरण उसी को कहते हैं जिसके द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की पूर्णतया आराधना की जा सके, जीवों की रक्षा एवं संयम-परिपालना की जा सके।[९३]

पूर्वोक्त त्रसजीवों की यतना के उपाय—पूर्वोक्त त्रसजीव यदि शरीर के किसी अंग या किसी उपकरण पर चढ़ जाएँ तो उनकी रक्षा साधु-साध्वी कैसे करें? यह ५४ वें सूत्र के उपसंहार में बताया गया है। इन शब्दों के विशेष अर्थ इस प्रकार हैं—

संजयामेव : दो अर्थ—(१) यतनापूर्वक, जिससे कि किसी कीट, पतंग आदि को पीड़ा न हो, (२) संयमपूर्वक, सावधानीपूर्वक उस जीव को लेकर जिससे कि उसे चोट न पहुँचे। **पडिलेहिय**—प्रतिलेखन करके, भलीभांति देखभाल कर। **पमज्जिय**—प्रमार्जन कर या पोंछ कर। **एगंतमवणिज्जा**—(वहां से हटा कर) एकान्त में, अर्थात्—ऐसे स्थान में जहाँ उसका उपघात न हो वहाँ, रख दे या पहुँचा दे। **नो णं संघायमावज्जिज्जा**—'उनको (किसी प्रकार का) संघात न पहुँचाए, यह इस पंक्ति का शब्दशः अर्थ है। भावार्थ यह है कि उपकरण आदि पर चढ़े हुए जीवों को परस्पर इस प्रकार से गात्र स्पर्श कर देना—भिड़ा देना कि उन्हें पीड़ा हो, वह संघात कहलाता है। संघात शब्द के आगे 'आदि' शब्द लुप्त होने से उस के अन्तर्गत परितापना, क्लामना, भयभीत करना, हैरान करना, उन्हें इकट्ठा करना, टकराना आदि सभी प्रकार की पीड़ाओं (घात) का ग्रहण हो जाता है।

---

९१. दसवेयालियसुत्तं (मूल-पाठ-टिप्पण), पृ. १४

९२. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १०८

९३. (क) वही, पृ. १०८-१०९-११०

(ख) अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधु क्रियोपयोगिनि उपकरणजाते। —हारि. वृत्ति, पत्र १५६

(ग) जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुच्छणं, तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य।
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा, मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा।
—दशवै. अ. ६, गा. १९-२०

निष्कर्ष यह है कि शरीरावयवों या धर्मोपकरणों पर स्थित त्रसजीवों की रक्षा के लिए उन्हें निरुपद्रव स्थान में यतनापूर्वक रख देना चाहिए।[९४]

अयतना से पापकर्म का बन्ध और यतना से अबन्ध

५५. अजयं चरमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
वंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२४॥

५६. अजयं चिट्ठमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
वंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२५॥

५७. अजयं आसमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
वंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२६॥

५८. अजयं सयमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
वंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२७॥

५९. अजयं भुंजमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
वंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२८॥

६०. अजयं भासमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
वंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२९॥

६१. प्र. कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ? ॥३०॥

६२ उ. जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥३१॥+

६३. सव्वभूयऽप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई ॥३२॥

---

९४. अग. चूणि, पृ. ९१; जिन. चूर्णि, पृ. १५८; हारि० वृत्ति, पत्र १५६

+ तुलना कीजिए—कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज, कधं पावं ण वज्झदि ? ॥ १०१२ ॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज, एवं पावं ण वज्झई ॥ १०१३ ॥
यतं तु चरमाणस्स, दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥ १०१४ ॥
—मूलाचार (समयसाराधिकार—१०)

[५५] अयतनापूर्वक गमन करने वाला साधु (या साध्वी) प्राणों (त्रस) और भूतों (स्थावर जीवों) की हिंसा करता है, (उससे) वह (ज्ञानावरणीय आदि) पापकर्म का बन्ध करता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ॥२४॥

[५६] अयतनापूर्वक खड़ा होने वाला साधु (या साध्वी) प्राणों और भूतों की हिंसा करता है, (उससे) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है ॥२५॥

[५७] अयतनापूर्वक बैठने वाला साधक (द्वीन्द्रियादि) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, (उससे उसके) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है ॥२६॥

[५८] अयतना से सोने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, (उससे) वह पापकर्म का बन्ध करता है, जो उसके लिए कटुक फल-प्रदायक होता है ॥२७॥

[५९] अयतना से भोजन करने वाला व्यक्ति त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा करता है, (जिससे) वह पापकर्म का बन्ध करता है, जो उसके लिए कटु फल देने वाला होता है ॥२८॥

[६०] यतनारहित बोलने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। (उससे उसके) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है ॥२९॥

[६१ प्र.] (साधु या साध्वी) कैसे चले? कैसे खड़ा हो? कैसे बैठे? कैसे सोए? कैसे खाए और कैसे बोले?, जिससे कि पापकर्म का बन्ध न हो? ॥३०॥

[६२ उ.] (साधु या साध्वी) यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खड़ा हो, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोए, यतनापूर्वक खाए और बोले, (तो वह) पापकर्म का बन्ध नहीं करता ॥३१॥

[६३] जो सर्वभूतात्मभूत (सर्वजीवों को आत्मतुल्य मानता) है, जो सब जीवों को सम्यग्दृष्टि से देखता है, तथा जो आस्रव का निरोध कर चुका है और दान्त है, उसके पापकर्म का बन्ध नहीं होता ॥३२॥

विवेचन—अयतना और यतना का परिणाम—प्रस्तुत ९ सूत्रों (५५ से ६२ तक) में से प्रारम्भ के ६ सूत्रों में अयतना से गमन करने, खड़ा होने, सोने, खाने और बोलने का परिणाम पाप (अशुभ) कर्मों का बन्ध, तथा कटुफल प्रदायक बताया गया है। तत्पश्चात् ७ वीं गाथा में पापकर्मबन्ध न होने के उपाय की जिज्ञासा शिष्य द्वारा प्रकट की गई है, जिसका समाधान ८ वीं गाथा में बहुत ही सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया गया है और उसी के सन्दर्भ में ९ वीं गाथा में पापकर्म बन्ध से रहित होने की चार अर्हताओं का निरूपण किया गया है।

अयतना-यतना क्या है?—अयतना और यतना ये दोनों शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द हैं। अयतना का अर्थ है उपयोगशून्यता, असावधानी, अविवेक, अजागृति, अथवा प्रमाद (गफलत)। इसके विपरीत यतना का अर्थ उपयुक्तता, सावधानी, विवेक, जागृति अथवा अप्रमाद है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो प्रत्येक योग्य क्रिया के लिए जिस समिति अथवा शास्त्रीय नियमों तथा आज्ञाओं का साधु-साध्वी के लिए विधान है, उनका उल्लंघन करना तद्विषयक अयतना है और इसके विपरीत उनके अनुसार चर्या करना यतना है।[१५]

१५. (क) दशवै (संतबालजी), पृ. (ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मा.), पृ. १११
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. १५९

गमनविषयक यतना-अयतना—साधु-साध्वियों के लिए गमनागमनविषयक कुछ नियम ये हैं—वह षट्कायिक जीवों को देखता-भालता उपयोगपूर्वक चले, धीरे-धीरे युगप्रमाण (साढ़े तीन हाथ) भूमि को दिन में देख कर तथा रात्रि में रजोहरण से प्रमार्जन करता हुआ चले; बीज, घास, जल, पृथ्वी, तथा चींटी, कीट आदि त्रस जीवों की यथाशक्य रक्षा करता हुआ, उन्हें बचाता हुआ चले। सरजस्क पैरों से राख, अंगारे, गोबर आदि पर न चले, जिस समय वर्षा हो रही हो, धूंअर पड़ रही हो, उस समय न चले, जोर से आँधी चल रही हो, मार्ग अन्धकाराच्छन्न हो गया हो, या कीट, पतंगे आदि सम्पातिम प्राणी उड़ रहे हों, उस समय न चले। वह हिलते हुए तख्ते, पत्थर या ईंट आदि पर पैर रख कर कीचड़ या जल को पार न करे, बिना प्रयोजन इधर-उधर न भटके, साधुचर्याविषयक प्रयोजन होने पर ही उपाश्रय से बाहर निकले, रात्रि में गमनागमन या विहार न करे, चलते समय ऊपर या नीचे देखता हुआ, बातें करता हुआ, हँसता या दौड़ता हुआ, दूसरे के कन्धे से कन्धा भिड़ाता हुआ, धक्कामुक्की करता हुआ न चले। यह गमनविषयक यतना है। इसके विपरीत गमनसम्बन्धी इन तथा ऐसे ही ईर्यासमिति के अन्य नियमों तथा शास्त्रीय आज्ञाओं का उल्लंघन करना गमनविषयक अयतना है।[९६]

खड़े होने सम्बन्धी यतना-अयतना—शास्त्र में ईर्यासमिति के अन्तर्गत ही खड़े होने के कुछ नियम साधुवर्ग के लिए बताए हैं—सचित्त भूमि, हरियाली (हरी घास दूब आदि), वृक्ष, जल, अग्नि, उत्तिंग, पनक (काई) या किसी त्रस जीव पर पैर रख कर खड़ा न हो, पूर्ण संयम से खड़ा रहे, खड़ा-खड़ा इधर-उधर किसी के मकान या खिड़कियों तथा किसी स्त्री, अथवा खेल-तमाशे आदि की ओर दृष्टिपात न करे, खड़े-खड़े हाथ-पैर आदि को असमाधिभाव से न हिलाए-डुलाए, खड़े-खड़े आँखें मटकाना, अंगुलियों से या हाथ से किसी की ओर संकेत करना आदि चेष्टाएँ न करे। खड़े होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य शास्त्रीय नियमों का पालन करना तथा विवेकपूर्वक योग्य स्थान में खड़ा होना यतना है। इसके विपरीत खड़े होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन करना अयतना है।

बैठने सम्बन्धी यतना-अयतना—साधु के लिए बैठने के कुछ नियम हैं, जैसे कि—सचित्त भूमि, बर्फ, आसन या किसी त्रस जीव पर या त्रस जीवाश्रित स्थान या काष्ठ आदि पर न बैठे, जगह का या तख्त आदि का प्रमार्जन-प्रतिलेखन किये बिना न बैठे, दरी, गद्दे, पलंग, खाट या स्प्रिंगदार कुर्सी आदि पर न बैठे, गृहस्थ के घर (अकारण) या दो घरों के बीच की गली में, रास्ते के बीच में न बैठे; अकेली स्त्री (साध्वी के लिए अकेले पुरुष) के पास न बैठे, व्यर्थ सावद्य बातें करने के लिए न बैठे, उपयोगपूर्वक बैठे, जहाँ बैठने से अप्रीति उत्पन्न होती हो, ऐसे स्थान में न बैठे। बैठे-बैठे हाथ-पैर आदि को अनुपयोगपूर्वक पसारना, सिकोड़ना, हिलाना आदि चेष्टाएँ न करे; बैठने के इन या ऐसे ही अन्य शास्त्रीय नियमों का पालन करना यतना है और इनका उल्लंघन करना एतद्-विषयक अयतना है।

शयन-विषयक यतना-अयतना—अप्रतिलेखित तथा अप्रमार्जित भूमि, तख्त, शय्या, शिलापट्ट, घास, चटाई आदि पर न सोये। सारी रात न सोये, न ही अकारण दिन में सोये; सोना-जागना

---

९६. (क) 'अजयं नाम अणुवएसेणं, चरमाणो नाम गच्छमाणो।'' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५८

(ख) अयतं—अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति क्रिया विशेषणमेतत्।·······अयतमेव चरन् ईर्यासमितिमुल्लंघ्य।

नियमित समय पर करे, प्रकामनिद्रालु न हो, शयनकाल में करवट बदलते, हाथ-पैर सिकोड़ते-पसारते समय सावधानी रखे, पूंजणी से प्रमार्जन करके ही अंगसंचालन करे, सोने से पूर्व संस्तारक का प्रमार्जन कर ले, तथा सागारी अनशन कर ले, संथारा पौरुषी का पाठ करके सोए, मच्छर, खटमल आदि का स्पर्श होने पर पूंजणी से उसे धीरे से एक ओर कर दे। दुःस्वप्न न आए इसकी जागृति रखे, स्वप्न में घबराए या बड़बड़ाए नहीं। इन या ऐसे ही शास्त्रीय नियमों का पालन करना शयनविषयक यतना है, और इनका उल्लंघन करना एतद्विषयक अयतना है।[९७]

भोजनविषयकयतना-अयतना—गवेषणा, ग्रहणैषणा एवं परिभोगैषणा से सम्बन्धित दोषों का वर्जन करके आहार ग्रहण एवं सेवन करे, जैसे—आधाकर्म, औद्देशिक, क्रीत आदि दोषयुक्त आहार न ले, धात्रीकर्म, दूतिकर्म, दैन्य आदि करके आहार न ले, आहार सेवन करते समय पांच मण्डल दोषों का वर्जन करे, सचित्त, अर्द्धपक्व, या सचित्त पर रखे हुए या सचित्त पानी, अग्नि, वनस्पति आदि से संस्पृष्ट आहार न ले, स्वाद के लिए न खाये, शास्त्रोक्त ६ कारणों से सप्रयोजन आहार करे, हित मितभोजी हो, प्रकामभोजी न हो, निर्दोष आहार न मिलने पर या थोड़ा मिलने पर सन्तोष करे, ६ कारणों से आहार का त्याग करे, संविभाग करके सन्तुष्ट होकर शान्तिपूर्वक आहार करे। जूठन न छोड़े, न संग्रह करे। गृहस्थ के घर में (अकारण) आहार न करे, न गृहस्थ के बर्तन में भोजन करे, इन और ऐसे ही अन्य शास्त्रीय नियमों का पालन करना भोजनविषयक यतना है। इसके विपरीत, इन नियमों का अतिक्रमण करना एतद्विषयक अयतना है।

भाषासम्बन्धी यतना-अयतना—साधु-साध्वी भाषासमिति से सम्बन्धित नियमों का पालन करें। 'सुवाक्यशुद्धि' नामक अध्ययन में बताये भाषासम्बन्धी विवेक का पालन करे, सत्यभाषा एवं व्यवहारभाषा बोले, असत्य एवं मिश्रभाषा न बोले; कर्कश, कठोर, निश्चयकारी, छेदन-भेदनकारी, हिंसाकारी, सावद्य, पापकारी वचन न बोले, गाली न दे, अपशब्द न बोले, चुगली न खाए, न परनिन्दा में प्रवृत्त हो, जिससे दूसरा कुपित हो, दूसरे को आघात पहुंचे ऐसी मर्मस्पर्शी या भूतोपघाती भाषा न बोले, न सावद्यानुमोदिनी भाषा बोले, जिस विषय में न जानता हो उस विषय में निश्चित बात न कहे, वैर, फूट, मनोमालिन्य, द्वेष, कलह एवं संघर्ष पैदा करने वाली भाषा न बोले, सांसारिक लोगों के विवाहादिविषयक प्रपंच में न पड़े, न ही ज्योतिष् निमित्त या भविष्य के बारे में कथन करे। इन और ऐसे ही अन्य भाषाविषयक नियमों का पालन करना यतना है और इनका उल्लंघन करना अयतना है।[९८]

---

९७. (क) दशवै. (आ. मणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २९८
(ख) आसमाणो नाम उवट्ठिओ, सो तत्थ सरीराकुंचणादीणि करेइ, हत्थपाए विच्छुभइ तओ सो उवरोधे वट्टइ। —जि. चू., पृ. १५९।
(ग) अजयंति आउंटेमाणो य ण पडिलेहइ ण पमज्जइ, सव्वराइं सुव्वइ, दिवसाओ वि सुयइ, पगामं निगामं वा सुवइ। —जि. चू., पृ. १५९
(घ) अयतं स्वपन्—असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना। —हा. टी., पृ. १५७

९८. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. १६० (ख) दशवै. (आ. मणि मंजूषा टीका) भा. १, पृ. २९५
(ग) "अजतं—सुरुसुरादि काकसियालभुत्तं एवमादि।" —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ९२
(घ) 'अयतं भुंजानो—निष्प्रयोजनं प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना वा।' —हा. टी., प. १५७
(ङ) 'अयतं भाषमाणो—गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना वा।' वही, पत्र १५७
(च) अजयं गारत्थियभासिं भासइ ढड्ढरेण वेरत्तियासु एवमादिसु॥ —जि. चूर्णि, पृ. १५९

साधु-साध्वी की प्रत्येक क्रिया यतनापूर्वक हो—जो साधु-साध्वी चलने, खड़ा होने, बैठने, सोने, खाने और बोलने आदि की शास्त्रोक्त विधि उपदेश या आज्ञा के अनुसार नहीं चलता, इन आज्ञाओं का उल्लंघन या लोप करता है, वह अयतनापूर्वक चलने वाला आदि कहा जाता है। यह ध्यान रहे कि साधु को केवल इन्हीं ६ क्रियाओं के बारे में ही नहीं अपितु साधु-जीवन के लिए आवश्यक भिक्षाचर्या, आहार-गवेषणा भण्डोपकरण उठाना-रखना, मलमूत्रादि विसर्जन, स्वाध्याय, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि सभी क्रियाओं में यतनापूर्वक चलना है, अन्यथा उन शास्त्रविहित नियमों का उल्लंघन करने वाला भी अयतनाशील कहलाएगा। इसलिए दिन और रात में होने वाली साधु-साध्वी की सारी चर्या यतनापूर्वक होनी चाहिए। यही इन सूत्रों में संकेत है।[९९]

अयतना से पापकर्मों का बन्ध क्यों और कैसे?—पूर्वोक्त गाथाओं में अयतना से गमनादि क्रिया करने वाले साधु-साध्वी के लिए कहा गया है कि वह जीवों की हिंसा करता है। कोई भी कार्य अनुपयोग से, असावधानीपूर्वक किया जाएगा तो हिंसा ही नहीं, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह आदि पाप भी हो जाएँगे। उनके फलस्वरूप पापकर्मों का बन्ध होना स्वाभाविक है। पापकर्मों के बन्ध का अर्थ है—अत्यन्त चीकने कर्मों का उपचय-संग्रह।[१००]

पाप और उसके कटुफल—पाप चित्तवृत्ति को मलिन बना देता है, आत्महित का नाश करता है, आत्मा को कर्मरज से मलिन कर देता है, नरकादि अधोगति में ले जाता है, प्राणियों के आत्मिक सुख (आनन्द) रस को लूट लेता है। पाप-कर्मबन्ध के कारण, जब वे उदय में आते हैं तब, अत्यन्त कटुफल भोगना पड़ता है।[१०१]

वस्तुतः इन पाप कर्मों का फल अत्यन्त दुःखप्रद होता है। अयतनाशील प्रमादी के मोह आदि कारणों से पापकर्म का बन्ध होता है। जिसका विपाक अतीव दारुण होता है। जिनदासमहत्तर के अनुसार ऐसे प्रमत्त को कुदेव, कुमनुष्य आदि कुगतियों-कुयोनियों की प्राप्ति होती है, जहाँ उसको बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त होना दुर्लभ होता है।[१०२]

पापकर्मबन्ध से रहित होने का उपाय : समस्त क्रियाओं में यतना—शिष्य की जिज्ञासा सुन कर गुरुदेव ने कहा—'जयं चरे० इत्यादि।

यतनापूर्वक चलने का अर्थ है—ईर्यासमिति से युक्त होकर त्रसादि प्राणियों को देखते हुए उनकी रक्षा करते हुए चलना, पैर ऊँचा उठाकर उपयोगपूर्वक चलना, युगप्रमाण भूमि को देखते हुए

---

९९. (क) "अयतं नाम अनुपदेशेनासूत्राज्ञयेति" —हा. टी., पत्र १५६
(ख) दसवेयालियं (मु. नथ.) पृ. १६०

१००. (क) वही, पृ. १६० (ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ९२
(ग) 'पाणा तसा भूता थावरा।' —अ. चू., पृ. ९१

१०१. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा)। —टीका. भा. १., पृ. २९२
(ख) जि. चू., पृ. १५८

१०२. (क) अशुभफलं भवति मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः। —हारि. वृत्ति., पत्र १५६
(ख) 'कडुयं फलं नाम कुदेवत्त-कुमाणुसत्त-निव्वत्तकं पमत्तस्स भवइ।' —जि. चू., पृ. १५९
(ग) "......कडुयं फलं-कडुगविवागं कुगति-अबोधिलाभनिव्वत्तगं।" —अ. चू., पृ. ९१

शास्त्रीय विधि से चलना। **यतनापूर्वक खड़े होने का अर्थ है**—कछुए की तरह इन्द्रियों का गोपन करके हाथ, पैर आदि का विक्षेप न करते हुए खड़े होना। **यतनापूर्वक बैठने का अर्थ है**—हाथ-पैर आदि को वार-वार न फैलाना, न सिकोड़ना। **यतनापूर्वक सोने का अर्थ है**—करवट आदि बदलते या अंगों को पसारते समय निद्रा छोड़कर शय्या का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना। रात्रि में प्रकामशयनशील न होना, समाधिपूर्वक सोना। **यतनापूर्वक खाने का अर्थ है**—शास्त्रोक्त प्रयोजन के लिए निर्दोष अप्रणीत (रसरहित) पानभोजन को अगृद्धिभाव से खाना। **यतनापूर्वक बोलने का अर्थ है**—इसी शास्त्र के वाक्यशुद्धिनामक ७ वें अध्ययन में वर्णित भाषासम्बन्धी नियमों का पालन करना, साधु-साध्वी के योग्य, मृदु एवं समयोचित वचन बोलना।[१०३]

पापकर्म के अबन्धक की चार अर्हताएँ : अर्थ—(१) **सर्वभूतात्मभूत**—षड् जीवनिकाय को जो आत्मवत् मानता है, (२) जिसकी दृष्टि सम्यग् हो गई, अर्थात्—जिसकी प्रज्ञा में यह बात स्थिर हो चुकी है कि जैसा मैं हूँ, वैसे ही संसार के सब जीव हैं। मेरी ही तरह उन्हें वेदना होती है, उन्हें भी मेरी तरह दुःख अप्रिय है, सुख प्रिय है, (३) सर्वभूतात्मभूत साधक ने ऐसी सहज सम्यग्दृष्टि के साथ-साथ हिंसादि पांचों आस्रवद्वारों को प्रत्याख्यान द्वारा रोक दिया है, पंच महाव्रत ग्रहण करके वह नवीन पापकर्मों को आने नहीं देता, अर्थात् वह पिहितास्रव हो जाता है, और (४) वह दान्त हो जाता है। अर्थात् पांचों इन्द्रियों के विषय में रागद्वेष को जीत लेता है, अकुशल मन-वचन-काया का निरोध कर लेता है, क्रोधादि कषायों का निग्रह करके उदय में आने पर उन्हें[१०४] विफल कर देता है। इन चार अर्हताओं से युक्त साधु या साध्वी पापकर्म का बन्ध नहीं करते।

जिसकी आत्मा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की पवित्र भावना से ओतप्रोत है, तथा जो उपर्युक्त सम्यग्दृष्टि आदि गुणों से सम्पन्न है, वह जीव हिंसा करता ही नहीं, उसके हृदय में स्वाभाविक रूप से अहिंसानिष्ठा होती है। अतः वह किसी भी प्राणी को कदापि लेशमात्र भी पीड़ा नहीं पहुँचा सकता। यतनापूर्वक गमनादि क्रिया करते हुए कदाचित् कोई जीव उसके निमित्त से निष्प्राण हो भी जाए तो भी वह हिंसा के पाप से लिप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदितरूप से सर्वथा प्राणातिपात से विरत हो गया है, वह किसी भी जीव को पीड़ा पहुँचाने का कामी नहीं है। चूर्णिकार ने गाथाओं द्वारा इसे समझाया है—जैसे छिद्ररहित नौका में जल प्रवेश नहीं कर सकता, भले ही वह अगाध जलराशि पर चल रही हो या ठहरी हुई हो, उसी प्रकार आश्रवमुक्त संवृतात्मा निर्ग्रन्थ श्रमण में, भले ही वह जीवों से व्याप्त लोक में चल रहा

---

१०३. (क) अ. चू., पृ. ९२, (ख) जिन. चूर्णि., पृ. १६०, (ग) हारि. वृत्ति., पत्र १५७
(घ) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. ११७

१०४. (क) जिन. चूर्णि., पृ. १६० (ख) अगस्त्य चूर्णि., पृ. ९३, (ग) हारि. वृत्ति., पत्र १५७
(घ) दस. (मु. न.), पृ. १६३

हो या स्थित हो, पाप प्रवेश नहीं कर पाता।[१०५] गीता में भी इससे मिलता-जुलता चिन्तन है।[१०६]

जीवादि तत्त्वों के ज्ञान का महत्त्व

६४. 'पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही ?, किं वा नाहीइ छेय-पावगं ॥३३॥☐

६५. सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं छेयं ※ तं समायरे ॥३४॥

६६. जो जीवे वि न याणति, अजीवे वि न याणति।
जीवाऽजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ॥३५॥

६७. जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणति।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥३६॥

६८. जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणई।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणई ॥३७॥

६९. जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणई ॥३८॥

[६४] 'पहले ज्ञान और फिर दया है'—इस प्रकार (क्रम) से सभी संयमी (संयम में) स्थित होते हैं। अज्ञानी (बेचारा) क्या करेगा ? वह श्रेय और पाप को क्या जानेगा ! ॥३३॥

---

१०५. (क) ....सव्वभूतेसु अप्पभूतो, कहं ? जहा मम दुक्खं अणिट्ठं इह, एवं सव्वजीवाणं ति काउं पीडा नो उप्पायइ, एवं जो सव्वभूएसु अप्पभूतो, तेण जीवा सम्मं उवलद्धा भवंति। भणियं च—
"कट्ठेण कंटएण व पादे विद्धस्स वेदणा तस्स।
जा होइ अणेव्वाणी णायव्वा सव्वजीवाणं ॥"

(ख) 'पिहियाणि पाणिवधादीणि आसवदाराणि जस्स सो पिहियासवदुवारो तस्स।"
—जिनदास चूर्णि, पृ. १६०

(ग) 'दंतस्स—दंतो इंदिएहिं णो इंदिएहि य। इंदियदमो सोइंदियपयारनिरोहो वा सद्दातिरागद्दोसणिग्गहो वा, एवं सेसेसु वि। णोइंदियदमो कोहोदयणिरोहो वा उदयपत्तस्स विफलीकरणं वा, एवं जाव लोभो। तहा अकुसलमणणिरोहो वा कुसलमणउदीरणं वा, एवं वाया कातो य। तस्स इंदियणोइंदियदंतस्स पावं कम्मं ण वज्झति, पुव्वबद्धं च तवसा खीयति।" —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ९३

(घ) जलमज्झे जहा नावा, सव्वओ निपरिस्सवा। गच्छंती चिट्ठमाणा वा, न जलं परिगिण्हइ ॥
एवं जीवाउले लोगे, साहु संवरियासवो। गच्छंतो चिट्ठमाणो वा, पावं नो परिगेण्हइ ॥
—जि. चू., पृ. १५९

१०६. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ —गीता ५।७

☐ पाठान्तर सेय-पावगं। ※ सेयं।

[६५] (क्योंकि व्यक्ति) श्रवण करके ही कल्याण का जानता है और श्रवण करके ही पाप को जानता है। कल्याण और पाप—दोनों को सुनकर ही व्यक्ति जान पाता है, (तत्पश्चात् उनमें से) जो श्रेय है, उसका आचरण करता है ॥ ३४ ॥

[६६] जो जीवों को भी नहीं जानता (और) अजीवों को भी नहीं जानता, जीव और अजीव दोनों को नहीं जानने वाला वह (साधक) संयम को कैसे जानेगा ? ॥ ३५ ॥

[६७] जो जीवों को भी विशेषरूप से जानता है और अजीवों को भी विशेषरूप से जानता है, (इस प्रकार) जीव और अजीव दोनों को विशेषरूप से जानने वाला ही संयम को जान सकेगा ।३६।

[६८] जब साधक जीव और अजीव, दोनों को विशेषरूप से जान लेता है, तब वह समस्त जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है ॥ ३७ ॥

[६९] जब (साधक) सर्वजीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है, तब वह पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है ॥ ३८ ॥

विवेचन—ज्ञान का स्थान प्रथम क्यों ?—यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक् नहीं होता। सम्यग्ज्ञान होगा तो व्यक्ति श्रेय-प्रेय, हितकर-अहितकर तत्त्वों को छांट लेगा, चारित्र के साथ घुल जाने वाली विकृतियों को दूर कर देगा और वास्तविक रूप से सम्यक्चारित्र का पालन करेगा। दूसरी बात यह है कि साधक का जीव-अजीव का विज्ञान जितना सीमित होगा, दया (अहिंसा) आदि चारित्र की भावना उतनी ही संकुचित एवं मंद होगी। जीवों का व्यापक ज्ञान होने से उनके प्रति दयाभाव, मैत्री, आत्मौपम्यभाव उतना ही व्यापक और विकसित होगा। जीवों का व्यापक ज्ञान होने पर उनकी गति-आगति आदि का अन्तर तथा तत्सम्बद्ध पुण्य-पाप का अन्तर समझ में आएगा, और फिर आत्मविकास को रोकने वाले कर्मबन्ध का भी रहस्य मालूम पड़ेगा, जिससे साधुवर्ग की जिज्ञासा चतुर्गतिक संसार में जन्म-मरण के कारणभूत कर्मों के बंध को काटने और कर्मावरण दूर करके आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, कर्ममुक्त बनाने की होगी। तभी तो वह कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का आचरण करेगा। इस दृष्टि से सम्यग्ज्ञान को प्राथमिकता दी गई है। ज्ञान से जीव के स्वरूप, संरक्षणोपाय और फल का बोध होता है। गीता में स्पष्टतः कहा गया है—ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु इस जगत् में नहीं है। ज्ञानरूपी अग्नि सर्वकर्मों को भस्म कर देती है।[१०७] इसीलिए यहाँ कहा गया है—

---

१०७. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. १२१

(ख) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. १६४

(ग) प्रथममादौ, ज्ञानं-जीवस्वरूप-संरक्षणोपाय-फलविषयं, ततः तथाविधज्ञान-समनन्तरं दया-संयमस्तदेकान्तोपादेयतया भावतस्तत्प्रवृत्तेः। —हारि. वृत्ति, पत्र १५७

(घ) न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! ॥ —भगवद्गीता ४।३८

'पढमं नाणं तओ दया ।'—अर्थात्—प्रथम जीवादि का ज्ञान होना चाहिए, तत्पश्चात् उनकी दया। जिससे स्वपर का बोध हो, उसे ज्ञान कहते हैं।[१०८] यहाँ दया शब्द से उपलक्षण से समस्त अहिंसात्मक क्रियाओं का ग्रहण होता है।

सभी संयमी इस सिद्धान्त में स्थित—जो संयत हैं, अर्थात् १७ प्रकार के संयम को धारण किये हुए हैं, उन्हें सर्वजीवों का ज्ञान भी होता है। जिनका जीव-ज्ञान पूर्ण नहीं होता, उनका संयम भी पूर्ण नहीं होता। पूर्ण संयम (सर्वभूतसंयम) के बिना अहिंसा अधूरी है, वास्तव में सर्वभूतों के प्रति संयम ही अहिंसा है। यही कारण है कि जीव-अजीव के भेदज्ञाता निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग की दया जहाँ पूर्ण है, वहाँ जीव-अजीव के विशेष भेद से अनभिज्ञ अन्य मतानुयायी साधकों की दया वैसी व्यापक नहीं है। उनकी दया या तो मनुष्यों तक ही सीमित है, या फिर पशु-पक्षियों तक या कीट-पतंगों तक। इसका कारण है—उनमें पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवों के ज्ञान का अभाव। इसीलिए सभी निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी सभी जीवों के ज्ञानपूर्वक क्रिया (दया आदि चारित्रधर्म) का पालन करने की प्रतिपत्ति (मान्यता) में स्थित होते हैं।[१०९]

अज्ञानी : श्रेय और पाप को जानने में असमर्थ—प्रस्तुत में दो पंक्तियों द्वारा अज्ञानी की असमर्थ दशा का वर्णन किया गया है। (१) **अन्नाणी किं काही ?** इसका तात्पर्य है कि वह अज्ञानी, जिसे जीव-अजीव का बोध नहीं है, उसे यह भान ही नहीं होता कि अहिंसा क्या है हिंसा क्या है ? या अमुक कार्य करना है, अमुक कार्य नहीं, क्योंकि उससे जीववध होगा, जिसका कटु परिणाम भोगना पड़ेगा। अतः जिसे जीव-अजीव का ज्ञान नहीं, वह अहिंसावादी नहीं हो सकता। अहिंसा का समग्र विचारक हुए बिना अहिंसा का पूर्ण पालन हो नहीं सकता। जिस अज्ञानी को साध्य, उपाय और फल का परिज्ञान नहीं है, वह कैसे श्रेय दिशा में प्रवृत्त होगा ? वह सर्वत्र अन्धे के समान है। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के निमित्त का अभाव होता है।[११०] (२) **किं वा नाहीइ छेय-पावगं**—अज्ञानी श्रेय—हितकर—संयम को, और पाप—अहितकर या असंयम को कैसे जान सकता है ? जिसे जीव और अजीव का ज्ञान नहीं, उसे किसके प्रति, कैसे संयम करना है, या संयम में हित है, असंयम में अहित है, इस

---

१०८. 'ज्ञानं स्व-परस्वरूप-परिच्छेदलक्षणम् ।' —आचारमणिमंजूषा टीका, भा. १, पृ. ३००

१०९. (क) 'सव्वसंजता णाणपुव्वं चरित्तधम्मं पडिवालेंति ।' —अ. चू., पृ. ९३

(ख) '.....साधूणं चेव संपुण्णा दया जीवाजीवविसेसं जाणमाणाणं, ण उ सक्कादीणं जीवाजीवविसेसं अजाणमाणाणं संपुण्णा दया भवइ त्ति, चिट्ठंइ नाम अच्छइ ।.....सव्वसंजताणं जीवाजीवादिसु णातेसु सत्तरसविधो संजमो भवइ ।' —जि., चू., पृ. १६०-१६१

(ग) एवं—अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण, तिष्ठति-आस्ते, सर्वः संयतः प्रव्रजितः ।

—हारि. वृत्ति, पत्र १५७

११०. (क) अण्णाणी जीवो, जीवविण्णाणविरहितो सो किं काहिति ? —अ. चू., पृ. ९३

(ख) यः पुनः 'अज्ञानी'—साध्योपाय-फलपरिज्ञानविकलः स किं करिष्यति ? सर्वत्रान्धतुल्यत्वात् प्रवृत्ति-निवृत्तिनिमित्ताभावात् । —हारि. वृत्ति, पृ. १५७ ।

(ग) दसवेया० (मु. नथ.) पृ. १६५

तथ्य को भी कैसे समझ सकता है ? जिस प्रकार महानगर में आग लगने पर अंधा (नेत्रविहीन) नहीं जानता कि उसे किस दिशा से भाग निकलना है, उसी प्रकार जीवों के विशेष ज्ञान के अभाव में अज्ञानी यह नहीं जानता कि उसे असंयमरूपी दावानल से कैसे बच कर निकलना है ? जो यह नहीं जानता कि क्या हितकर है, कालोचित है, क्या अहितकर है, उसका कुछ करना, आग लगने पर अंधे के दौड़ने के समान होगा।[१११]

सोच्चा : व्याख्या—सोच्चा का अर्थ है—सुन कर। परन्तु क्या सुन कर ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार के द्वारा प्रयुक्त **'जाणई कल्लाणं, जाणइ पावगं'**, इन पदों को देखते हुए वृत्तिकार और चूर्णिकार ने यही अध्याहार किया है कि (१) सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ को सुनकर, (२) अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र को सुन कर, (३) या जीव, अजीव आदि तत्त्वों (पदार्थों) को सुन कर, (४) मोक्ष के साधन, तत्त्वों के स्वरूप और कर्मविपाक के विषय में सुन कर।[११२]

श्रुति (श्रवण) का महत्त्व—वर्तमान युग में जैसे प्राय: पढ़ कर श्रेय-अश्रेय का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वैसा प्राचीन काल में नहीं था, आगम रचनाकाल से लेकर वीरनिर्वाण की दसवीं शती से पूर्व तक जैनागम प्राय: कण्ठस्थ थे। आगमों का अध्ययन, वाचन, पुनरावर्तन आदि आचार्य के मुख से सुनकर होता था। यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र में मनुष्यत्वप्राप्ति के बाद दूसरा दुर्लभ परम अंग श्रुति—श्रवण बताया गया है। श्रद्धा और आचरण का स्थान उसके बाद है।[११३] साधु-साध्वी की पर्युपासना के स्थानांग सूत्र में १० फल बताए हैं, उनमें सर्वप्रथम फल 'श्रवण' है, उसके पश्चात् ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, तप, व्यवदान, अक्रिया और अन्त में निर्वाण बताया है। अर्थात्—श्रवण का परम्परागत फल निर्वाण में परिसमाप्त होता है। उत्तराध्ययन में आगे मनुष्य-शरीर के बाद धर्मश्रवण को, तथा अहीनपंचेन्द्रियत्व-प्राप्ति के पश्चात् उत्तम धर्मश्रुति को दुर्लभ बताया गया है।[११४] इससे श्रवण या श्रुति का महत्त्व समझा जा सकता है।

---

१११. (क) "........जहा अंधो महानगरदाहे पलित्तमेव विसमं वा पविसति, एवं छेदपावगमजाणंतो संसारमेवाणुपडति।" —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ९३

(ख) "...महानगरदाहे नयणविउत्तो ण याणाति, केण दिसाभाएण मए गंतव्वं ति। तहा सो वि अन्नाणी नाणस्स विसेसं अयाणमाणो कहं असंजमदवाओ णिग्गच्छिहिति ?" —जिन. चूर्णि, पृ. १६१

(ग) 'छेकं'—निपुणं हितं कालोचितं, 'पापकं' वा अतो विपरीतमिति। ततश्च तत्करणं भावतोऽकरण-मेव। समग्रनिमित्ताभावात् अन्धप्रदीप्त-पलायनघुणाक्षरकरणवत्।"—हारि. वृत्ति, पत्र १५७

११२. "सोच्चा नाम सुत्तत्थतदुभयाणि सोऊण, णाणदंसणचरित्ताणि वा सोऊण, जीवाजीवादी पयत्था वा सोऊण।" —जिन. चू., पृ. १६१

११३. (क) "गणहरा तित्थगरातो, सेसो गुरुपरंपरेण सुणेऊणं।" —अ. चू., पृ. ९३

(ख) उत्तरा० ३।१

११४. (क) सवणे णाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हते तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥ —स्थानांग० ३।४१८

(ख) 'माणुसं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा।' —उत्तरा० ३।८

(ग) "अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा"—उत्तरा० १०।१८

कल्लाणं, पावगं : कल्याण—(१) कल्य—अर्थात् मोक्ष को जो प्राप्त कराए। उसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र, संयम, धर्म आदि भी कहा जा सकता है।

पापक—(१) अकल्याण, (२) जिसके करने से पाप कर्मों का बन्ध हो, वह है असंयम।

उभयं : दो अर्थ—(१) कल्याण और पाप दोनों को, (२) उभय—संयमासंयम स्वरूप श्रावकोपयोगी, जिसमें कल्याण और पाप दोनों हों।[११५]

जीवाजीव के अविज्ञान-विज्ञान का परिणाम—जो व्यक्ति जीवों को शरीर-संहनन-संस्थान, स्थिति, पर्याप्ति विशेष आदि सहित नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता, वह १७ प्रकार के संयम को सर्वपर्यायों सहित कैसे जान सकता है? श्रेय और पाप को जानने वाला पाप का परित्याग करके श्रेय—संयम को अपना लेता है, तथा असंयम का परिहार करके मद्यमांसादि अजीव का भी परिहार करता है, इस प्रकार वह जीवाजीव-संयम का पालन कर सकता है।[११६] तात्पर्य यह है कि जीव और अजीव की परिज्ञा वाला व्यक्ति जीव और अजीव सम्बन्धी संयम को जानता है। जीवों का वध न करना चाहिए, इस प्रकार का ज्ञान होने से वह जीव-संयम करता है। मद्य, मांस, हिरण्यादि अजीव द्रव्यों का ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि ये संयमविघातक हैं। इस प्रकार अजीव-संयम भी कर सकता है। निष्कर्ष यह है कि जो जीव-अजीव को नहीं जानता, वह उनके प्रति संयम को भी नहीं जानता, अतः उनके प्रति वह संयम भी नहीं कर सकता।

जीवाजीव-विज्ञान : गति, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष के ज्ञान से सम्बद्ध—प्रस्तुत दो गाथाओं (३७-३८ वीं) में जीवाजीव विज्ञान का गति आदि के ज्ञान से सीधा सम्बन्ध बताया गया है। जब मनुष्य को जीव, अजीव का विवेक-ज्ञान हो जाता है, तब वह विचार करता है कि सबकी आत्मा निश्चय दृष्टि से एकसी होने पर भी ये नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि विभिन्न पर्यायें अथवा जीवों में अन्य विभिन्नताएँ क्यों हैं? एक नारक या तिर्यञ्च क्यों बना? दूसरा मनुष्य या देव क्यों बना? तब

---

११५. (क) कल्यो मोक्षस्तमणति-प्रापयतीति कल्याणं—दयाख्यं संयमस्वरूपम् —हा. टी., पत्र १५८
(ख) कल्लं नाम नीरोगया सा य मोक्खो, तमणेइ जं तं कल्लाणं, ताणि य णाणाईणि।
जि. चू., पृ. १६१
(ग) कल्लं आरोग्गं तं आणेइ कल्लाणं, संसारातो विमोक्खणं, सो य धम्मो। —जि. चू., पृ. ९३
(घ) 'पावकं अकल्लाणं।' —वही, पृ. ९३,
(ङ) "जेण य कएण कम्मं वज्झइ, तं पावं, सो य असंजमो।" —जिन. चूर्णि., पृ. १६१
(च) 'उभयमपि'—संयमासंयमस्वरूपं श्रावकोपयोगि। —हारि. वृत्ति., पत्र १५८
(छ) "उभयं एतदेव कल्लाणं पावगं।" —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ९३

११६. (क) अगस्त्य चूर्णि., पृ. ९४
(ख) जिनदास. चूर्णि, पृ. १६१-१६२
(ग) हारि. वृत्ति, पत्र १५८
(घ) जीवा जस्स परिन्नाया, वेरं तस्स न विज्जइ।
न हु जीरे अयाणंतो वहं वेरं च जाणइ॥

उसका उत्तर शास्त्रों या ज्ञानी पुरुषों के द्वारा (श्रवण से) मिलता है कि 'कारण के बिना कार्य नहीं होता।' विभिन्न कर्म ही विभिन्न गतियों में जन्ममरण आदि के कारण हैं। शुभकर्मों के कारण सुगति और अशुभकर्मों के कारण दुर्गति मिलती है। इस प्रकार साधक गतियों एवं उनके अन्तर्भेदों को सहज ही जान लेता है। पुण्य और पाप कर्मों की विशेषता के कारण सब जीवों की आत्मा समान होते हुए भी विभिन्न गतियाँ, योनियाँ तथा सुखदुःख, शरीरादि संयोग मिलते हैं। जीव और कर्म का जो परस्पर क्षीर-नीरवत् संयोग (बन्धन) है, वही चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण का कारण है। जो तप, संयम और रत्नत्रयसाधना के द्वारा इन बन्धनों (कर्मबन्ध) को काट देता है, वह कर्म, संसार एवं जन्ममरणादि के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली गतियों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष है।[११७] इस प्रकार जीव-अजीव को जानने वाला साधक विविध गतियों तथा पुण्य-पाप एवं बन्ध-मोक्ष को सम्यक् प्रकार से जान लेता है, साथ ही जो इनमें से हेय है उसे त्याग देता है और उपादेय को ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि वह जीव और कर्म के ऐकान्तिक वियोगरूप मोक्ष को, जो कि शाश्वत सुख का हेतु है, उसे जान लेता है। जीवों की नरकादि नाना गतियों एवं मुक्त जीवों की स्थिति को, तथा उनके कारणों को तथा बन्ध एवं मोक्ष के अन्तर और उनके हेतुओं को भलीभांति जान लेता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के द्वारा उसका अनुभव परिपक्व हो जाता है।[११८]

आत्मशुद्धि द्वारा विकास का आरोहक्रम

७०. जया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं+ च जाणई।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥३९॥

७१. जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं सऽब्भितर-बाहिरं ॥४०॥

७२. जया चयइ संजोगं सऽब्भितर-बाहिरं।
तया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं ॥४१॥

---

११७. (क) यदा-यस्मिन्काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति—विविधं जानाति, तदा—तस्मिन्काले गतिं नरकगत्यादिरूपां बहुविधां—स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां सर्वजीवानां जानाति। यथावस्थितजीवाजीव-परिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात्। —हारि, वृत्ति., पत्र १५९

(ख) तेसिमेव जीवाणं आउ-बल-विभव-सुखातिसूतितं पुण्णं च पावं च अट्ठविहकम्मणिगलबंधण-मोक्खमवि। —अ. चू., पृ. ९४

(ग) पुण्यं च पापं च बहुविधगतिनिबन्धनं तथा बन्धं-जीवकर्मयोगदुःखलक्षणं, मोक्षं च तद्वियोग-सुखलक्षणं जानाति।" —हारि. वृत्ति., पत्र १५९

११८. (क) "बहुविधग्गहणेण नज्जइ जहा समाणे जीवत्ते ण विणा पुण्णपावादिणा कम्मविसेसेण नारकदेवादिविसेसा भवंति।" —जिनदास. चूर्णि, पृ. १६२

(ख) दसवेयालियं [मुनि नथमलजी] पृ. १६८

पाठान्तर + मुक्खं।

७३. जया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं* धम्मं फासे अणुत्तरं ।।४२।।

७४. जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं।।४३।।

७५. जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छई।।४४।।

७६. जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छई।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली।।४५।।

७७. जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जई।।४६।।

७८. जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जई।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ।।४७।।

७९. जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो भवइ सासओ।।४८।।

[७०] जब (मनुष्य) पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, तब जो भी दिव्य (देव-सम्बन्धी) और मानवीय (मनुष्यसम्बन्धी) भोग हैं, उनसे विरक्त (निर्वेद को प्राप्त) हो जाता है ।। ३९ ।।

[७१] जब साधक दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है, तब आभ्यन्तर और बाह्य संयोग का परित्याग कर देता है ।।४०।।

[७२] जब साधक आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों का त्याग कर देता है, तब वह मुण्ड हो कर अनगारधर्म में प्रव्रजित हो जाता है ।।४१।।

[७३] जब साधक मुण्डित हो कर अनगारवृत्ति में प्रव्रजित हो जाता है, तब उत्कृष्ट—संवररूप अनुत्तरधर्म का स्पर्श करता है ।।४२।।

[७४] जब साधक उत्कृष्ट-संवररूप अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब अबोधिरूप पाप (कलुष) द्वारा किये हुए (संचित) कर्मरज को (आत्मा से) झाड़ देता है (पृथक् कर देता है) ।।४३।।

[७५] जब साधक अबोधिरूप पाप द्वारा कृत (संचित) कर्मरज को झाड़ देता है, तब सर्वत्र व्यापी ज्ञान और दर्शन (—केवलज्ञान और केवलदर्शन) को प्राप्त कर लेता है ।।४४।।

* पाठान्तर मुक्कट्ठं ।

[७६] जब साधक सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब वह जिन और केवली हो कर लोक और अलोक को जान लेता है ॥४५॥

[७७] जब साधक जिन और केवली हो कर लोक-अलोक को जान लेता है; तब योगों का निरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥४६॥

[७८] जब साधक योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह (अपने समस्त) कर्मों का (सर्वथा) क्षय करके रज-मुक्त बन, सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥४७॥

[७९] जब (साधक समस्त) कर्मों का (सर्वथा) क्षय करके रज-मुक्त हो कर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, तब वह लोक के मस्तक पर स्थित हो कर शाश्वत सिद्ध हो जाता है ॥४८॥

विवेचन—पुण्य-पापादि के ज्ञान से शाश्वत सिद्धत्व तक—प्रस्तुत १० गाथाओं (३९ से ४८ तक) में पुण्य-पाप, बंध और मोक्ष के ज्ञान से लेकर शाश्वत सिद्धत्व-प्राप्ति तक का आत्मा के विकासक्रम का दिग्दर्शन हेतुहेतुमद्भाव के रूप में दिया गया है।

आत्मा का विकासक्रम

१. जीव और अजीव का विशेष ज्ञान।
२. सर्वजीवों की बहुविध गतियों का ज्ञान।
३. पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष का ज्ञान।
४. दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्ति।
५. बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों का परित्याग।
६. मुण्डित हो कर अनगारधर्म में प्रव्रज्या।
७. उत्कृष्ट संवररूप अनुत्तरधर्म का स्पर्श।
८. अबोधि-कृत कर्मों की निर्जरा।
९. केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति।
१०. जिनत्व, सर्वज्ञता एवं लोकालोकज्ञता की प्राप्ति।
११. योगों का निरोध और शैलेशी अवस्था की प्राप्ति।
१२. सर्वकर्मक्षय करके कर्ममुक्त होकर सिद्धिप्राप्ति।
१३. लोकाग्र में स्थित होकर शाश्वत सिद्धत्व-प्राप्ति।[११९]

दिव्य एवं मानवीय भोगों से विरक्ति—पुण्य-पाप, बन्ध और मोक्ष का ज्ञान होते ही आत्मा को दिव्य एवं मानवीय विषयभोग निःसार, क्षणिक एवं किम्पाकफल के समान दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं; क्योंकि सम्यग्ज्ञान से वस्तुस्थिति का बोध हो जाता है। इन तुच्छ भोगों के कटु परिणामों एवं चातुर्गतिक संसारपरिभ्रमण का दृश्य साकार-सा प्रतिभासित होने लगता है। इसलिए

११९. (क) दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. १७ (ख) दशवै. (आ. आत्मा.), पृ. १२३

देव-मनुष्यसम्बन्धी भोगों से ऐसे साधक को सहज ही विरक्ति हो जाती है।[120] यहाँ ज्ञान का सार चारित्र बतलाया गया है।

निव्विदए : दो रूप : दो अर्थ (१) निर्विन्द—निश्चयपूर्वक जानना, सम्यक् विचार करना। (२) निर्वेद—घृणा करना, विरक्त होना, असारता का अनुभव करना।[121]

बाह्य-आभ्यन्तर संयोग क्या, उनका परित्याग कैसे ?—संयोग का अर्थ यहाँ केवल सम्बन्ध नहीं है, किन्तु आसक्ति या मोह से संसक्त सम्बन्ध, अथवा मूर्च्छाभाव या ग्रन्थि है। स्वर्ण आदि का संयोग या माता-पिता आदि का संयोग बाह्य संयोग है और क्रोधादि का संयोग आभ्यन्तर संयोग है। इन्हें ही क्रमशः द्रव्यसंयोग और भावसंयोग कहा जा सकता है। भोगों से जब मनुष्य को अन्तर से वैराग्य हो जाता है तो भोगों के साधनों या भोगभावोत्पत्ति के कारणों से ममता-मूर्च्छा सहज ही हट जाती है, संयोगों का त्याग सहज ही हो जाता है। क्योंकि तब अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि ये संयोग ही जीव को बन्धन में डाले हुए हैं, और मेरे लिए अनेक दुःखों के कारण बने हुए हैं। संयोग भी दो प्रकार के होते हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। इनमें से वह अप्रशस्त संयोगों को छोड़ता है, किन्तु देव, गुरु, धर्मसंघ, साधुवेष, धर्मोपकरण आदि प्रशस्त संयोगों को अमुक मर्यादा तक ग्रहण करता है।[122]

मुण्ड और अनगारित्व-स्वीकार : विशेषार्थ—मुण्डन दो प्रकार का होता है—द्रव्यमुण्डन और भावमुण्डन। केशलुञ्चन आदि करना द्रव्यमुण्डन है, और पञ्चेन्द्रियनिग्रह एवं कषायविजय भावमुण्डन है। प्रथम मुण्डन शारीरिक है, दूसरा मानसिक है। दोनों प्रकार से जो मुण्डित हो जाता है, वह 'मुण्ड' कहलाता है। स्थानांगसूत्र में १० प्रकार के मुण्ड बतलाए हैं—(१) क्रोधमुण्ड, (२) मानमुण्ड, (३) मायामुण्ड, (४) लोभमुण्ड, (५) शिरोमुण्ड, (६) श्रोत्रेन्द्रियमुण्ड, (७) चक्षुरिन्द्रियमुण्ड, (८) घ्राणेन्द्रियमुण्ड, (९) रसनेन्द्रियमुण्ड और (१०) स्पर्शनेन्द्रिय-मुण्ड। वास्तव में जब तक बाह्याभ्यन्तरसंयोग बना रहता है, तब तक मोक्षपद की साक्षात्साधिका साधुवृत्ति ग्रहण नहीं कर पाता। परन्तु ज्यों ही मनुष्य समस्त भोगों से, भोगाकांक्षा से सर्वथा विरक्त हो जाता है और बाह्याभ्यन्तर संयोगों का त्याग कर देता है, त्यों ही उसकी अभिलाषा गृहस्थवास में रहने की या गृहस्थाश्रम का दायित्व वहन करने की नहीं रहती। वह सब से मुख मोड़ कर द्रव्य-भाव से मुण्डित होकर अनगारधर्म

---

१२०. हारि. वृत्ति., पत्र. १५७

१२१. 'णिच्छियं विदतीत्ति णिव्विदति, विविहमणेगप्पगारं वा विंदइ निव्विदइ, जहा एते किंपागफलसमाणा दुरंता भोग त्ति। —जि. चू., पृ. १६२

१२२. (क) संयोगं—सम्बन्धं द्रव्यतो भावतश्च साभ्यन्तरबाह्यं क्रोधादि-हिरण्यादि-सम्बन्धमित्यर्थः।
—हारि. वृत्ति., पत्र १५९

(ख) "बाहिरं अब्भंतरं च गंथं।" —जि. चू., १६२

(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १२४

में प्रव्रजित हो जाता है। जिसके अगार अर्थात् अपने स्वामित्व का कोई गृह नहीं होता, वह अनगार कहलाता है। अनगारिता अर्थात्-अनगारवृत्ति या अनगारधर्म अथवा गृहरहित अवस्था—साधुता।[१२३]

उत्कृष्ट संवररूप अनुत्तर धर्म क्या और कौन-सा ?—प्राणातिपात आदि आस्रव-(कर्मों के आगमन-) द्वार का भलीभांति रुक जाना संवर धर्म है। यों तो संवर गृहस्थावस्था में भी किया जा सकता है, किन्तु वहाँ एकदेशरूप (अणुव्रतरूप) संवर ही धारण किया जा सकता है, जबकि यहाँ उत्कृष्ट संवर धारण करने की बात कही है वह सर्वविरतिरूप (महाव्रतरूप) संवर की अपेक्षा से कही है। इस दृष्टि से संवर के दो प्रकार होते हैं—देशसंवर और सर्वसंवर। देशसंवर में आस्रवों का आंशिक निरोध होता है, जब कि सर्वसंवर में उनका पूर्ण निरोध होता है। यहाँ देशसंवर की अपेक्षा सर्वसंवर को उत्कृष्ट कहा है। सर्वसंवर अंगीकार करने का अर्थ है—सकल चारित्रधर्म को अंगीकार करना। महाव्रतरूप पूर्ण चारित्र धर्म से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, इसीलिए इसे अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) धर्म कहा है। भावार्थ यह है कि समस्त विषयभोग, बाह्याभ्यन्तरग्रन्थि और गृहवास को छोड़ कर जब साधक द्रव्य-भाव से मुण्डित होकर अनगारधर्म को अंगीकार करता है, तब सहज ही महाव्रतरूप उत्कृष्ट सर्वश्रेष्ठ संवरधर्म का स्पर्श आसेवन (पालन) करता है। ऐसी स्थिति में उसके समस्त पापास्रवों का पूर्ण निरोध (संवर) हो जाता है। चूर्णिकारों के मतानुसार उत्कृष्ट संवर को जो अनुत्तर धर्म कहा है, वह परमतों की अपेक्षा से कहा है।[१२४]

अबोधिकलुषकृत कर्मरज-ध्वंस का कारण और उसका परिणाम—आत्मा अपने आप में शुद्ध है, किन्तु कर्मों के आवरण के कारण वह कलुषित-अशुद्ध हो रही है। जब साधक उत्कृष्टसंवररूप अनुत्तर धर्म का पालन करता है तो एक ओर से वह नवीन कर्मों (आस्रवों) का सर्वथा निरोध कर देता है, दूसरी ओर से[१२५] पूर्व में किये हुए कर्मरज को झाड़ देता है, या ध्वंस कर डालता है। अथवा अबोधि-अज्ञान के कारण जो कलुष-पाप किया है, उससे अर्जित कर्मरज को वह धुन डालता है। तात्पर्य यह है कि महाव्रत, समिति, गुप्ति, परीषहजय, दशविध श्रमणधर्म, अनुप्रेक्षा एवं द्वादश

---

१२३. (क) मुंडे इंदिय-विसय-केसावणयणेण मुंडो। —अगस्त्यचूर्णि, पृ ९५
(ख) स्थानांग स्था. १०।९९ (ग) अगारं—घरं, तं जस्स नत्थि सो अणगारो। तस्स भावो अणगारिता तं पवज्जति। —अ. चू., पृ. ९५

१२४. (क) संवरो नाम पाणवहादीण आसवाणं निरोहो भण्णइ। देससंवराओ सव्वसंवरो उक्किट्ठो। तेण सव्वसंवरेण संपुण्णं चरित्तधम्मं फासेइ। अणुत्तरं नाम न ताओ धम्माओ अण्णो उत्तरोत्तरो अत्थि। ··· उक्किट्ठग्गहणं देसविरइपडिसेहणत्थं कयं। अणुत्तरगहणं एसेव एक्को जिणप्पणीओ धम्मो अणुत्तरो, ण परवादिमताणित्ति। —जि. चू., पृ. १६३
(ख) उत्कृष्टसंवरं धर्मं—सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपं चारित्रधर्ममित्यर्थः। स्पृशत्यानुत्तरं—सम्यगासेवत इत्यर्थः।' —हारि. वृत्ति, पत्र १५९

१२५. (क) धुणति-विद्धंसयति, कम्ममेव रतो कम्मरतो।····अबोहि-अण्णाणं, अबोहिकलुसेण कडं, अबोहिणा, वा कलुसं कतं। —अग. चू., पृ. ९५
(ख) धुनोति अनेकार्थत्वात् पातयति 'कर्मरजः'-कर्मैव आत्मरंजनाद्रज इव रजः, अबोधिकलुषेण-मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः। —हा. टी. १५९

विध तपश्चरण रूप अनुत्तर चारित्रधर्म के उत्कृष्ट पालन से वह साधक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों का क्षय (ध्वंस) कर देता है। आत्मा पर लगी हुई घातिकर्मरूपी रज के दूर होते ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो जाते हैं। उस स्थिति में आत्मा में सर्वव्यापी अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन प्रकट हो जाते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन को सर्वत्रग (सर्वव्यापी) इस दृष्टि से कहा गया है कि इनके द्वारा सभी विषय जाने-देखे जा सकते हैं। नैयायिक आदि दर्शनों की तरह जैनदर्शन आत्मा को क्षेत्र की दृष्टि से सर्वव्यापी नहीं मानता, वह आत्मा के निजी गुण-ज्ञान की अपेक्षा (केवलज्ञान के विषय की दृष्टि से) सर्वव्यापी मानता है।[१२६]

सर्वव्यापी ज्ञान-दर्शन के प्राप्त होते ही वह आत्मा केवलज्ञानी और जिन (रागद्वेषविजेता) बन जाता है, और अपने केवलज्ञान के आलोक में लोक और अलोक को जानने-देखने लगता है।[१२७] अर्थात्—केवलज्ञान के प्रकाश में लोकालोक को हाथ पर रखे हुए आँवले की तरह जानता देखता है।[१२८]

शैलेशी अवस्था, नीरजस्कता एवं सिद्धि: कारण और स्वरूप—शैलेशी का अर्थ है— मेरु। जो अवस्था मेरुपर्वत की तरह अडोल—निष्कम्प होती है, उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। शैलेशी अवस्था में आत्मा सर्वथा निष्कम्प हो जाती है। प्रस्तुत गाथा में—शैलेशी (निष्कम्प) अवस्था का कारण बताया गया है—योगों का निरोध। आत्मा स्वभाव से निष्कम्प ही है, किन्तु योगों के कारण इसमें कम्पन होता रहता है। आत्मप्रदेशों में यह गति, स्पन्दन या कम्पन आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न होता है, उसे ही योग कहते हैं। योग अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति या हलचल। इन तीनों योगों की प्रवृत्ति जब शुभ कार्य में होती है, तब व्यक्ति शुभास्रव करता है और अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति होती है, तब अशुभास्रव करता है। परन्तु अरिहन्त केवली भगवान् के जब तक आयुष्य होता है, तब तक शुभ प्रवृत्ति ही संभव है, जिसके फलस्वरूप पुण्यबन्ध (मात्र साता-वेदनीय) होता है। अरिहन्त केवली में चार अघातीकर्म (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म) शेष रहते हैं, उनका भी क्षय करने के लिए योगनिरोध करते हैं। योगों का सर्वथा निरोध तद्भव-मोक्षगामी जीव के अन्तकाल में होता है। पहले मन का, उसके पश्चात् वचन का और अन्त में शरीर का योग निरुद्ध होता है।[१२९] और आत्मा शैलेशी-अवस्थापन्न होकर सर्वथा निष्कम्प बन जाती है।

---

१२६. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. १३१
(ख) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. १७१
(ग) 'सव्वत्थ गच्छतीति सव्वत्तगं केवलनाणं केवलदंसणं च।' —अ. चू., पृ. ९५
(घ) सर्वत्रगं ज्ञानं-अशेषज्ञेयविषयं, 'दर्शनं' च—अशेषदृश्यविषयम्। —हा. वृ., प. १५९

१२७. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ. १३१

१२८. लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, अलोकं च अनन्तं, जिनो जानाति केवली। लोकालोकौ च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थः।
—हारि. वृत्ति, पत्र १५९

१२९. (क) 'तदा जोगे निरुंभित्ता' भवधारणिज्जकम्मविसारणत्थं सीलस्स ईसति-वसयति सेलेसिं। ततो से-लेसिप्पभावेण तदा कम्मं—भवधारणिज्जं कम्मं सेसं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छति णीरतो—निक्कम्म-मलो। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ९६

जब केवली भगवान् शैलेशी-अवस्था को प्राप्त करके सर्वथा अयोगी हो जाते हैं, तब उनके अघातीचतुष्टय का भी सर्वथा क्षय हो जाता है। ऐसी स्थिति में वे सर्वथा नीरज अर्थात् कर्मरज से सर्वथा रहित हो जाते हैं और मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। सिद्धिगति में पहुँचने के पश्चात् वे लोक के मस्तक पर अर्थात्—ऊर्ध्वलोक के छोर-अग्रभाग पर जाकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं और शाश्वत सिद्ध (विदेहमुक्त) हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में मुक्त (सिद्ध) जीवों के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि—"सिद्ध अलोक से प्रतिहत हैं, लोकाग्र में प्रतिष्ठित हैं, यहाँ (मनुष्य लोक में) वे शरीर छोड़ देते हैं और वहाँ (लोकाग्र में) जाकर सिद्ध होते हैं।"

सिद्ध भगवान् को शाश्वत इसलिए कहा गया है कि वे सिद्ध होने के पश्चात् पुनः संसार में आकर जन्म धारण नहीं करते, क्योंकि उन्होंने संसार में जन्म-मरण के कारणभूत कर्मबीजों को सर्वथा दग्ध कर दिया है। जैसे बीज के रहने पर ही उसमें अंकुर उत्पन्न होने की संभावना रहती है, जब बीज ही नष्ट हो जाए तो अंकुर के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः सिद्धात्मा को मुक्त होने के पश्चात् संसार में लौट कर आने और जन्म धारण करने की भ्रान्त मान्यता का निराकरण करने हेतु शाश्वत पद दिया गया है।[१३०]

इस प्रकार आत्मा की क्रमिक शुद्धि द्वारा उत्तरोत्तर विकास होते-होते विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने का क्रम इन गाथाओं में अंकित है।

सुगति की दुर्लभता और सुलभता

८०. सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोइस्स* दुल्लहा सोग्गइ+ तारिसगस्स ॥ ४९ ॥

(ख) "सेलेसिं पडिवज्जइ भवधारणिज्जकम्मक्खयट्ठाए।" —जि. चू., पृ. १६३

(ग) उचितसमयेन योगान्निरुद्धय मनोयोगादीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते भवोपग्राहिक-कर्मांशक्षयाय।
—हारि. वृत्ति, पत्र १५९

(घ) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. १७१

(ङ) दशवै. (आचार्य आत्मारामजी म.), पृ. १३३

१३०. (क) 'कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि 'सिद्धिं' गच्छति लोकान्तक्षेत्ररूपां, नीरजाः सकलकर्मरजोनिर्मुक्तः।
—हारि. वृत्ति., पत्र १५९

(ख) 'भवधारणिज्जाणि कम्माणि खवेउं सिद्धिं गच्छइ, कहं ? जेण सो नीरओ, नीरओ नाम अवगतरओ नीरओ।' —जिन. चूर्णि., पृ. १६३

(ग) लोगमत्थगे—लोगसिरसि ठितो सिद्धो कतत्थो सासतो सव्वकालं तहा भवति। —अगस्त्य चू., पृ. ९६

(घ) त्रैलोक्योपरिवर्ती सिद्धो भवति, 'शाश्वतः'—कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्म इति भावः।
हारि. वृत्ति, पत्र १५९

(ङ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १३५

(च) अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ —उत्तरा. ३३।५६

* पाठान्तर— ....पहोअस्स
+ सुगई

८१. तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ-खंति-संजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सोग्गइ तारिसगस्स ॥ ५० ॥

[पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य, खंती य बंभचेरं च ॥]☐

[८०] जो श्रमण सुख का रसिक (आस्वादी) है, साता के लिए आकुल रहता है, अत्यन्त सोने वाला (निकाम-शायी) है, प्रचुर जल से बार-बार हाथ-पैर आदि को धोने वाला होता है, ऐसे श्रमण को सुगति दुर्लभ है ॥ ४९ ॥

[८१] जो श्रमण तपोगुण में प्रधान है, ऋजुमति (सरलमति) है, क्षान्ति एवं संयम में रत है, तथा परीषहों को जीतने वाला है; ऐसे श्रमण को सुगति सुलभ है ॥ ५० ॥

[भले ही वे पिछली वय (वृद्धावस्था) में प्रव्रजित हुए हों किन्तु जिन्हें तप, संयम, क्षान्ति (क्षमा या सहनशीलता) एवं ब्रह्मचर्य प्रिय है, वे शीघ्र ही देवभवनों (देवलोकों में जाते हैं ॥]

विवेचन—सुगति किसको दुर्लभ ?—प्रस्तुत गाथा सूत्र (८०) में सुगति के लिए अयोग्य श्रमण की विवेचना की गई है। ऐसे चार दुर्गुण जिस साधु या साध्वी में होते हैं, वे अहिंसा, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति, उच्चारप्रस्रवणादि परिष्ठापनासमिति तथा तीन गुप्ति आदि के पालन में शिथिल हो जाते हैं। फलतः आगे चल कर उनके ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों में, दशविध श्रमणधर्म में दोष लगने की संभावना है। वे संयम और तप में बहुत कच्चे हो जाते हैं। सुख-सुविधाभोगी होने के कारण संभव है, वे साधुजीवन के मौलिक नियमों को भी ताक में रख दें। इसलिए उनके चारित्रधर्म के पालन में शैथिल्य के कारण सुगति दुर्लभ बताई है।

सुहसायगस्स : सुख-स्वादक : तीन अर्थ—(१) अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—सुख का स्वाद लेने (चखने) वाला। (२) जिनदास के अनुसार—जो सुख की कामना या प्रार्थना करता है। (३) हरिभद्रसूरि के अनुसार—प्राप्त सुख को आसक्तिपूर्वक भोगने वाला, वास्तव में जो सुखसुविधाओं का रसिक है, वही सुखस्वादक है।

सायाउलगस्स : साताकुल : सुख प्राप्ति के लिए व्याकुल (बेचैन) या भावी सुख के लिए व्याक्षिप्त-व्यग्र।[131]

☐ कोष्ठक के अन्तर्गत इस गाथा की व्याख्या चूर्णिद्वय, तथा हारिभद्रीय वृत्ति में भी नहीं की गई है, इसलिए यह गाथा प्रक्षिप्त प्रतीत होती है किन्तु सभी सूत्रप्रतियों में उपलब्ध है। —सं.

१३१. (क) सुहसातगस्स—तदा सुखं-स्वादयति चक्खति। —अ. चू., पृ. ९६
(ख) सायतिणाम पत्थयति····कामयति। —जि. चू., पृ. १६३
(ग) सुखास्वादकस्य—अभिष्वंगेण प्राप्तसुखभोक्तुः। —हा. वृ., पत्र १६०
(घ) साताकुलस्स—तेणेव सुहेण आउलस्स। अ. चू., पृ. ९६
(ङ) साताकुलस्य भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य। —हारि. वृत्ति, पत्र १६०

सुख और साता में अन्तर—(१) जिनदास महत्तर के अनुसार सुख का अर्थ है—अप्राप्त भोग और साता का अर्थ है—प्राप्त भोग। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार दोनों एकार्थक हैं।

निगामसाइस्स : निकामशायी : तीन अर्थ—(१) जिनदास के अनुसार प्रकामशायी—अतिशय सोनेवाला, (२) हरिभद्र के अनुसार—शयनवेला का अतिक्रमण करके सोनेवाला अथवा अत्यन्त निद्राशील। (३) अगस्त्यसिंह के अनुसार—कोमल संस्तारक (बिस्तर) बिछाकर सोनेवाला।[१३२]

उच्छोलणापहोइस्स—(१) प्रचुर जल से बार-बार अयतनापूर्वक हाथ-पैर आदि धोनेवाला, (२) प्रभूत जल से भाजनादि को धोनेवाला।[१३३]

सुगतिसुलभता के योग्य पांच गुण—(१) **तपोगुणप्रधान**—जिसमें तपस्या का मुख्य गुण हो। अर्थात्—जो समय आने पर यथालाभसंतोष या अप्राप्ति में भी संतोष करके तपश्चरण के लिए शान्तिपूर्वक उद्यत रहता हो। (२) **ऋजुमति**: जिसकी मति सरल हो, जो मायी-कपटी न हो, निश्छल हो या जिसकी बुद्धि ऋजु—मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो। (३) **क्षान्तिपरायण**—क्षान्ति के दो अर्थ होते हैं—क्षमा और सहिष्णुता—तितिक्षा। ये दोनों गुण जिसमें होंगे, उसका कषाय मन्द होगा, सहनशक्ति विकसित होने के कारण वह रत्नत्रय की साधना उत्साहपूर्वक करेगा। (४) **संयमरत**—१७ प्रकार के संयम में लीन और (५) **परीषहविजयी**—धर्मपालन के लिए मोक्षमार्ग से च्युत न होकर समभावपूर्वक निर्जरा के हेतु से कष्ट सहन करना परीषह है। इसके क्षुधा, पिपासा आदि २२ प्रकार हैं।[१३४]

सुगति—दो अर्थों में—सुगति शब्द यहाँ दोनों अर्थों में प्रयुक्त है—(१) सिद्धिगति (मोक्ष) अथवा (२) मनुष्य-देवगति।[१३५]

पिछली अवस्था में भी प्रव्रजित को सुगति—यदि कोई व्यक्ति वृद्धावस्था के कारण यह कहे कि मैं अब भागवती दीक्षा के योग्य नहीं रहा, उसके प्रति शास्त्रकार का कथन है कि जिन्हें तप, संयम, क्षान्ति और ब्रह्मचर्य आदि से प्रेम है वे वृद्धावस्था में चारित्रधर्म अंगीकार करने पर भी शीघ्र ही देवलोक (सुगति) प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि मोक्षप्राप्ति का साक्षात्कारण चारित्र है, तथापि पिछली अवस्था में शक्तिक्षीणता के कारण कदाचित् शरीर से चारित्र पालन में कुछ

---

१३२. (क) निगामं नाम पगामं''''सुयतीति निगामसायी। —जि. चू., १६४
(ख) सूत्रार्थवेलामुल्लंघ्य शायिनः। —हारि. वृत्ति, पत्र १६०
(ग) सुपच्छण्णे मउए सुइतु सीलमस्स निकामसाती। —अ. चू., पृ. ९६

१३३. (क) उच्छोलणापहावी णाम जो पभूओदगेण हत्थपायादी अभिक्खणं पक्खालइ। अहवा भायणाणि पभूतेण पाणिएण पक्खालयमाणो उच्छोलणापहोवी। —जिनदास चूर्णि, पृ. १६४

१३४. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) पृ. १३८
(ख) उज्जुया मती उज्जुमती अमाती। —अ. चू., पृ. ९७
(ग) ऋजुमतेः-मार्गप्रवृत्तबुद्धेः —हा. टी., पत्र १६०
(घ) परीसहा—दिगिंछादि वावीसं ते अहियासंतस्स। —जि. चू., पृ. १६४

१३५. सुगति = मोक्ष। ज्ञान और क्रिया द्वारा ही सुगति—मोक्षगति। —दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. १३७।१३८

मन्दता हो, परन्तु मन में लगन, उत्साह और तीव्रता हो तो मोक्षप्राप्ति नहीं तो कम से कम स्वर्ग-प्राप्ति तो हो ही जाएगी, यह इस गाथा का आशय प्रतीत होता है[१३६]

षड्जीवनिकाय-विराधना न करने का उपदेश—

८२. इच्चेयं छज्जीवणियं सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुल्लहं लभित्तु सामण्णं, कम्मुणा ण विराहेज्जासि ॥५१॥
—त्ति बेमि

चउत्थं छज्जीवणियऽज्झयणं समत्तं ॥४॥

[८२] इस प्रकार दुर्लभ श्रमणत्व को पाकर सम्यक् दृष्टि और सदा यतनाशील (अथवा जागरूक) साधु या साध्वी इस षड्जीवनिका की कर्मणा (अर्थात्—मन, वचन और काया की क्रिया से) विराधना न करे ॥५१॥ —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपदेशात्मक उपसंहार—प्रस्तुत अध्ययन के उपसंहार में जो षड्जीवनिका की विराधना न करने का उपदेश दिया गया है, वह पुत्र को परदेश या विदेश विदा करते समय माता या पिता के द्वारा दिये गए उपदेश के समान महान् हितैषी सद्गुरु का शिष्य को दिया गया उपदेश है। इसका आशय यह है कि यद्यपि मनुष्यत्व दुर्लभ है, किन्तु तुम्हें तो मनुष्यत्व धर्मश्रवण और श्रद्धा के पश्चात् संयम में पराक्रम करने वाले श्रमण का पद मिला है, तुम श्रमणत्व के अधिकारी बने हो, अतः हे शिष्य ! सम्यक् दृष्टिपूर्वक, सतत अप्रमत्त (जागरूक) रह कर इस अध्ययन में प्रतिपादित जीवादि के सम्यक् ज्ञान एवं उनके प्रति सम्यक् श्रद्धा रखकर पंचमहाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, षड्जीवनिकायविराधना से विरति, एवं प्रत्येक क्रिया में यतनाशील रह कर आत्मा के विकासक्रम के अनुसार मन-वचन काया से ऐसा कार्य करना, जिससे इनकी विराधना न हो। अर्थात् इनमें स्खलना या खण्डना न हो।

कम्मुणा न विराहेज्जासि—कम्मुणा—कर्मणा के तीन अर्थ—(१) मन, वचन, काया की क्रिया से, (२) षड्जीवनिकाय के अध्ययन में जैसा उपदेश दिया गया है, उसके अनुसार विराधना न करे, (३) षट्जीवनिकाय के जीवों की कर्म से अर्थात् दुःख पहुंचाने से लेकर प्राणहरण तक की क्रिया से विराधना न करे।[१३७]

॥ चतुर्थ : षड्जीवनिका अध्ययन समाप्त ॥

---

१३६. दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य आत्मारामजी म.), पृ. १३९

१३७. (क) कर्मणा-मनोवाक्कायक्रियया। —हा. टी., प. १६०

(ख) कम्मुणा-छज्जीवणियाजीवोवरोहकारकेण। —अ. चू., पृ. ९७

(ग) कम्मुणा नाम जहोवएसो भण्णइ, तं छज्जीवणियं जहोवइट्ठं तेण णो विराहेज्जा। —जि. चू., १६४

(घ) न विराधयेत् न खण्डयेत्। —हारि. वृत्ति, पत्र १६०

पंचमं अज्झयणं : पिंडेसणा

पंचम अध्ययन : पिण्डैषणा

प्राथमिक

※ यह दशवैकालिक सूत्र का पाँचवाँ अध्ययन है। इसका नाम पिण्डैषणा है।

※ सजातीय एवं विजातीय ठोस वस्तु के एकत्रित होने को 'पिण्ड' कहते हैं, किन्तु यहाँ 'पिण्ड' शब्द पारिभाषिक है, जो अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार के लिए प्रयुक्त होता है। पिण्ड के साथ एषणा शब्द का षष्ठीतत्पुरुष या चतुर्थीतत्पुरुष समास होने से 'पिण्डैषणा' शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ हुआ—पिण्ड की अर्थात्—चतुर्विध आहार की एषणा। अथवा पिण्ड अर्थात्—चतुर्विध आहार के लिए, अथवा देहपोषण के लिए एषणा।[1] एषणा शब्द यों तो इच्छा या तृष्णा अर्थ में प्रचलित है, जैसे—पुत्रैषणा, वित्तैषणा आदि। परन्तु यहाँ यह शब्द जैन पारिभाषिक होने से इच्छा या तृष्णा अर्थ में प्रयुक्त न होकर दोष-अदोष के अन्वेषण, निरीक्षण या शोध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

※ एषणा शब्द के अन्तर्गत गवेषणैषणा (आहार के शुद्धाशुद्ध होने की अन्वेषणा=जांच पडताल), ग्रहणैषणा (आहार ग्रहण करते समय लगने वाले दोष-अदोष का निरीक्षण) और परिभोगैषणा (भिक्षा में प्राप्त आहार का सेवन करते समय लगने वाले दोषादोष का विचार), इन तीनों का समावेश हो जाता है।

※ इसलिए प्रस्तुत अध्ययन में पिण्ड की गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा, इन तीनों दृष्टियों से वर्णन किया गया है। अतएव इसका नाम 'पिण्डैषणा' रख गया है।[2]

※ आचारांगसूत्रान्तर्गत आचारचूला के प्रथम अध्ययन में भी इस विषय का प्रतिपादन किया गया है, वह इसका विस्तार है या यह उसका संक्षेप; यह कहना कठिन है, किन्तु दोनों अध्ययन आठवें 'कर्मप्रवादपूर्व' से उद्धृत किये गए हैं,[3] ऐसा निर्युक्तिकार का मत है।

※ चतुर्थ अध्ययन में साधु-साध्वी के मूलगुणों तथा उनसे सम्बद्ध षड्जीवनिकाय की रक्षा, यतना, संयम एवं जीवादि तत्त्वों के ज्ञान-श्रद्धान तथा तदनुसार उत्तरोत्तर आत्मविकास से सम्बन्धित

---

१. (क) 'पिडि संघाते' धातु से निष्पन्न पिण्ड शब्द।
   (ख) पिण्डनिर्युक्ति, गा. ६
   (ग) 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' वैदिकसूत्र।

२. "गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाए य। आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए।" —उत्तरा. २४।११

३. 'कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स एसणा तिविहा।' —दशवै. निर्युक्ति १।१६

चारित्रधर्म का वर्णन है, प्रस्तुत अध्ययन में उन्हीं मूलगुणों को परिपुष्ट एवं रक्षण करने वाले 'पिण्डैषणा-' विषयक उत्तर गुण का वर्णन किया गया है। साथ ही चतुर्थ अध्ययन में षड्जीवनिकाय के रक्षारूप भिक्षु-भिक्षुणी के आचार का वर्णन भी किया गया है, परन्तु आचार-पालन शरीर की स्थिति पर निर्भर है। साधु-साध्वी आचार का पालन अपने शरीर की रक्षा करते हुए ही कर सकते हैं। शरीर की रक्षा में आहार (पिण्ड) एक मुख्य कारण है। साधु-साध्वी के समक्ष एक ओर शरीर की रक्षा का प्रश्न है, तो दूसरी ओर गृहीत महाव्रतों की सुरक्षा का भी प्रश्न है। अतः साधुवर्ग इन दोनों की सुरक्षा करता हुआ किस प्रकार से आहार ग्रहण करे ? यही वर्णन सभी पहलुओं से इस अध्ययन में किया गया है।

※ भिक्षु अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए न तो पचन पाचनादि क्रिया करता है, और न किसी से खरीद या खरीदवाकर आहार ले सकता है, तथा न किसी से अपने निवासस्थान (उपाश्रयादि) में आहार मंगवा सकता है, अतः पिण्डैषणा की शुद्धि के लिए भिक्षाचर्या का मार्ग ही सर्वोत्तम है, जिसका प्रथम अध्ययन में वर्णन किया गया है।

※ निर्ग्रन्थ भिक्षु-भिक्षुणियों की भिक्षा सर्वसंपत्करी है, उनकी भिक्षा देह को पुष्ट बनाने या प्रमाद अथवा आलस्य बढ़ाने के लिए नहीं, किन्तु दूसरे जीवों को लेशमात्र भी कष्ट पहुँचाए विना आत्मा के पूर्ण विकास के लिए प्राप्त हुए देह-साधन से केवल कार्य लेने-धर्मपालन करने, तथा जीवनप्रवाह को ज्वलन्त रखने के लिए है। शरीर तो हाड़-मांस और मलमूत्र का भाजन है, निःसार है, उसे तो सुखा डालना चाहिए, उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए; ऐसा सोचना जैन सिद्धान्त सम्मत तपश्चरण नहीं है, यह भयंकर जड़ क्रिया है। तथैव शरीर को अत्यन्त पुष्ट करना, उसी की साजसज्जा में रत रहने में जीवन की इति—समाप्ति मान बैठना भी निरी जड़ता है। इस बात को दीर्घ दृष्टि से सोचकर महाश्रमण महावीर ने साधु-साध्वियों के लिए निर्दोष सर्वसंपत्करी भिक्षा द्वारा आहार प्राप्त करके शरीर को पोषणपर्याप्त आहार देने का विधान किया है।[५]

※ भगवान् ने कहा कि "श्रमण निर्ग्रन्थों की भिक्षा नवकोटि-परिशुद्ध होनी चाहिए—वह भोजन के लिए जीववध न करे, न करवाए और न करने वाले का अनुमोदन करे, न पकाए, न पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे तथा न खरीदे, न खरीदवाए, और न खरीदने वाले का अनुमोदन करे।"

---

४. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ३७५
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ.

५. (क) सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा। वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता।
—हरिभद्रीय अष्टक ५।१
(ख) दशवै. (संतवालजी) पृ. ४२, ६१

६. समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं णवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे प. तं. ण हणइ, ण हणावइ, हणंतं णाणुजाणइ; ण पयइ, ण पयावेति, पयंतं णाणुजाणति; ण किणति, ण किणावेति, किणंतं णाणुजाणति।
—स्थानांग स्था. ९।३०

※ अपनी सर्वस्व चल-अचल संपत्ति एवं परिवार आदि के ममत्व का परित्याग करके स्वपरकल्याण के मार्ग में जिसने अपनी काया समर्पित कर दी है, वही साधु-साध्वी ऐसी सर्वसम्पत्करी भिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी हैं। परन्तु वे कब, किससे, किस विधि से, किस प्रकार का आहार निर्दोष भिक्षा के रूप में प्राप्त कर सकते हैं? इसका विस्तृत वर्णन इस पंचम अध्ययन के दो उद्देशकों में किया गया है।[७]

※ भिक्षु को आहारादि जो कुछ प्राप्त करना होता है, वह भिक्षा द्वारा ही प्राप्त करना होता है। 'याचना' को बाईस परीषहों में से एक परीषह माना है। परन्तु भिक्षु को इस परीषह पर विजय प्राप्त करके अहिंसादि की मर्यादा का ध्यान रखते हुए किसी की भावना को ठेस न पहुँचाते हुए, तथा सूक्ष्म जीवों को जरा भी पीड़ा न पहुँचाते हुए आहार के एषणादोषों से बचाव करते हुए पूर्ण विशुद्धिपूर्वक कठोर भिक्षाचर्या करनी चाहिए।[८]

पिण्डैषणा से सम्बन्धित कुल ४७ दोष माने जाते हैं, जिनमें उद्गम और उत्पादन के १६+१६=३२ दोष गवैषणासम्बन्धी हैं, तथा १० एषणादोष हैं, जिन्हें ग्रहणैषणा सम्बन्धी दोष कहा जा सकता है। ५ मण्डलदोष हैं, जो परिभोगैषणा सम्बन्धी हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं— **सोलह उद्गम (आहारोत्पत्ति) के दोष**—(१) आधाकर्म, (२) औद्देशिक, (३) पूतिकर्म, (४) मिश्रजात, (५) स्थापना, (६) प्राभृतिका, (७) प्रादुष्करण, (८) क्रीत, (९) पामित्य, (१०) परिवर्त्त, (११) अभिहृत, (१२) उद्भिन्न, (१३) मालापहृत, (१४) आच्छेद्य, (१५) अनिसृष्ट, और (१६) अध्यवपूरक (अध्यवतरक)। **सोलह उत्पादन (आहारयाचना) के दोष**—(१) धात्री (२) दूती, (३) निमित्त, (४) आजीव, (५) वनीपक, (६) चिकित्सा, (७) क्रोध, (८) मान, (९) माया, (१०) लोभ, (११) पूर्व-पश्चात्-संस्तव, (१२) विद्या, (१३) मंत्र, (१४) चूर्ण, (१५) योग और (१६) मूलकर्म। **एषणा के (साधु और गृहस्थ दोनों से लगने वाले) दस दोष**—(१) शंकित, (२) म्रक्षित, (३) निक्षिप्त, (४) पिहित, (५) संहृत, (६) दायक, (७) उन्मिश्र, (८) अपरिणत, (९) लिप्त, और (१०) छर्दित। **परिभोगैषणा सम्बन्धी** (भोजन की निन्दा-प्रशंसादि से उत्पन्न) **पांच-दोष**—(१) अंगार, (२) धूम, (३) संयोजन, (४) प्रमाणातिरेक और (५) कारणातिक्रान्त। ये ४७ दोष-आगम साहित्य में एकत्र कहीं भी प्रतिपादित नहीं हैं किन्तु विविध आगमों में बिखरे हुए हैं।[९]

※ इन दोषों में से अधिकांश का उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन में है। इसके अतिरिक्त किस समय, किस विधि से, किस मार्ग से, किस प्रकार भिक्षाचर्या के लिए साधु-साध्वी प्रस्थान

---

७. (क) दशवै. (संतबालजी) पृ. ४२
(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १ पृ. ३७५

८. (क) दसवेयालियं (मुनि नथ.) पृ. १७८
(ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. ४२-४३

९. (क) स्था. ९।६२, (ख) निशीथ उद्दे. १२, (ग) आचारचूला १।२१, (घ) भगवती ७।१
(ङ) प्रश्न व्या. १।१५ (च) दशवै. अ. ५ उ. १ (छ) उत्तराध्ययन २६।३२, (ज) भगवती ७।१
(ञ) पिण्डनिर्युक्ति

करे ? मार्ग में पड़ने वाले पृथ्वी, जल, वनस्पति तथा अन्य जीवों की रक्षा कैसे करें, कौन-से घर में, कैसे प्रवेश करे ? कहाँ कैसे खड़ा रहे ? किससे किस प्रकार का आहार ले या न ले ? आहार-पानी की गवेषणा कैसे करे ? भिक्षाप्राप्त आहार का संविभाग कैसे करे ? भुक्तशेष या अतिरिक्त आहार का परिष्ठापन कैसे करे ? आदि समस्त पिण्डैषणा सम्बन्धी वर्णन दोनों उद्देशकों में किया गया है ।[10]

---

१०. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ. १९ से ३८ तक ।

पंचमं अज्झयणं : पिंडेसणा

पंचम अध्ययन : पिण्डैषणा

गोचरी (भिक्षाचर्या) के लिए गमनविधि—

८३. संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥

८४. से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥२॥

८५. पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो+ बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥३॥

८६. ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥

८७. पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते× व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥

८८. तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे ॥६॥

[चलं कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वा वि संकमो।
ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥]

८९. इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खेहिं पाएहिं संजओ तं □नऽइक्कमे ॥७॥

९०. न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए व पडंतिए।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥८॥

पाठान्तर—+ वज्जेंतो।
× पक्खुलंते।
□ न अक्कमे, णऽइक्कमे।

प्रक्षिप्त—[ ] कोष्ठकान्तर्गत गाथा अगस्त्यचूर्णि में अधिक मिलती है, किन्तु इसी गाथा का वक्तव्य इसी अध्ययन की १७८-१७९ सूत्रगाथा में मिलता है। इसलिए यह गाथा प्रक्षिप्त मालूम होती है। —सं.

[८३] भिक्षा का काल प्राप्त होने पर (भिक्षु) असम्भ्रान्त (अनुद्विग्न) और अमूर्च्छित (आहारादि में अनासक्त) होकर इस (आगे कहे जाने वाले) क्रम-योग (विधि)से भक्त-पान (भोजन-पानी) की गवेषणा करे ।।१।।

[८४] ग्राम या नगर में गोचराग्र के लिए प्रस्थित (निकला हुआ) मुनि अनुद्विग्न और अव्याक्षिप्त (एकाग्र=स्थिर) चित्त से धीमे-धीमे चले ।।२।।

[८५] (वह भिक्षु) आगे (सामने) युगप्रमाण पृथ्वी को देखता हुआ तथा बीज, हरियाली (हरी वनस्पति), (द्वीन्द्रियादि) प्राणी, सचित्त जल और सचित्त मिट्टी (च शब्द से अग्निकाय आदि) को टालता (बचाता) हुआ चले ।।३।।

[८६] अन्य मार्ग के (विद्यमान) होने पर (साधु या साध्वी) गड्ढे आदि, ऊबडखाबड़ (विषम भूमि), भूभाग, ठूंठ (कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल) और पंकिल (कीचड़ वाले) मार्ग को छोड़ दे; तथा संक्रम (जल या गड्ढे पर काष्ठ आदि रख कर बनाये हुए कच्चे पुल) के ऊपर से न जाए ।।४।।

[८७] (साधु या साध्वी) उन गड्ढे आदि से गिरता हुआ या फिसलता (स्खलित होता) हुआ प्राणियों और भूतों—त्रस या स्थावर जीवों की हिंसा कर सकता है ।

[८८] इसलिए सुसमाहित (सम्यक् समाधिमान्) संयमी साधु अन्य मार्ग के होते हुए उस मार्ग से न जाए । यदि दूसरा मार्ग न हो तो (निरुपायता की स्थिति में) यतनापूर्वक (उस मार्ग से) जाए ।।६।।

[हिलते हुए काष्ठ (लक्कड़), शिला, ईंट अथवा संक्रम (कच्चे पुल) पर से भिक्षु न जाए, (उस पर से जाने) में ज्ञानियों ने असंयम देखा है ।]

[८९] संयमी (साधु या साध्वी) अंगार (कोयलों) की राशि, राख के ढेर, भूसे (तुष) की राशि, और गोबर पर सचित्त रज से युक्त पैरों से उन्हें अतिक्रम (लांघ) कर न जाए ।।७।।

[९०] वर्षा बरस रही हो, कुहरा (धुंध) पड़ रहा हो, महावात (भयंकर अंधड़) चल रहा हो, और मार्ग में तिर्यञ्च संपातिम जीव उड़ (या छा) रहे हों तो भिक्षाचरी के लिए न जाए ।।८।।

विवेचन—भिक्षाटन सम्बन्धी विधि-निषेध—प्रस्तुत अष्टसूत्री (गा. १ से ८ तक) में भिक्षा के उद्देश्य से प्रस्थान-काल, तथा भिक्षार्थगमन में उत्सर्ग—अपवाद विधि एवं निषेध का प्रतिपादन किया गया है । भिक्षाचर्या साधु-साध्वी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है । इसका उद्देश्य शास्त्रोक्त विधि के अनुसार निर्दोष आहार उच्च-नीच-मध्यम कुलों से समभावपूर्वक लाकर जीवन-निर्वाह करना है । इसीलिए यहाँ भिक्षु-भिक्षुणी की चित्तवृत्ति के लिए चार शब्द प्रस्तुत किये हैं—**असम्भ्रांत, अमूर्छित, अनुद्विग्न, मंदगति से गमन** । असम्भ्रांत का तात्पर्य यह है कि भिक्षाकाल में भिक्षा के लिए बहुत-से भिक्षाचर पहुंच चुके होंगे, अतः उनको भिक्षा दे देने के बाद मेरे लिए क्या बचेगा ? यह सोचकर हडबड़ी में जल्दी-जल्दी भिक्षाचर्या के लिए प्रस्थान करने की वृत्ति न हो । मूर्च्छा का अर्थ—आसक्ति, गृद्धि या लालसा है । उससे प्रेरित हो कर स्वादिष्ठ या गरिष्ठ भोजन की लालसा से

सम्पन्न घरों की ओर भिक्षाचारी के लिए प्रस्थान करने की भिक्षु की मूर्च्छितवृत्ति न हो। अथवा शब्दादि विषयों के प्रवाह में मूर्च्छित-आसक्त होकर भिक्षाचरी के उद्देश्य को भुला न दे। अनुद्विग्नता का अर्थ है—मन में व्याकुलता न होना। मुझे भिक्षा मिलेगी या नहीं? पता नहीं, कैसी भिक्षा मिलेगी? इस प्रकार की वृत्ति उद्विग्नता है। साधु को उद्विग्न हो कर शीघ्र-शीघ्र भिक्षा के लिए चलने का निषेध है। अथवा भिक्षा के लिए तो चल पड़ा, किन्तु मन में याचनादि परीषहों का भय होना उद्विग्नता है, उक्त उद्विग्नता से मुक्त रहने वाला अनुद्विग्न है। इसलिए कहा गया—धीमे-धीमे चले। त्वरा से ईर्यासमिति का शोधन नहीं होता, उचित उपयोग नहीं रह पाता, प्रतिलेखन में प्रमाद होता है।[1]

भिक्षाकाल:—प्राचीनकाल में साधु की दैनिक चर्या विभाजित थी। सूर्योदय के पश्चात् प्रतिलेखनादि करके दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान और तत्पश्चात् तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या का विधान था। 'एगभत्तं च भोयणं' (एक बार भोजन करने) के नियम के अनुसार तो यही भिक्षाकाल उपयुक्त था[2] किन्तु इसे सभी क्षेत्रों में भिक्षा का उपयुक्त समय नहीं माना जा सकता। इसलिए देश-कालानुसार आचार्यों ने सामान्यत: भिक्षाकाल उसे ही निर्धारित किया, कि जिस क्षेत्र में लोगों के भोजन का जो समय हो, वही उपयुक्त भिक्षाकाल है। इसीलिए यहाँ भिक्षा का कोई निर्धारित समय न बताकर सामान्यरूप से कहा गया है—**'संपत्ते भिक्खकालम्मि'**। (भिक्षा का समय हो जाने पर)। इस विधान के लिए गृहस्थों के घरों में रसोई बनने से पहले या खा-पीकर रसोईघर बन्द कर देने के बाद भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का अकाल है। अकाल में भिक्षाटन करने से अलाभ और आज्ञाभंग, दोनों स्थितियाँ उपस्थित होती हैं।[3]

क्रमयोग : भावार्थ—क्रमयोग का अर्थ है—भिक्षा करने की क्रमिक विधि।[4]

---

१. (क) असंभंतो नाम सव्वे भिक्खायरा पविट्ठा, तेहिं उंछिए भिक्खं न लभिस्सामित्ति काउं मा तुरेज्जा, तूरमाणो य पडिलेहणापमादं करेज्जा, रियं वा न सोधेज्जा, उवयोगस्स ण ठाएज्जा, एवमादी दोसा भवंति। तम्हा असंभंतेण पडिलेहणं काऊणं, उवयोगस्स ठायित्ता अतुरिए भिक्खाए गंतव्वं।
—जिन. चूर्णि, पृ. १६६

(ख) अमूर्च्छित: पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो, विहितानुष्ठानमिति कृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति।

(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमल जी), पृ. १९८

(घ) अणुविग्गो अभीतो गोयरगताण परीसहोवसग्गाण। —अ. चू., पृ. ९९

२. (क) पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥ —उत्त. २६।१२

(ख) उत्सर्गतो हि तृतीयपौरुष्यामेव भिक्षाटनमनुज्ञातम्। —उत्तरा. बृहद्वृत्ति., अ. ३०।२१

३. (क) "भिक्खाए कालो भिक्खाकालो तंमि भिक्खकाले संपत्ते।" —जिन. चूर्णि, पृ. १६६.

(ख) सम्प्राप्ते—शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, 'भिक्षाकाले'—भिक्षासमये। अनेनासंप्राप्ते भक्तपानैषणा-प्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति।
—हारि. वृत्ति, पत्र १६३

४. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १४३

भत्तपाणं : भक्त-पान—भक्त के तीन अर्थ आगमों में मिलते हैं—(१) भोजन, (२) भात और (३) बार। भ. महावीर के युग में तथा उसके पश्चात् शास्त्र लिपिबद्ध होने तक बंगाल-बिहार में जैनधर्म फैला, वहाँ भात (पका हुआ चावल) ही मुख्य खाद्य था, इसलिए शास्त्रों में यत्र-तत्र 'भत्तपाणं' शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। परन्तु बाद में टीकाकारों ने 'भत्त' का अर्थ भोजन किया है। अगत्स्यचूर्णि में कहा है—क्षुधापीडित जिसका सेवन करें वह भक्त है। पान का अर्थ है—जो पिया जाए।[५]

गवेषणा के लिए प्रथम क्रिया : गमन—भिक्षाचरी के लिए प्रथम क्रिया गमन है। प्रस्तुत आठ गाथाओं में भिक्षार्थ गमन का उद्देश्य, भावना तथा गमन के समय चित्तवृत्ति कैसी हो ? गमन में इन्द्रियों और मन को किस प्रकार रखे ? किस मार्ग से जाए किससे न जाए ? जीवों की यतना और रक्षा कैसे करे, कैसी परिस्थिति में भिक्षाचरी न करे ? आदि सभी पहलुओं से भिक्षाचर्यार्थ गमन की विधि बताई है।

गोचराग्र : गोचर शब्द का अर्थ है—गाय की तरह चरना—भिक्षाचर्या करना। गाय शब्दादि विषयों में आसक्त न होती हुई[६] तथा अच्छी-बुरी घास का भेद न करती हुई एक छोर से दूसरे छोर तक अपनी तृप्ति होने तक चरती चली जाती है, उसी प्रकार साधु-साध्वी का भी शब्दादि विषयों में आसक्त न होकर तथा उच्च-नीच-मध्यम कुल का भेदभाव न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार में राग-द्वेष न करते हुए सामुदानिकरूप से भिक्षाटन करना गोचर कहलाता है। गोचर के आगे जो 'अग्र' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह प्रधान या 'आगे बढ़ा हुआ' अर्थ का द्योतक है। गाय के चरने में शुद्धाशुद्ध का विवेक नहीं होता, जबकि साधु-साध्वी गवेषणा करके सदोष आहार को छोड़कर निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं। इसलिए उनकी भिक्षाचर्या गोचर से आगे बढ़ी हुई होने के कारण तथा चरक परिव्राजकादि के गोचर से श्रमणनिर्ग्रन्थ का गोचर कुछ विशिष्ट होता है, इसलिए इसे 'गोचराग्र' कहा गया है।[७]

अव्याक्षिप्त चित्त से : चार अर्थ—(१) आर्त्तध्यान से रहित अन्तःकरण से, (२) पैर उठाने में उपयोग-युक्त होकर, (३) अव्यग्र-चित्त से, अथवा बछड़े और वणिक्पुत्रवधू के दृष्टान्तानुसार शब्दादि विषयों में चित्त को नियोजित या व्यग्र न करते हुए और (४) एषणासमिति से युक्त हो कर। तात्पर्य यह है कि भिक्षार्थ गमन करते समय साधु की चित्तवृत्ति केवल आहारगवेषणा में एकाग्र हो,

---

५. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. १९७

(ख) 'भत्तपाणं'—भजंति खुहिया तमिति भत्तं, पीयत इति पाणं, भत्तपाणमिति समासो।

—अगस्त्य चूर्णि, पृ. ९९

६. (क) "गोरिव चरणं गोचरः—उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्। —हरि. वृत्ति, पत्र १५३

(ख) गोरिव चरणं गोयरो, जहा गावीओ सद्दादिसु विसएसु असज्जमाणीओ आहारमाहारेंति।

—जि. चू., पृ. १६७

७. (क) गौश्चरत्येवमविशेषेण साधुनाऽप्यटितव्यम्, न विभवमंगीकृत्योत्तमाधममध्यमेषु कुलेष्विति, वणिग्—वत्सकदृष्टान्तेन वेति। —हारि. वृत्ति., पत्र १८

(ख) "गोयरं अग्गं, गोतरस्स वा अग्गं गतो, अग्गं पहाणं। कहं पहाणं ? एसणादि-गुणजुतं, ण उ चरगादीण अपरिक्खित्तेसणाणं।" —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ९९

शब्दादि विषयों के प्रति उसका भी ध्यान न जाए। जिनदास महत्तर ने इस सम्बन्ध में गाय के वछड़े और वणिक् पुत्रवधू का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—

एक वणिक् के यहाँ अत्यन्त सलौना गाय का छोटा-सा वछड़ा था। घर के सभी लोग उसे प्यार से पुचकारते और खिलाते-पिलाते थे। एक वार वणिक् के यहाँ प्रीतिभोज था। सभी लोग उसमें लगे हुए थे। बेचारा वछड़ा भूखा-प्यासा दोपहर तक खड़ा रहा। एकाएक पुत्रवधू ने उसकी रंभाने की आवाज सुनी तो गहनों-कपड़ों से सुसज्जित अवस्था में ही वह घास-चारा एवं पानी लेकर वछड़े के पास पहुँची। वछड़ा अपना चारा खाने में एकाग्र हो गया। उसने पुत्रवधू के शृंगार और साजसज्जा की ओर ताका तक नहीं। इसी प्रकार साधु भी वछड़े की तरह केवल आहारपानी की गवेषणा की ओर ही ध्यान रखे।[८]

पुरओ जुगमायाए : व्याख्या—भिक्षाचर्या के लिए गमन करते समय उपयोग रख कर चलना चाहिए, इसी का विधान प्रस्तुत पंक्ति में है। इसका शब्दशः अर्थ है—आगे युगमात्र भूमि देखकर चले। यहाँ ईर्यासमिति की परिपोषक द्रव्य और क्षेत्र-यतना का उल्लेख किया गया है। जीव-जन्तुओं को देख कर चलना द्रव्ययतना है, जबकि युगमात्र भूमि को देख कर चलना क्षेत्रयतना है। युग के यहाँ तीन अर्थ किये गए हैं—(१) गाड़ी का जुआ, (२) शरीर और (३) युग—चार हाथ। सब का तात्पर्य लगभग एक ही है।[९]

मार्ग में त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा का विधान—साधु विना देखे-भाले अंधाधुंध न चले, लगभग ४ हाथ प्रमाण भूमि को या आगे-पीछे दांए-वांए देखता हुआ चले, ताकि द्वीन्द्रियादि प्राणी, सचित्त मिट्टी, पानी और वनस्पति की रक्षा कर सके।[१०]

'बीय हरियाइं' आदि पदों का अर्थ—बीज शब्द से यहाँ वनस्पति के पूर्वोक्त दसों प्रकारों का तथा हरित शब्द से बीजरुह वनस्पतियों (धान्य, चना, जौ, गेहूं आदि) का ग्रहण किया गया है।

---

८. (क) 'अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम णो अट्टझाणोवगओ उक्खेवादिणुवउत्तो।' —जि. चू., पृ. १६८
(ख) 'अव्याक्षिप्तेन चेतसा'—वत्स-वणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन चेतसा अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तेन।
—हारि. वृत्ति, पत्र १६३

९. (क) "पुरओ नाम अग्गओ""चकारेण सुणमादीण रक्खणट्ठा पासओ वि पिट्ठओ वि उवओगो कायव्वो।"
—जि. चू., पृ. १५८
(ख) 'जुगं सरीरं भण्णइ'। —वही, पृ. १६८
(ग) 'युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणम् प्रस्तावात् क्षेत्रम्।' —उत्तरा. वृ., वृ. २४।७
(घ) जुगमिति वलिवद्दसंदाणणं सरीरं वा तावम्मत्तं पुरतो। —अ. चू., पृ. ९९
(ङ) दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ। —उत्तरा. २४।७

१०. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. १३७-१३८

दगमट्टियं : दो अर्थ—(१) उदक (जल) प्रधान मिट्टी अथवा (२) अखण्डरूप में भीगी हुई सजीव मिट्टी।[11]

किस मार्ग से न जाए, जाए ? : शब्दार्थ—ओवायं—अवपात—खड्डा या गड्ढा, **विसमं**—ऊबड़-खावड़—ऊँचा-नीचा विषम स्थान। **खाणुं—स्थाणु**—ठूंठ, कटा हुआ सूखा वृक्ष या अनाज के डंठल। **विज्जलं**—पानी सूख जाने पर जो कीचड़ रह जाता है, वह। पंकयुक्त मार्ग को भी विजल कहते हैं। ऐसे विषम मार्ग से जाने में शारीरिक और चारित्रिक दोनों प्रकार की हानि होती है। गिर पड़ने या पैर फिसल जाने से हाथ, पैर आदि टूटने की सम्भावना है, यह आत्मविराधना है तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा भी हो सकती है, यह संयमविराधना है।[12]

संकमेण : जिसके सहारे से जल या गड्ढे को पार किया जाए ऐसा काष्ठ या पाषाण का बना हुआ संक्रम या जल, गड्ढे आदि को पार करने के लिए काष्ठ आदि से बांधा हुआ मार्ग या कच्चा पुल।

अपवादसूत्र—दूसरा कोई मार्ग न हो तो साधु इस प्रकार के विषम मार्ग से भी जा सकता है, यह अपवादसूत्र है। किन्तु ऐसे विषम मार्गों को पार करने में यतनापूर्वक गमन करने की सूचना है।[13]

पृथ्वी, जल, वायु और तिर्यञ्च जीवों की विराधना से बचने का निर्देश—सचित्त रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, तुष, गोबर आदि पर चलने से उन सचित्त पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना होगी। वर्षा, बरस रही हो और कोहरा पड़ रहा हो, उस समय चलने से अप्कायिक जीवों की विराधना होगी। प्रबल अन्धड़ या आंधी चल रही हो, उस समय चलने से वायुकायिक जीवों की विराधना के साथ-साथ उड़ती हुई सचित्त रज शरीर के टकराने से पृथ्वीकाय की तथा रास्ता न दीखने से अन्य जीवों की तथा अपनी विराधना भी हो सकती है। तिर्यक् संपातिम (तिरछे उड़ने वाले

---

११. (क) वीयगहणेणं वीयपज्जवसाणस्स दसभेदभिण्णस्स वणप्फइकायस्स गहणं कयं। —जि. चू., पृ. १६८
(ख) हरियगहणेण जे वीयरुहा ते भणिता। —अ. चू., पृ. ९९
(ग) प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्। —हा. टी., प. १६८
(घ) उदकप्रधाना मृत्तिका : उदकमृत्तिका। —आवश्यक चूर्णि, वृ. १।२।४२
(ङ) दगरगहणेण आउक्काओ सभेदो गहिओ, मट्टिया गहणेणं जो पुढविक्काओ अडवीओ आणिओ, सन्निवेसे वा गामे वा तस्स गहणं। —जि. चू., पृ. १६९
(च) दगमृत्तिका चिक्खलं। —आव. हारि. वृ., पृ. ५७३

१२. (क) हारि. वृत्ति, पत्र १६४ (ख) आत्मसंयमविराधनासंभवात्—हा. वृ., प. १६४

१३. (क) संकमिज्जंति जेण संकमो, सो पाणियस्स वा गड्डाए वा भण्णइ। —जि. चू., पृ. १६९
(ख) संक्रमेण जलगर्तापरिहारार्थं पाषाणकाष्ठरचितेन। —हारि. वृत्ति, पत्र १६४
(ग) जम्हा एते दोसा तम्हा विज्जमाणे गमणपहे ण सपच्चवाएण पहेण संजएण सुसमाहिएण गंतव्वं। —जिन. चूर्णि, पृ. १६९
(घ) "जति अण्णो मग्गो णत्थि ता तेणवि य पहेण गच्छेज्जा, जहा आय-संजमविराहणा ण भवई।" —जिन. चूर्णि, पृ. १६९

भ्रमर, कीट, पतंग आदि) जीव मार्ग मे छा रहे हों तो उस समय चलने से उनकी विराधना सम्भव है।[१४]

ब्रह्मचर्य व्रत रक्षार्थ : वेश्यालयादि के निकट से गमन-निषेध

९१. न चरेज्ज वेससामंते बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्स दंतस्स होज्जा तत्थ विसोत्तिया॥ ९॥

९२. अणायणे चरंतस्स संसग्गीए अभिक्खणं।
होज्ज वयाणं पीला, सामण्णम्मि य संसओ॥ १०॥

९३. तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेससामंतं मुणी एगंतमस्सिए॥ ११॥

[९१] ब्रह्मचर्य का वशवर्ती श्रमण वेश्यावाड़े (वेश्याओं के मोहल्ले) के निकट (होकर) न जाए; क्योंकि दमितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी साधक के चित्त में भी विस्रोतसिका (असमाधि) उत्पन्न हो सकती है॥ ९॥

[९२] (ऐसे) कुस्थान में वार-वार जाने वाले मुनि के (काम-विकारमय वातावरण का) संसर्ग होने से व्रतों को पीड़ा (क्षति) और साधुता में सन्देह हो सकता है॥ १०॥

[९३] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर एकान्त (मोक्षमार्ग) के आश्रय में रहने वाला मुनि वेश्यावाड़े के पास न जाए॥ ११॥

विवेचन—ब्रह्मचर्यघातक स्थानों के निकट भिक्षाटन निषेध—मुनि को भिक्षाचरी के लिए ऐसे मोहल्ले में या ऐसे मोहल्ले के निकट से भी होकर नहीं जाना चाहिए, जहाँ दुराचारिणी स्त्रियाँ रहती हों, क्योंकि वहाँ जाने से ब्रह्मचर्य महाव्रत या साधुत्व के प्रति लोग शंका की दृष्टि से देखेंगे, उसका मन भी वहाँ के दृश्यों तथा वातावरण को देख कर ब्रह्मचर्य से विचलित हो सकता है। ऐसी चरित्रहीन नारियों के वार-वार के संसर्ग के कारण साधु के महाव्रतों की क्षति हो सकती हैं। कामविकार के वीज किस समय, किस परिस्थिति में अंकुरित हो उठें, यह नहीं कहा जा सकता। अतः ऐसे खतरों से सदा सावधान रहना चाहिए।[१५]

वंभचेरवसाणुए—ब्रह्मचर्य का वशवर्ती, ब्रह्मचर्य को वश में लाने वाला, अथवा ब्रह्मचर्य अर्थात् गुरु के अधीन रहने वाला साधक।[१६]

---

१४. (क) 'सचित्तपृथ्वीरजोगुण्डिताभ्यां पादाभ्याम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १६४
(ख) "न चरेद् वर्षे वर्षति, भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्।" —हारि. वृ., पत्र १६४
(ग) अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०१, (घ) जिनदास चूर्णि, पृ. १७०

१५. (क) दशवै. (संतवालजी) पृ. ४४-४५

१६. (क) ब्रह्मचर्यं—मैथुनविरतिरूपं वशमानयति—आत्मायत्तं करोति, दर्शनाक्षेपादिना ब्रह्मचर्यवशानयनं तस्मिन्। —हा. टी., प. १६५
(ख) 'वंभचेरं वसमणुगच्छति—वंभचेरवसाणुए।' —अ. चू., पृ. १०१
(ग) वंभचारिणो गुरुणो तेसिं वसमणुगच्छतीति, वंभचेरवसाणुए। —वही, पृ. १०१

वेससामंते : विश्लेषण—(१) जहाँ विषयार्थी लोग प्रविष्ट होते हैं, वह वेश कहलाता है, (२) अथवा वेश यानी नीच स्त्रियों का समवाय या वेश्याश्रय। अथवा वेश—वेश्यागृह सामन्ते—समीप।[१७]

विसोत्तिया : विस्रोतसिका : व्याख्या—कूड़ाकर्कट इकट्ठा होने से जैसे जल के आने का स्रोत—प्रवाह—रुक जाता है, उसका प्रवाह दूसरी ओर हो जाता है, खेती सूख जाती है, वैसे ही वेश्याओं के संसर्ग से, उनके कटाक्ष-रूप, लावण्यादि देखने से मोह, अज्ञान आदि का कूड़ा दिमाग में जम जाता है। बुद्धि का प्रवाह अब्रह्मचर्य की ओर मुड़ जाता है। इससे ज्ञान दर्शन चारित्र का स्रोत रुक जाता है, संयम की कृषि सूख जाती है।[१८] यह भावविस्रोतसिका है।

अणाययणे : अनायतन—(१) सावद्य, (२) अशुद्धि-स्थान—कुस्थान और (३) कुशील-संसर्ग।[१९]

व्रतों की पीड़ा : कैसे ?—ऐसे कुसंसर्ग से ब्रह्मचर्य प्रधान सभी व्रतों की पीड़ा (विराधना) हो जाती है। कोई श्रमण साधुवेष को न छोड़े, फिर भी जब उसका मन कामभोगों में आसक्त हो जाता है तो ब्रह्मचर्यव्रत की विराधना हो ही जाती है। चित्त की चंचलता के कारण वह ईर्या या एषणा की शुद्धि नहीं कर पाता, इससे अहिंसाव्रत की क्षति हो जाती है। वह जब कामनियों की ओर ताक-ताक कर देखता है तो लोग पूछते हैं, तब वह असत्य बोल कर दोष छिपाता है, यह सत्यव्रत की विराधना है, स्त्रीसंग करना भगवदाज्ञा का भंग है, इस प्रकार वह अचौर्यव्रत का भी भंग करता है और सुन्दर स्त्रियों के प्रति ममत्व के कारण अपरिग्रहव्रत की भी विराधना होती है। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्यव्रत की विराधना से सभी व्रत पीड़ित हो जाते हैं।[२०]

---

१७. (क) 'वेससामंते'—पविसंति जत्थ विसयत्थिणो ति वेसा, पविसति वा जणमणेसु वेसो। —अ. चू., पृ. १०१
(ख) 'स पुणणीचइत्थिसमवाओ।' —अ. चू., पृ. १०१
(ग) वेश्याऽऽश्रयः पुरं वेशः। —अ. चिंता., ४-६९
(घ) न चरेद् वेश्यासामन्ते—न गच्छेद् गणिकागृहसमीपे। —हारि. वृ., पत्र १६५
(ङ) 'सामंते समीपे' वि किमुत तम्मि चेव। —अ. चू., पृ. १०१

१८. ....तासिं वेसाणं 'भावविपेक्खियं णट्टट्टहसियादी पासंतस्स णाणदंसणचरित्ताणं आगमो निरुंभति, तओ संजमसस्सं सुक्खइ, एसा भावविसोत्तिया। —जि. चू., पृ. १७१

१९. (क) सावज्जमणायतणं असोहिठाणं कुसीलसंसग्गा।
एगट्ठा होंति पदा एते विवरीय आययणा॥ —ओघनिर्युक्ति ७६४
(ख) दशवै. (संतबालजी), पृ. ४५
(ग) संदसणेण पीती, पीतीओ रती, रतीतो वीसंभो।
वीसंभातो पणतो पंचविहं वड्ढइ पेम्मं॥ —अ. चू., पृ. १०१

२०. (क) व्रतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां पीड़ा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना। —हारि. वृत्ति, पत्र १६५
(ख) पीडा नाम विणासो। —जिन. चूर्णि, पृ. १७१
(ग) वताणं बंभव्वतपहाणाणं पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो वा। समणभावे वा संदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो विसयविचालितचित्ते समणभावं छड्डेमि, मा वा ? इति संदेहो, परस्स एवंविहत्थाण-विचारी किं पव्वतितो विडो वेसछण्णो ? त्ति संसओ। सति संदेहे चागविचित्तीकतस्स सव्वमहव्वतपीला।........ —अगस्त्यचूर्णि पृ. १०२

एकान्त : दो अर्थ—(१) मोक्षमार्ग अथवा (२) विविक्तशय्यासेवी ।[21]

भिक्षाचर्या के समय शरीरादिचेष्टा-विवेक

९४. साणं सूइयं गाविं दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ।। १२ ।।

९५. अणुन्नए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ।। १३ ।।

९६. दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे ।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ।। १४ ।।

९७. आलोयं थिग्गलं दारं संधिं दगभवणाणि य ।
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ।। १५ ।।

९८. रन्नो गिहवईणं च रहस्सारक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं दूरओ परिवज्जए ।। १६ ।।

[९४] (मार्ग में) कुत्ता (श्वान), नवप्रसूता (नयी ब्याई हुई) गाय, उन्मत्त (दर्पित) बैल, अश्व और गज (हाथी) तथा बालकों का क्रीड़ास्थान, कलह और युद्ध (का स्थान मिले तो उस) को दूर से ही छोड़ (टाल) कर (गमन करे) ।।१२।।

[९५] मुनि न उन्नत हो (ऊँचा मुंह) कर, न अवनत हो (नीचा झुक) कर, न हर्षित होकर, न आकुल होकर, (किन्तु) इन्द्रियों के अपने-अपने भाग—विषय के अनुसार दमन करके चले ।।१३।।

[९६] उच्च-नीच कुल में गोचरी के लिए मुनि सदैव जल्दी-जल्दी (दबादब) न चले तथा हँसी-मज़ाक करता हुआ और बोलता हुआ न चले ।। १४ ।।

[९७] (गोचरी के लिए) जाता हुआ (मुनि) झरोखा (आलोक,) फिर से चिना हुआ (थिग्गल) द्वार, संधि (चोर आदि के द्वारा लगाई हुई सेंध) तथा जलगृह (परींडा) को न देखे (तथा) शंका उत्पन्न करने वाले अन्य स्थानों को भी छोड़ दे ।।१४।।

[९८] राजा के, गृहपतियों के तथा आरक्षिकों के रहस्य (गुप्त मंत्रणा करने) के उस स्थान को (या अन्तःपुर को) दूर से ही छोड़ दे, जहाँ जाने से संक्लेश पैदा हो ।। १६ ।।

विवेचन—भिक्षाटन के मार्ग में वर्जित स्थान—भिक्षाचर्या के लिए जाते समय मुनि को ऐसे स्थानों को दूर से ही टाल देना चाहिए, जिनके निकट जाने या जिन्हें ताक-ताककर देखने से उसके प्रति चोर, गुप्तचर, पारदारिक (लम्पट) या शिशुहरणकर्ता आदि होने की आशंका हो। ऐसे स्थानों

---

२१. (क) एकान्तं मोक्षम् । —हा. टी., प. १६६
(ख) एगंतो निरपवातो मोक्खगामी मग्गो—णाणादि । —अगस्त्य चूर्णि, पृ. १०२

में जाने से मुनि को भी शंकास्पद व्यक्ति समझ कर यंत्रणा दी जाए या कष्ट भोगना पड़े। अत: ऐसे शंकास्थानों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

आलोयं आदि शब्दों के अर्थ—**आलोयं**—घर के गवाक्ष, झरोखा या खिड़की, जहाँ से बाहरी प्रदेश को देखा जा सके। **थिग्गलं दारं**—घर का वह दरवाजा, जो किसी कारण से पुन: चिना गया हो।

संधि : दो अर्थ—(१) दो घर के बीच का अन्तर (गली) अथवा (२) सेंध (दीवार की ढँकी हुई सूराख), **दगभवणाणि : अनेक अर्थ**—(१) जलगृह, (२) सार्वजनिक स्नानगृह (या स्नानमण्डप सर्वसाधारण के स्नान के लिए), (३) जलमंचिका (जहाँ से स्त्रियाँ जल भरकर ले जाती हैं) राजा, गृहपति (इभ्य श्रेष्ठी आदि) आदि प्रसिद्ध हैं।[२२] **संडिब्भं**—जहाँ बच्चे विविध खेल खेल रहे हों। **दित्तं गोणं**—मतवाला सांड।[२३] कुत्ता, प्रसूता गौ, उन्मत्त सांड, हाथी, घोड़ा, बालकों का क्रीड़ास्थल, कलह और युद्ध, इनका दूर से वर्जन साधु-साध्वी को इसलिए करना चाहिए कि इनके पास जाने से ये काट सकते हैं, सींग मार सकते हैं, उछाल सकते हैं। कलह (वाचिक संघर्ष) और युद्ध (शस्त्रादि से संघर्ष) चल रहा हो, ऐसे स्थानों में जाने से विपक्षी व्यक्ति मन में साधु-साध्वी को गुप्तचर या विपक्ष समर्थक आदि समझ कर यंत्रणा दे सकते हैं अथवा कलहादि न सह सकने से बीच में बोल सकता है।

रहस्सारक्खियाणं : दो रूप : दो अर्थ—(१) **रहस्यं आरक्षकाणां**—नगर के रक्षक कोतवाल या दण्डनायक आदि के गुप्त मंत्रणा करने के स्थान को। (२) **रहस्यारक्षिकानां**—अगस्त्य चूर्णि के अनुसार राजा के अन्त:पुर के आमात्य आदि। यहाँ रहस्य शब्द को रन्नो, गिहिवईणं, 'आरक्खियाणं' इन तीनों पदों से सम्बन्धित मान कर अर्थ किया है—राजा के, गृहपतियों के और आरक्षिकों के

---

२२. (क) आलोगो—गवक्खगो। —अ. चू., पृ. १०३
(ख) थिग्गलं नाम जं घरस्स दारं पुव्वमासी तं पडिपूरियं। —जि. चू, पृ. १७४
(ग) 'संधी जमलघराणं अन्तरं।' —अ. चू., पृ. १०३
(घ) संधी खत्तं पडिढक्कियय्ं। —जि. चू., १७४
(ङ) पाणियकम्मंतं, पाणियमंचिका, ण्हाणमंडपादि दगभवणाणि। —अग. चू., पृ. १०३
(च) दगभवणाणि—पाणियघराणि ण्हाणगिहाणि वा।
(छ) शंकास्थानमेतदवलोकादि। —हारि. वृत्ति, पृ. १६६

२३. (क) संडिम्भं—बालक्रीडास्थानम्। —हा. टी., पृ. १६६
(ख) संडिब्भं नाम बालरूवाणि रमंति धणूहिं। —जि. चू., पृ. १७१-१७२

२४. (क) अपरिवज्जणे दोसो—साणो खाएज्जा, गावी (नवप्पसूआ) मारेज्जा, गोणो मारेज्जा, एवं हयगया-णवि मारजादिदोसा, भवंति। बालरूवाणि पुण पाएसु पडियाणि भायणं भिंदिज्जा, कट्टाकट्ठिवि करेज्जा। धणुविप्पमुक्केण व कंडेण आहणिज्जा। तारिसं अणहियासंतो भणिज्जा, एवमादिदोसा।
(ख) श्व-सूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमन-पतन-भण्डन-प्रलुण्ठनादिना संयम-विराधना, सर्वत्र चात्मपात्रभेदादिनोभयविराधना। —हारि. टीका, पत्र १६६
(ग) कलहे अणहियासो किं चि हणेज्ज भणिज्ज वा, एवमादिदोसा। अ. चू., १०२

मंत्रणास्थान को या परामर्श करने के एकान्तस्थान को संक्लेशकर (असमाधिकारक) मान कर दूर से परित्याग करे। गुह्यस्थानों या मंत्रणास्थानों में जाने से साधु के प्रति स्त्री-अपहरण या मंत्रणाभेद की शंका होने से उसे व्यर्थ ही पीड़ित या निगृहीत किया जा सकता है।[२५]

भिक्षाचर्या के समय साधु-साध्वी की मुद्रा एवं चित्तवृत्ति कैसी हो ?—यह प्रस्तुत दो गाथा-सूत्रों (९३-९४) में बताया गया है। इसके लिए शास्त्रकार ने ९ मंत्र बताए हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—(१) **अनुन्नत**—उन्नत के दो प्रकार—**द्रव्योन्नत**—ऊँचा मुँह करके चलने वाला, **भावोन्नत**—जाति आदि ८ मदों से मत्त-अक्कड़। भिक्षाचरी के समय दोनों दृष्टियों से साधु-साध्वी को अनुन्नत (उन्नत न) होना आवश्यक है। द्रव्योन्नत ईर्यासमिति शोधन नहीं कर सकता, भावोन्नत मदमत्त होने से नम्र नहीं हो पाता। (२) **नावनत**—अवनत के दो प्रकार—**द्रव्य-अवनत**—झुक कर चलने वाला, **भाव-अवनत**—दैन्य, दुर्मन एवं हीनभावना से ग्रस्त। **द्रव्य-अवतन**—हास्यपात्र बनता है, वक-भक्त कहलाता है, क्योंकि वह नीचे झुक कर फूंक फूंक कर चलने का ढोंग करता है। भाव-अवनत क्षुद्र एवं दैन्यभावना से भरा होता है। साधुवर्ग इन दोनों से दूर रहे। (३) **अप्रहृष्ट**—हंसता हुआ या अतिहर्षित अथवा हंसी-मजाक करता हुआ न चले। (४) **अनाकुल**—मन-वचन-काया की आकुलता से रहित या क्रोधादि से रहित। गोचरी के लिए चलते समय मन में नाना संकल्प-विकल्प करना या मन में सूत्र-अर्थ का चिन्तन करना मन की व्याकुलता है। विषयभोग की बातें करना या शास्त्र के किसी पाठ का अर्थ पूछना या उसका स्मरण करना, वाणी की आकुलता है तथा अंगों की चपलता शरीर की आकुलता है। (५) **विषयानुरूप इन्द्रियदमन**—इन्द्रियों का अपने-अपने विषयानुसार दमन करना अर्थात्—मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि विषयों पर राग-द्वेष न करना। (६) **अद्रुतगमन**—'दवदव' का अर्थ—दौड़ते हुए चलना। इससे प्रवचनलाघव और संयमविराधना दोनों हैं। **संभ्रम**—चित्तचेष्टा है; **द्रवद्रव** कायिक चेष्टा है, यही दोनों में अन्तर है। अतः द्रुतगमन साधुवर्ग के लिए निषिद्ध हैं। (७) **अभाषणपूर्वक गमन**—भिक्षाटन करते समय भाषण-संभाषण न करना। अन्यथा भाषासमिति, ईर्यासमिति एवं वचनगुप्ति का पालन दुष्कर होगा। (८) **हास्यरहितगमन**—स्पष्ट है। हंसी-मखौल करते हुए भिक्षाटन के समय गमन करने से प्रवचनहीलना, भाषादोष आदि होते हैं। (९) **उच्च-नीच कुल में गमन**—उच्च कुल दो प्रकार के—(१) द्रव्य-उच्चकुल—प्रासाद, हवेली, आदि ऊँचे भवनों वाले कुल यानी घर (२) **भाव उच्चकुल**—जाति, धन, विद्या आदि से समृद्ध व्यक्तियों के भवन। अवच कुल (द्रव्य से) तृणकुटी, झोपड़ी आदि द्रव्यतः अवचकुल या नीचा कुल है, तथा जाति, वंश, धन, विद्या आदि से हीन व्यक्तियों के घर भाव से अवचकुल कहलाते हैं। साधु को सामुदानिक भिक्षा समभाव से उच्च-अवच सभी कुलों (घरों) से करनी चाहिए।[२६]

---

२५. रण्णो रहस्सठाणाणि गिहवईणं रहस्सठाणाणि, आरक्खियाण रहस्सठाणाणि संकणादिदोसा भवंति, चकारेण अण्णोवि पुरोहियादि गहिया, रहस्सठाणाणि नाम गुज्झोवरगा, जत्थ वा राहस्सियं मंतेति।

—जिनदास चूर्णि, पृ. १७४

२६. जिन. चूर्णि, पृ. १७२, १७३, हारि, वृत्ति पृ. १६६

गृह-प्रवेश-विधि-निषेध

९९. पडिकुट्ठं कुलं न पविसे मामगं परिवज्जए।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥१७॥

१००. साणी-पावारपिहियं अप्पणा नावपंगुरे।
कवाडं नो पणोल्लेज्जा ओग्गहंसि अजाइया ॥१८॥

१०१. गोयरग्गपविट्ठो उ वच्चमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुयं नच्चा, अणुन्नविय वोसिरे ॥१९॥

१०२. नीयदुवारं तमसं कोट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥२०॥

१०३. जत्थ पुप्फाइं बीयाइं, विप्पइण्णाइं कोट्ठए।
अहुणोवलित्तं ओल्लं दट्ठूणं परिवज्जए ॥२१॥

१०४. एलगं दारगं साणं वच्छगं वा वि कोट्ठए।
उल्लंघिया न पविसे विऊहित्ताण व संजए ॥२२॥

[९९] साधु-साध्वी निन्दित (प्रतिक्रुष्ट) कुल में (भिक्षा के लिए) प्रवेश न करे, (तथा) मामक गृह (गृह-स्वामी द्वारा गृहप्रवेश निषिद्ध हो, उस घर) को छोड़ दे। अप्रीतिकर कुल में प्रवेश न करे, किन्तु प्रीतिकर कुल में प्रवेश करे ॥ १७ ॥

[१००] (साधु-साध्वी, गृहपति की) आज्ञा लिये (अवग्रह-याचना किये) बिना सन से बना हुआ पर्दा (चिक) तथा वस्त्रादि से ढँके हुए द्वार को स्वयं न खोले तथा कपाट को भी (गृह में प्रवेश करने के लिए) न उघाड़े ॥ १८ ॥

[१०१] गोचराग्र (भिक्षा) के लिए (गृहस्थ के घर में) प्रविष्ट होने वाला साधु मल-मूत्र की बाधा न रखे। यदि गोचरी के लिए गृहप्रवेश के समय मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो) प्रासुक स्थान (अवकाश) देख (जान) कर, गृहस्थ की अनुज्ञा लेकर (मल-मूत्र का) उत्सर्ग करे ॥ १९ ॥

[१०२] जहाँ नेत्रों द्वारा अपने विषय को ग्रहण न कर सकने के कारण प्राणी भलीभांति देखे न जा सकें, ऐसे नीचे द्वार वाले घोर अन्धकारयुक्त कोठे (कमरे) को (गोचरी के लिए प्रवेश करना) वर्जित कर दे ॥ २० ॥

[१०३] जिस कोठे (कमरे) में (अथवा कोष्ठकद्वार पर) फूल, बीज आदि बिखरे हुए हों, तथा जो कोष्ठक (कमरा) तत्काल (ताजा) लीपा हुआ, एवं गीला देखे तो (उस कोठे में भी प्रवेश करना) छोड़ दे ॥ २१ ॥

[१०४] संयमी मुनि, भेड़, बालक, कुत्ते या बछड़े को (बीच में बैठा हो तो) लांघ कर अथवा हटा कर कोठे (कमरे) में (भिक्षा के लिए) प्रवेश न करे ॥ २२ ॥

विवेचन—निषिद्ध एवं विहित गृह तथा प्रकोष्ठ—प्रस्तुत ६ सूत्र-गाथाओं (९९ से १०४ तक) में कुछ कुलों (घरों) में तथा विहित घरों के कमरों में प्रवेश का निषेध किया है, जबकि कुछ कुलों में प्रवेश का विधान किया है। प्रीतिकर कुल में प्रवेश का विधान किया गया है।

निषिद्ध कुल तथा प्रकोष्ठ ये हैं—

१. प्रतिक्रुष्ट कुल में
२. मामक कुल में
३. अप्रीतिकर कुल में
४. आज्ञा लिए बिना सन का पर्दा हटा कर
५. बिना वस्त्रादि से ढँके द्वार को खोल कर
६. आज्ञा लिए बिना कपाट खोल कर
७. आँखों से प्राणी न देखने वाले, नीचे द्वार के अन्धेरे कोठे (कमरे) में
८. जहाँ फूल, बीज आदि बिखरे हों उस कोठे में
९. तत्काल लीपे हुए या पानी से भीगे हुए कोठे में
१०. भेड़, बालक, कुत्ते या बछड़े को द्वार पर से हटा कर या इन्हें लांघ कर कोठे में····

प्रतिक्रुष्ट कुल : अर्थ, व्याख्या एवं आशय—प्रतिक्रुष्ट शब्द का अर्थ है—(१) निषिद्ध, (२) निन्दित (३) गर्हित और (४) जुगुप्सित। प्रतिक्रुष्ट दो प्रकार के होते हैं—अल्पकालिक और[२७] यावत्कालिक। मृतक, सूतक आदि वाले घर थोड़े समय के लिए (अल्पकालिक) प्रतिक्रुष्ट हैं और डोम, मातंग आदि के घर यावत्कालिक (सदैव) प्रतिक्रुष्ट हैं। आचारांग सूत्र में कुछ अजुगुप्सित एवं अगर्हित कुलों के नामों का उल्लेख करके 'ये और ऐसे ही अन्य कुल' कहकर अतिदेश कर दिया है। परन्तु जुगुप्सित और गर्हित कुल कौन-से हैं? उनकी पहिचान क्या है? यह आगमों में स्पष्टतः नहीं बताया। यद्यपि निशीथ सूत्र में जुगुप्सनीय कुल से भिक्षा लेने का प्रायश्चित्त बताया है। टीकाकार जुगुप्सित और गर्हित कुल से भिक्षा लेने पर जैनशासन की लघुता होना बताते हैं।[२८] वर्तमान में प्रतिक्रुष्ट कुल वह समझा जाना चाहिए, मांसाहारी, मद्यविक्रयी, जल्लाद, चाण्डाल क्रूरकर्मा व्यक्ति का घर या जहाँ खुलेआम मांस पड़ा हो।[२९]

मामगं—मामक : जो गृहपति इस प्रकार से निषेध कर दे कि मेरे यहाँ कोई साधु-साध्वी भिक्षा के लिए न आए वह मामक गृह कहलाता है। उस घर में भिक्षार्थ प्रवेश करने का निषेध है।

---

२७. (क) पडिकुट्ठं निंदितं, तं दुविहं-इत्तरियं आवकहियं च। इत्तरियं मयगसूतगादि, आवकहितं चंडालादी। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. १०४।
(ख) एतन्न प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसंगात्। —हारि. वृत्ति, पत्र १६६
(ग) आचारांग चू., १।२३, (घ) निशीथ. १६।२७

२८. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. २१३-२१४
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ. १६३

२९. (क) दशवै., वही, पृ. १६३
(ख) "मा मम घरं पविसंतु त्ति मामकः सो पुण पंतयाए इस्सालुयत्ताए वा" —अ. चू., पृ. १०४
(ग) मामकं····एतद् वर्जयेत् भण्डनादिप्रसंगात्। —हारि. वृत्ति, पत्र १६६

अचियत्तकुलं-अप्रीतिकर कुल—जहाँ या जिस समय (जैसे कि—किसी के यहाँ किसी स्वजन की मृत्यु हो गई हो, या परस्पर उग्र कलह हो रहा हो, उस समय) साधु-साध्वी के भिक्षार्थ जाने से गृहस्थ को अप्रीति उत्पन्न हो, जहाँ साम्प्रदायिक या प्रान्तीय द्वेषवश या शंकावश गृहस्थ को साधु के प्रति द्वेष पैदा हो, जहाँ भिक्षा के लिए निषेध तो न हो, किन्तु उपेक्षाभाव हो, साधु के जाने पर कोई भी कुछ न देता हो, ऐसे अप्रीतिकर घर में भिक्षार्थ प्रवेश निषिद्ध बताया है, क्योंकि वहाँ जाने से मुनि के निमित्त से उस गृहस्थ को संक्लेश उत्पन्न होगा ।[३०]

प्रीतिकरकुल—जिस घर में साधु-साध्वी का भिक्षार्थ जाना-आना प्रिय हो, या जिस घर में भावनापूर्वक साधुवर्ग को दान देने की उत्कण्ठा हो ।[३१]

शाणी, प्रावार : शाणी :—(१) सन (पटसन) या अलसी से बनी हुई चादर । प्रावार : (१) सूती रोएँदार चादर (प्रावरण), (३) कम्बल—कई बार गृहस्थ लोग अपने घर के दरवाजे को सन की चादर या वस्त्र से अथवा सूती रोएँदार वस्त्र या कम्बल से ढँक देते हैं और निश्चित होकर घर में खाते-पीते, आराम करते हैं अथवा गृहणियाँ स्नानादि करती हैं, उस समय बिना अनुमति लिये यदि कोई द्वार पर से वस्त्र को हटा कर या खोल कर अन्दर चला जाता है तो उन्हें बहुत अप्रिय लगता है । प्रवेशकर्त्ता अविश्वसनीय बन जाता है । कई गृहस्थ तो व्यवहार में अकुशल ऐसे साधु को टोक देते हैं, उपालम्भ भी देते हैं । ऐसे दोषों को ध्यान में रख कर अनुमति लिए बिना ऐसा करने का निषेध किया गया है । साथ ही कपाट, जो कि चूलिये वाला हो तो उसे खोलने में जीवहिंसा की सम्भावना है, क्यों कि उसे खोलते समय वहाँ कोई जीव बैठा हो तो उसके मर जाने की सम्भावना है । व्यावहारिक असभ्यता भी है ।[३२]

मलमूत्र की बाधा लेकर न जाए, न बाधा रोके—गोचरी के लिए जाते समय पहले ही मल-मूत्र की हाजत से साधु निवृत्त हो जाए, फिर भी अकस्मात् पुनः बाधा हो जाए तो मुनि विधिपूर्वक प्रासुक स्थान देखकर, गृहस्थ से अनुमति ले कर वहाँ मल-मूत्रविसर्जन कर ले, किन्तु बाधा

---

३०. (क) "अचियत्तं अप्पितं, अणिट्ठो पवेसो जस्स सो अच्चियत्तो, तस्स जं कुलं तं न पविसे, अहवा ण चागो (दाणं) जत्थ पवत्तइ, तं दाणपरिहीणं केवलं परिस्समकारी तं ण पविसे ।"

—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०४

(ख) अचिअत्तकुलम्-अप्रीतिकुलं यत्र प्रविशद्‌भिः साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति कुतश्चिन्निमित्तान्तरात् एतदपि न प्रविशेत् तत्संक्लेशनिमित्तत्वप्रसंगात् ॥ हारि. वृ., पत्र १६६

३१. चियत्तं इट्ठनिक्खमणपवेसं, चागसंपण्णे वा ।"—अ. चू., पृ. १०४

३२. (क) 'साणी नाम सणवक्केहिं विज्जइ, अलसिमयी वा ।'

(ख) 'कप्पासितो पडो सरोमो पावारतो ।'—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १-४

(ग) प्रावारः प्रतीतः कम्बलाद्युपलक्षणमेतत् ।—हारि. वृत्ति, पत्र १६७

(घ) तं काउं ताणि गिहत्थाणि वीसत्थाणि अच्छंति, खायंति पियंति सइरालावं कुव्वंति, मोहंति वा, तं नो अवपंगुरेज्जा ।....तेसिं अप्पत्तियं भवइ, जहा एते एत्तिलयं पि उवयारं न याणंति, जहा णावगुणियव्वं । लोगसंववहारबाहिरा वरागा, एवमादि दोसा भवंति । —जि. चू., पृ. १७५

(ङ) ....कवाडं दारप्पिहाणं तं ण पणोलेज्जा, तत्थ त एव दोसा, यंत्रे य सत्तवहो । —अ. चू., पृ. १०४

न रोके। मूत्रनिरोध से मुख्यतया नेत्रज्योति क्षीण हो जाती है, तथा मलनिरोध से तेज एवं जीवनशक्ति का नाश होने की सम्भावना है। अतः मलमूत्रबाधा नहीं रोकनी चाहिए। आचारांग में मलमूत्र की आकस्मिक बाधा के निवारणार्थ स्पष्ट विधि बतलाई गई है।[३३]

प्रासुक स्थान : यह जैन पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—अचित्त या जीवरहित। किन्तु यहाँ प्रसंगवश अर्थ होगा—'जो भूमि दीमक, कीट आदि जीवों से युक्त न हो, तत्काल अग्निदग्ध न हो, सचित्त जल, वनस्पति आदि से युक्त न हो, इत्यादि प्रकार से निर्दोष या विशुद्ध हो।'[३४]

अंधकारपूर्ण निम्न द्वार वाले कोठे में भिक्षार्थ प्रवेश निषिद्ध क्यों? इसका आगमसम्मत कारण हिंसा है, क्योंकि वहाँ जीवजन्तु न दीखने से ईर्यासमिति का शोधन नहीं होता, अंधेरे में दाता के या स्वयं के गिर पड़ने की आशंका है। इसीलिए इसे दायकदोष भी बताया है।[३५]

तत्काल लीपे या गीले कोठे में प्रवेश निषिद्ध—इसके निषेध के दो कारण हैं—तत्काल लीपे एवं गीले आंगन पर चलने से जलकाय एवं सम्पातिम जीवों की विराधना होती है। हरिभद्र सूरि के अनुसार तत्काल लीपे और गीले कोष्ठक में प्रवेश करने से आत्मविराधना और संयमविराधना होती है।[३६]

एलकादि का उल्लंघन या अपसारण निषिद्ध क्यों?—चूर्णि के मतानुसार—एलक आदि को हटाने या लांघ कर जाने से वह सींग से मुनि को मार सकता, कुत्ता काट सकता, पाडा मार सकता है। बछड़ा भयभीत होकर बन्धन तोड़ सकता है, मुनि के पात्र फोड़ सकता है। बालक को हटाने से उसे पीड़ा हो सकती है, उसके अभिभावकों को साधु के प्रति अप्रीति उत्पन्न हो सकती है। नहा-धो कर कौतुक मंगल किये हुए बालक को हटाने या लांघ कर जाने से बालक को प्रदोष (अमंगल) से मुक्त कर देने का लांछन लगाया जा सकता है। अतः एलक आदि को हटाने से शरीर और संयम दोनों की विराधना और शासन की लघुता होने की संभावना है।

---

३३. (क) भिक्खायरियाए पविट्ठेण वच्चमुत्तं न धारयव्वं, किं कारणं? मुत्तनिरोधे चक्खुबाधाओ आभवंति, वच्च निरोहे य तेयं जीवियमवि रुंधेज्जा, तम्हा वच्चमुत्तनिरोधो न कायव्वो त्ति।—जि.चू. पृ १७५

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १६५

३४. (क) प्रासुकं प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थः।—हा. टी., पत्र १८१

(ख) 'प्रासुकं बीजादिरहितम्।'—हा. टी., पृ. १७८

३५. (क) जओ भिक्खा निक्कालिज्जइ तं तमसं, तत्थ अचक्खुविसए पाणा दुक्खं पच्चुवेक्खिज्जंति त्ति काउं नीयदुवारे तमसे कोट्ठओ वज्जेयव्वो। —जि. चू., पृ. १७५।

(ख) ईर्याशुद्धिर्नभवति। —हा. वृ., पत्र १६७

३६. (क) संपातिमसत्तविराहणत्थं परितावियाओ वा आउक्काओ त्ति काउं वज्जेज्जा। —जिन. चूर्णि, पृ. १७६

(ख) 'उवलित्तमेत्ते आउक्कातो अपरिणतो, निस्सरणं वा दायगस्स होज्जा, अतो तं परिवज्जए।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०५

(ग) 'संयमात्मविराधनापत्तेरिति।'—हा, टी., पृ. १६७

एलगं : एलक : दो अर्थ—(१) चूर्णिकार के अनुसार—बकरा, (२) टीकाकार आदि के अनुसार—भेड़ ।[37]

१०५. असंसत्तं पलोएज्जा, नाइदूराव लोयए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए, नियट्टेज्ज अयंपिरो ।। ३२ ।।

१०६. अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कम्मे ।। २४ ।।

१०७. तत्थेव पडिलेहेज्जा भूमिभागं वियक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स संलोगं परिवज्जए ।। २५ ।।

१०८. दग-मट्टिय-आयाणे बीयाणि हरियाणि य ।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा सव्विंदियसमाहिए ।। २६ ।।

[१०५] (गोचरी के लिए घर में प्रविष्ट भिक्षु) आसक्तिपूर्वक (कुछ भी—आहार या किसी सजीव-निर्जीव पदार्थ को) न देखे; अतिदूर (दृष्टि डाल कर) न देखे, उत्फुल्ल दृष्टि से (आंखें फाड़-फाड़ कर) न देखे; तथा भिक्षा प्राप्त न होने पर बिना कुछ बोले (वहां से) लौट जाए ।।२३।।

[१०६] गोचराग्र के लिए (घर में) गया हुआ मुनि अतिभूमि (गृहस्थ के चौके में मर्यादित की गई भूमि का अतिक्रमण करके आगे) न जाए, (किन्तु उस) कुल (घर) की (मर्यादित) भूमि को जान कर मित (मर्यादित या अनुज्ञात) भूमि तक ही जाए (अर्थात्—परिमित स्थान तक जाकर ही खड़ा रहे) ।। २४ ।।

[१०७] विचक्षण साधु वहाँ (मितभूमि में) ही उचित भूभाग का प्रतिलेखन करे, (वहाँ खड़े हुए) स्नान और शौच के स्थान की ओर दृष्टिपात न करे ।। २५ ।।

[१०८] सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु (सचित्त) पानी और मिट्टी लाने के मार्ग तथा बीजों और हरित (हरी) वनस्पतियों को वर्जित करके खड़ा रहे ।। २६ ।।

विवेचन—गोचरी के लिए प्रविष्ट मुनि का कायचेष्टासंयम—प्रस्तुत चार गाथासूत्रों (सू. १०५ से १०८ तक) में भिक्षा के लिए प्रविष्ट मुनि को कहाँ, कैसे, किस प्रकार के इन्द्रिय संयम के साथ खड़ा रहना चाहिए ? इससे सम्बन्धित विधिनिषेध का प्रतिपादन किया गया है ।

---

३७. (क) एलओ-छागो ।—जिन. चूर्णि, पृ. १७६
(ख) एडकं-मेषम् ।—हारि. वृत्ति, पृ. १६७
(ग) 'एत्थ पच्चवाता—एलतो सिंगेण फेट्टाए वा आहणेज्जा । दारतो खलिएण दुक्खवेज्जा, सयणो वा ते अपत्तिय-उप्फोसण-कोउयादीणि पडिलग्गे वा गेण्हणातिपसंगं वा करेज्जा । सुणतो खाएज्जा । वच्छतो वितत्थो बंधच्छेय—भायणातिभेदं करेज्जा । विऊहणे वि एते चेव (दोसा) सविसेसा ।'
—अगस्त्य चूर्णि, पृ. १०५

भिक्षा के लिए घर में प्रविष्ट मुनि का दृष्टिसंयम एवं वाणीसंयम—दृष्टिसंयम के लिए यहाँ तीन पद दिये हैं। इन तीनों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) असंसक्तावलोकन:—(१) आसक्त दृष्टि से न देखे, अर्थात्—मुनि स्त्री की दृष्टि में दृष्टि गड़ा कर न देखे, स्त्री के अंगोपांगों को न देखे। ये दोनों आसक्त दृष्टि के प्रकार हैं। इसका अर्थ यों भी किया गया है—गृहस्थ के यहाँ रखे हुए आहार, वस्त्र तथा अन्य शृंगारप्रसाधन आदि की चीजों को आसक्तिपूर्वक न देखे। इस प्रकार के आसक्तिपूर्वक दृष्टिपात के निषेध के मुख्य कारण तीन बताए हैं—(१) ब्रह्मचर्यव्रत की विराधना-क्षति, (२) लोकापवाद—श्रमण को इस प्रकार टकटकी लगाकर देखने पर उसे कामविकारग्रस्त मानते हैं, (३) मानसिक रोगोत्पत्ति। अगस्त्यचूर्णि में इसका अर्थ किया गया है—मुनि जहां खड़ा रह कर आहार ले और दाता जहां से आकर भिक्षा दे, ये दोनों स्थान असंसक्त (त्रस आदि जीवों से असंकुल) होने चाहिए। इस दृष्टि से यहां मूल में बताया गया है,—मुनि असंसक्त स्थान का अवलोकन करे।

(२) नातिदूरावलोकन—मुनि वहीं तक दृष्टिपात करे, जहाँ तक भिक्षा के लिए देय वस्तुएँ रखी और उठाई जाएँ, उससे आगे लम्बी दृष्टि न डाले। घर में दूर-दूर तक रखी वस्तुओं पर दृष्टिपात करने से साधु के प्रति शंका हो सकती है, इसलिए अतिदूरावलोकन का निषेध किया गया है। अगस्त्यचूर्णि में इसका अर्थ किया गया है—मुनि अतिदूरस्थ प्राणियों को नहीं देख सकता इसलिए वैकल्पिक अर्थ हुआ—भिक्षा देने के स्थान से अतिदूर रह कर अवलोकन नहीं करे—अर्थात् खड़ा न रहे। (३) उत्फुल्लनयनानवलोकन : **दो अर्थ** :— (१) विकसित नेत्रों से (आँखें फाड़ कर) न देखे, (२) उत्सुकतापूर्ण नेत्रों से न देखे। इस प्रकार गृहस्थ के घर में यत्र-तत्र पड़े हुए भोग्य पदार्थ, शय्यादि सामग्री, स्त्री, आभूषण आदि को आँखें फाड़ फाड़ कर देखने से—साधु के प्रति लघुता या भोगवासनाग्रस्तता का भाव उत्पन्न हो सकता है।[३८] **वाणीसंयम** भिक्षा के लिए प्रवेश करने पर यदि दाता कुछ भी न दे, थोड़ा दे, नीरस वस्तु दे, अथवा कोई कठोर वचन कह दे, तो

---

३८. (क) असंसत्तं पलोएज्जा नाम इत्थियाए दिट्ठिं न बंधेज्जा, अहवा अंगपच्चंगाणि अणिमिस्साए दिट्ठीए न जोएज्जा।' किं कारणं ? जेण तत्थ बंभवयपीला भवइ, जोएंतं वा दट्ठूण अविरयगा उड्डाहं करेज्जा-पेच्छह समणयं सवियारं। —जि. चू., पृ. १७६।

(ख) 'रागोत्पत्ति-लोकोपघात-प्रसंगात्।' —हारि. वृत्ति, पृ. १६८

(ग) तावमेव पलोएइ, जाव उक्खेव-निक्खेवं पासई। तओ परं घरकोणादी पलोयंतं दट्ठूण संका भवति। किमेस चोरो वा पारदारिओ वा होज्जा ? एवमादि दोसा भवंति। —जि. चू., पृ. १७६

(घ) नाति दूरं प्रलोकयेत्—दायकस्यागमनमात्रदेशं प्रलोकयेत्। —हारि. वृत्ति, पृ. १६८

(ङ) 'तं च णातिदूरावलोयए अतिदूरत्थो पिपीलिकादीणि ण पेक्खति।'''''अ. चू., पृ. १०६

(च) 'उप्फुल्लं नाम विगसिएहिं णयणेहिं इत्थीसरीरं रयणादी वा ण णिज्झाइयव्वं।'

—जिन चूर्णि, पृ. १७६

(छ) '''''न विणिज्झाए त्ति, न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्तेः।

—हारि. वृत्ति, पृ. १६८

भी साधु को उसके लिए वहस, अपशब्द-प्रयोग अथवा दीनवचन-प्रयोग न करते हुए चुपचाप बिना कुछ कहे, वहाँ से निकल जाना चाहिए।[३९]

भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु की खड़े रहने की भूमि—सीमा : विधि-निषेध—आहार के लिए प्रवेश करने के बाद साधु गृहस्थ के चौके में कहाँ तक जाए, इसके विधि-निषेध-नियम प्रस्तुत गाथा (२४) में दिये गए हैं—**अतिभूमि में न जाए**—गृहस्थ के द्वारा भोजनगृह में भिक्षाचरों के प्रवेश की वर्जित या अननुज्ञात भूमि अतिभूमि कहलाती है। सभी गृहस्थों की एक-सी मर्यादा नहीं होती, इसलिए साधु-साध्वी को यह विवेक स्वयं करना होगा कि किस गृहस्थ के यहाँ रसोडे में कितनी दूर तक जाने की भूमिसीमा है ? यह निर्णय साधु-साध्वी को तद्देश प्रसिद्ध देशाचार, शिष्टाचार, कुलाचार, जातिसंस्कार, ऐश्वर्य, भद्रक-प्रान्तक आदि गृहस्थों की अपेक्षा से करना चाहिए। जहाँ तक दूसरे भिक्षाचर जाते हैं, तथा जहाँ तक जाने में गृहस्थ को अप्रीति न हो, वहाँ तक की भूमि को कुलभूमि कहते हैं। अतः साधु-साध्वी इस प्रकार कुलभूमि का निर्णय करके वहाँ तक ही जाएँ। अन्यथा चौके के अत्यन्त निकट चले जाने पर उनके प्रति अप्रीति या शंका उत्पन्न हो सकती है।[४०]

मितभूमि में भी कहाँ खड़ा हो, कहाँ नहीं ?—गृहस्थ द्वारा अनुज्ञात या अवर्जित मितभूमि में जाकर साधु कैसे और कहाँ खड़ा रहे, कहाँ नहीं ? इसका विवेक प्रस्तुत दो गाथाओं (२४-२५) में दिया गया है। मितभूमि में भी साधु जहाँ-तहाँ खड़ा न होकर इस बात का उपयोग लगाए कि वह कहाँ खड़ा हो, कहाँ नहीं ? वह उस भूभाग का सर्वेक्षण करे कि जहाँ खड़े रहने से संयम में विघात न हो, और शासन की हीलना न हो।[४१]

चार प्रकार के भूभाग में खड़े रहने का निषेध—साधु को मर्यादित मितभूमि में भी चार भूभागों (स्थानों) में खड़ा नहीं रहना चाहिए—(१) **सिणाणस्स संलोगं,** (२) **वच्चस्स संलोगं,** (३) **दग-मट्टिय-आयाणं,** और (४) **बीयाणि-हरियाणि य। चारों की व्याख्या**—'संलोक' शब्द का सम्बन्ध स्नान और वर्चस् दोनों के साथ है। वर्चस् का अर्थ है—मलमूत्रविसर्जन-शौच क्रिया। तात्पर्य यह है कि जहाँ खड़ा होने से मुनि को स्नान करती हुई या मल-मूत्र विसर्जन करती हुई महिला या

---

३९. (क) '....दिण्णे परियंदणेण, अदिण्णे रोसवयणेहिं....एवमादीहिं अजंपणसीलो अयंपिरो एवंविधो णियट्टेज्जा।
—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०६

(ख) तथा निवर्त्तेत गृहादलब्धेऽपि सति अजल्पन्-दीनवचनमनुच्चारयन्निति। —हारि. वृत्ति, पत्र १६८

४०. (क) 'भिक्खयरभूमि-अतिक्कणमतिभूमी तं ण गच्छेज्जा।' —अग. चू., पृ. १०६

(ख) अतिभूमिं न गच्छेद्-अननुज्ञातां गृहस्थैः। यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः। —हा. वृत्ति, पत्र १६८

(ग) किं पुण भूमिपरिमाणं ?....तं विभव-देसायार-भद्दग-पंतगादीहिं, 'कुलस्स भूमिं णाऊण' पुव्वपरिक्कमणेणं अण्णे वा भिक्खायरा जावतियं भूमिमुपसरंति एवं विण्णातं।" —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०६

(घ) मितां भूमिं—तैरनुज्ञातां पराक्रमेत् (प्रविशेत्) यत्रैपामप्रीतिर्नोपजायेत, इति सूत्रार्थः।
—हा. टी., पृ. १६८

(ङ) मितं भूमिं परक्कमे—बुद्धीए संपेहितं सव्वदोससुद्धं तावतियं पविसेज्जा।' —अ. चू., पृ. १०६

४१. 'तत्थेति ताए मिताए भूमीए उवयोगो कायव्वो पंडिएण, कत्थ ठातियव्वं, कत्थ न वेत्ति। तत्थ ठातियव्वं जत्थ इमाइं न दीसंति।' —जि. चू., पृ. १७७

सामने ही मल-मूत्र पड़ा दिखाई दे अथवा वह स्नानगृह या शौचालय से साधु को देख सके, उस भूमि भाग में मुनि खड़ा न हो। **तीसरा निषेध है**—जंगल या खान से लाई हुई सचित्त मिट्टी और सचित्त पानी जिस मार्ग से लाया जाता हो, उस मार्ग पर खड़ा न हो। तथा **चौथा निषेध है**—जहाँ चारों ओर बीच या हरी वनस्पति बिखरी हुई हो, या पैरों के नीचे रौंदी जाने की संभावना हो ऐसी जगह भी मुनि खड़ा न हो, क्योंकि इन दोनों प्रकार के स्थानों में खड़े रहने से अहिंसाव्रत की विराधना होगी।[४२]

ग्रहणैषणा-विधि

आहार-ग्रहण-विधि-निषेध

१०९. तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे पाण-भोयणं।
अकप्पियं न गेण्हेज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥ २७ ॥

११०. आहरंती सिया तत्थ परिसाडेज्ज भोयणं।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ २८ ॥

१११. सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणि य।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसं परिवज्जए ॥ २९ ॥

११२. साहट्टु निक्खिवित्ताणं सच्चित्तं घट्टियाण य।
तहेव समणट्ठाए उदगं संपणोल्लिया ॥ ३० ॥

११३. ओगाहइत्ता चलइत्ता आहरे पाण-भोयणं।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३१ ॥

११४. पुरेकम्मेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३२ ॥

११५. *उदओल्लेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३३ ॥

११६. ससिणिद्धेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३४ ॥

---

४२. (क) 'वच्चं नाम जत्थ वोसिरंति कातिकाइसन्नाओ।' —जि. चू., पृ. १७७
(ख) 'वच्चं अमेज्झं तं जत्थ।' —जि. चू., १७७।
(ग) 'संलोगो-जत्थ एताणि आलोइज्जंति, तं परिवज्जए।'
(घ) सिणाण लोगं वच्चसंलोगं। संलोगं-जत्थ ठिएण हि दीसंति ते वा तं पासंति। —जि. चू., पृ. १७७
(ङ) अ. चू., पृ. १०७, (च) जि. चू., पृ, १७७, (छ) हारि. वृत्ति, पत्र १६८

११७. ससरक्खेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३५ ॥

११८. मट्टियागतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३६ ॥

११९. ऊसगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३७ ॥

१२०. हरितालगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३८ ॥

१२१. हिंगुलुयगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३९ ॥

१२२. मणोसिलागतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४० ॥

१२३. अंजणगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४१ ॥

१२४. लोणगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४२ ॥

१२५. गेरुयगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४३ ॥

१२६. वण्णियगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४४ ॥

१२७. ×सेडियगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४५ ॥

१२८. सोरट्ठियगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥

१२९. पिट्ठगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दॆतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४७ ॥

पाठान्तर × सेढिय····।

१३०. कुक्कुसगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥

१३१. +उक्कुट्ठगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४९ ॥

१३२. असंसट्ठेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ५० ॥

१३३. संसट्ठेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ५१ ॥※

[१०९] वहाँ (पूर्वोक्त मर्यादित भूमिभाग में) खड़े हुए उस साधु (या साध्वी) को देने के लिए (अपने चौके में से कोई गृहस्थ) पान (पेय पदार्थ) और भोजन लाए तो उसमें से अकल्पनीय (साधुवर्ग के लिए अग्राह्य) को ग्रहण (करने की इच्छा) न करे, कल्पनीय ही ग्रहण करे ॥२७॥

[११०] यदि (साधु या साध्वी के पास) भोजन लाती हुई गृहिणी (या गृहस्थ) उसे नीचे गिराए तो साधु उस (आहार) देती हुई महिला (या पुरुष) को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए कल्पनीय (ग्रहण करने योग्य) नहीं है ॥२८॥

[१११] प्राणी (द्वीन्द्रियादि जीव), बीज और हरियाली (हरी वनस्पति) को कुचलती (सम्मर्दन करती) हुई (आहार लाने वाली महिला दात्री) को असंयमकारिणी जान कर उस प्रकार का (सदोष आहार) उससे न ले ॥२९॥

[११२-११३] इसी प्रकार एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में डालकर (संहरण कर), (सचित्त वस्तु पर) रखकर, सचित्त वस्तु का स्पर्श करके (या रगड़ कर) तथा (पात्रस्थ सचित्त) जल को हिला कर, (सचित्त पानी में) अवगाहन कर, (सचित्त जल को) चालित कर श्रमण (को देने) के लिए पान और भोजन लाए तो मुनि (उस आहार) देती हुई महिला को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्रहण करना शक्य (कल्प्य) नहीं है ॥३०-३१॥

पाठान्तर— + उक्किट्ठ····।

पाठान्तर— ※ इस प्रकार के चिह्न से ※ इस प्रकार के चिह्न तक जो १९ गाथाएँ हैं, टीकाकार के अनुसार ये दो गाथाएँ हैं, किन्तु टीकासम्मत इन दो गाथाओं में 'एवं' और 'बोधव्वं', ये जो दो पद हैं, वे संग्रहगाथाओं के सूचक हैं। जबकि चूर्णिकार इन १९ गाथाओं को मूलगाथाएँ मानते हैं।
दो गाथाएं—
"एवं उदउल्ले ससिणिद्धे ससरक्खे मट्टियाऊसे।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ ३३ ॥
'गेरुअ-वन्निय-सेढिअ, सोरट्ठिय-पिट्ठ-कुक्कुसकए य।
उक्किट्ठमसंसट्ठे संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥ ३३ ॥" (प्रतियों में प्रचलित पाठ)

[११४] पुराकर्म-कृत (साधु को आहार देने से पूर्व ही सचित्त जल से धोये हुए) हाथ से, कड़छी से अथवा बर्त्तन से (मुनि को भिक्षा) देती हुई महिला को मुनि निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए कल्पनीय (ग्रहण करने योग्य) नहीं है। (अर्थात्—मैं ऐसा दोषयुक्त आहार नहीं ले सकता।) ।।३२।।

[११५] सचित्त जल से गीले (आर्द्र) हाथ से, कड़छी से अथवा बर्त्तन से (आहार) देती हुई (महिला) को साधु निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्राह्य (कल्पनीय) नहीं है ।।३३।।

[११६] सस्निग्ध हाथ से, कड़छी से या बर्त्तन से यदि कोई महिला आहार देने लगे तो उसे निषेध कर दे कि मेरे लिए ऐसा आहार ग्राह्य नहीं है ।।३४।।

[११७] सचित्त रज से भरे हुए हाथ से, कड़छी से या वर्त्तन से (साधु को) आहार देती हुई स्त्री से साधु निषेध कर दे कि ऐसा (सदोष आहार) लेना मेरे लिए शक्य (कल्प्य) नहीं है ।।३५।।

[११८] सचित्त मिट्टी से सने हुए हाथ, कड़छी या बर्त्तन से (साधु को आहार) देती हुई महिला को मुनि निषेध करे कि ऐसा आहार मैं नहीं ले सकता ।।३६।।

[११९] सचित्त ऊषर (क्षार) मिट्टी से भरे हुए हाथ, कड़छी या वर्त्तन से आहार देती हुई स्त्री से साधु कहे कि ऐसा आहार मैं ग्रहण नहीं कर सकता ।।३७।।

[१२०] हरिताल से भरे हुए हाथ, कड़छी अथवा वर्त्तन से आहार देती हुई दात्री से साधु निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य (कल्पनीय) नहीं है ।।३८।।

[१२१] हिंगलू से भरे हुए हाथ, कड़छी या बर्त्तन से आहार देती हुई महिला से साधु निषेध कर दे कि मेरे लिए ऐसा आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है ।।३९।।

[१२२] मेनसिल से युक्त हाथ, कड़छी या वर्त्तन से आहार देती हुई दात्री से साधु निषेध कर दे कि मैं ऐसा आहार नहीं ले सकता ।।४०।।

[१२३] अंजन से युक्त हाथ, कड़छी या वर्त्तन से आहार देती हुई महिला से साधु कहे कि मैं ऐसा आहार ग्रहण नहीं कर सकता ।।४१।।

[१२४] सचित्त लवण से भरे हुए हाथ, कड़छी या बर्त्तन से आहार देती हुई स्त्री से साधु निषेध कर दे कि मैं ऐसा आहार ग्रहण नहीं कर सकता ।।४२।।

[१२५] सचित्त गैरिक (गेरू) से सने हुए हाथ, कड़छी अथवा बर्त्तन से आहार देती हुई महिला से साधु स्पष्ट निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है ।।४३।।

[१२६] सचित्त पीली मिट्टी (वर्णिका) से भरे हुए हाथ, कड़छी अथवा भाजन से आहार देती हुई महिला से साधु इन्कार कर दे कि मैं ऐसा आहार नहीं ले सकता ।।४४।।

[१२७] सचित्त संफेद मिट्टी (श्वेतिका) से सने हुए हाथ, कड़छी या बर्त्तन से आहार देती हुई स्त्री से मुनि निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है ।।४५।।

[१२८] सचित्त सौराष्ट्रिका (फिटकरी) से युक्त हाथ से, कड़छी से या बर्त्तन से आहार देती हुई स्त्री से साधु निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है ।।४६।।

[१२९] तत्काल पीसे हुए आटे (पिष्ट) से सने हुए हाथ, कड़छी या वर्त्तन से आहार देती हुई महिला से साधु स्पष्ट कह दे कि ऐसा आहार मैं नहीं ले सकता ।।४७।।

[१३०] तत्काल कूटे हुए धान्य के भूसे या छिलके से युक्त हाथ, कड़छी या वर्त्तन से आहार देती हुई स्त्री से साधु निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार का आहार नहीं ले सकता ।।४८।।

[१३१] चाकू से ताजे बनाये हुए फलों के कोमल टुकड़ों से युक्त हाथ से, कड़छी से या वर्त्तन से आहार देती हुई दात्री से साधु कह दे कि मैं इस प्रकार का आहार ग्रहण नहीं कर सकता ।।४९।।

[१३२] जहाँ (जिस आहार के लेने पर) पश्चात्कर्म (साधु को आहार देने के बाद तुरंत सचित्त जल से हाथ धोने) की संभावना हो, वहाँ असंसृष्ट (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कड़छी अथवा बर्त्तन से दिये जाने वाले आहार को ग्रहण करने की इच्छा न करे ।।५०।।

[१३३] (किन्तु) संसृष्ट (भक्त-पान से लिप्त) हाथ से, कड़छी से या वर्त्तन से (साधु को) दिया जाने वाला आहार यदि एषणीय हो तो मुनि लेवें ।।५१।।

विवेचन—किस विधि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करे ?—इससे पूर्व गाथाओं में इस विधि का उल्लेख था कि भिक्षार्थी मुनि स्वस्थान से निकल कर गृहस्थ के घर में कैसे प्रवेश करे, वहाँ कैसे और किस स्थान में खड़ा रहे ? अब गाथासूत्र १०९ से १३३ तक में यह वर्णन किया गया है कि किस विधि, कैसे दाता के द्वारा दिया जाने वाला आहार ग्रहण न करे, या ग्रहण करे ?

भिक्षादान में चार बातें विचारणीय—भिक्षा लेने-देने में विधि, द्रव्य, दाता और पात्र इन चारों की विशुद्धि का विचार किया जाता है । प्रस्तुत में द्रव्यशुद्धि और दातृशुद्धि दोनों का विचार किया गया है ।

अकप्पियं, कप्पियं : व्याख्या—पिण्डैषणाप्रकरण में यत्र-तत्र ये दोनों शब्द व्यवहृत हुए हैं । ये पारिभाषिक शब्द हैं । कल्प का प्रकरणसंमत अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि अथवा सामाचारी । अकल्प का अर्थ इसके विरुद्ध है अर्थात्—कल्पनिषिद्ध या कल्प से असम्मत । इस दृष्टि से अकप्पियं (अकल्पिक या अकल्पनीय) एवं 'कप्पियं' (कल्पिक, कल्प्य या कल्पनीय) का अर्थ होता है—जो नीति, आचार, मर्यादा, विधि या सामाचारी शास्त्र द्वारा निषिद्ध, अननुमत, या विरुद्ध हो वह अकल्पिक और जो शास्त्र द्वारा विहित, अनुमत या सम्मत हो, वह कल्पिक है । हरिभद्रसूरि ने कल्पिक का अर्थ—एषणीय और अकल्पिक का अर्थ—अनेषणीय किया है । यहाँ पूर्वोक्त नीति आदि से युक्त, ग्राह्य, करणीय अथवा योग्य या शक्य को भी कल्प्य और इससे विपरीत को अकल्प्य बताया गया है । वाचक उमास्वाति की दृष्टि से कोई भी कार्य एकान्तरूप से कल्प्य या अकल्प्य नहीं होता, जो कल्प्य कार्य सम्यक्त्व-हानि, ज्ञानादि के नाश और प्रवचन (शासन) निन्दा का कारण बनता हो,

वह कल्प्य भी अकल्प्य बन जाता है। उमास्वाति के अनुसार—"जो कार्य ज्ञान, शील और तप का उपग्रहकारक और दोषों का निग्रहकर्ता हो, वह निश्चयदृष्टि से कल्प्य है और शेष अकल्प्य।" आगमसाहित्य में उत्सर्ग-अपवाद को दृष्टिगत रख कर महान् आचार्यों ने बताया है कि किसी विशेष परिस्थिति में कल्प्य और अकल्प्य का निर्णय देश, काल, पात्र (व्यक्ति), अवस्था, उपयोग और परिणाम-विशुद्धि का सम्यक् समीक्षण करके ही करना चाहिए, अन्यथा नहीं। निष्कर्ष यह है कि बहुश्रुत आगमधर के अभाव में साधु-साध्वियों को शास्त्रोक्त विधि-निषेधों का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। प्रस्तुत गाथा (सू. १०९) में यह बताया है कि भिक्षाग्रहण करते समय अपनी विचक्षण बुद्धि से कल्प्य-अकल्प्य का विचार करके अकल्प्य को छोड़ कर कल्प्य (एषणीय, शास्त्रविहित एवं भिक्षासम्बन्धी ४२ दोषरहित) आहार ही ग्रहण करना चाहिए।[४३]

देंतियं : देती हुई : तात्पर्य—प्राय: महिलाएँ ही भिक्षा दिया करती हैं, इसलिए यहाँ 'दाता' के रूप में स्त्री का निर्देश किया गया है। उपलक्षण से 'देता हुआ', इस प्रकार पुरुष का निर्देश भी समझ लेना चाहिए।[४४]

परिसाडिज्ज भोयणं—आहार लाते समय दाता भूमि पर उसे गिराता या बिखेरता हुआ लाकर साधु को दे तो वह अग्राह्य है, यह 'एषणा' का दसवां 'छर्दित' नामक दोष है। यह इसलिए दोष माना गया है कि यदि गर्म आहार दाता के शरीर पर पड़ जाए तो वह जल सकता है तथा आहार की बूँदें नीचे गिरने पर चींटी आदि जीवों की विराधना संभव है।[४५]

संमद्दमाणी····असंजमकरिं नच्चा : अभिप्राय—प्राणी या वनस्पति आदि को कुचलती या रौंदती हुई दात्री को शास्त्रकार असंयमकरी मानते हैं। असंयम का अर्थ यहाँ 'संयम का सर्वथा

---

४३. (क) पाइयसद्दमहण्णवो
   (ख) जिनदासचूर्णि, पृ. १७७
   (ग) कल्पिकं-एषणीयं, अकल्पिकं-अनेषणीयम्। —हारि. वृत्ति, पत्र. १६८
   (ग) अकप्पितं बायालीसाए अण्णतरेण एसणादोसेण दुट्ठं, कप्पितं सेसे सणादोसपरिसुद्धं। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०७
   (ङ) "यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम्।
   कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥" —प्र. प्र. १४३
   (च) यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्व-ज्ञान-शील-योगानाम्।
   तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च॥१४४॥
   देशं कालं क्षेत्रं पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामान्।
   प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥॥ १४६॥ —वही, १४४-१४६
४४. 'ददतीम्'····स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १६९
४५. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. १७४।
   (ख) उसिणस्स छड्डणे देंतओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा।
   सीय पडणंमि काया पडिए महुबिंदु-आहरणं॥—पिण्डनिर्युक्ति ६२८

अभाव' नहीं, किन्तु 'जीववधरूप असंयम' समझना चाहिए और साधु के निमित्त से इस प्रकार का असंयम करके आहार लाकर देने वालो से वह आहार नहीं लेना चाहिए।[४६]

पडिआइक्खे :—(१) त्याग (प्रत्याख्यान) कर दे, (२) निषेध कर दे, अथवा (३) कह दे।[४७]

तारिसं : तात्पर्य—यह विशेषण (तादृशं) भक्त-पान का है। अर्थात् ऐसा आहार, जो कि अमुक भिक्षादोष से युक्त हो।[४८]

संहृत, निक्षिप्त आदि दोषों का स्पष्टीकरण—संहृत-दोष—श्रमण के लिए आहार एक वर्तन में से दूसरे वर्तन में निकालना और उसमें जो अनुपयोगी अंश हो उसे बाहर फेंकना संहरण है। संहरण करके आहार दिया जाए तो वह[४९] संहृत नामक दोष युक्त है। इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार है—(१) अचित्त (प्रासुक) वर्तन से अचित्त (प्रासुक) वर्तन में आहार निकाले, (२) प्रासुक वर्तन से अप्रासुक वर्तन में आहार निकाले, (३) अप्रासुक वर्तन से प्रासुक वर्तन में आहार निकाले और (४) अप्रासुक वर्तन में से अप्रासुक वर्तन में आहार निकाले। इसी प्रकार सचित्त और अचित्त के मिश्रण को भी संहरण कहते हैं। इसकी भी चौभंगी होती है—(१) सचित्त में सचित्त मिलाना, (२) सचित्त में अचित्त मिलाना, (३) अचित्त में सचित्त मिलाना और (४) अचित्त में अचित्त मिला देना। पिण्डनिर्युक्ति में इसका विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। अचित्त वर्तन में से भी अचित्त वर्तन में निकालने में दोष इसलिए है कि कदाचित् बड़े वजनदार वर्तन में से छोटे वर्तन में निकालने, उस बर्तन को उधर-उधर करने में पैर दब जाए, गर्म वस्तु पैर पर या अंग पर उछल कर पड़ जाय, अथवा छोटे वर्तन में से भारीभरकम वर्तन में निकालने में उसे उठाकर साधु को देने के लिए लाने में दाता को अत्यन्त कष्ट होगा।

अचित्त देय वस्तु को सचित्त पर रखना '**निक्षिप्त**' दोष है। हरी वनस्पति, सचित्त जल, अग्नि आदि सचित्त का स्पर्श करना, या सचित्त से रगड़ना '**घट्टित**' दोष है। यद्यपि सचित्त जल का हिलाना, अवगाहन करना और चलाना, ये तीनों दोष सचित्त स्पर्श के अन्तर्गत आ जाते हैं, तथापि विशेषरूप से समझाने के लिए इनका उल्लेख किया गया है। ये चारों दोष एषणा के 'दायक' नामक छठ दोष में आ जाते हैं।[५०]

---

४६. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १७५।
(ख) दसवेयालियं (मु. नथ.), पृ. २२५
४७. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. १८४।
(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका), पृ. ४११
४८. तारिसं भत्तपाणं तु परिवज्जए। —अग. चू., पृ. १०७
४९. साहट्टु जाम अन्नंमि भायणे साहरिउं (छोढूण) देंतिंत····जहापिंडनिज्जुत्तीए। —जिन. चूर्णि, पृ. १७८
५०. (क) तत्थ फासुए फासुयं साहरइ १, फासुए अफासुयं साहरइ २, अफासुए फासुयं साहरइ ३, अफासुए अफासुयं साहरति ४।····भंगाणं पिंडनिज्जुत्तीए विसेसत्थो। —जिन. चूर्णि, पृ. १७८
(ख) पिण्डनिर्युक्ति ५६५ से ५७१ तक

'पुरेकम्मेण हत्थेण'० इत्यादि दोष—साधु को भिक्षा देने के निमित्त पहले सचित्त जल से हाथ, कड़छी, या वर्तन आदि धोना अथवा अन्य किसी प्रकार का आरम्भ (जीवहिंसा) करना पूर्वकर्म (या पुराकर्म) दोष है।

भाजन और मात्रक—मिट्टी के वर्तन अमत्रक या मात्रक और कांसे आदि धातुओं के पात्र भाजन कहलाते हैं।[५१]

'उदओल्लेण' से 'उक्कुट्ठगतेण' तक १७ दोष—प्रस्तुत १७ गाथाओं में 'उदकार्द्र' से लेकर 'उत्कृष्ट' तक जो १७ दोष हाथ, कड़छी और भाजन से लगते हैं, उनका वर्णन किया गया है। इनमें से कुछ अप्काय से, कुछ पृथ्वीकाय से और कुछ वनस्पतिकाय से सम्बन्धित दोष हैं।

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—**उदओल्ले**—उदकार्द्र, जिससे पानी की बूंदें टपक रही हों। **'ससिणिद्धे'**—'सस्निग्ध' जो केवल पानी से गीला-सा हो। **ऊसे**—ऊष या क्षार ऊषर मिट्टी। **गैरिक**—लाल मिट्टी, गेरू। **वण्णिय**—वर्णिका, पीली मिट्टी।[५२] **सेडिय**—सफेद मिट्टी, खड़िया मिट्टी। **सोरट्ठिय**—सौराष्ट्रिका, सौराष्ट्र में पाई जाने वाली एक प्रकार की मिट्टी, जिसे गोपीचन्दन भी कहते हैं। **पिट्ठ**—पिष्ट—तत्काल पीसा हुआ आटा, अथवा चावलों का कच्चा और अपरिणत आटा। **कुक्कुस**—अनाज या धान का भूसा या छिलका।

उक्कुट्ठ : उत्कृष्ट : दो अर्थ—फलों के छोटे-छोटे टुकड़े या वनस्पति का चूर्ण (तिल, गेहूँ, और यवों का आटा, अथवा ओखली में कूटे हुए इमली या पीलुपर्णी के पत्ते, लौकी और तरबूज आदि के सूक्ष्म खण्ड)।

ये सब दोष सचित्त से संसृष्ट हाथ, कड़छी या भाजन के द्वारा साधु को देने से लगते हैं, अतः साधु को इन दोषों में से किसी भी प्रकार के दोष से युक्त आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इनमें से तत्काल के आटे से लिप्त हाथ आदि से लेने को दोष वताया है, उसका कारण यह कि तत्काल के आटे में एकेन्द्रिय जीवों के आत्मप्रदेश रहने की सम्भावना रहती है तथा अनछाना होने से उसमें अनाज के अखण्ड दानों के रहने की सम्भावना है। इसलिए यह सचित्त-स्पर्श दोष है।[५३]

---

५१. (क) 'पुरेकम्मं नाम जं साधूणं दट्ठूणं हत्थं भायणं धोवइ तं पुरेकम्मं भण्णइ।' —जिन. चू., पृ. १७८
(ख) पुढविमओ मत्तओ। कंसमयं भायणं। —निशीथ ४। ३९ चूर्णि,

५२. (क) उदकार्द्रो नाम गलदुदकबिन्दुयुक्तः। सस्निग्धो नाम ईषदुदकयुक्तं। —हारि. वृत्ति, पृ. १७
(ख) ससिणिद्धं-जं उदगेण किंचि णिद्धं, ण पुण गलति। —अ. चू., पृ. १०८।
(ग) 'ऊषः—पांशुक्षारः। गैरिका धातुः। वर्णिका पीतमृत्तिका। श्वेतिकाः शुक्लमृत्तिका।'
—हा. वृ., पत्र १७०

५३. (क) सोरट्ठिया तवरिया सुवण्णस्स ओघकरणमट्टिया।
(ख) "सौराष्ट्र्या ढकी तुवरी पर्पटी कालिकासती। सुजाता देशभाषायां 'गोपीचन्दनमुच्यते॥'
—शा. नि., पृ. ६४

पश्चात्कर्म दोष की सम्भावनावश असंसृष्ट अग्राह्य और संसृष्ट ग्राह्य—साधु को आहार देने के लिए लाते समय लेप लगने वाली वस्तु से हाथ आदि अलिप्त—असंसृष्ट हों तो वह आहार लिया जा सकता है, किन्तु साधु को भिक्षा देने के निमित्त से जो हाथ, वर्तन आदि लिप्त हुए हों तो गृहस्थ द्वारा उन्हें वाद में सचित्त जल से धोने के कारण पश्चात्कर्म दोष होने की सम्भावना रहती है। अतः असंसृष्ट, हाथ और पात्र आदि से भिक्षा लेने का निषेध है। यदि भिक्षा देते समय लिप्त हुए हाथ, कुडछी, पात्र आदि से स्वयं भोजन करे या दूसरे को परोसे तो पश्चात्कर्मदोष नहीं लगता, ऐसी स्थिति में—अर्थात्—जहाँ हाथ, कुडछी, पात्र आदि में साधु के निमित्त से पश्चात्कर्म की संभावना न हो, वहाँ यह निषेध नहीं है। वह आहार ग्राह्य है। इसीलिए अगली गाथा में कहा गया है—भिक्षा देते समय लेप्यवस्तु से लिप्त (संसृष्ट) हाथ आदि (जिनमें पश्चात्कर्म की संभावना न हो) सेआहार ग्रहण किया जा सकता है, यदि वह ऐषणीय हो अर्थात्—उद्गमादि दोषों से रहित हो। यह इन दोनों गाथाओं का तात्पर्य है।[५४]

अनिसृष्ट आहार-ग्रहणनिषेध और निसृष्ट ग्रहणविधान—

१३४. दोण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, छंदं से पडिलेहए ।। ५२ ।।

१३५. दोण्हं तु भुंजमाणाणं, दो वि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ।। ५३ ।।

[१३४]—(जहाँ) दो स्वामी या उपभोक्ता (भोजन करने वाले) हों और उनमें से एक निमंत्रित करे (दूसरा नहीं), तो मुनि उस दिये जाने वाले आहार को ग्रहण करने की इच्छा न करे। वह दूसरे के अभिप्राय को देखे ! (यदि उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो (एषणीय आहार) ले ले) ।। ५२ ।।

[१३५]—दो स्वामी अथवा उपभोक्ता (भोजन करने वाले) हों और दोनों ही (आहार लेने के लिये) निमंत्रण करें, तो मुनि उस दिये जाने वाले आहार को; यदि वह एषणीय हो तो ग्रहण कर ले ।। ५३ ।।

(ग) आमपिट्ठं आमओ लोट्टो। सो अप्पिधणो पोरुसीए परिणमति। वहुइधणो आरतो चेव।
—अ. चूर्णि., पृ. ११०

(घ) कुक्कुसा चाउलत्तया। —अ. चू., पृ. ११०

(ङ) उक्कुट्टो णाम सचित्तवणस्सति-पत्तंकुरफलाणि वा उदूक्खले छुब्भति, तेहिं हत्थो लित्तो, एस उक्कट्ठो हत्थो भण्णति। सचित्तवणस्सती—चुण्णो ओक्कुट्ठो भण्णति।—नि. भा. गा. १४८ चू., नि. ४।३९। चू.

(च) उक्कुट्ठं धूरो सुरालोट्टो, तिल-गोधूम-जवपिट्ठं वा। अंविलिया-पीलुपण्णिआतीणि वा उक्खलछुण्णादि।
—अ. चू., पृ. ११०

५४. माकिर पच्छाकम्मं होज्ज असंसट्ठगंतओ वज्जं।
करमत्तेहिं तु तम्हा, संसट्ठेहिं भवे गहणं ॥ —नि. भा. गा. १८५२

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय (१३४-१३५) में से पहली गाथा में 'अनिसृष्ट' नामक १५ वें उद्‌गमदोषयुक्त भिक्षा ग्रहण का निषेध है, और अगली गाथा में निसृष्ट (एषणीय) भक्तपान लेने का विधान है।

अनिसृष्ट : अर्थ और दोष का कारण—अनिसृष्ट का अर्थ है—अननुज्ञात। साधु को प्रत्येक वस्तु उसके स्वामी की अनुमति-अनुज्ञा से लेनी चाहिए, अन्यथा अदत्तादान दोष लगता है। अनुमति के विना लेने पर उड्‌डाह (अपवाद) एवं निग्रह की भी संभावना है।[५५]

दोण्हं तु भुंजमाणाणं : अर्थ और फलितार्थ—'भुंज' धातु दो अर्थों में प्रयुक्त होती है—(१) पालन और (२) अभ्यवहरण (भोजन), इस दृष्टि से यहाँ इस पंक्ति का अर्थ होगा—एक ही वस्तु के दो स्वामी हों अथवा एक ही भोजन को दो व्यक्ति खानेवाले हों। उनमें से एक व्यक्ति देने में सहमत न हो तो वह आहार अनिसृष्ट दोषयुक्त कहलाता है, वह साधु के लिए ग्राह्य नहीं है।[५६]

छंदं तु पडिलेहए : फलितार्थ—छंद का अर्थ है—अभिप्राय। वस्तु के दूसरे स्वामी के चेहरे के हावभाव, नेत्र और मुख की चेष्टा आदि से मुनि उसका अभिप्राय जाने। यदि दूसरे स्वामी को कोई आपत्ति न हो तो उसकी स्पष्ट अनुमति के विना भी मुनि एक स्वामी द्वारा प्रदत्त आहार ग्रहण कर सकता है। और यदि दूसरे स्वामी को अपना आहार मुनि को देना अभीष्ट न हो, वह प्रकट में आपत्ति करता हो या नहीं, तो ऐसी स्थिति में मुनि एक स्वामी द्वारा प्रदत्त आहार भी नहीं ले सकता।[५७]

गर्भवती एवं स्तनपायिनी नारी से भोजन लेने का निषेध-विधान

१३६. गुव्विणीए उवन्नत्थं विविहं पाणभोयणं।
भुञ्जमाणं विवज्जेज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ५४ ॥

१३७. सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिया वा निसीएज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥ ५५ ॥

१३८. तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५६ ॥

---

५५. दसवेयालियं (मुनि नथमल जी) पृ. २३२

५६. (क) द्वयोर्भुञ्जतोः—पालनां कुर्वतोः एकस्य वस्तुनः स्वामिनोरित्यर्थः। ··· एवं भुंजानयोः अभ्यवहारायोद्यतयोरपि योजनीयः। यतो भुजिः पालनेऽभ्यवहारे च वर्तते। —हारि. वृत्ति, पत्र १७१
तद्दीयमानं नेच्छेदुत्सर्गतः, अपितु····अभिप्रायं द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रादिविकारैः, किमस्येदमिष्टं दीयमानं न वेति ? इष्टं चेद् गृण्हीयान्न चेन्नैवेति। —हारि. वृत्ति., पत्र १७१

५७. "आगारिंगित-चेट्ठागुणेहिं, भासाविसेस-करणेहिं।
मुह-णयण-विकारेहि य, घेप्पति अंतग्गतो भावो ॥" अ, चू., पृ. ११०
"णाताभिप्पातस्स जदि इट्ठं तो घेप्पति, ण अण्णहा।" —वही, पृ. ११०

१३९. थणगं पेज्जमाणी दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥ ५७ ॥

१४०. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥

[१३६]—गर्भवती स्त्री के लिए (विशेषरूप से) तैयार किये गए विविध पान (पेय पदार्थ) और भोजन (भोज्य पदार्थ) यदि उसके उपभोग में आ रहे हों, तो मुनि ग्रहण न करे, किन्तु यदि वे पान-भोजन) उसके खाने से बचे हुए हों तो उन्हें ग्रहण कर ले ॥ ५४ ॥

[१३७-१३८]—कदाचित् कालमासवती (पूरे महीने वाली) गर्भवती महिला खड़ी हो और श्रमण (को आहार देने) के लिए बैठे; अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो वह (उसके द्वारा दिया जाने वाला) भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य (अग्राह्य) होता है। अतः साधु (आहार) देती हुई (उस गर्भवती स्त्री) से कह दे कि ऐसा आहार मेरे लिए कल्पनीय (ग्राह्य) नहीं है। ॥ ५५-५६ ॥

[१३९-१४०]—बालक अथवा बालिका को स्तनपान कराती हुई महिला यदि उसे रोता छोड़ कर भक्त-पान लाए तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय (अग्राह्य) होता है। (अतः साधु) आहार देती हुई (उस स्तनपायिनी महिला) को निषेध करे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ ५७-५८ ॥

विवेचन—अहिंसा की दृष्टि से आहारग्रहण-निषेध—प्रस्तुत ५ सूत्र गाथाओं (१३६ से १४० तक) में तीन परिस्थितियों में दात्री महिला से आहार लेने का निषेध किया गया है—

१—यदि गर्भवती स्त्री के लिए निष्पन्न आहार उसके उपभोग में आने से पहले ही दिया जा रहा हो।

२—पूरे महीने वाली गर्भवती महिला साधु को आहार देने हेतु उठे या बैठे तो।

३—शिशु को स्तनपान कराती हुई महिला उसे स्तनपान कराना छुड़ा कर उसे रोता छोड़ कर साधु को आहार-पानी देने लगे तो।

भुज्जमाणं विवज्जेज्जा : अभिप्राय—गर्भवती महिला के लिए जो खास आहार बना हो साधु-साध्वी को उसके उपभोग करने से पहले वह आहार नहीं लेना चाहिए, क्योंकि उसका खास आहार साधु या साध्वी द्वारा ले लेने से गर्भपात या मरण हो सकता है।[५८]

---

५८. इमे दोसा—परिमितमुवणीतं, दिण्णे सेसमपज्जत्तं ति डोहलस्साविगमे मरणं, गब्भपतणं वा होज्जा, तीसं तस्स वा गब्भस्स सण्णीभूतस्स अपत्तियं होज्ज। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. १११

कालमासवती गर्भिणी से आहार लेने में दोष—जिसके गर्भ को नौवां महीना या प्रसूतिमास चल रहा हो, वह कालमासवती (पूरे महीने वाली) गर्भवती साधु को भिक्षानिमित्त उठ-बैठ करेगी तो गर्भ स्खलित होने की संभावना है। ऐसी कालमासवती के हाथ से भिक्षा लेना 'दायक' दोष है[५९]

विशेष यह है कि जिनकल्पी मुनि कालमासिनी का विचार न करके गर्भ के आरंभ से ही गर्भवती के हाथ से आहार ग्रहण नहीं करते।

स्तनपायी बालक को रोते छोड़कर भिक्षादात्री से आहार लेने में दोष यह है कि बालक को कठोरभूमि पर रखने एवं कठोर हाथों से ग्रहण करने से उसमें अस्थिरता आती है, वह माता के विना भयभीत हो जाता है, इससे परितापदोष होता है। उस बालक को बिल्ली आदि कोई जानवर उठा कर ले जा सकता है।[६०]

इन तीनों परिस्थितियों में महिला से आहार-पानी लेने का निषेध हिंसा की संभावना के कारण है। दूसरे को जरा-सा भी कष्ट में डाल कर अपना पोषण करना संयमीजनों को इष्ट नहीं है। अतः अहिंसक की दृष्टि से ऐसी दात्री से आहार को ग्रहण करने का निषेध है। किन्तु इन तीनों परिस्थितियों में भी महिला साधु-साध्वी को आहार देना चाहे तो उससे निम्नोक्त रूप से लिया जा सकता है—(१) गर्भवती महिला के उपभोग के बाद बचा हुआ विशिष्ट आहार दे तो, (२) कालमासवती गर्भवती महिला बैठी हो तो बैठी-बैठी या खड़ी हो तो खड़ी-खड़ी ही आहार दे तो, (३) स्तनपायी बालक कोरा स्तनपायी न हो, अन्य आहार भी लेने लगा हो और उसे अलग छोड़ने पर रोता न हो और उसकी माता आहार दे तो। रुदन करते हुए शिशु को छोड़ कर उसकी माता आहार दे तो नहीं लिया जा सकता।[६१]

---

५९. (क) प्रसूतिकालमासे 'कालमासिणी'। —अग. चू., पृ. १११
(ख) कालमासवती—गर्भाधानान्नवममासवती। —हारि. वृ., पत्र १७१
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमल जी) पृ. २३३

६०. (क) तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घेप्पमाणस्स य अपरित्तत्तणेण परितावणादोसो, मज्जाराइ व अवधरेज्जा। —जिन. चूर्णि, पृ. १८०
(ख) एत्थ दोसा—सुकुमालसरीरस्स करेहिं हत्थेहिं सयणीए वा पीडा, मज्जारातो वा खाणावहरणं करेज्जा। —अग. चूर्णि, पृ. ११२

६१. (क) "भुत्तसेसं पडिच्छए।" —दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) पृ. २४-२५
(ख) इह च स्थविरकल्पिकानाम् निषीदनोत्थानाभ्यां यथावस्थितया दीयमानं कल्पिकम्। जिनकल्पिकानां त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानं अकल्पिकमेवेति सम्प्रदायः।
—हारि. वृत्ति., पत्र १७१
(ग) "तत्थ गच्छवासी जति थणजीवी णिक्खित्तो तो ण गेण्हंति, रोयतु वा वा मा, अह अन्नं पि आहारेति, तो जति न रोवइ तो गेण्हंति, अह अपियंतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तो ण गेण्हंति।"
—जिनदासचूर्णि, पृ. १८०

शंकित और उद्भिन्न दोषयुक्त आहारग्रहणनिषेध—

१४१. जं भवे भत्तपाणं तु कप्पाऽकप्पंमि संकियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५९ ॥

१४२. दगवारएण पिहियं नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण सिलेसेण व केणइ ॥ ६० ॥

१४३. तं च+ उब्भिंदिउं देज्जा, समणट्ठाए व दायए ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६१ ॥

[१४१]—जिस भक्त-पान के कल्पनीय या अकल्पनीय होने में शंका हो, उसे देती हुई महिला को मुनि निषेध कर दे कि मेरे लिए इस प्रकार का आहार कल्पनीय (ग्राह्य) नहीं है ।।५९।।

[१४२-१४३]—पानी के घड़े से, पत्थर की चक्की (पेषणी) से, पीठ (चौकी) से, शिलापुत्र (लोढे) से, मिट्टी आदि के लेप से, अथवा लाख आदि श्लेषद्रव्यों से, अथवा किसी अन्य द्रव्य से पिहित (ढँके, लीपे या मूंदे हुए) बर्तन का श्रमण के लिए मुंह खोल कर आहार देती हुई महिला को मुनि निषेध कर दे कि मेरे लिए यह आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है ।।६०-६१।।

विवेचन—शंकित दोष—आहार शुद्ध (सूझता) होने पर भी कल्पनीय (एषणीय, ग्राह्य या दोषरहित) अथवा अकल्पनीय के विषय में साधु शंकायुक्त हो तो उक्त शंका का निर्णय किये विना ही उसे ले लेना शंकित दोष है । यह एषणा का प्रथम दोष है । अपनी ओर से आत्मसाक्षी से पूरी गवेषणा (जांचपडताल) कर लेने के बाद लिया हुआ वह आहार यदि अशुद्ध हो तो भी वह कर्मबन्ध का हेतु नहीं होता ।[६२]

उद्भिन्न दोष—किसी वस्तु से ढँके हुए या लेप किये हुए वर्तन का मुंह खोल कर दिया हुआ आहार उद्भिन्न दोषयुक्त होता है । यह उद्गम का १२वाँ दोष है । उद्भिन्न दो प्रकार का है—पिहित उद्भिन्न और कपाट-उद्भिन्न । चपड़ी आदि से वंद किये हुए बर्तन का मुंह खोलना पिहित उद्भिन्न है, तथा बंद किवाड़ को खोलना कपाट-उद्भिन्न है । पिधान (ढक्कन) सचित्त भी होता है, अचित्त भी । पत्ते, पानी से भरे घड़े आदि का ढक्कन सचित्त है, पत्थर की शिला या चक्की का ढक्कन अचित्त होते हुए भी भारी-भरकम होता है, उसे हटाने या खोलने में हिंसा, अयतना और दाता को कष्ट होने की संभावना है । कपाट चूलिये वाला हो तो उसे खोलने में जीववध की संभावना है । अतः दोनों प्रकार की भिक्षा लेने का निषेध है ।[६३]

पाठान्तर— + उब्भिंदिया ।

६२. (क) पिण्डनिर्युक्ति गा. ५२९-५३०
(ख) देसवेयालियं (मुनि नथमल जी) पृ. २३४
(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) पृ. १८९

६३. (क) पिण्डनिर्युक्ति गा. ३४७
(ख) आचार-चूला ११९०-९१

दानार्थ–प्रकृत आदि आहार-ग्रहण का निषेध—

१४४. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा दाणट्ठा पगडं इमं ॥ ६२ ॥

१४५. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६३ ॥

१४६. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥ ६४ ॥

१४७. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६५ ॥

१४८. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा वणिमट्ठा पगडं इमं ॥ ६६ ॥

१४९. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६७ ॥

१५०. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा समणट्ठा पगडं इमं ॥ ६८ ॥

१५१. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६९ ॥

[१४४-१४५] यदि मुनि यह जान जाए या सुन ले कि यह अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य दानार्थ तैयार किया गया है, तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय होता है। (अतः मुनि ऐसा आहार) देती हुई महिला को निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है। ॥६२-६३॥

[१४६-१४७]—यदि साधु या साध्वी यह जान ले या सुन ले कि यह अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य पुण्यार्थ तैयार किया गया है; तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य होता है। (इसलिए भिक्षु ऐसा आहार) देती हुई उस स्त्री को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है।

[१४८-१४९]—यदि भिक्षु या भिक्षुणी यह जान ले या सुन ले कि यह अशन, पानक, खाद्य या स्वाद्य वनीपकों (भिखमंगों) के लिए तैयार किया गया है, तो वह भक्त-पान साधुओं के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए भिक्षु देती हुई उस महिला को निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए अग्राह्य है ।: ६६-६७ ॥

[१५०-१५१]—यदि श्रमण या श्रमणी यह जान ले कि यह अशन, पानक, खाद्य या स्वाद्य श्रमणों के निमित्त बनाया गया है तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय होता है। (इसलिए) भिक्षु आहार देती हुई, उस स्त्री को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है ।। ६८-६९ ।।

विवेचन—दानार्थ-प्रकृत आदि शब्दों का विशेषार्थ—प्रस्तुत सूत्र गाथाओं (१४४ से १५१] में दानार्थ, पुण्यार्थ, वनीपकार्थ और श्रमणार्थ तैयार किये गए आहार को ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

दानार्थ-प्रकृत-आहार—विदेश-प्रवास से लौट कर आने पर या किसी पर्व-विशेष या पुत्रजन्म आदि अवसरों पर बधाई देने आने वालों को प्रसादभाव से देने के लिए आहार तैयार करवाना दानार्थ-प्रकृत आहार कहलाता है। अथवा चिरकाल से विदेश-प्रवास से आकर साधुवाद पाने के लिए किसी श्रेष्ठी द्वारा समस्त पाखण्डियों को दान देने के लिए तैयार कराया गया भोजन भी दानार्थ प्रकृत है।[६४]

पुण्यार्थ-प्रकृत—पर्वतिथि के दिन धन्यवाद या प्रशंसा पाने की इच्छा रखे विना जो आहार केवल पुण्यलाभ की दृष्टि से बनाया जाता है, दाता जिसका स्वयं उपभोग नहीं करता, वह पुण्यार्थ-प्रकृत है।

वनीपकार्थ-प्रकृत—जो दूसरों को अपनी दीनता-दरिद्रता दिखा कर, अनुकूल बोल कर दाता की खुशामद या प्रशंसा करके पाता है, वह वनीपक कहलाता है, वह दीनतापूर्वक गिड़-गिड़ाकर भीख मांगने वाला याचक है। अथवा जो अपने-अपने विषय की अति प्रशंसा करके माहात्म्य बतला कर आशीर्वाद देकर बदले में दान पाता है, वह वनीपक कहलाता है। इस दृष्टि से अतिथि-वनीपक, कृपण-वनीपक, ब्राह्मणवनीपक, श्ववनीपक और श्रमणवनीपक ये ५ प्रकार के वनीपक स्थानांगसूत्र में बताए हैं। जैसे—अतिथिभक्त के सामने अतिथिदान की, ब्राह्मणभक्त के सामने ब्राह्मणदान की प्रशंसा करके जो दान पाता है, वह क्रमशः अतिथिवनीपक, ब्राह्मणवनीपक आदि कहलाता है। ऐसे वनीपकों के लिए तैयार किया गया भोजन वनीपकार्थ-प्रकृत है।

श्रमणार्थ-प्रकृत—जो आहार सब प्रकार के श्रमणों को दान देने के लिए तैयार किया गया हो, वह श्रमणार्थ-प्रकृत है। पांच प्रकार के श्रमण बताए गए हैं—(१) निर्ग्रन्थ, (२) सौगत, (३) तापस (जटाधारी), (४) गैरिक और आजीवक (गोशालकमतानुयायी)। साधारणतया इन

---

६४. (क) दाणट्ठप्पगडं—कोति ईसरो पवासागतो साधुसद्देण सव्वस्स आगतस्स सक्कारणनिमित्तं दाणं देति। —अ. चू., पृ. ११३

(ख) पुण्यार्थं प्रकृतं नाम साधुवादानंगीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति। —हारि. वृत्ति, पत्र १७३

(ग) परेषामात्मदुःस्थत्व—दर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्यं सा वनी प्रतीता तां पिवति, पातीति वेति वनीपः, स एव वनीपको याचकः। —स्था., ५।२०० वृत्ति।

सबको देने के निमित्त से बना हुआ आहार लेने पर निर्ग्रन्थ साधुसाध्वियों को औद्देशिक दोष लगता है। अन्यों के अन्तराय का भी वह कारण होता है।[६५]

अशन-पानक-खादिम-स्वादिम : विशेषार्थ—अशन का अर्थ है—ओदन आदि अन्न, पानक का अर्थ द्राक्षा आदि से बने हुए पेयपदार्थ है। शास्त्र में साधारण जल को प्रायः पानीय, सुरा आदि को पान और द्राक्षा, खजूर, फालसे और आदि से निष्पन्न जल को पानक कहा गया है।[६६]

औद्देशिकादि दोषयुक्त आहारग्रहणनिषेध

१५२. उद्देसियं कीयगडं पूईकम्मं च आहडं।
अज्झोयर-पामिच्चं मीसजायं च वज्जए ॥७०॥

[१५२] (साधु या साध्वी) औद्देशिक, क्रीतकृत, पूतिकर्म, आहृत, अध्यवतर (या अध्यवपूरक), प्रामित्य और मिश्रजात, (इन दोषों से युक्त) आहार न ले ॥७०॥

विवेचन—औद्देशिक आदि पदों की व्याख्या—औद्देशिक—किसी एक या अनेक विशिष्ट साधुओं के निमित्त से गृहस्थ के द्वारा बनाया हुआ आहार। यह उद्गम का दूसरा दोष है। **क्रीतकृत**—साधु के लिए खरीद कर निष्पन्न किया हुआ आहार क्रीतकृत है। यह आठवाँ उद्गम दोष है। **पूतिकर्म**—विशुद्ध आहार में आधाकर्म आहार आदि दोषों से दूषित आहार के अंश को मिला कर निष्पन्न किया गया आहार। ऐसा आहार लेने से मुनियों के चारित्र में अपवित्रता (अशुद्धि) आती है, इसलिए इसे भावपूति कहते हैं। पूतिकर्म तीसरा उद्गम-दोष है। **आहृत**—साधु या साध्वी को देने के लिए अपने घर गाँव आदि से उपाश्रय आदि स्थान में ला कर या मंगवा कर दिया जाने वाला आहार। इसे अभ्याहृत दोष भी कहते हैं। यह उत्पादना के दोषों में से एक है। **अज्झोयर : अध्यवतर या अध्यवपूरक**— अपने लिए आहार बनाते समय साधुओं का गाँव में पदार्पण या निवास जान कर और अधिक पकाया हुआ आहार **अध्यवतर** या **अध्यवपूरक** है। यह उद्गम का सोलहवाँ दोष है। **प्रामित्य**—साधु को देने के लिए कोई खाद्य पदार्थ दूसरों से उधार लेकर दिया जाने वाला आहार। यह उद्गम का नौवाँ दोष है। **मिश्रजात**—गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए तब उसके साथ-साथ साधु के लिए भी पका कर दिया जाने वाला आहार। यह उद्गम का चौथा दोष है। इसके तीन प्रकार हैं—यावदर्थिकमिश्र, पाखण्डिमिश्र और साधुमिश्र।[६७]

---

६५. (क) **श्ववनीपको यथा**—अविनाम होज्ज सुलभो गोणाईणं तणाइ आहारो।
छिच्छिकारहयाणं न हु सुलभो सुणताणं ॥
केलासभवणा एए, गुज्झगा आगया महिं।
चरंति जक्खरूवेणं, पूयाऽपूया हिताऽहिता ॥—ठा.५।२०० वृ.

(ख) श्रमणाः लोकप्रसिद्धचनुरोधतो निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिकाऽऽजीवकभेदेन पंचधा।
—दश. आ. म. मं, भा. १, पृ. ४४४

६६. दशवै. (आचारमणिमंजूषा व्याख्या) भाग १, पृ. ४३७

६७. (क) दशवै. आचारमणिमंजूषा टीका, भा. १, पृ. ४४५-४४६

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. १९०

उद्गम दोष-निवारण का उपाय

१५३. उग्गमं से य पुच्छेज्जा, कस्सऽट्ठा ? केण वा कडं ? ।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं पडिगाहेज्ज संजए ॥७१॥

[१५३] संयमी साधु (पूर्वोक्त आहारादि के विषय में शंका होने पर) उस (शंकित आहार) का उद्गम पूछे कि यह किसके लिए (या किस लिये) बनाया है ? किसने बनाया है ? (दाता से प्रश्न का उत्तर) सुनकर निःशंकित और शुद्ध (एषणाशुद्ध जान कर) आहार ग्रहण करे ॥७१॥

विवेचन—उद्गमपृच्छा करके शुद्ध आहारग्रहण का विधान—आहारग्रहण करते समय साधु को आहार के विषय में किसी प्रकार की अशुद्धि की शंका हो तो उस आहार की उत्पत्ति के विषय में दाता से पूछे कि यह आहार क्यों और किसलिए तैयार किया है ? अगर गृहस्वामी से पूर्णतया निर्णय न हो सके तो किसी अबोध बालक-बालिका आदि से पूछ कर स्पष्ट निर्णय कर ले, किन्तु शंकायुक्त आहार कदापि ग्रहण न करे। पूर्णतया निःशंकित हो जाए और उक्त आहार एषणाशुद्ध हो तो ग्रहण करे । आहार के विषय में उद्गमदोष के निवारण का उपाय इस गाथा में बताया गया है । [६८]

वनस्पति-जल-अग्नि पर निक्षिप्त आहारग्रहणनिषेध

१५४. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं बीएसु हरिएसु वा ॥७२॥

१५५. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥७३॥

१५६. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं उत्तिंग-पणगेसु वा ॥७४॥

१५७. तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥७५॥

१५८. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
अगणिम्मि* होज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥७६॥

१५९. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥७७॥

१६०. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं, तं च उस्सक्किया दए ॥७८॥

---

६८. दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. १९८

पाठान्तर—* तेउम्मि हुज्ज ।

१६१. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
दॆंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७९॥

१६२. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च ओसक्किया दए ॥८०॥

१६३. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
दॆंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८१॥

१६४. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च उज्जालिया दए ॥८२॥

१६५. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
दॆंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८३॥

१६६. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च पज्जालिया दए ॥८४॥

१६७. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
दॆंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८५॥

१६८. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च × निव्वाविया दए ॥८६॥

१६९. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
दॆंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८७॥

१७०. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं, तं च उस्सिंचिया दए ॥८८॥

१७१. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
दॆंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८९॥

१७२. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च निस्सिंचिया + दए ॥९०॥

१७३. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
दॆंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥९१॥

पाठान्तर × विज्झाविया। + उक्कड्ढिया।

१७४. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च ओवत्तिया दए ॥९२॥

१७५. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥९३॥

१७६. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च ओयारिया दए ॥९४॥

१७७. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
दें‌तियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥९५॥+

[१५४-१५५] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, पुष्पों से, बीजों से और हरित दूर्वादिकों (हरियाली) से उन्मिश्र हो, तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय (अग्राह्य) होता है, इसलिए साधु देने वाली महिला से निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मैं ग्रहण नहीं करता ॥७२-७३॥

[१५६-१५७] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य (सचित्त) पानी पर, अथवा उत्तिंग और पनक पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो, तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय होता है। अतएव भिक्षु उस देती हुई महिला दाता को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मैं ग्रहण नहीं करता ॥७४-७५॥

[१५८-१५९] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो तथा उसका (अग्नि का) स्पर्श (संघट्टा) करके दे, तो वह भक्त-पान संयतों के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई (उस महिला) को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥७६-७७॥

[१६०-१६१] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर रखा हुआ हो और उसमें (चूल्हे में) ईन्धन डाल कर (साधु को) देने लगे तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए मुनि देती हुई (उस महिला) से निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है ॥७८-७९॥

[१६२-१६३] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसमें से (चूल्हे में से) ईन्धन निकाल कर (साधु को) देने लगे, तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए

पाठान्तर +इस निशान से+इस निशान तक की १८ गाथाओं को अन्य प्रचलित प्रतियों में इन दो गाथाओं में संगृहीत किया गया है—

"एवं उस्सक्किया ओसक्किया उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिचिया निस्सिचिया ओवत्तिया ओयारिया दए ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥"

अकल्पनीय होता है। इसलिए भिक्षु देती हुई (उस स्त्री) को निषेध कर दे कि मेरे लिए इस प्रकार का आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥८०-८१॥

[१६४-१६५] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उस (अग्नि) को उज्ज्वलित (सुलगा) कर दे, तो वह भक्त-पान संयतों के लिए अकल्पनीय होता है। अतः मुनि देती हुई (उस महिला को) निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता ॥८२-८३॥

[१६६-१६७] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो तथा उसे (अग्नि को) प्रज्ज्वलित (बार-बार ईंधन डाल कर अधिक आग भड़का) कर (साधु को) देने लगे, तो वह भक्त-पान संयमीजनों के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए साधु देती हुई उस महिला को निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है ॥८४-८५॥

[१६८-१६९] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उस (अग्नि) को बुझा कर (आहार) देने लगे, तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए भिक्षु, देती हुई उस महिला को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ॥८६-८७॥

[१७०-१७१] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसमें से (बर्त्तन में से) आहार बाहर निकाल कर देने लगे, तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय होता है। अतः देती हुई (उस महिला को) साधु निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करता ॥८८-८९॥

[१७२-१७३] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसमें (बर्त्तन में) पानी का छींटा देकर (साधु को) देना चाहे, तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय (अग्राह्य) होता है। इसलिए देती हुई (उस महिला) को (साधु) निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करता ॥ ९०-९१ ॥

[१७४-१७५] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसको (पात्र को) एक ओर टेढ़ा करके (साधु को) देने लगे, तो वह भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्पनीय होता है। अतः देती हुई उस महिला को साधु स्पष्ट निषेध कर दे कि मैं ऐसे आहार को ग्रहण नहीं करता ॥ ९२-९३ ॥

[१७६-१७७] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसे (बर्त्तन को) उतार कर देने लगे तो, वह भक्त-पान संयमी साधु-साध्वियों के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए मुनि, देती हुई उस नारी को, निषेध कर दे कि मेरे लिए इस प्रकार का आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ ९४-९५ ॥

विवेचन—सचित्त वनस्पति-जल-अग्नि आदि से संस्पृष्ट आहार-ग्रहण निषेध—प्रस्तुत २४ सूत्रगाथाओं (१५४ से १७७ तक) में प्रारम्भ की ४ गाथाएँ वनस्पति और सचित्त जल से संस्पृष्ट

आहारग्रहण-निषेधक हैं, तत्पश्चात् २० गाथाएँ अग्निकाय से संस्पृष्ट आहारग्रहण का निषेध प्रतिपादित करने वाली हैं।

पुष्पादि से उन्मिश्र : व्याख्या—उन्मिश्र, एषणा का सप्तम दोष है। साधु के लिए देय अचित्त आहार में न देने योग्य सचित्त वनस्पति आदि का मिश्रण करके या सहज ही मिश्रित हो वैसा दिया जाने वाला आहार उन्मिश्र दोषयुक्त कहलाता है। जैसे—पानक में गुलाब और जाई आदि के फूल मिले हुए हों, धानी के साथ सचित्त गेहूँ आदि के बीज मिले हों अथवा पानक में दाड़िम आदि के बीज मिले हों। खाद्य-स्वाद्य भी पुष्प आदि वनस्पति से मिश्रित हो सकते हैं। इन सबसे मिश्रित आहार सचित्त-संस्पृष्ट होने से पूर्ण अहिंसक के लिए ग्राह्य नहीं है।[६९]

उत्तिग एवं पनक : अर्थ और दोष का कारण—उत्तिग का अर्थ है—कीड़ीनगर और पनक का अर्थ है—काई या लीलण-फूलण। इन दोनों पर रखा हुआ किसी भी प्रकार का आहार साधु लेता है तो उसके निमित्त से कीटिकानगरस्थ जीवों तथा काई के जीवों की विराधना होती है। इसलिए इन पर रखा हुआ आहार ग्रहण करने का निषेध किया गया है।[७०]

निक्षिप्त दोष : व्याख्या एवं प्रकार—किसी भी प्रकार के सजीव पृथ्वीकायादि पर रखा हुआ एवं साधु को दिया जाने वाला आहारादि पदार्थ निक्षिप्त दोषयुक्त होता है। निक्षिप्त दो प्रकार का होता है—अनन्तरनिक्षिप्त और परम्परनिक्षिप्त। सचित्त जल में नवनीत आदि का रखना अनन्तरनिक्षिप्त है और चींटी आदि के लग जाने के डर से जलपात्र में घृत, दधि आदि का बर्तन रखना परम्परनिक्षिप्त है। जहाँ जल, अग्नि एवं वनस्पति आदि के आहार का सीधा सम्बन्ध हो, वहाँ वह अनन्तरनिक्षिप्त और जहाँ आहार के बर्तन के साथ जल आदि का सम्बन्ध एक या दूसरे प्रकार से होता हो, वहाँ वह आहार परम्परनिक्षिप्त दोषयुक्त है। 'निक्षिप्त' ग्रहणैषणा दोष है।[७१]

संघट्टित आदि दोष : अग्निकाय-विराधनाकारक—(१) **संघट्टिया**—साधु को भिक्षा दूं, उतने समय में रोटी जल न जाए, ऐसा सोच कर तवे पर से रोटी को उलट कर या ईंधन को हाथ, पैर आदि से छूकर आहार देना संघट्टित दोष है। (२) **उस्सक्किया**—भिक्षा दूं, इतने में चूल्हा बुझ न जाए, इस विचार से उसमें ईंधन डाल कर आहार देना उत्ष्वस्क्य दोष है। **ओसक्किया**—भिक्षा दूं, इतने में कोई वस्तु जल न जाए, इस विचार से चूल्हे में से ईंधन निकाल कर आहार देना अवष्वस्क्य दोष है। (४) **उज्जालिया**—नये सिरे से झटपट चूल्हा सुलगाकर ठंडे आहार को गर्म करके देना उज्ज्वलित दोष है, (५) **पज्जालिया**—बार-बार चूल्हे को प्रज्वलित कर आहार बना कर देना प्रज्वलित दोष है। (६) **निव्वाविया**—भिक्षा दूं, इतने में कोई चीज उफन न जाए, इस डर से चूल्हा बुझा कर आहार देना, निर्वापित दोष है। (७) अग्नि पर रखे हुए एवं अधिक भरे हुए पात्र में से आहार बाहर निकल न जाए, इस भय से बाहर निकालकर आहार देना उत्सिचन दोष है।

---

६९. (क) जिनदास. चूर्णि, पृ. १८२, (ख) अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ११४

७०. (क) उत्तिंगो कीडियानगरं। पणओ उल्ली। —अ. चू., पृ. ११४

(ख) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. २०१

७१. निक्खित्तं अणंतरं परम्परं च। —अ. चू., पृ. १२४

(८) निस्सिचिया—उफान के डर से पानी का छींटा अग्नि पर रखे वर्तन में देकर आहार देना निःसिचन दोष है। (९) ओवत्तिया—अग्नि पर रखे पात्र को एक ओर झुका कर आहार देना अपवर्त्तित दोष है। (१०) ओयारिया—साधु को भिक्षा दूँ, इतने में जल न जाए[७२] इस विचार से अग्नि पर रखे वर्तन को नीचे उतार कर आहार देना अवतारित दोष है।

अस्थिर शिलादि-संक्रमण करके गमननिषेध और कारण

*१७८. होज्ज कट्ठं सिलं वा वि इट्टालं वा वि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए तं च होज्ज चलाचलं ॥९६॥

१७९. न तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव सव्विंदियसमाहिए ॥९७॥

[१७८-१७९] (यदि) कभी (वर्षा आदि के समय में) काठ (लक्कड़), शिला या ईंट संक्रमण (मार्ग पार करने) के लिए रखे (स्थापित किये) हुए हों और वे चलाचल (अस्थिर) हों, तो सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु उन पर से होकर न जाए। इसी प्रकार प्रकाशरहित (अंधेरे) और पोले (अन्तःसार-रहित) (मार्ग) से भी न जाए। भगवान् ने उसमें (ऐसे मार्ग से गमन करने में) असंयम देखा है ॥९६-९७॥

विवेचन—मार्गविवेक—वर्षाऋतु में अतिवृष्टि के कारण कई बार रास्ते में गड्ढे पड़ जाते हैं, अथवा छोटा तथा सूखा नाला पानी से भर जाता है, तब ग्रामीण लोग उसे पार करने के लिए लकड़ी का बड़ा लट्ठा, शिला, पत्थर या ईंट रख देते हैं। ये प्रायः अस्थिर होते हैं। उनके नीचे कई जीव आश्रय ले लेते हैं, अथवा वे सचित्त जल पर रखे होते हैं। उन पर पैर रख कर जाने से उन जीवों की हिंसा होने की सम्भावना है, अथवा पैर फिसल जाने से गड्ढे में गिर पड़ने की सम्भावना है। इस प्रकार परविराधना और आत्मविराधना, दोनों असंयम के हेतु हैं। इस प्रकार अंधेरे या पोले मार्ग से जाने में भी दोनों प्रकार के असंयम होने की सम्भावना है। इसलिए इस प्रकार संक्रमण कर गमन करने का निषेध किया गया है।[७४]

---

७२. (क) जिन. चूर्णि, पृ १८२ (ख) अ. चू., पृ. ११५ (ग) हारि. वृत्ति, पत्र १७५

* पाठान्तर—सूत्रगाथा १७८ से लेकर १८२ तक पांच सूत्रगाथाओं के स्थान में अगस्त्य चूर्णि में ये तीन गाथाएँ मिलती हैं—

गंभीरं झुसिरं चेव सव्विंदियसमाहिते।
णिस्सेणी फलगं पीठं उस्सवेत्ताण आरुहे ॥१॥
मंचं खीलं च पासायं समणट्ठाए दायगे।
दुरूहमाणे पवडेज्जा हत्थं पायं विलूसए ॥२॥
पुढविक्कायं विहिंसेज्जा, जे वा तण्णिस्सिया जगा।
तम्हा मालोहडं भिक्खं न पडिगाहेज्ज संजते ॥३॥

७४. दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ४५८

'मालापहृत' दोषयुक्त आहार अग्राह्य

१८०. निस्सेणिं फलगं पीढं उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठाए व दावए ॥९८॥

१८१. दुरूहमाणी पवडेज्जा, हत्थं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे विहिंसेज्जा, जे य तन्निसिया जगा ॥९९॥

१८२. एयारिसे महादोसे जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं न पडिगेण्हंति संजया ॥१००॥

[१८०-१८१-१८२] यदि आहारदात्री श्रमण के लिए निसैनी, फलक (पाटिया) या पीठ (चौकी) को ऊँचा करके मंच (मचान), कीलक (खूंटी, खीला या स्तम्भ) अथवा प्रासाद पर चढ़े, (और वहाँ से भक्त-पान लाए तो साधु या साध्वी उसे ग्रहण न करे); क्योंकि निसैनी आदि द्वारा दु:खपूर्वक चढ़ती हुई (वह स्त्री) गिर सकती है, उसके हाथ-पैर आदि टूट सकते हैं। (उसके गिरने से नीचे दब कर) पृथ्वी के जीवों की तथा पृथ्वी के आश्रित रहे हुए त्रस जीवों की हिंसा हो सकती है। अत: ऐसे महादोषों को जान कर संयमी महर्षि मालापहृत (-दोषयुक्त) भिक्षा नहीं ग्रहण करते ॥९८-९९-१००॥

विवेचन—मालापहृत : स्वरूप और प्रकार—प्राचीनकाल में नमी, सीलन अथवा जीव-जन्तु और चींटी, चूहा, दीमक आदि से बचाने के लिए खाद्य-पदार्थों को मंच या पडछित्ती आदि पर, अथवा किसी ठंडे बर्तन या कोठी आदि में या भूमिगृह या तहखाने में रखते थे, इस प्रकार के विषम स्थान में कष्ट से पहुँच कर लाया हुआ आहार मालापहृत दोषयुक्त है। इसके तीन प्रकार हैं—(१) ऊर्ध्व-मालापहृत, (२) अधो-मालापहृत और (३) तिर्यग्-मालापहृत। यहाँ केवल ऊर्ध्वमालापहृत का उल्लेख है। पिछली सूत्रगाथाओं में अधोमालापहृत और तिर्यग्मालापहृत दोष की झाँकी **'गंभीरं झुसिरं चेव'** इन दो पदों से दी है। प्रस्तुत गाथाओं में नि:श्रेणी, फलक और पीठ ये तीन मंच और प्रासाद पर चढ़ने के साधन हैं और मंच आदि तीन आरोह्य स्थान हैं।

मंचं : दो अर्थ—(१) शयन करने की खाट (मांचा) और (२) चार लट्ठों को बाँध कर बनाया हुआ मचान, अथवा लटान या टांड।

कीलं : तीन अर्थ—(१) खीला या खूंटी, (२) खम्भा—स्तम्भ और (३) भूमि के साथ लगे हुए खम्भे पर रखा हुआ काष्ठ फलक।[७५]

---

७५. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमल जी) पृ. २४१-२४२
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्माराम जी) पृ. २०५
(ग) एतं भूमिघरादिसु अहेमालोहडं। मंचो सयणीयं चडणमंचिका वा। खीलो भूमिसमाकोट्टितं कट्ठं। पासादो समालको घरविसेसो। एताणि समणट्ठाए दाया चडेज्जा। —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ११७

आमक वनस्पति-ग्रहण निषेध—

१८३. कंदं मूलं पलंबं वा आमं छिन्नं च सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च आमगं परिवज्जए ॥१०१॥

[१८३] (साधु-साध्वी) अपक्व कन्द, मूल, प्रलम्ब (ताड़ आदि लम्बा फल) छिला हुआ पत्ती का शाक, घीया (लौकी) और अदरक ग्रहण न करे ॥ १०१ ॥

विवेचन—आमक कन्द आदि : अर्थ और अग्राह्यता का कारण—आमक—कच्चे (अपक्व) कन्द—सूरण आदि। मूल—मूला आदि। फल—आम आदि कच्चे फल। सन्निरं—वथुआ, चंदलिया, पालक आदि का छिला हुआ पत्तीवाला साग (पत्रशाक)। तुम्बाकं—जिसकी त्वचा म्लान हो गई हो, किन्तु अंदर का भाग अम्लान हो, वह तुम्बाक कहलाता है। हिन्दी में इसे कद्दू, घीया, लौकी या राम-तरोई कहते हैं। बंगला में लाऊ कहते हैं। शृंगबेर—अदरक। ये जब तक शास्त्रपरिणत न हों, तब तक भले ही कटे हुए या टुकड़े किये हुए हों, सचित्त कहलाते हैं। इस कारण अग्राह्य हैं।[७९]

सचित्त रज से लिप्त वस्तु भी अग्राह्य

१८४. तहेव सत्तु-चुण्णाइं कोल-चुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं, अन्नं वा वि तहाविहं ॥१०२॥

१८५. विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१०३॥

[१८४-१८५] इसी प्रकार जौ आदि सत्तु का चूर्ण (चून), बेर का चूर्ण, तिलपपड़ी, गीला गुड़ (राब), पूआ तथा इसी प्रकार की अन्य (लड्डू, जलेबी आदि) वस्तुएँ, जो दूकान में बेचने के लिए, बहुत समय से खुली रखी हुई हों और (सचित्त) रज से चारों ओर स्पृष्ट (लिप्त) हों, तो साधु देती हुई उस स्त्री को निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करता ॥ १०२-१०३ ॥

विवेचन—सचित्त रज से भरी बाजारू वस्तु-ग्रहण निषेध—प्रस्तुत दो सूत्र गाथाओं (१८४-१८५) में बाजार में बिकने के लिए हलवाइयों आदि की दूकानों पर अनेक दिनों से खुले में रखी हुई एवं रज से लिपटी वस्तुओं के लेने का निषेध किया गया है। इन्हें लेने का निषेध इसलिए किया गया है कि ऐसी वस्तुओं पर केवल सचित्त रज ही नहीं, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं, कीड़े और चींटियाँ चारों ओर चढ़ी होती हैं, वे मर भी जाती हैं, कई बार बहुत दिनों से पड़ी हुई गीली खाद्य वस्तुओं में लीलण-फूलण जम जाती है। वे अन्दर से सड़ जाती हैं, तो उनमें लट, धनेरिया आदि कीड़े पड़ जाते

---

७९. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. २०८ (ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. ५५
(ग) 'सन्निरं' पत्तसागं पत्रशाकम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १७६।
(घ) 'तुंबागं जं तयाए मिलाणममिलाणं अंतो त्वम्लानम्।' —अ. चूर्णि, पृ. १८४
(ङ) 'अलाबुः कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्तुला।' —शालिग्राम निघण्टु, पृ. ८९०

हैं। ऐसी गंदी और सड़ीगली चीजों का सेवन करने से हिंसा के अतिरिक्त साधु-साध्वी को अनेक बीमारियाँ होने की सम्भावना भी है।

'सत्तु-चुण्णाइं' आदि पदों का अर्थ—**सत्तुचुण्णाइं**—सत्तू और चून, सत्तू। **कोलचुण्णाइं**—बेर का चूर्ण अथवा सत्तू। **सक्कुलि**—(१) तिलपपड़ी, (२) सुश्रुत के अनुसार—शष्कुली-कचौरी। **पसढं**—(१) **प्रसह्य**—अनेक दिनों तक रखी हुई होने से प्रकट या प्रकट (खुले) में रखे हुए, (२) **प्रशठ**—बहुत दिनों से रखे हुए होने से सड़े हुए, (३) **प्रसृत**—बहुत दिनों तक न बिकने के कारण यों ही पड़े हुए।[७७]

बहु-उज्झितधर्मा फल आदि के ग्रहण का निषेध

१८६. बहु-अट्ठियं पोग्गलं☐ अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अत्थियं+ तेंदुयं बिल्लं उच्छुखंडं च सिंबलिं ॥१०४॥

१८७. अप्पे सिया भोयणजाए बहु उज्झियधम्मए।※
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१०५॥

[१८६-१८७] बहुत अस्थियों (बीजों या गुठलियों) वाला पुद्गल (फल), बहुत-से कांटों वाला अनिमिष (अनन्नास) फल, आस्थिक (सेहजन की फली), तेन्दु, बेल, (बिल्वफल), गन्ने के टुकड़े (गंडेरियाँ) और सेमली की फली (अथवा फली); जिनमें खाद्य (खाने का) अंश कम हो और त्याज्य अंश बहुत अधिक हो, (अर्थात् फेंकना अधिक पड़े) (—उन सब फल आदि को) देती हुई स्त्री को मुनि स्पष्ट निषेध कर दे कि इस प्रकार का (फल आदि आहार) मेरे लिए ग्रहण करना योग्य नहीं है ॥१०४-१०५॥

विवेचन—खाद्यांश कम, त्याज्यांश अधिक वाले फलादि अग्राह्य—प्रस्तुत दो सूत्रगाथाओं में बहुत कांटों वाले, बहुत-से बीजों या गुठलियों वाले तथा अन्य फलियों आदि अग्राह्य पदार्थों का उल्लेख किया गया है, जिनमें खाने का भाग कम और फेंकने का भाग अधिक हो।

बहुअट्ठियं आदि पदों का अर्थ—जैन साधु-साध्वियों के हिंसा का तीन करण तीन योग से त्याग होता है। वे ऐसी वस्तुओं का उपयोग कतई नहीं करते हैं, जो त्रस जीवों के वध से निष्पन्न हो।

---

७७. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २१०
(ख) "सत्तुया जवातिधाणाविकारो, 'चुण्णाइं' अण्णे पिट्ठविसेसा।" —अ. चू., पृ. ११७
'सक्तुचूर्णान्'—सक्तून्। —हारि. टीका., पत्र १७६
(ग) 'कोलाणि—बदराणि, तेसिं चुण्णो—कोलचुण्णाणि।' —जिन. चूर्णि., पृ. १८४
'कोलचूर्णान्—बदरसक्तून्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १७६
(घ) 'सक्कुली तिलपप्पडिया' —अग. चूर्णि, पृ. ११७ (ङ) सुश्रुत २९७
(च) 'प्रसह्य'—अनेकदिवसस्थापनेन प्रकटम्। —हा. वृ., पत्र १७६
'पसढमिति पच्चक्खातं तद्दिवसं विक्कतं व गतं। अ. चू., पृ. ११८
'तं पसढं नाम जं बहुदेवसियं दिणे-दिणे विक्कायते तं। —जि. चू., पृ. १८४

पाठान्तर—☐पुग्गलं। + अत्थियं। ※ बहु-उज्झण-धम्मिए।

त्रस जीवों के वध से निष्पन्न वस्तुओं का उपयोग तो दूर रहा, वे ऐसी वस्तु का उपयोग भी नहीं करते जिसमें पहले, तत्काल, पीछे या लेते समय किसी भी एकेन्द्रिय जीव की विराधना हो । इसलिए यहाँ जो अस्थि का अर्थ हड्डी करके तथा कांटे का अर्थ मछली का कांटा करके इस पाठ का मांस-मत्स्य-परक अर्थ करते हैं वह कथमपि संगत नहीं है । निघण्टुकोष आदि के अनुसार इन शब्दों का अर्थ वनस्पतिपरक होता है और यही प्रकरणसंगत है । यथा—**बहु-अट्ठियं पोग्गलं**—जिनमें बहुत-से बीज या गुठलियाँ हों, ऐसे फलों का पुद्गल (भीतर का गूदा) । निघण्टु में 'सीताफल' का नाम 'बहुबीजक' भी है । कोष में भी फल के बीज के अर्थ में 'अस्थि' शब्द का प्रयोग हुआ है । **अणिमिसं वा बहुकंटयं**—बहुत कांटों वाला अनन्नास फल, अथवा अनिमिष का अर्थ अनन्नास और बहुकंटयं का अर्थ—बहुत कांटों वाला कटहल । कटहल के छिलके में सर्वत्र कांटे ही कांटे होते हैं । दोनों बहुकण्टक हैं । अनन्नास में कांटे कम और तीखे होते हैं, जबकि कटहल के छिलके में बहुत कांटे होते हैं ।

अच्छियं : अत्थियं : दो रूप : दो अर्थ—(१) आक्षिकं—अक्षिक एक प्रकार का रंजक फल होता है । आक्षिकी एक वेल भी होती है, जिसका फल कफ-पित्तनाशक, खट्टा, एवं वातवर्द्धक होता है । **(२) अस्थिक**—वृत्ति के अनुसार बहुत बीजक वनस्पति के प्रकरण में, भगवती और प्रज्ञापना में अस्थिक शब्द प्रयुक्त हुआ है । इसे हिन्दी में अगस्तिया, अगथिया, हत्थिया या हदगा कहते हैं । इसके फूल और फली होते हैं । **तेंदुयं : तिन्दुक : विशेषार्थ**—तेन्दू का अर्थ टींबरू होता है । यह फल पकने पर नींबू के समान पीले रंग का होता है । पूर्वी बंगाल, बर्मा आदि के जंगलों में पाया है । **सिंबलिं : दो अर्थ**—(१) देशी नाममाला के अनुसार **शाल्मलि** (सेमल), (२) सिंबलि—सींगा (फली) अथवा वल्ल (वाल) आदि की फली ।[७८]

---

७८. (क) दशवैकालिक (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ४६५-४६६
(ख) दशवै. (संतबालजी), पृ. ५६ (ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २१२
(घ) "सीताफलं गण्डमात्रं वैदेहीवल्लभं तथा ।
कृष्णबीजं चाग्रिमाख्यमातृप्यं बहुबीजकम् ॥" —निघण्टुकोष
(ङ) 'फलबीजे पुमानष्ठिः' । —शब्दकल्पद्रुम
(च) अणिमिस त्रि. (अनिमेष)—पलक न मारा हुआ और वनस्पतिविशेष ।
—अर्धमागधी कोष, प्रथम भाग, पृ. १८१
(छ) 'अत्थिकं'—अस्थिकवृक्षफलम् ।
(ज) शालिग्रामनिघण्टु भू., पृ. ५२३ । (झ) 'अच्छियं ।' —जिन. चूर्णि, पृ. १८४
(ञ) पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च वातलं चाक्षिकीफलम् । —चरकसूत्र २७।१६०
(ट) तिंदुयं—टिंवरुयं ।—जि. चू., पृ. १८४ (ठ) नालंदा विशाल शब्दसागर
(ड) सामरी-सिंवलिए,—सामरी शाल्मलिः । —देशीनाममाला ८।२३
(ढ) 'सिंवलि—सिंगा ।' —जि. चू., पृ. १८४ (ण) "शाल्मलिं वा वल्लादिफलिम् ।"

बहु-उज्झन-धर्मक—जिनमें खाद्यांश कम हो और त्याज्यांश अधिक हो ऐसे फल या फलियाँ। ये सब पक्व होने पर भी ग्राह्य नहीं होते।[७८]

पान-ग्रहण-निषेध-विधान

१८८. तहेवुच्चावयं पाणं अदुवा वारधोवणं।
संसेइमं चाउलोदगं अहुणाधोयं विवज्जए ॥१०६॥

१८९. जं जाणेज्ज चिराधोयं मईए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे ॥१०७॥

१९०. अजीवं परिणयं नच्चा पडिगाहेज्ज संजए।
अह संकियं भवेज्जा आसाइत्ताण रोयए ॥ १०८ ॥

१९१. "थोवमासायणट्ठाए हत्थगम्मि दलाहि मे।"
मा मे अच्चंबिलं पूइं नालं तण्हं विणेत्तए ॥ १०९ ॥

१९२. तं च अच्चंबिलं पूइं नालं तण्हं विणेत्तए।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ११० ॥

१९३. तं च होज्ज अकामेणं विमणेण पडिच्छियं।
तं अप्पणा न पिबे, नो वि अन्नस्स दावए ॥ १११ ॥

१९४. एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठवेज्जा परिठप्प पडिक्कम्मे ॥ ११२ ॥

[१८८] इसी प्रकार (जैसे अशन के विषय में कहा है, वैसे ही) उच्चावच (अच्छा और बुरा) पानी, अथवा गुड़ के घड़े का धोवन, आटे का धोवन, चावल का धोवन, इनमें से यदि कोई तत्काल का धोया हुआ (धौत) हो, तो मुनि उसे ग्रहण न करे ॥१०६॥

[१८९-१९०] यदि अपनी मति और दृष्टि से, पूछ कर अथवा सुन कर जिस धोवन को जान ले कि यह बहुत देर का धोया हुआ है तथा निःशंकित हो जाए तो जीवरहित (प्रासुक) और परिणत (शस्त्रपरिणत) जान कर संयमी मुनि उसे ग्रहण करे। यदि यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नहीं ? इस प्रकार की शंका हो जाए, तो फिर उसे चख कर निश्चय करे ॥१०७-१०८॥

[१९१] (चख कर निश्चय करने के लिए वह दाता से कहे—) 'चखने के लिए थोड़ा-सा यह पानी मेरे हाथ में दो।' यह पानी बहुत ही खट्टा, दुर्गन्धयुक्त है और मेरी तृषा (प्यास) बुझाने में असमर्थ होने से मेरे लिए उपयोगी न हो तो मुझे ग्राह्य नहीं ॥१०९॥

७९. "...एताणि सत्थो व हताणि वि अन्नंमि समुदाणे फासुए लब्भमाणे ण गिण्हियव्वाणि।"
—जिन. चूर्णि, पृ. १८४-१८५

[१९२] (चखने के बाद प्रतीत हो कि—) यह जल बहुत ही खट्टा, दुर्गन्धयुक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ है, तो देती हुई उस महिला को मुनि निषेध कर दे कि इस प्रकार का धोवन-जल मैं ग्रहण नहीं कर सकता ॥११०॥

[१९३] यदि वह धोवन-पानी अपनी अनिच्छा से अथवा अन्यमनस्कता (असावधानी) से ग्रहण कर लिया गया हो तो, न तो उसे स्वयं पीए और न ही किसी अन्य साधु को पीने को दे ॥१११॥

[१९४] वह (उस धोवन को लेकर) एकान्त में जाए, वहाँ अचित्त भूमि को देख (प्रतिलेखन) करके यतनापूर्वक उसे प्रतिष्ठापित कर दे (परिठा दे)। परिष्ठापन करने के पश्चात् स्थान में आकर वह (मुनि) प्रतिक्रमण करे ॥११२॥

विवेचन—जल के अग्रहण, ग्रहण और परिष्ठापन की विधि—मुनि को प्यास बुझाने के लिए अचित्त पानी की आवश्यकता होती है। सचित्त पानी वह ले नहीं सकता। आचारांगसूत्र में २१ प्रकार का प्रासुक और एषणीय पान साधु-साध्वियों के लिए ग्राह्य बताया है, किन्तु कोई गृहस्थ दाता चावल, आटे या गुड़ आदि के घड़े का तत्काल धोया हुआ पानी साधु-साध्वी को देना चाहे तो उसे तब तक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श में परिवर्तन तथा शस्त्रपरिणत न जान कर सचित्त समझ कर न ले। किन्तु अपनी बुद्धि एवं ऊहापोह एवं पूछताछ करके देख-सुन कर यह निश्चय कर ले कि यह धोवन काफी देर का धोया हुआ है तब वह उसे ग्रहण कर ले। किन्तु कदाचित् वह धोवन अत्यन्त खट्टा, बदबूदार एवं प्यास बुझाने में अनुपयोगी हो और असावधानी से, अनिच्छा से ले लिया गया हो, तो न स्वयं पीए और न दूसरों को पीने को दे। किन्तु एकान्त में विधिपूर्वक उसका परिष्ठापन कर दे।

आचारांग में वर्णित धोवन—आम, अंबाडग, कपित्थ (कैथ), बिजौरे आदि का वर्णादि से परिणत धोवन लेने का आचारांग में तथा मूलाचार में विधान है।[८०]

'उच्चावयं' आदि कठिन शब्दों के अर्थ—उच्चावयं : उच्चावच : शब्दशः अर्थ है—ऊँच और नीच। जलप्रकरण के सन्दर्भ में इनका अर्थ होगा—अच्छा (श्रेष्ठ) और बुरा (निकृष्ट)। अर्थात्—जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अच्छे (सुन्दर) हों, वह उच्च और जिसके वर्णादि श्रेष्ठ न हों, वह अवचपान कहलाता है। जैसे—द्राक्षा का धोवन उच्च जल है और जो अत्यन्त खट्टा, दुर्गन्धयुक्त, अति स्निग्धतायुक्त तथा वर्ण से भी असुन्दर हो, वह अवच है, जो साधु के लिए अग्राह्य है। उच्चावच का अर्थ 'नाना प्रकार' भी होता है। **वार-धोवणं**—'वार' घड़े को कहते हैं। गुड़, राब आदि से लिप्त

---

८०. (क) आचारांगसूत्र

(ख) तिल-तंडुल-उसणोदय-चणोदय-तुसोदय-अविद्धत्थं।
अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जा ॥ —मूलाचार (बट्टकेर आचार्यकृत), गा. ४७३।

घड़े का धोवन वार-धोवन है। **संसेइमं : दो अर्थ**—(१) आटे का धोवन, (२) उबाली हुई भाजी या साग जिस ठंडे जल से सींचा जाए, वह धोवन।[८१]

अहुणाधोय : अधुनाधौत—तत्काल का धोवन, जिसका स्वाद न बदला हो, जिसकी गन्ध न बदली हो, जिसका रंग न बदला हो, विरोधी शस्त्र द्वारा जो अचित्त न हुआ हो, वह अप्रासुक (सजीव) होने से मुनि के लिए अग्राह्य है। **चिराधोयं : चिरधौत**—जो प्रासुक (निर्जीव) हो गया हो, वह चिरधौत जल मुनि के लिए ग्राह्य है। अर्थात्—जो वर्णादि परिणत (परिणामान्तर प्राप्त) हो गया हो। परम्परा के अनुसार जिस धोवन को अन्तर्मुहूर्त काल न हुआ हो, वह ग्राह्य नहीं है।[८२]

परिष्ठापनयोग्य धोवन—जो आरनाल आदि का अत्यन्त अम्ल (खट्टा), देर तक रखा रहने से दुर्गन्धयुक्त हो और जिससे प्यास न बुझे, ऐसा धोवन ग्रहण नहीं करना चाहिए। कदाचित् अति भक्तिवश किसी श्रावक ने दे दिया हो या साधु ने उतावली में ले लिया हो, तो उस धोवन को न स्वयं पीए, न ही दूसर साधुओं को पिलाए, किन्तु एकान्त निरवद्य अचित्त स्थान में यतनापूर्वक तीन वार वोसिरे-वोसिरे कह कर परिष्ठापन कर दे और वाद में स्थान में आकर ईर्यापथिक की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—**"परिठप्प पडिक्कमे।"**

तण्हं विणित्तए नालं—तृषा-निवारण करने में असमर्थ, प्यास बुझाने में अयोग्य।[८३]

परिभोगैषणा-विधि

भोजन करने की आपवादिक विधि

१९५. सिया य गोयरग्गगओ इच्छेज्जा परिभोत्तुयं।□
※कोट्ठगं भित्तिमूलं वा पडिलेहित्ताण फासुयं ॥११३॥

---

८१. (क) उच्चं वर्णाद्युपेतं द्राक्षापानादि, अवचं वर्णादिहीनं पूत्यारनालादि। —हा. वृ., पत्र १७७
(ख) उच्चावयं अणेगविधं—वण्ण-गंध-रस-फासेहिं हीण-मज्झिममुत्तमं। —अ. चू., पृ. ११८
(ग) 'सो य गुल-फाणितादि भायणं, तस्स धोवणं वारधोवणं।' —जिन. चू., पृ. १८५
(घ) 'संस्वेदजं पिष्टोदकादि।' —हारि. वृत्ति, पत्र १७७
(ङ) जम्मि किंचि सागादी संसेदेत्ता सित्तोसित्तादि कीरति तं संसेइमं।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ११९

८२. (क) ....अहुणाधोयं अणंबिलं अव्वोक्कंतं अपरिणयं अविद्धत्थं अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिग्गाहिज्जा। —आचा. चू., १।९९
(ख) 'आउक्कायस्स चिरेण परिणामो' त्ति मुद्दियापाणगं पक्खित्तमेत्तं बालगे वा धोयमेत्ते, सागे वा पक्खित्तमेत्ते, अभिणवधोतेसु चाउलेसु।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ११९
(ग) ....अह पुण एवं जाणेज्जा चिराधोयं अंबिलं वोक्कंतं, परिणतं विद्धत्थं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा। —आचारांग. चू., १।९९
(घ) दशवै. (आचारमणिमंजूषा) भा. १, पृ. ४६८

८३. (क) अचित्तं नाम जं सत्थोवहयं अचित्तं। —जि. चू., पृ. १८६
(ख) परिट्ठवेऊण उवस्सयमागंतूण ईरियावहियाए पडिक्कमेज्जा। —जि. चू., पृ. १८६-१८७

पाठान्तर—□ परिभुत्तुं। ※ कुट्ठगं।

१९६. अणुन्नवेत्तु+ मेहावी पडिच्छन्नम्मि संवुडे।
हत्थगं संपमज्जित्ता तत्थ भुंजेज्ज संजए ॥११४॥

१९७. तत्थ से भुंजमाणस्स अट्ठियं कंटओ सिया।
तण-कट्ठ-सक्करं वा वि, अन्नं वा वि तहाविहं ॥११५॥

१९८. तं उक्खिवित्तु न णिक्खिवे, आसएण न छड्डए।
हत्थेण तं गहेऊण एगंतमवक्कम्मे ॥११६॥

१९९. एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठवेज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कम्मे ॥११७॥

[१९५-१९६] गोचराग्र के लिये गया हुआ भिक्षु कदाचित् (ग्रहण किये हुए आहार का) परिभोग (सेवन) करना चाहे तो वह मेधावी मुनि प्रासुक कोष्ठक या भित्तिमूल (भींत के निकटवर्ती स्थान) का अवलोकन (प्रतिलेखन) कर, (उसके स्वामी या अधिकारी की) अनुज्ञा (अनुमति) लेकर किसी आच्छादित (अथवा छाये हुए) एवं चारों ओर से संवृत स्थल में अपने हाथ को भलीभांति साफ करके वहाँ भोजन करे ॥११३-११४॥

[१९७-१९८] उस (पूर्वोक्त विशुद्ध) स्थान में भोजन करते हुए (मुनि के आहार में) गुठली (या वीज), कांटा, तिनका, लकड़ी का टुकड़ा, कंकड़ या अन्य कोई वैसी (न खाने योग्य) वस्तु निकले तो उसे निकाल कर न फेंके, न ही मुंह से थूक कर गिराए; किन्तु (उसे) हाथ में लेकर एकान्त में चला जाए ॥११५-११६॥

[१९९] और एकान्त में जाकर अचित्त (निर्जीव) भूमि देख (प्रतिलेखन) कर यतनापूर्वक उसे परिष्ठापित कर दे। परिष्ठापन करने के बाद (अपने स्थान में आकर) प्रतिक्रमण करे ॥११७॥

विवेचन—सामान्य विधि और आपवादिक विधि—सामान्यतया साधु या साध्वी को भिक्षाचर्या करने के पश्चात् उपाश्रय या अपने स्थान में आकर ही आहार करना चाहिए; किन्तु यदि कोई मुनि दूसरे गाँव में या महानगर के ही दूरवर्ती उपनगर या मोहल्ले में भिक्षा लेने गया हो, वहाँ अधिक विलम्ब होने के कारण बालक, वृद्ध या रुग्ण अथवा तपस्वी आदि किसी को किसी कारणवश अत्यन्त भूख या प्यास लगी हो तो वह उपाश्रय में आने से पूर्व ही आहार कर सकता है। यह भिक्षा-प्राप्त आहार के परिभोग की आपवादिक विधि है। किन्तु इस प्रकार से आपवादिक रूप में आहार करने वाले साधु के लिए यहाँ विधि वताई गई है—वह पहले तो उस गाँव में कोई साधु उपाश्रय में हो तो वहाँ जाकर आहार करे। ऐसा न हो तो कोई एकान्त कोठा (कमरा) अथवा दीवार के पास या कोने में कोई स्थान चुन ले, उसे अच्छी तरह देखभाल ले। अपने रजोहरण से साफ कर ले। आहार के लिए उपयुक्त स्थान वही माना गया है, जो ऊपर से छाया गया हो और चारों ओर से आवृत हो किन्तु प्रकाश वाला हो।[८४]

पाठान्तर—+ अणुन्नवित्तु।

८४. (क) जिनदासचूर्णि, पृ. १८७ (ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २२२

'कोट्ठगं' आदि शब्दों के भावार्थ—कोष्ठकं—(१) प्रकोष्ठ—कमरा, (२) शून्यगृह आदि। **भित्तिमूल**—(१) मठ आदि की भित्ति का मूल, (२) दीवार का कोना, (३) भित्ति का एक देश, (४) भित्ति का पार्श्ववर्ती भाग, (५) भींत के निकट, (६) दो घरों का मध्यवर्ती भाग। **पडिच्छन्नम्मि संवुडे**—(१) जिनदासचूर्णि के अनुसार ये दोनों शब्द स्थान के विशेषण हैं, अर्थ है—ऊपर चादर, चंदोवा आदि से या तृण आदि से छाये हुए एवं संवृत—चटाई आदि से चारों ओर से ढँके हुए या बन्द स्थान में, (२) प्रतिच्छन्न—ढँके हुए, उक्त कोष्ठक आदि में, संवृत—उपयोगयुक्त होकर। **हत्थगं संपमज्जित्ता : तीन अर्थ**—(१) 'हस्तकं' शब्द द्वितीयान्त होने से हाथ को सम्यक् प्रकार से साफ करके। (२) हस्तक अर्थात्—मुखवस्त्रिका या मुंहपत्ती। (३) गोच्छक या पूंजणी-(प्रमार्जनिका) से प्रमार्जन करके।[८५]

स्थान की अनुज्ञा विधि—प्रस्तुत गाथा में 'अणुन्नवेत्तु' शब्द है—उसका अर्थ होता है—अनुज्ञा (अनुमति) लेकर।[८६]

'अट्ठियं' आदि शब्दों के विशेषार्थ—अट्ठियं : तीन अर्थ—(१) गुठली, (२) बीज, (३) हड्डी। **कंटगं**—कांटा। **सक्करं**—कंकर।[८७]

परिष्ठापन विधि—अगर साधु के भोजन में बीज, गुठली आदि निकलें तो उन्हें सचित्त अशस्त्रपरिणत समझ कर न खाए तथा कांटा, कंकर, काष्ठ का टुकड़ा, तिनका आदि निकले तो उसे खाने से पेट में पीड़ा हो सकती है, इसलिए उसे न खाए, किन्तु दूर से ऊपर उछाल कर न फेंके, न मुंह से उसे थूक कर गिराए, दोनों प्रकार से अयतना होती है। इसलिए शास्त्रकार ने पूर्ववत् (अत्यन्त खट्टा धोवन परिठाने की विधि के समान) इसके परिष्ठापन की विधि बताई है। इसके विधिपूर्वक परिष्ठापन के पश्चात् साधु या साध्वी अपने स्थान में आकर मार्ग में हुई भूलों की विशुद्धि के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण करे।[८८]

---

८५. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. २४९ (ख) दशवै. (आ. आत्मा.), पृ. २२४
(ग) 'भित्तिमूलं कुड्यैकदेशादि।' —हा. वृ., पृ. १७८
(घ) 'दोण्हं घराणं अंतरं भित्तिमूलं। —अ. चू., १२०
(ङ) प्रतिच्छन्ने उपरिप्रावरणान्विते, अन्यथा सम्पातिमसत्त्वसम्पातसम्भवात्। संवृते पार्श्वतः कटकुट्यादिना संकटद्वारे, अटव्यां कुडंगादिषु वा। —उत्त. वृत्ति, पत्र ६०-६१
(च) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ४७८
(छ) प्रतिच्छन्ने, तत्र कोष्ठकादौ, संवृत उपयुक्तः सन्।' —हा. वृ., पत्र १७८
(ज) 'हस्तकं सम्प्रमार्ज्य—हाथने साफ करीने।' —दशवै. (संतबालजी), पृ. ५७
(झ) 'हत्थगं मुहपोत्तिया भण्णइ।' —जि. चू., पृ. १८७
(ट) पूंजणी से हस्तपादादि शरीर के अवयवों का प्रमार्जन करके। —आ. आत्मा. दशवै., पृ. १२३
८६. जिनदासचूर्णि, पृ. १८७
८७. (क) हारि. वृत्ति, पत्र १७८
(ख) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. २५० (ग) दशवै. आ. म. मं., भा. १, पृ. ४८०
८८. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. २४८-२४९
(ख) दशवै. (संतबालजी), पृ. ५८

साधु-साध्वियों के आहार करने की सामान्य विधि

२००. सिया य भिक्खु इच्छेज्जा, सेज्जमागम्म भोत्तुयं ।
सपिंडपायमागम्म उंडुयं पडिलेहिया ॥११८॥

२०१. विणएण पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी ।
इरियावहियमायाय आगओ य पडिक्कम्मे ॥११९॥

२०२. आभोएत्ताण निस्सेसं अइयारं जहक्कम्मं ।
गमणाऽऽगमणे चेव भत्तपाणे व संजए ॥१२०॥

२०३. उज्जुप्पण्णो अणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवे ॥१२१॥

२०४. न सम्ममालोइयं होज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कम्मे तस्स वोसट्ठो चिंतए इमं ॥१२२॥

२०५. 'अहो ! जिणेहिं असावज्जा वित्ती साहूण देसिया ।
मोक्ख-साहण-हेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥१२३॥

२०६. नमोक्कारेण पारेत्ता करेत्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं वीसमेज्ज खणं मुणी ॥१२४॥

२०७. वीसमंतो इमं चिंते हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू होज्जामि तारिओ ॥१२५॥

२०८. साहवो तो चियत्तेणं निमंतेज्ज जहक्कम्मं ।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥१२६॥

२०९. अह कोइ न इच्छेज्जा, तओ भुंजेज्ज एगओ ।
आलोए भायणे साहू, जयं अपरिसाडियं ॥१२७॥

२१०. तित्तगं व कडुयं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा ।
एय लद्धमन्नट्ठपउत्तं, महुघयं व भुंजेज्ज संजए ॥१२८॥

२११. अरसं विरसं वा वि सूइयं वा असूइयं ।
ओल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथु-कुम्मासभोयणं ॥१२९॥

२१२. उप्पन्नं नाइहीलेज्जा अप्पं वा बहु फासुयं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी भुंजेज्जा दोसवज्जियं ॥१३०॥

[२००] कदाचित् भिक्षु शय्या (आवासस्थान—स्थानक या उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो पिण्डपात (भिक्षाप्राप्त आहार) सहित (वहाँ) आकर भोजन करने की भूमि (निर्जीव निरवद्य या शुद्ध है या नहीं ? इस) का प्रतिलेखन (निरीक्षण) कर ले ॥११८॥

[२०१] (तत्पश्चात्) विनयपूर्वक (उपाश्रय में) प्रवेश करके गुरुदेव के समीप आए और ईर्यापथिक सूत्र को पढ़ कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे ॥११९॥

[२०२-२०३] (उसके पश्चात्) वह संयमी साधु (भिक्षा के लिए) जाने-आने में और भक्त-पान लेने में (लगे) समस्त अतिचारों का क्रमशः उपयोगपूर्वक चिन्तन कर ऋजुप्रज्ञ और अनुद्विग्न संयमी अव्याक्षिप्त (अव्यग्र) चित्त से गुरु के पास आलोचना करे और जिस प्रकार से भिक्षा ली हो, उसी प्रकार से (गुरु से निवेदन करे) ॥१२०-१२१॥

[२०४-२०५] यदि आलोचना सम्यक् प्रकार से न हुई हो, अथवा जो पहले-पीछे की हो, (आलोचना क्रमपूर्वक न हुई हो) तो उसका पुनः प्रतिक्रमण करे, (वह) कायोत्सर्गस्थ होकर यह चिन्तन करे—

अहो ! जिनेन्द्र भगवन्तों ने साधुओं को मोक्षसाधना के हेतुभूत संयमी शरीर-धारण (रक्षण-पोषण) करने के लिए निरवद्य (भिक्षा-) वृत्ति का उपदेश दिया है ॥१२२-१२३॥

[२०६] (इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को) नमस्कार-मन्त्र के द्वारा पूर्ण (पारित) करके जिन-संस्तव (तीर्थंकर-स्तुति) करे, फिर स्वाध्याय का प्रस्थापन (प्रारम्भ) करे, (फिर) क्षणभर विश्राम ले ॥१२४॥

[२०७] विश्राम करता हुआ कर्म-निर्जरा के लाभ का अभिलाषी (लाभार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ (बात) का चिन्तन करे—"यदि कोई भी साधु (आचार्य या साधु) मुझ पर (मेरे हिस्से के आहार में से कुछ लेने का) अनुग्रह करें तो मैं संसार-समुद्र से पार हो (तिर) जाऊँ ॥१२५॥

[२०८] वह प्रीतिभाव से साधुओं को यथाक्रम से निमंत्रण (आहार ग्रहण करने की प्रार्थना) करे, यदि उन (निमंत्रित साधुओं) में से कोई (साधु भोजन करना) चाहें तो उनके साथ भोजन करे ॥१२६॥

[२०९] यदि कोई (साधु) आहार लेना न चाहे, तो वह साधु स्वयं अकेला ही प्रकाशयुक्त (खुले) पात्र में, (हाथ और मुंह से आहार-कण को) नीचे न गिराता हुआ यतनापूर्वक भोजन करे ॥१२७॥

[२१०] अन्य (अपने से भिन्न-गृहस्थ) के लिए बना हुआ, (आगमोक्त विधि से) उपलब्ध जो (आहार है, वह चाहे) तिक्त (तीखा) हो, कडुआ हो, कसैला हो, अम्ल (खट्टा) हो, मधुर (मीठा) हो या लवण (खारा) हो, संयमी (साधु या साध्वी) उसे मधु-घृत की तरह सन्तोष के साथ खाए ॥१२८॥

[२११-२१२] मुधाजीवी भिक्षु (एषणाविधि से) प्राप्त किया हुआ (आहार) अरस (नीरस) हो या सरस, व्यञ्जनादि से युक्त हो अथवा व्यञ्जनादि से रहित, आर्द्र (तर) हो, या शुष्क, बेर के चून का भोजन हो अथवा कुलथ या उड़द के बाकले का भोजन हो, उसकी अवहेलना (निन्दा या बुराई) न करे, किन्तु मुधाजीवी साधु, मुधालब्ध एवं प्रासुक आहार का, चाहे वह अल्प हो या बहुत; (संयोजनादि पंच मण्डल-) दोषों को छोड़ कर समभावपूर्वक सेवन करे ।।१२९-१३०।।

विवेचन—भिक्षाप्राप्त आहार-परिभोग से पहले की शास्त्रीय विधि—प्रस्तुत १० सूत्र-गाथाओं (२०० से २०९ तक) में गृहस्थ के यहाँ से भिक्षा में प्राप्त आहार का विशोधन, प्रतिक्रमण, आलोचन, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, आहार-ग्रहणार्थ निमंत्रण, तदनन्तर प्रकाशित पात्र में आहार-सेवन की विधि का सुन्दर निरूपण किया गया है ।

स्थान-प्रतिलेखना—उपाश्रय (या धर्मस्थान) में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम भोजन करने के स्थान की भलीभांति देखभाल तथा रजोहरण से सफाई करनी चाहिए, भोजन करने का स्थान कैसा होना चाहिए ? इसके विषय में पूर्वगाथाओं में कहा जा चुका है ।

उपाश्रयप्रवेश का तात्पर्यार्थ—सर्वप्रथम रजोहरण से चरण-प्रमार्जन करते हुए तीन बार 'निसीहि' (मैं आवश्यक कार्य से निवृत्त हो गया हूँ) बोले, फिर गुरु के समक्ष आकर करबद्ध होकर **'णमो खमासमणाणं'** बोले । इस सारी विधि के लिए यहाँ कहा गया है—'विणएण पविसित्ता'—विनयपूर्वक प्रवेश करके ।[८९]

भिक्षा-शुद्धि का क्रम—गुरु के निकट आकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करे, अर्थात्—गमनागमन में जो भी दोष लगे हों, उनका मन ही मन ईर्यापथिक सूत्र के आश्रय से चिन्तन करे ।[९०]

जिनदास महत्तर कायोत्सर्ग में अतिचारों का (जिस क्रम से लगे हों, उस क्रम से) चिन्तन करने के बाद 'लोगस्स' (जिनस्तुतिपाठ) के चिन्तन का निर्देश देते हैं । कायोत्सर्ग नमस्कार-मन्त्रोच्चारणपूर्वक पूर्ण करने के साथ ही सरल और बुद्धिमान् भिक्षु अनुद्विग्न होकर अव्यग्र (दूसरों से वार्तालाप या अन्य चिन्तन न करता हुआ) चित्त से आलोचना करे ।[९१]

---

८९. (क) ओघनिर्युक्ति गा. ५०९
(ख) दसवेयालियं (मुनि नथमल जी)
(ग) "विणओ नाम पविसंतो णिसीहियं काऊण 'नमो खमासमणाणं' ति भणंतो जति से खणिओ हत्थो, एसो विणओ भण्णइ ।" —जिनदासचूर्णि, पृ. १८८
(घ) 'णिक्खमण-पवेसणासु विणओ पउंजियव्वो ।' —प्रश्नव्याकरण सं. ३, भा. ५,

९०. आवश्यक. ५।३

९१. (क) "ताहे लोगस्सुज्जोयगरं कड्ढिऊण तमतियारं आलोएइ ।" —जिन. चू., पृ. १७८
(ख) "अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम तमालोयतो अण्णेण केणइ समं न उल्लावइ, अवि वयणं वा अन्नस्स न देई ।" —जिनदासचूर्णि, पृ. १८०
(ग) अव्याक्षिप्तेन चेतसा—अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थः । —हारि. वृत्ति, पृ. १७९

आलोचना करने की विधि—वस्तुतः आलोचना भिक्षाशुद्धि का प्राण है। इसलिए गुरु, आचार्य, संघाटक के अग्रणी भिक्षु अथवा स्थविर के समीप आलोचना करे। आलोचना आचार्य के समीप करने से पूर्व ओघनिर्युक्ति का कथन है कि साधु यह देखे कि आचार्य व्याक्षिप्त न हों, वे अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों (यथा—धर्मकथा, आहार-नीहार, किसी आगन्तुक से वार्तालाप आदि) में व्यस्त न हों। उनसे आलोचना की अनुज्ञा प्राप्त करके आलोचना करे। जिस क्रम से भिक्षा ली हो अथवा भिक्षाचरी के लिए उपाश्रय से निकलने के बाद कहाँ-कहाँ ठहरा? क्या-क्या क्रियाएँ हुईं? भिक्षा ग्रहण के प्रारम्भ से अन्त तक जो कुछ घटना या क्रिया जिस रूप में जिस क्रम से हुई हो उसकी आलोचना सरल एवं अनुद्विग्न होकर करनी चाहिए।[९२]

यदि स्मृतिगत आलोचना के अतिरिक्त भी कोई आलोचना अज्ञात या विस्मृत हो रही हो तो उसकी शुद्धि के लिए पुनः प्रतिक्रमण करे, अर्थात्—**'पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए'** सूत्र पढ़े। तत्पश्चात् शरीर के प्रति ममत्व का सर्वथा त्याग कर दृढ़तापूर्वक निश्चेष्ट (स्थिर) खड़ा होकर कायोत्सर्ग करे, जिसमें शरीरधारणार्थ जिनोपदिष्ट निरवद्य भिक्षावृत्ति का तथा अवशिष्ट अतिचारों का चिन्तन करे। फिर नमस्कार पूर्वक कायोत्सर्ग पूर्ण करे और प्रकट में 'लोगस्स' (जिनसंस्तव) पढ़े।

आहार ग्रहण के लिए आमंत्रण—इसके पश्चात् भी साधु भिक्षा प्राप्त आहार को सेवन करने में प्रवृत्त न हो। मण्डल्युपजीवी साधु मण्डली के साधु जब तक एकत्रित न हो जाएँ, तब तक आहार आरम्भ न करे। तब तक कुछ क्षण विश्राम करे। विश्राम के क्षणों में वह स्वाध्याय करे। विश्राम के क्षणों में वह यह भी चिन्तन करे कि यदि मेरे लाये हुए अथवा मुझे अपने हिस्से में प्राप्त हुए इस आहार में से गुरु, आचार्य या कोई भी साधु लेने का अनुग्रह करें तो मुझे अनायास ही कर्म-निर्जरा का लाभ मिले और मैं निहाल हो जाऊँ। यदि सर्व आहार दूसरों को अर्पण करके स्वयं तप-त्याग का उत्कृष्ट रसायन आ जाए तो संसार-समुद्र से संतरण भी सम्भव हो सकता है। ओघनिर्युक्ति-कार के अनुसार जो भिक्षु अपनी लाई हुई भिक्षा ग्रहण करने के लिए साधर्मिक साधुओं को निमंत्रण देता है, वह अपनी चित्तशुद्धि करता है। चित्तशुद्धि से निर्जरा (कर्मक्षय) होती है, आत्मा शुद्ध होती है।[९३]

---

९२. (क) ओघनिर्युक्ति, गा. ५१४, ५१५, ५१७, ५१८, ५१९

(ख) आवश्यकसूत्र ४।८

(ग) वोसट्ठो—"व्युत्सृष्टदेहः प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेहः, सर्पाद्युपद्रवेऽपि नोत्सारयति कायोत्सर्गम्। अथवा व्युत्सृष्टदेहो दिव्योपसर्गेष्वपि न कायोत्सर्गभंगं करोति। त्यक्तदेहोऽक्षिमलदूषिकामपि नापनयति। स एवंविधः कायोत्सर्गं कुर्यात्।" —ओघनिर्युक्ति, गा. ५१० वृ.

९३. (क) 'जाव साहुणो अन्ने आगच्छंति, जो पुण खमणो अत्तलाभिओ वा सो मुहुत्तमेत्तं वा सज्झो (वीसत्थो)।' —जिन. चूर्णि, पृ. १८९

(ख) 'मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपकादिः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्रामयेत् क्षणं—स्तोककालं मुनिरिति।' —हारि. वृ., प. १८०

(ग) ओघनिर्युक्ति, गा. ५२५

(घ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ. २३६-२३७

आहारपरिभोगैषणा-शुद्धि—अविवेकी साधु निर्दोष आहार का सेवन करते समय कुछ दोषों से लिप्त हो सकता है। इसके लिए शास्त्रकार ने पिछली चार गाथाओं (२०९ से २१२ तक) में विधि और शुद्धि दोनों का निरूपण किया है। भोजन प्रारम्भ करते समय जिस पात्र में भोजन करना हो, वह आलोक-भाजन (जिसका मुंह चौड़ा या खुला हो, ऐसा पात्र) हो, ताकि आहार करते समय कोई जीव-जन्तु हो तो भलीभांति देखा जा सके। दूसरा भोजन का विवेक बताया गया है—भोजन-कणों को नीचे न गिराते हुए या इधर-उधर न बिखेरते हुए भोजन करे। चपचप करते हुए, बिना चबाए, हड़बड़ी में या अन्यमनस्क होकर अशान्तभाव से भोजन न करे।[९४]

परिभोगैषणा के पांच दोषों को वर्जित करे—परिभोगैषणा के पांच दोष हैं, जिन्हें मांडले के पांच दोष कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) **संयोजना**—नीरस आहार को सरस बनाने के लिए तत्संयोगीय वस्तु मिला कर खाना। (२) **प्रमाण**—प्रमाण से अधिक भोजन करना। अधिक मात्रा में भोजन करने से आलस्य, निद्रा, प्रमाद, स्वाध्याय कार्यक्रम-भंग आदि अनिष्ट उत्पन्न होते हैं। (३) **अंगार**—सरस, स्वादिष्ट भोजन या दाता की प्रशंसा करना, स्वाद से प्रेरित होकर मूर्च्छावश खाना। (४) **धूम**—नीरस आदि प्रतिकूल आहार की निन्दा करना, उसे द्वेष, क्रोध और घृणापूर्वक खाना। (५) **कारण** का अर्थ है—साधु को भोजन करने के जो ६ कारण बताए हैं, उनमें से कोई भी कारण न होने पर भी आहार करना। इन दोषों से बचने के लिए यहाँ कहा गया है—**भुंजेज्जा दोस-वज्जियं**।[९५]

'अन्नट्ठपउत्तं' आदि शब्दों के विशेषार्थ—अन्नट्ठपउत्तं : तीन अर्थ—(१) अन्य—गृहस्थ के लिए प्रयुक्त—प्रकृत, परकृत। (२) केवल भोजन के प्रयोजन के लिए प्रयुक्त। (३) अन्य—मोक्ष के निमित्त आहार करना भगवान् द्वारा प्रोक्त है।

विरसं—जिसका रस विगड़ गया हो या सत्व नष्ट हो गया हो। जैसे—बहुत पुराने काले या ठंडे चावल। **सूइयं-असूइयं : दो रूप—दो अर्थ**—(१) सूपित—दाल आदि व्यञ्जनयुक्त खाद्य वस्तु, असूपित—व्यंजनरहित पदार्थ। (२) सूचित—कह कर दिया हुआ। असूचित—बिना कहे दिया हुआ। **उल्लं-सुक्कं : आर्द्र-शुष्क**—बघार सहित साग या दाल प्रधानमात्रा में हो वह आर्द्र और बघार (छौंक) रहित शाक शुष्क है। **मंथु कुम्मासं—मन्थु : दो अर्थ**—(१) बेर का चूर्ण, (२) बेर, जौ आदि का चूर्ण। कुम्मास—जौ से बना हुआ अथवा पके हुए उड़द से निष्पन्न।[९६]

अप्पं पि बहु फासुअं : दो विशेषार्थ—(१) थोड़ा होते हुए भी प्रासुक एवं एषणीय होने से बहुत (प्रभूत) है। (२) अल्प—रसादि से हीन होते हुए भी मेरे लिए प्रासुक (निर्जीव) होने से बहुत

---

९४. तं पुण कंटऽट्ठिमक्खिंतापरिहरणत्थं 'आलोगभायणे' पगासविउलमुहे वल्लिकाइए। —अ. चु., पृ. १२३

९५. (क) भगवती सूत्र ७।१।२१-२४

(ख) "वेयण-वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए।" —उत्तराध्ययन अ. २६।३२

९६. (क) "अण्णट्ठा पउत्तं—परकडं, अहवा भोयणत्थे पओए एतं लद्धं अतो तं।" —अ. चू., पृ. १८४

(ख) अण्णो मोक्खो तण्णिमित्तं आहारेयव्वंति। —जि. चू., पृ. १९०

(ग) अ. चू., पृ. १२४; जि. चू., पृ. १९०; हारि. वृत्ति, पत्र १८०-१८१

सरस है—दुर्लभ है। (३) टीका के अनुसार—प्रासुक होते हुए भी यह तो बहुत थोड़ा है इससे क्या होगा? अथवा प्रासुक बहुत होते हुए भी निःसार है, रद्दी है, इस प्रकार कह कर निन्दा नहीं करनी चाहिए।[९८]

महुघयं व भुंजेज्ज—जैसे मधु (शहद) और घृत दोनों सुरस होते हैं, इस दृष्टि से व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक उनका सेवन कर लेता है, वैसे ही अस्वादवृत्ति वाला साधु नीरस भोजन को भी सुरस मान कर सेवन करे। अथवा जैसे मधु और घी को बाँए जबड़े से दाहिने जबड़े की ओर ले जाने की आवश्यकता नहीं रहती, व्यक्ति सीधा ही गले उतार लेता है, वैसे ही साधु नीरस आहार को भी मधुघृत की तरह सीधा निगल ले।[९९]

मुहाजीवी-मुधाजीवी : अर्थ, लक्षण और व्याख्या—दो अर्थ (१) जो जाति, कुल आदि के आधार पर आजीविका करके नहीं जीता, (२) अनिदानजीवी—निःस्पृह और अनासक्तभाव से जीने वाला। अथवा भोगों का संकल्प किये बिना जीने वाला। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका विशेष अर्थ यह भी हो सकता है कि जो किसी प्रकार का उपदेश आदि का बदला चाहे बिना निस्पृह भाव से जो भी आहार मिले, उससे जीवननिर्वाह करने वाला हो। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रसिद्ध है—"श्रेष्ठ धर्म की पहिचान उस धर्म के गुरु से ही हो सकती है, जिस धर्म का गुरु निःस्पृह और निःस्वार्थ बुद्धि से आहारादि लेकर जीता है, उसी का धर्म सर्वश्रेष्ठ होगा।" इस विचार से प्रेरित होकर राजा ने घोषणा कराई कि राजा भिक्षाचरों को मोदकों का दान देना चाहता है। इस घोषणा को सुन कर अनेक भिक्षाचर दान लेने आए। राजा ने उनसे पूछा—आप लोग किस प्रकार अपना जीवननिर्वाह करते हैं? उनमें से एक भिक्षु ने कहा—मैं कथक हूँ, अतः कथा कह कर मुख से निर्वाह करता हूँ। दूसरे ने कहा—मैं सन्देशवाहक हूँ, अतः पैरों से निर्वाह करता हूँ। तीसरा बोला—मैं लेखक हूँ, अतः हाथों से निर्वाह करता हूँ। चौथे ने कहा—मैं लोगों का अनुग्रह प्राप्त करके निर्वाह करता हूँ और अन्त में पांचवें भिक्षु ने कहा—मैं संसार से विरक्त मुधाजीवी निर्ग्रन्थ हूँ। मैं निःस्पृह भाव से संयम-निर्वाह के लिए, मोक्षसाधना के लिए जीता हूँ, उसी के लिए किसी प्रकार की अधीनता या प्रतिबद्धता स्वीकार किये बिना, जो भी आहार मिल जाए उसी में सन्तुष्ट रहता हूँ। यह सुन कर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसे मुधाजीवी साधु जान कर उसके पास प्रव्रजित हो गया।[१००]

---

९८. (क) फासुएसणिज्जं दुल्लभं ति अप्पमवि तं पभूतं, तमेव रसादिपरिहीणमवि अप्पमवि.... । —अ. चू., १२४
(ख) तं बहु मण्णियव्वं, जं विरसमवि मम लोगो अणुवकारिस्स देति तं बहु मन्नियव्वं।—जि. चू., १९०
(ग) अल्पमेतन्न देहपूरकमिंति किमनेन ? बहु वा असारप्रायमिति। —हारि. वृत्ति, पत्र १८१

९९. (क) महुघते व भुंजेज्ज-जहा महु घतं कोति सुरसमिति सुमुहो भुंजति, तहा तं (असोहणमवि) सुमुहेण भुंजितव्वं। अहवा महुघतमिव हणुयातो हणुयं असंचारंतेण.... । —अग. चू., पृ. १२४

१००. (क) मुधाजीवि नाम जं जातिकलादीहिं आजीवणविसेसेहिं परं न जीवति। —जिन. चूर्णि, पृ. १९०
(ख) मुधाजीवि सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये। हारि. वृत्ति, पत्र १८१
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. २५६

मुहालद्धं—जो यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र-औषधि आदि के द्वारा उपकार—सम्पादन किये बिना प्राप्त हो।[१०१]

मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता और दोनों की सुगति

२१३. दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥१३१॥
—त्ति बेमि ॥

॥ पिंडेसणाए पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

[२१३] मुधादायी दुर्लभ हैं और मुधाजीवी भी दुर्लभ हैं। मुधादायी और मुधाजीवी, दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं ॥१३१॥ —ऐसा मैं कहता हूँ ॥

विवेचन—मुधादायी : व्याख्या—प्रत्युपकार या प्रतिफल की आकांक्षा रखे बिना निःस्पृह एवं निःस्वार्थ भाव से दान देने वाला मुधादायी है। मुधादायी निष्काम वृत्ति का दाता होता है। जो निष्काम वृत्ति से ही दानादि कार्य करता है और यह सोचता है कि मैं किसी पर उपकार नहीं करता, आदाता (लेने वाले) ने मुझ पर उपकार—अनुग्रह करके ही मुझ से लिया है और मुझे अनायास ही यह लाभ दिया है। साधु-साध्वियों को दान देने के लिए शास्त्र में **भत्त-पाणं पडिलाभेमाणे**—(भक्त-पान (देने) का लाभ लेते हुए) कहा है। जहाँ दाता में दान देने का अहं आ गया, आदाता (साधु या साध्वी) से प्रतिफल की कामना आ गई या अन्य सांसारिक फलाकांक्षा आ गई, वहाँ निष्काम-निःस्वार्थ वृत्ति समाप्त हो जाती है। मुधाजीवी की व्याख्या पहले की जा चुकी है। ये दोनों बहुत ही दुर्लभ हैं।[१०२]

दो वि गच्छंति सोग्गइं—इस प्रकार की निष्काम वृत्ति वाले दाता और आदाता आत्मार्थी साधु-साध्वी विरले मिलते हैं। इन दोनों को सुगति प्राप्त होती है। निष्कामवृत्ति के फलस्वरूप वे कर्मबन्धन करने के बजाय कर्मक्षय करते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए सुगति का अर्थ मोक्षगति या सिद्धिगति है। अथवा कुछ शुभ कर्म शेष रह जाएँ तो देवगति प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सुगति का अर्थ—देवगति भी होता है।[१०३]

॥ पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन का प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१०१. वेंटलादिउवगारवज्जितेण मुहालद्धं। —अ. चू., पृ. १२४
१०२. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २४४-२४५
(ख) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. २६०
१०३. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा) भा. १, पृ. ४९७
(ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. ६०

पंचम-अज्झयणं : पिंडेसणा

पंचम अध्ययन : पिण्डैषणा

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

पात्र में गृहीत समग्र भोजन-सेवन का निर्देश

२१४. पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेवमायाए संजए ।
दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डुए ।।१।।

[२१४] सम्यक् यत्नवान् साधु लेपमात्र-पर्यन्त (लेप लगा रहे तब तक) पात्र को अंगुलि से पोंछ (या चाट) कर सुगन्धयुक्त (पदार्थ) हो या दुर्गन्धयुक्त, सब खा ले, (किञ्चिन्मात्र भी शेष) न छोड़े ।।१।।

विवेचन—भोजन करने के बाद की विधि—प्रस्तुत गाथा में भोजन करने के बाद पात्र को अच्छी तरह पोंछ कर साफ करने का विधान किया गया है। इसमें 'सुगंधं वा दुगंधं वा' ये दो पद मनोज्ञ-अमनोज्ञ के उपलक्षण हैं। दोनों का आशय है—प्रशस्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शयुक्त और अप्रशस्त-वर्णादियुक्त। इसका तात्पर्य यह है कि मुनि ऐसा न करे कि पात्र में लिया हुआ सरस आहार तो खा ले और नीरस आहार फेंक दे।

जैसा भी, जो भी पात्र में लिया है, उसे समभावपूर्वक खा ले। ग्रासैषणा से सम्बन्धित यह गाथा स्वच्छता, अपरिग्रहवृत्ति और अस्वादवृत्ति की प्रेरणा देने वाली है।[1]

पर्याप्त आहार न मिलने पर पुनः आहार-गवेषणा-विधि

२१५. सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो य गोयरे ।
अयावयट्ठा भोच्चाणं जइ तेण न संथरे ।।२।।

२१६. तओ कारणमुप्पन्ने भत्त-पाणं गवेसए ।
विहिणा पुव्ववुत्तेण इमेणं उत्तरेण य ।।३।।

[२१५-२१६] उपाश्रय (शय्या) में या स्वाध्यायभूमि (नैषेधिकी) में बैठा हुआ, अथवा गोचरी (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि अपर्याप्त खाद्य-पदार्थ खाकर (खा लेने पर) यदि उस (आहार) से निर्वाह न हो सके तो कारण उत्पन्न होने पर पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे ।। २-३ ।।

---

१. (क) जिनदासचूर्णि, पृ. १९४ (ख) दशवै. (संतबालजी), पृ. ६२

विवेचन—कारणविशेष से पुनः भक्तपान-गवेषणा—प्रस्तुत दो सूत्रगाथाओं (२१५-२१६) में पर्याप्त आहार न मिलने और क्षुधानिवारण न होने पर पुनः विधिपूर्वक भिक्षाचर्या करने का निर्देश किया गया है।

सेज्जा, निसीहियाए, गोयरे पदों के विशेषार्थ—ये तीनों पारिभाषिक शब्द हैं। इनके प्रचलित अर्थों से भिन्न अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। **सेज्जा : शय्या**—उपाश्रय, मठ, कोष्ठ और वसति। **निसीहिया-नैषेधिकी**—स्वाध्याय भूमि। दिगम्बरपरम्परा में प्रचलित 'नसिया' शब्द इसी का अपभ्रंश है। प्राचीनकाल में स्वाध्यायभूमि उपाश्रय से दूर एकान्त में, कोलाहल से रहित स्थान में या वृक्षमूल में चुनी जाती थी।

समावन्नो व गोयरे—गोचर अर्थात् गोचरी-भिक्षाचरी के लिए गया हुआ।[2]

अयावयट्ठा : अयावदर्थ—अपर्याप्त—जितना खाद्यपदार्थ चाहिए, उतना नहीं अर्थात्—पेटभर नहीं, क्षुधानिवारण में कम।[3]

कारणमुप्पन्ने : दो आशय—यहाँ 'कारण' शब्द से दो आशय प्रतीत होते हैं—(१) उत्तराध्ययनसूत्रोक्त आहार करने के ६ कारणों में से कोई कारण उत्पन्न हो, अथवा (२) अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार-दीर्घतपस्वी हो, क्षुधातुरता हो, शरीर में रोगादि वेदना हो, अथवा पाहुने साधुओं का आगमन हुआ हो, इत्यादि कारण हों। हारिभद्रीयवृत्ति में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—पुष्ट आलम्बन रूप कारण (क्षुधावेदनादि उत्पन्न) होने पर मुनि पुनः भक्तपान-गवेषणा करे, अन्यथा मुनियों के लिए एक बार ही भोजन[4] करने का विधान है।

जइ तेणं न संथरे—जितना भोजन किया है। उतने से यदि रह न सके, निर्वाह न हो सके।[5]

यथाकालचर्या करने का विधान

२१७. कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जेत्ता, काले कालं समायरे ॥ ४ ॥

---

२. (क) सेज्जा—उवस्सतादि मट्ठकोट्ठादि —जिन. चूर्णि, पृ. १९४
(ख) शय्यायां वसतौ। नैषेधिक्यां—स्वाध्यायभूमौ। —हारि. वृत्ति, पत्र १८२
(ग) णिसीहिया-सज्झायथाणं, जम्मि वा रुक्खमूलादौ सैव निसीहिया। —अ. चू., पृ. १२६
(घ) गोयरग्गसमावण्णो बालवुड्ढखवगादि मट्ठकोट्ठगादिषु समुद्दिट्ठो होज्जा। —जि. चू., पृ. १९४

३. (क) अयावयट्ठं-ण जावदट्ठं यावदभिप्रायं। —अ. चू., पृ. १२६
(ख) न यावदर्थं-अपरिसमाप्तमिति। —हा. वृ., प. १८२

४. (क) अगस्त्यचूर्णि, पृ. १२६
(ख) हारि. वृत्ति, पत्र १८२

५. यदि तेन भुक्तेन, न संस्तरेत्-न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वेति।
—हारि. वृत्ति, पत्र १८२

२१८. अकाले चरसि भिक्खो ! कालं न पडिलेहसि ।
अप्पाणं च किलामेसि, सन्निवेसं च गरहसि ॥ ५ ॥

२१९. सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।
अलाभोत्ति न सोएज्जा, तवो त्ति अहियासए ॥ ६ ॥

[२१७] भिक्षु (भिक्षा) काल में (जिस गाँव में जो भिक्षा का समय हो, उसी समय में) (भिक्षा के लिए उपाश्रय से) निकले और समय पर (स्वाध्याय आदि के समय) ही वापस लौट आए। अकाल को वर्ज (छोड़) कर जो कार्य जिस समय उचित हो, उसे उसी समय करे ॥ ४ ॥

[२१८] हे मुनि ! तुम अकाल में (असमय में भिक्षा का समय न होने पर भी भिक्षा के लिए) जाते हो, काल का प्रतिलेखन (अवलोकन) नहीं करते। (ऐसी स्थिति में भिक्षा न मिलने पर) तुम अपने आपको क्लान्त (क्षुब्ध) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो ॥ ५ ॥

[२१९] भिक्षु (भिक्षा का) समय होने पर भिक्षाटन करे और (भिक्षा प्राप्त करने का) पुरुषार्थ करे। भिक्षा प्राप्त नहीं हुई, इसका शोक (चिन्ता) न करे (किन्तु अनायास ही) तप हो गया, ऐसा विचार कर (क्षुधा परीषह को) सहन करे ॥ ६ ॥

विवेचन—काल-यतना (विवेक)—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (२१७ से २१९ तक) में समय पर सभी चर्या करने का, असमय में चर्या करने के परिणाम का, समय पर भिक्षाटन रूप पुरुषार्थ करने पर भी अप्राप्ति का खेद न करके अनायास तपश्चर्यालाभ मानने का निर्देश किया गया है।[६]

अकाल और काल का आशय—प्रस्तुत प्रसंग में अकाल का अर्थ है—जो काल जिस चर्या के लिए उचित न हो। जैसे—प्रतिलेखनकाल स्वाध्याय के लिए अकाल है, स्वाध्याय का काल प्रतिक्रमण के लिए अकाल है, इसी तरह स्वाध्याय का काल भिक्षाचर्या के लिए अकाल है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—**अकालं च विवज्जेत्ता**—कालमर्यादाविशेषज्ञ (कालज्ञ) साधु-साध्वी अकाल में कोई चर्या (क्रिया) न करे। इसके साथ ही दूसरा सूत्र है—**काले कालं समायरे**—जिस काल में जो क्रिया करणीय है, वह उसी काल में करनी चाहिए। जिस गाँव में जो भिक्षाकाल हो, उस समय में भिक्षाचर्या करना काल है। इसकी व्याख्या करते हुए जिनदास महत्तर कहते हैं—मुनि भिक्षाकाल में भिक्षाचरी करे, प्रतिलेखनवेला में प्रतिलेखन और स्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करे।[७]

अकालचर्या से मानसिक असन्तोष—जो मुनि काल का अतिक्रमण करके भिक्षाचर्या आदि क्रियाएँ करता है, उसके विक्षुब्ध मानस का चित्रण करते हुए आचार्य जिनदास कहते हैं—एक अकाल-

---

६. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ३३
७. (क) येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते, स खल्वकालस्तमपास्य । —हारि. वृ., प. १८३
(ख) 'अकालं च विवज्जित्ता' णाम जहा पडिलेहणवेलाए सज्झायस्स अकालो, सज्झाय-वेलाए पडिलेहणाए अकालो, एवमादि अकालं विवज्जित्ता । —जि. चू., पृ १९४
(ग) भिक्खावेलाए भिक्खं समायरे, पडिलेहणवेलाए पडिलेहणं····एवमादि । —जि. चू. पृ. १९४-५

चारी भिक्षाकाल व्यतीत होने पर भिक्षा के लिए निकला, किन्तु बहुत भ्रमण करने पर किञ्चित् भी आहार न मिला। हताश और विक्षुब्ध देखकर एक कालचारी भिक्षु ने पूछा—'इस गाँव में भिक्षा मिली तुम्हें ?' वह तुरन्त बोला—'इस वीरान गाँव में कहाँ भिक्षा मिलती ?' कालचारी साधु ने उसे जो शिक्षाप्रद बातें कहीं, वही इस गाथा में अंकित हैं। उसका तात्पर्य यह है कि तुम अपने दोष को दूसरों पर डाल रहे हो। तुमने प्रमाददोष के कारण या स्वाध्याय के लोभ से काल का विचार नहीं किया। फलस्वरूप तुमने अपने आपको अत्यन्त भ्रमण से तथा भोजन के अलाभ के कारण खिन्न किया और इस ग्राम की निन्दा करने लगे।[८]

सइकाले : व्याख्या—(१) भिक्षा का समय हो जाने पर ही भिक्षु भिक्षा के लिए जाए, (२) एक अन्य व्याख्या के अनुसार—भिक्षा का स्मृतिकाल होने पर ही भिक्षु भिक्षाचरी के लिए निकले। स्मृतिकाल ही भिक्षाकाल है। अर्थात्—जिस समय गृहस्थ लोग भिक्षा देने के लिए भिक्षाचरों को स्मरण करते हैं, उस समय को भिक्षा का स्मृतिकाल कहते हैं।[९]

कालेण य पडिक्कमे : तात्पर्य—जब साधु यह जान ले कि अब भिक्षाचर्या का समय नहीं रहा, स्वाध्याय आदि का समय आ गया है तब वह तुरन्त भिक्षाटन करना बंद करके समय पर अपने स्थान पर वापस लौट आए जिससे अन्य स्वाध्यायादि आवश्यक कार्यक्रमों में विघ्न न पड़े।[१०]

भिक्षा न मिलने पर—भिक्षाचर्या के समय पर भिक्षा के लिए पुरुषार्थ करने पर भी यदि आहार न मिले या थोड़ा मिले, ऐसी स्थिति में साधु के मन में न तो उसका खेद होना चाहिए, न चिन्ता ही, बल्कि उसे यह सोच कर सन्तुष्ट और सहनशील होना चाहिए कि मुझे अनायास ही तपश्चर्या का लाभ मिला है। यह भी सोचना चाहिए कि मैंने तो भिक्षाचर्या के लिए जाकर अपने वीर्याचार का सम्यक्तया आराधन कर लिया है। वृत्तिकार ने कहा है—"साधु वीर्याचार के लिए भिक्षाटन करता है, केवल आहार के लिए ही नहीं।"[११]

भिक्षार्थ गमनादि में यतना-निर्देश

२२०. तहेवुच्चावया पाणा भत्तट्ठाए समागया।
तउज्जुयं × न गच्छेज्जा, जयमेव परक्कमे ॥७॥

२२१. गोयरग्गपविट्ठो उ न निसीएज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधेज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥८॥

---

८. जि. चू., पृ. १९५

९. 'सति' विद्यमाने काले भिक्षासमये चरेद् भिक्षुः। अन्ये तु व्याचक्षते-स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षाकाः स स्मृतिकालः। —हारि. वृत्ति, पत्र १८३

१०. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २५५

११. (क) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. ५०४
(ख) 'तदर्थं च भिक्षाटनं नाहारार्थमेवातो न शोचयेत्।' —हारि. वृत्ति, प. १८३

× पाठान्तर—तं उज्जुअं।

२२२. अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए।
अवलंबिया न चिट्ठेज्जा गोयरग्गगओ मुणी ॥९॥

२२३. समणं माहणं वा वि किविणं वा वणीमगं।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥१०॥

२२४. तं अइक्कमित्तु न पविसे, न चिट्ठे चक्खुगोयरे।
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥११॥

२२५. वणीमगस्स वा तस्स दायगस्सुभयस्स वा।
अपत्तियं सिया होज्जा लहुत्तं पवयणस्स वा ॥१२॥

२२६. पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥

[२२०] इसी प्रकार (गोचरी के लिये जाते हुए साधु को कहीं पर) भोजनार्थ एकत्रित हुए नाना प्रकार के (अथवा उच्च-नीचजातीय) प्राणी (दीखें तो) वह उनके सम्मुख न जाए, किन्तु यतनापूर्वक (वहाँ से बचकर) गमन करे, (ताकि उन प्राणियों को किसी प्रकार का त्रास न पहुँचे)॥७॥

[२२१] गोचरी के लिये गया हुआ संयमी साधु (या साध्वी) कहीं भी न बैठे और न खड़ा रह कर भी (धर्म-) कथा का (विस्तारपूर्वक) प्रबन्ध करे ॥ ८ ।

[२२२] गोचरी के लिए गया हुआ सम्यक् यतनावान् साधु अर्गला (आगल), परिघ (कपाट को ढांकने वाले फलक), द्वार (दरवाजा) एवं कपाट (किवाड़) का सहारा लेकर खड़ा न रहे ॥ ९ ॥

[२२३-२२४] भोजन (भक्त) अथवा पानी के लिए (गृहस्थ के द्वार पर) आते हुए (या गये हुए) श्रमण (बौद्ध श्रमण), ब्राह्मण, कृपण अथवा वनीपक (भिखारी अथवा भिक्षाचर) को लांघ (या हटा) कर संयमी साधु (गृहस्थ के घर में) प्रवेश न करे और न (उस समय गृहस्वामी एवं श्रमण आदि की) आँखों के सामने खड़ा रहे। किन्तु एकान्त में (एक ओर) जा कर वहाँ खड़ा हो जाए ॥ १०-११ ॥

[२२५] (उन भिक्षाचरों को लांघ कर या हटा कर घर में प्रवेश करने पर) उस वनीपक को या दाता (गृहस्वामी) को अथवा दोनों को (साधु के प्रति) अप्रीति उत्पन्न हो सकती है, अथवा प्रवचन (धर्म-शासन) की लघुता होती है ॥ १२ ॥

[२२६] (किन्तु गृहस्वामी द्वारा उन भिक्षाचरों को देने का) निषेध कर देने पर अथवा दे देने पर तथा वहाँ से उन याचकों के हट (या लौट) जाने पर संयमी साधु भोजन या पान के लिए (उस घर में) प्रवेश करे ॥ १३ ॥

विवेचन—भिक्षाटन के समय क्षेत्रादि-विवेक—प्रस्तुत ७ सूत्रगाथाओं (२२० से २२६ तक) में भिक्षाचर्या करते समय गमनपथ का, खड़े रहने, बैठने, बोलने तथा गृहप्रवेश करने का नैतिक एवं अहिंसक दृष्टि से विवेक बताया गया है।

ऐसे मार्ग से होकर न जाए—भिक्षार्थ गमन करते समय रास्ते में कहीं चुगा-पानी करने या चारा-दाना करने में प्रवृत्त नाना प्रकार के छोटे-मोटे उच्च-नीच जातीय पक्षी या पशु एकत्रित हों, उस रास्ते से साधु-साध्वी को नहीं जाना चाहिए, क्योंकि उस रास्ते से जाने से साधु या साध्वी को देख कर वे भय से त्रस्त होकर भोजन करना बंद कर सकते हैं, उड़ सकते हैं, या भागदौड़ कर सकते हैं। इससे उनके खाने-पीने में अन्तराय, वायुकाय की अयतना आदि दोषों की सम्भावना है। अतः साधु को उन पशु-पक्षियों को देख कर दूसरे मार्ग से यतनापूर्वक गमन करना चाहिए। अहिंसा महाव्रती साधु किसी भी जीव को भय या त्रास हो ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करता।[१२]

गोचरी के समय बैठने और कथा करने का निषेध—भिक्षाचर्याकाल में गृहस्थ आदि के घर में बैठना कालोचित चर्या नहीं, ब्रह्मचर्य एवं अनासक्ति की दृष्टि से भी उचित नहीं है। बैठना तो दूर रहा, खड़े रहकर भी धर्मकथा करना या गप्पें मारना उपर्युक्त कारणों से उचित नहीं है। वृत्तिकार कहते हैं—वह खड़े-खड़े एक प्रश्नोत्तर (मंगलपाठ सुनाना आदि) कर सकता है। विस्तृत कथाप्रबन्ध करने से संयम के उपघात की एवं एषणासमिति की विराधना की सम्भावना है।[१३] गृहस्थों का अतिपरिचय भी संयमी जीवन के लिए हानिकारक है।

अर्गला आदि को पकड़ कर खड़े रहने में दोष—अर्गला आदि को पकड़ कर खड़ा रहने में दोष यह है कि कदाचित् वे मजबूती से बंधे हुए न हों तो अचानक टूट कर या खुल कर मुनि पर गिर सकते हैं या मुनि नीचे गिर सकता है। इससे संयमविराधना और आत्मविराधना ये दोनों दोष संभव हैं। कभी-कभी लोगों को असभ्यता भी मालूम होती है।[१४]

श्रमणब्राह्मणादि याचकों को हटा कर या लांघ कर गृहप्रवेश में दोष—यदि गृहस्थ के द्वार पर भिक्षाचर खड़े हों तो उन्हें हटा कर या लांघ कर जाने में मुख्यतया तीन दोष हैं—(१) गृहस्थ को या याचक को उक्त साधु के प्रति अप्रीति या द्वेषभावना हो सकती है, (२) कदाचित् भक्त

---

१२. (क) दशवै. (संतवालजी) पृ. ६३

(ख) 'तत्संत्रासनेनान्तरायाधिकरणादिदोषात्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १८४

१३. गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्वं कत्थइ-घरे वा देवकुले वा, सभाए वा पवाए वा एवमादि। जहा य न निसिएज्जा, तहा सिओ वि धम्मकहा-वादकहा-विग्गहकहादि णो पबंधिज्जा—नाम ण कहेज्जइ। णण्णत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा।

१४. (क) इमे दोसा—कयाति दुब्बद्धे पडेज्जा, पडंतस्स य संजमविराहणा आयविराहणा वा होज्जत्ति।
—जि. चू., पृ. १९६

(ख) 'लाघव-विराधनादोषात्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १८४

गृहस्थ, साधु को देखकर उन याचकों को दान न दे, तो इससे साधु को अन्तराय लगने की संभावना है, (३) धर्मसंघ की लोगों में निन्दा भी हो सकती है।[१५]

अग्गलं आदि शब्दों के अर्थ—अग्गलं : दो अर्थ—अर्गला-आगल या भोगल या सांकल। फलिहं : परिघ—द्वार को दृढ़ता से बन्द करने के लिए उसके पीछे दिया जाने वाला फलक।[१६]

सचित्त, अनिर्वृत्त, आमक एवं अशस्त्रपरिणत के ग्रहण का निषेध

२२७. उप्पलं पउमं वा वि कुमुयं वा मगदंतियं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥१४॥

२२८. तारिसं भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥१५॥

२२९. उप्पलं पउमं वा वि कुमुयं वा मगदंतियं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च सम्मद्दिया दए ॥१६॥

२३०. तारिसं भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥१७॥ >

२३१. सालुयं वा विरालियं कुमुउप्पलनालियं।
मुणालियं सासवनालियं उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥१८॥

२३२. तरुणगं वा पवालं रुक्खस्स तणगस्स वा।
अन्नस्स वा वि हरियस्स आमगं परिवज्जए ॥१९॥

२३३. तरुणियं वा छेवाडिं □ आमियं भज्जियं सइं।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥२०॥

---

१५. (क) दशवै. (संतबालजी), पृ. ६४
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मा.), पृ. २६१-२६२-२६३

१६. (क) 'णगरद्दारकवाडोत्थंभणं फलिहं'। —अ. चू., पृ. १२७
(ख) अर्गलं-कपाटपट्टद्वय-दृढसंयोजककाष्ठादिनिर्मितकीलविशेषं शृंखलादि च।
—दशवै. आचारमणिमंजूषा टीका, भा. १, पृ. ५०७

पाठान्तर —□ छिवाडिं।

अधिक पाठ— > इस प्रकार के चिह्न से अंकित गाथा के बाद दो गाथाएँ अधिक मिलती हैं—

उप्पलं पउमं वा वि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥ १८ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १९ ॥

२३४. तहा कोलमणुस्सिन्नं+ वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं आमगं परिवज्जए ॥२१॥

२३५. तहेव चाउलं पिट्ठं वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठं पूइपिन्नागं आमगं परिवज्जए ॥२२॥

२३६. कविट्ठं माउलिंगं च मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं मणसा वि न पत्थए ॥२३॥

२३७. तहेव फलमंथूणि बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च आमगं परिवज्जए ॥२४॥

[२२७-२२८] (यदि कोई दाता) उत्पल, पद्म, कुमुद या मालती अथवा अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन करके (भिक्षा) दे तो वह भक्त-पान संयमी साधु-साध्वियों के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए (साधु या साध्वी) देती हुई उस दात्री स्त्री को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार-पानी मेरे लिए ग्राह्य नहीं है ॥ १४-१५ ॥

[२२९-२३०] (यदि कोई दाता) उत्पल, पद्म, कुमुद या मालती अथवा अन्य किसी सचित्त पुष्प को सम्मर्दन (मसल या कुचल) कर भिक्षा देने लगे तो वह भक्त-पान संयमी साधु-साध्वियों के लिए अकल्पनीय होता है। (इसलिए आहार) देने वाली (उस महिला) से (मुनि) निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए अग्राह्य है ॥ १६-१७ ॥

[२३१-२३२] अनिर्वृत (जो शस्त्र से परिणत नहीं है, ऐसे) कमलकन्द, पलाशकन्द, कुमुदनाल, उत्पलनाल, कमल के तन्तु (मृणाल), सरसों की नाल, अपक्व इक्षुखण्ड (गण्डेरी) को अथवा वृक्ष, तृण और दूसरी हरी वनस्पति (हरियाली) का कच्चा नया प्रवाल (कोंपल) छोड़ दे, (ग्रहण न करे) ॥ १८-१९ ॥

[२३३] जिसके बीज न पके हों, ऐसी नई (ताजी) अथवा एक बार भुनी हुई (मूंग आदि की) कच्ची फली देती हुई (दात्री महिला) को साधु निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मैं ग्रहण नहीं करता ॥ २० ॥

[२३४] इसी प्रकार बिना उबाला हुआ बेर, वंश-करीर (बांस का अंकुर या केर), काश्यपनालिका (श्रीपर्णी का फल) तथा अपक्व तिलपपड़ी और कदम्ब का फल (नीप) नहीं लेना चाहिए ॥ २१ ॥

[२३५] इसी प्रकार चावलों का पिष्ट (आटा) और विकृत (शुद्धोदक धोवन) तथा निर्वृत (जो गर्म जल ठंडा होकर सचित्त हो गया हो ऐसा) जल (अथवा मिश्र जल), तिलपिष्ट (तिलकूट), पोइ-साग और सरसों की खली, ये सब कच्चे (अपक्व) न ले ॥ २२ ॥

[२३६] अपक्व (कच्चे) और शस्त्र से अपरिणत कपित्थ (कैथ), बिजौरा, मूला और मूले के कन्द के टुकड़े को (ग्रहण करने की) मन से भी इच्छा न करे ॥ २३ ॥

पाठान्तर— + कोलमणसिन्नं ।

[२३७] इसी प्रकार (वेर आदि) फलों का चूर्ण, (जौ आदि) बीजों का चूर्ण, विभीतक (बहेड़ा) तथा प्रियालफल, इन्हें अपक्व जान कर छोड़ दे (न ले) ॥ २४ ॥

विवेचन—अपक्व-अशस्त्रपरिणत भक्तपान को लेने का निषेध—प्रस्तुत ११ सूत्रगाथाओं (२२७ से २३७ तक) में शास्त्रकार ने कतिपय ऐसी खाद्य पेय वस्तुओं के नाम गिनाए हैं, जिनके छेदन-भेदन करने पर या कूटने-पीसने पर या एक बार गर्म किये जाने पर अचित्त (निर्जीव) हो जाने की भ्रान्ति से साधु-साध्वी ग्रहण कर सकते हैं, अतः इन्हें पूरी तरह से अचित्त, पक्व व शस्त्रपरिणत न होने तक ग्रहण न करने के लिए साधु-साध्वियों को सावधान किया है।

उप्पलं आदि शब्दों के अर्थ—उप्पलं—उत्पल—नीलकमल। **पउमं**—पद्म—रक्तकमल या अरविन्द। **कुमुयं**—कुमुद—चन्द्रविकासी कमल। **मगदंतियं : तीन अर्थ**—(१) मालती, (२) मोगरा, अथवा (३) मल्लिका (बेला)। **सालुयं**—कमलकन्द अर्थात्—कमल की जड़। **विरालियं : विदारिका : विभिन्न अर्थ**—हरिभद्रसूरि के अनुसार—पर्ववल्लि, प्रतिपर्ववल्लि या प्रतिपर्वकन्द। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—क्षीरविदारी, जीवन्ती और गोवल्ली। जिनदासचूर्णि के अनुसार बीज से नाल, नाल से पत्ते और पत्ते से जो कन्द उत्पन्न होता है, वह पलाशकन्दी, विदारिका है। **कुमुउप्पलनालियं**—कुमुद-नालिका और उत्पलनालिका; अर्थात्—क्रमशः चन्द्रविकासी कमल की नाल और नीलकमल की नाल। **मुणालियं**—पद्मनाल (मृणाल) अथवा जो पद्मिनीकन्द से निकलती है, हाथीदांत-सरीखी होती है, वह। **उच्छुखंडं अनिव्वुडं**—पर्वाक्ष या पर्वसहित इक्षुखण्ड अनिर्वृत अर्थात्—अपक्व।

तात्पर्य—तात्पर्य यह है कि पर्वसहित गन्ने के टुकड़े सचित्त होते हैं। यह सब वनस्पतिजन्य खाद्य केवल छेदन करने, मर्दन करने (मसलने या कुचलने) मात्र से या टुकड़े कर देने से अथवा वृक्ष से तोड़ लेने मात्र से अचित्त, पक्व या शस्त्रपरिणत नहीं हो जाते; इसलिए इन्हें लेने का निषेध किया है।[१७]

---

१७. (क) उत्पलं नीलोत्पलादि। —जिन. चू., पृ. १९६
(ख) पउमं नलिणं। —अ. चू., पृ. १२८
(ग) पद्मन् अरविन्दं वापि। कुमुदं वा गर्दभकं वा। —हारि. वृत्ति, पत्र १८५
(घ) मगदंतिकां-मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये। —हारि. वृत्ति, पत्र १८५
(ङ) 'सालुयं-उप्पलकंदो।' —अ. चू., पृ. १२९
(च) विरालियं पलासकंदो अहवा छीरविराली, जीवन्ती गोवल्ली इति एसा। —अ. चू., पृ. १२९
(छ) विरालिकां-पलाशकन्दरूपां, पर्ववल्लि-प्रतिपर्ववल्लि-प्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये। —हारि. वृत्ति, पत्र १८५
(ज) विरालियं नाम पलासकंदो भण्णइ जहा बीए वल्ली जायंति, तीसे पत्ते, पत्ते कंदा जायंति, सा विरालिया। —जिन. चूर्णि, पृ. १९७
(झ) 'मृणालं पद्मनालं च।' —शा. नि. भू., पृ. ५३८
(ञ) 'मुणालिया गयदंतसन्निभा पउमिणिकंदाओ निग्गच्छति।' —जि. चू., पृ. १९७
(ट) उच्छुखंडमवि पव्वेसु धरमाणेसु ता नेव अनवगतजीवं कप्पइ। —जि. चू., पृ. १९७
(ठ) इक्षुखण्डम्-अनिर्वृत्तं सचित्तम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १८५

रुक्खस्स तणगस्स वा : स्पष्टीकरण—'तणगस्स' को पृथक् पद मानने से 'तृण का' ऐसा अर्थ होता है, किन्तु तृण (तिनके या घास) के कोई नये पत्ते नहीं आते, इसलिए 'तणगस्स' शब्द रुक्खस्स का विशेषण ही संगत प्रतीत होता है। अगस्त्यचूर्णि एवं हारिभद्रीया वृत्ति में इसका अर्थ—मधुर तृणादि किया है। मधुर तृणक 'मधुर तृणद्रुम' का पर्यायवाची प्रतीत होता है। तदनुसार नारियल, ताल, खजूर, केतक और छुहारे आदि मधुर फलों के वृक्ष को मधुर तृणद्रुम कहा जा सकता है। इसके नये पत्ते (कोंपल) ग्रहण करने का निषेध है।[१८]

तरुणअं वा पवालं—नया (ताजा) पत्ता या कोंपल; जिसे संस्कृत में 'प्रवाल' कहते हैं।

आमियं तरुणियं सइं भज्जियं छिवाडि : सचित्त अचित्त का स्पष्टीकरण—छिवाडि का अर्थ—मूंग आदि की फली या सींगा है। ताजी कच्ची (मूंग, मोठ, चौला आदि की) एक बार भुनी हुई फली एक बार के अग्निसंस्कार से पूर्णतया पक्व नहीं होती, कुछ कच्ची—कुछ पक्की मिश्रित रहती है। इसलिए ऐसी अपक्व फली को लेने का निषेध है, किन्तु वे हरी फलियाँ दो-तीन बार भुनी हुई हों, तो लेने का निषेध नहीं है।[१९]

कोलमणुस्सिन्नं० आदि पदों के अर्थ का स्पष्टीकरण—कोलमणुस्सिन्नं—जो उबाला हुआ न हो, वह बेर का फल। **वेलुअं**—वंशकरिल्ल—बांस का अंकुर। वेलुयं का 'विल्व' अर्थ संगत नहीं, क्योंकि वेलुयं का संस्कृत रूपान्तर 'वेणुकं' तो हो सकता है, विल्वं नहीं। विल्व का प्राकृत में 'विल्लं' रूप होता है, जिसका प्रथम उद्देशक में उल्लेख हो चुका है। **कासव-नालियं : दो अर्थ**—(१) काश्यपनालिका—अर्थात् श्रीपर्णी फल या कसारु (जलीय कन्द) जो घास का कन्द है, जिसका फल पीले रंग का और गोल होता है। **तिलपप्पडिगं**—तिलपर्पटक, वह तिलपपड़ी जो कच्चे तिलों से बनी हो। **नीमं : नीप**—कदम्बफल। नीमं का अर्थ भ्रान्तिवश नीम का फल (निम्बोली) करना उचित नहीं; क्योंकि संस्कृत में 'निम्ब' शब्द नीम के लिए प्रयुक्त होता है।[२०]

चाउलं पिट्ठं आदि शब्दों का अर्थ और स्पष्टीकरण—चाउलं पिट्ठं : दो अर्थ—(१) अभिनव (तत्काल के) और अनिधन (बिना पकाये हुए) चावलों का (उपलक्षण से गेहूँ आदि अन्य अनाजों का)

---

१८. (क) तृणस्य वा मधुरतृणादेः। —हा. वृ., पत्र १८५
(ख) तणस्स जहा—अज्जगमूलादीणं। —जि. चू., पृ. १९७
(ग) तरुणिया नाम कोमलिया। —जि. चू., पृ. १९७
(घ) तरुणां वा असंजाताम्। —हा. टी., पत्र १८५

१९. (क) नीमं—नीवफलं—कदम्बफलं। —अ. चू., पृ. १३०
(ख) नीमं-नीमरुक्खस्स फलं। —जि. चू., पृ. १९८
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. २८१

२०. (क) दसवेयालियं (मुनि. नथ.) पृ. २६८
(ख) कासवनालिअं-सीवण्णीफलं कस्सारुकं। —अ. चू., पृ. १३०
(ग) तिलपप्पडगो—जो आमगेहिं तिलेहिं कीरइ, तमवि आमगं परिवज्जेज्जा। —जि. चू., पृ. १९८

पिष्ट—आटा अथवा (२) भुने हुए चावलों का पिष्ट। ये दोनों जब तक अपरिणत हों, तब तक सचित्त हैं।[२१]

वियडं वा तत्त-निव्वुडं : चार रूप : चार अर्थ—(१) **विकटं तप्तनिर्वृतम्**—इन दोनों को एक पद मान कर अर्थ किया गया है, जो उष्णोदक पहले गर्म किया हुआ हो, किन्तु कालमर्यादा व्यतीत होने पर पुनः सचित्त हो गया हो। वर्तमान परम्परानुसार ग्रीष्मकाल में ५ पहर के बाद, शीतकाल में ४ पहर के बाद और वर्षाकाल में तीन पहर के बाद अचित्त उष्ण जल भी सचित्त हो जाता है, ऐसी कितने ही आचार्यों की मान्यता है, पर मूल आगमों के पाठों में ऐसा संकेत नहीं है। (२) **विकृतं**—अन्तरिक्ष और जलाशय का जल, जो दूसरी वस्तु के मिश्रण से विकृत होने से अचित्त-निर्जीव हो जाता है, जैसा कि आचारांग चूला में विकृत जल के रूप में द्राक्षा आदि का २१ प्रकार का पानक (धोवन) ग्राह्य कहा है।

तप्ताऽनिर्वृत—जो जल तप्त (गर्म किया हुआ) तो हो, किन्तु थोड़ा गर्म किया हुआ होने से पूर्णतया अनिर्वृत—शस्त्रपरिणत न हुआ हो, वह मिश्र जल है।[२२]

पूइ-पिन्नागं : दो रूप : पांच अर्थ—(१) पूति—पोई का साग और पिण्याक—तिल, अलसी, सरसों आदि की खली। (२) **पूतिपिण्याक**—सड़ी हुई दुर्गन्धित खली। (३) सरसों की पिट्ठी। (४) सरसों का पिण्ड (भोज्य)। (५) सरसों की खली पिण्याक।[२३]

कविट्ठं आदि के अर्थ—कविट्ठं—कपित्थ या कैथ का फल, जिसका वृक्ष कंटीला होता है, जिसके फल बेल के आकार के कसैले या खट्टे होते हैं। **माउलिंगं : मातुलिंग**—बिजौरा। **मूलकं : मूलक**—पत्ते के सहित मूली। **मूलगत्तियं**—मूलकर्तिका कच्ची मूली का गोल टुकड़ा। वृत्ति के अनुसार मूलवर्त्तिका—कच्ची मूली।[२४]

---

२१. (क) चाउलं पिट्ठ-लोट्ठो, तं अभिणवमणिधणं सच्चित्तं भवति। —अ. चू. पृ. १३०
(ख) चाउलं पिट्ठं भट्ठं भण्णइ, तमपरिणतधम्मं सचित्तं भवति। —जि. चू., पृ. १९८

२२. (क) वियडं उण्होदगं। —अ. चू., पृ. १३०
(ख) तप्तनिवृतं—क्वथितं तत् शीतीभूतम्। —हा. टी., पत्र १८५
(ग) वियड त्ति पानकाहारः। (विकृतम् जलं) —ठाणांग-३।३४९ वृत्ति
(घ) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. २८२
(ङ) तप्ताऽनिर्वृतं वा-अप्रवृत्तत्रिदण्डम्। —हा. टीका, पृ. १८५

२३. (क) पूति-पिण्याकं-सर्षपखलम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १८५
(ख) पिण्याकः—खलः। —सूत्रकृ. २।६।२६ प. ३९६ वृ.
(ग) पूतियं नाम सिद्धत्थपिण्डगो, तत्थ अभिन्ना वा सिद्धत्थगा भोज्जा, दरभिन्ना वा।
—जिन. चूर्णि, पृ. १९८
(घ) पूइ-पोई-पिण्याकतिल कल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि। —सुश्रुत सू. ४६।३२१

२४. (क) कपित्थं कपित्थफलम्। मातुलिंगं च बीजपूरकं। मूलवर्त्तिकां-मूलकन्द-चक्कलिम्।
—हारि. वृत्ति, पत्र १८५
(ख) मूलग्गो—सपत्तपलासो, मूलकत्तिया—मूलकंदा चित्तलिया भण्णइ। —जिनदास चूर्णि, पृ. १९८

बीयमंथूणि, फलमंथूणि : अर्थ और स्पष्टीकरण—बीजमन्थु—जौ, उड़द, मूंग, गेहूँ आदि के चूर्ण (—चूरे) को 'बीजमंथु' कहते हैं। बीजों के चूरे या कूट में अखण्ड बीज (दाना) रहना सम्भव है, इसी कारण इसे उत्पक्व—अशस्त्रपरिणत, अतएव सचित्त माना है। **फलमन्थु : दो अर्थ**—(१) बेर आदि फलों का चूर्ण (चूरा या कूट), (२) बेर का चूर्ण या कूट। **बिहेलगं**—विभीतक—बहेड़ा का फल, जो त्रिफला में मिलता है, दवा के काम में आता है। यह अखण्ड फल सचित्त है, इसका कूटा हुआ चूर्ण अचित्त है। **पियालं—प्रियाल : तीन अर्थ**—(१) चिरौंजी का फल, (२) रायण का फल, (३) द्राक्षा।[२५]

सामुदानिक भिक्षा का विधान

२३८. समुदाणं चरे भिक्खू, कुलं उच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥२५॥

[२३८] भिक्षु समुदान (सामूहिक) भिक्षाचर्या करे। (वह) उच्च और नीच सभी कुलों में (भिक्षा के लिए) जाए, (किन्तु) नीचकुल (घर) को छोड़ (लांघ) कर उच्चकुल (घर) में न जाए ॥ २५ ॥

विवेचन—भिक्षाचर्या में समभाव की दृष्टि रखे—प्रस्तुत सूत्रगाथा में साधु-साध्वी को भिक्षाचर्या में समभाव की दृष्टि रखने हेतु समुदान भिक्षा का निर्देश किया गया है। एक ही या दो-तीन घरों से ही भिक्षा ली जाए तो उसमें एषणाशुद्धि रहनी कठिन है। साधु की स्वादलोलुपता भी बढ़ सकती है। इसलिए अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा लेने से और सधन-निर्धन-मध्यम सभी घरों से आहार-पानी लेने से एषणाशुद्धि और समतावृद्धि होती है।

उच्च-नीच कुल का अर्थ—जो घर जाति से उच्च, धन से समृद्ध हों, और मकान भी विशाल हो, ऊँचा हो, तथा जहाँ मनोज्ञ आहार मिले, वह कुल (घर) 'उच्च' कहलाता है। जो घर जाति से नीच हो, धन से समृद्ध न हो और मकान भी विशाल एवं ऊँचा न हो, जहाँ मनोज्ञ आहार न मिलता हो, वह कुल (घर) नीचकुल है। साधु इस प्रकार नीचकुल को छोड़ कर या लांघ कर ऊँचे कुलों में भिक्षार्थ न जाए। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि जुगुप्सित कुल में भिक्षा के लिए जाना निषिद्ध है।

---

२५. (क) बीयमंथू—जव-मास-मुग्गादीणि। फलमंथू—बदर-ओंबरादीणं भण्णइ। —जिन. चूर्णि, पृ. १९८
(ख) फलमन्थून्—बदरचूर्णान्। बीजमन्थून्—यवादिचूर्णान्। —हारि. वृत्ति, १९८
(ग) बिभेलगं—भूतरुक्खफलं, (बिभीतकफलम्)। —अ. चूर्णि, पृ. १३०
(घ) पियालं पियालरुक्खफलं वा। —अ. चूर्णि, पृ. १३०
(ङ) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. २८४
(च) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, ५१७-५१८

नीच और 'अवच' तथा 'ऊसढ' (उच्छ्रित) और उच्च दोनों एकार्थक हैं।[२६]

दीनता, स्तुति एवं कोप आदि का निषेध

२३९. अदीणो वित्तिमेसेज्जा, न विसीएज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणम्मि मायन्ने एसणारए॥ २६॥

२४०. बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइम-साइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा॥ २७॥

२४१. सयणासण-वत्थं वा भत्त-पाणं व संजए।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा, पच्चक्खे वि य दीसओ॥ २८॥

२४२. इत्थियं पुरिसं वा वि डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणं न जाइज्जा नो य णं फरुसं वए॥ २९॥

२४३. जे न वंदे, न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठई॥ ३०॥

[२३९] विवेकशाली (पण्डित) साधु दीनता से सर्वथा रहित होकर वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे। (भिक्षा न मिले तो) विषाद न करे। (सरस) भोजन (मिलने पर उस) में अमूर्च्छित (अनासक्त) रहे। मात्रा को जानने वाला मुनि (आहार-पानी की) एषणा (पूर्वोक्त एषणात्रय) में रत रहे॥ २६॥

[२४०] गृहस्थ (पर) के घर में अनेक प्रकार का प्रचुर खाद्य तथा स्वाद्य आहार होता है; (किन्तु न देने पर) पण्डित मुनि (उस पर) कोप न करे; परन्तु ऐसा विचार करे कि यह गृहस्थ (पर) है, (यह) दे या न दे इसकी इच्छा॥ २७॥

[२४१] संयमी साधु प्रत्यक्ष (सामने) दीखते हुए भी शयन, आसन, वस्त्र, भक्त और पान, न देने वाले पर क्रोध न करे॥ २८॥

---

२६. (क) समुयाणीयंति—समाहरिज्जंति तदत्थं चाउलसाकतो रसादीणि तदुपसाधणाणीति अण्णमेव 'समुदाणं चरे'—गच्छेदिति। अहवा पुव्वभणितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धमण्णं समुदाणीयं चरे। —अ. चू., पृ. १३१

(ख) समुदाया णिज्जइ त्ति-थोवं थोवं पडिवज्जइ त्ति वुत्तं भवइ। —जि. चू. १९८

(ग) जिनदास. चूर्णि, पृ. १९८-१९९

(घ) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. २८४

(ङ) '....णो णीयाणि अतिक्कमेज्जा, किं कारणं ? दीहा भिक्खायरिया भवति, सुत्तत्थपलिमंथो य जडजीवस्स य अण्णे न रोयंति। जे ते अतिक्कमिज्जंति, ते अप्पत्तियं करेंति, जहा परिभवति एस अम्हेत्ति,, पव्वइयो वि जातिवायं ण मुयति। जातिवाओ य उववूहितो भवति।' —जि. चूर्णि, पृ. १९९

[२४२] (निर्ग्रन्थ श्रमण) स्त्री या पुरुष, बालक या वृद्ध वन्दना कर रहा हो, तो उससे किसी प्रकार की याचना न करे तथा आहार न दे तो उसे कठोर वचन भी न कहे ॥ २९ ॥

[२४३] जो वन्दना न करे, उस पर कोप न करे, (और राजा, नेता आदि कोई महान् व्यक्ति) वन्दना करे तो (मन में) उत्कर्ष (अहंकार) न लाए—(गर्व न करे) इस प्रकार भगवदाज्ञा का अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य (साधुत्व) अखण्ड रहता है ।

विवेचन—भिक्षाचर्या में श्रमणत्व का ध्यान रखे—प्रस्तुत सूत्रगाथाओं (२३९ से २४३ तक) में भिक्षाचर्या करते समय साधु को क्षमा, मार्दव, आर्जव, अदैन्य, मन-वचन-काय-संयम, तप, त्याग आदि श्रमणधर्मों (श्रमणत्व को अखण्ड रखने वाले गुणों) को सुरक्षित रखने का निर्देश किया गया है ।

(१) **अदीणो वित्तिमेसेज्जा**—गृहस्थ के सामने अपनी दीनता-हीनता प्रदर्शित करके या गिड़गिड़ा कर या लाचारी बताकर भिक्षाचर्या न करे, न आहार की याचना करे, क्योंकि दीनता प्रकट करने से आत्मा का अध:पतन और जिनशासन की लघुता होती है । मन में दीनता आ जाने से शुद्ध आहार की गवेषणा नहीं हो सकती । किसी प्रकार से आहार से पात्र भरने की वृत्ति आजाती है । दीनता 'त्याग' नामक श्रमणधर्म को खण्डित कर देती है ।

(२) **न विसीएज्ज**—कदाचित् शुद्ध गवेषणा करने पर भी आहार-पानी न मिले तो मन में किसी प्रकार का विषाद न करे । क्योंकि विषाद करने से आर्त्तध्यान होता है, क्षान्तिगुण का ह्रास हो जाता है ।

(३) **अमुच्छिओ**—साधु सरस स्वादिष्ट आहार में मूर्च्छित—आसक्त—न हो, क्योंकि इससे निर्लोभता (मुक्ति) का गुण लुप्त हो जाता है । रसलोलुप बनने पर साधु सरल आहार मिलने वाले घरों में जाएगा, ऐसी स्थिति में एषणाशुद्धि नहीं रह सकेगी ।

(४) **मायण्णे**—साधु को अपने आहार के परिमाण का जानकार होना आवश्यक है, क्योंकि अधिक आहार लाने पर उसका परिष्ठापन करने से असंयम होगा । संयम नामक श्रमणधर्म का ह्रास होगा ।

(५) **एषणारए**—भिक्षाचर्या का अभिप्राय एषणाशुद्ध आहार लाना है । अत: भिक्षाचरी के समय पंचेन्द्रियविषयों या अन्य बातों अथवा गप्पों से[२७] ध्यान हटाकर केवल एषणा में ही ध्यान रखना है, अन्यथा वह अहिंसादि धर्म से विचलित हो जाएगा ।

अदितस्स न कुप्पेज्जा—गृहस्थ के यहाँ जाने पर साधु अनेक प्रकार की शयन, आसन, वस्त्र, विविध सरस आहार आदि प्रत्यक्ष देखता है, परन्तु यदि गृहस्थ की भावना नहीं है तो वह नहीं देता । उसकी इच्छा है, वह दे या न दे । किन्तु न देने पर साधु उसे न झिड़के, न डांटे-फटकारे, या न ही गालीगलौज करे, न किसी प्रकार का शाप दे । क्योंकि ऐसा करने से उसका क्षमा नामक श्रमण-

---

२७. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २७७
(ख) दशवै. (आचारमणि मं. टीका) भा. १, पृ. ५२०

धर्म लुप्त हो जाएगा । अतः साधु न देने पर कुछ भी बोले बिना या मन में द्वेष, घृणा या रोष का भाव लाए बिना चुपचाप वहाँ से निकल जाए ।[२८]

वंदमाणं न जाइज्जा—चूर्णिद्वय और हारि. वृत्ति में इसकी व्याख्या की गई है—वन्दना करने वाले स्त्री, पुरुष, बालक अथवा वृद्ध पुरुष से साधु किसी प्रकार की याचना न करे, क्योंकि इस प्रकार याचना करने से वन्दना करने वाले लोगों के हृदय में साधु के प्रति श्रद्धा-भक्ति समाप्त हो जाती है। साधु मन में यह न सोचे कि इसने मुझे वन्दन किया है, इसलिए यह अवश्य ही भद्र है, इससे याचना करनी चाहिए, किन्तु सभी सम्पन्न नहीं होते, और जो सम्पन्न होते हैं, वे सभी भावुक नहीं होते। किसी की परिस्थिति या भावना अनुकूल नहीं होती, वह साधु के वचनों का अनादर कर सकता है, अथवा साधु के स्वाभिमान को चोट पहुँचा सकता है । यदि याचना करने पर भी वन्दना करने वाला कोई गृहस्थ निर्दोष आहार-पानी न दे तो उसे झिड़कना या कठोर वचन नहीं कहना चाहिए । दोनों चूर्णियों तथा टीका में **'वंदमाणो न जाएज्जा'** पाठान्तर मिलता है । तात्पर्य यह है कि साधु गृहस्थ की प्रशंसा करता हुआ याचना न करे । यह पाठ भी संगत प्रतीत होता है, क्योंकि 'पूर्व-पश्चात्-संस्तव' नामक एषणादोष इसी अर्थ को द्योतित करता है । आचारचूला और निशीथसूत्र में इसी पाठ का समर्थन मिलता है ।[२९]

वन्दना न करने वाले पर कोप और वन्दन करने पर गर्व न करे—ये दोनों दोष भिक्षाजीवी साधु में नहीं होने चाहिए । कोप से क्षमाधर्म का और गर्व से मार्दव धर्म का नाश होता है । साधु को यही चिन्तन करना चाहिए कि किसी के वन्दना करने या न करने से साधु को कोई लाभ नहीं है, उसके कर्म नहीं कट जाएँगे, न मोक्ष प्राप्त होगा । वन्दना करने से कुछ लाभ है तो गृहस्थ को है। अतः साधु को वन्दना करने या न करने वाले दोनों पर समभाव रखना चाहिए ।[३०]

सामण्णमणुचिट्ठइ—इन भगवत्प्ररूपित सूत्रों के अनुसार चलने से साधु-साध्वी श्रामण्य (श्रमणधर्म) में स्थिर रहते हैं। अथवा इन जिनाज्ञाओं का अनुसरण करने वाले साधु का साधुत्व अखण्ड रहता है । निष्कर्ष यह है कि साधु आत्मगुणों से वाह्य इन विभावों या परभावों में न उलझ कर स्वभाव में स्थिर रहे ।[३१]

---

२८. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २७९
(ख) पण्डिए इति पदेन सदसद्विवेकशालित्वं, तेन च मनोविजयित्वमावेदितम् ।
—दश. (आ. म. मं. टीका) भा. १, पृ. ५२२

२९. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मा.), पृ. २८०
(ख) दशवै. (आ. म. मं. टीका) भा. १, पृ. ५२३-५२४
(ग) पाठविशेषो वा—'वंदमाणो न जाएज्जा ।' —अ. चू., पृ. १३२
(घ) जिनदासचूर्णि, पृ. २००
(ङ) 'नो गाहावइं वंदिय-वंदिय जाएज्जा, नो व णं फरुसं वएज्जा ।' —आचारचूला, १।६२। निशीथ २।३८

३०. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २८१
(ख) दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका), भा. १, पृ. ५२५

३१. (क) अन्वेषमाणस्य भगवदाज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठति अखण्डमिति । —हारि. वृत्ति, पत्र १८६
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २८१

स्वादलोलुप और मायावी साधु की दुर्वृत्ति का चित्रण और दुष्परिणाम

२४४. सिया एगइओ लद्धुं लोभेण विणिगूहइ।
मा मेयं दाइयं संतं दट्ठूणं सयमायए ॥ ३१ ॥

२४५. अत्तट्ठ□ गुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वई।
दुत्तोसओ य से होइ, निव्वाणं च न गच्छई ॥ ३२ ॥

२४६. सिया एगइओ लद्धुं, विविहं पाण-भोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा, विवण्णं विरसमाहरे ॥ ३३ ॥

२४७. जाणंतु ता इमे समणा आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवई पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ॥ ३४ ॥

२४८. पूयणट्ठी जसोकामी माण-सम्माणकामए।
बहुं पसवई पावं मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ३५ ॥

[२४४-२४५] कदाचित् कोई एक (अकेला साधु सरस आहार) प्राप्त करके इस लोभ से छिपा लेता है कि मुझे मिला हुआ यह आहार गुरु को दिखाया गया तो वे देख कर स्वयं ले लें, मुझे न दें; (परन्तु) ऐसा अपने स्वार्थ को ही बड़ा (सर्वोपरि) मानने वाला स्वादलोलुप (साधु) बहुत पाप करता है और वह सन्तोष भाव से रहित हो जाता है। (ऐसा साधु) निर्वाण को नहीं प्राप्त कर पाता ॥३१-३२॥

[२४६-२४७] कदाचित् कोई एक साधु विविध प्रकार के पान और भोजन (भिक्षा में) प्राप्त कर (उसमें से) अच्छा-अच्छा (सरस पदार्थ कहीं एकान्त में बैठ कर) खा जाता है और विवर्ण (वर्णरहित) एवं नीरस (तुच्छ भोजन-पान) को (स्थान पर) ले आता है। (इस विचार से कि) ये श्रमण जानें कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी है, सन्तुष्ट है, प्रान्त (सार-रहित) आहार सेवन करता है, रूक्षवृत्ति एवं जैसे तैसे आहार से सन्तोष करने वाला है ॥३३-३४॥

[२४८] ऐसा पूजार्थी, यश-कीर्ति पाने का अभिलाषी तथा मान-सम्मान की कामना करने वाला साधु बहुत पापकर्मों का उपार्जन करता है और मायाशल्य का आचरण करता है ॥३५॥

विवेचन—आहार के परिभोग में मायाचार सम्बन्धी परिचर्चा—प्रस्तुत ५ सूत्र गाथाओं (२४४ से २४८ तक) में स्वार्थी, स्वादलोलुप एवं मायाचारी साधु की मनोवृत्ति का चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

दो प्रकार की मायाचार-प्रवृत्ति—(१) भिक्षाप्राप्त सरस आहार को गुरु से छिपा कर सारा का सारा आहार स्वयं सेवन करने की प्रवृत्ति, (२) दूसरी, सरस श्रेष्ठ आहार को एकान्त में सेवन करके उपाश्रय में नीरस आहार लाना है। दोनों में से प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति वाला साधु निजी

पाठान्तर □ अनट्ठा-गुरुओ।

स्वार्थ को प्रमुखता देकर बहुत पाप उपार्जित करता है। वह सदैव नीरस आहार से असन्तुष्ट रहता है, मोक्ष से दूर हो जाता है। दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति वाला साधु बहुत मायाचारी करता है। वह प्रशंसा और प्रसिद्धि पाने की दृष्टि से ऐसा करता है ताकि वे उसे आत्मार्थी, सन्तोषी, नीरसाहारी, रूक्षजीवी समझें, ऐसे साधु की मनोवृत्ति का स्पष्ट चित्रण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'वह पूजा-सत्कार पाने का इच्छुक, यशोलिप्सु एवं सम्मान-कामना से प्रेरित है। वह तीव्र मायाशल्य का सेवन करता है जिसके फलस्वरूप अनेक पाप-कर्मों का बन्ध कर लेता है।

'विणिगूहई' आदि विशेष शब्दों के अर्थ—विणिगूहई—नीरस वस्तु को ऊपर रख कर सरस वस्तु को ढँक लेता है। **आययट्ठी : तीन अर्थ**—(१) आयतार्थी—मोक्षार्थी। (२) आयति अर्थी—आयति—आगामी काल के हित का अर्थी—अभिलाषी। (३) आत्मार्थी। **लूहवित्ती-रूक्षवृत्ति**—(१) रूक्षभोजी, (सरस स्निग्ध आहार की लालसा से रहित) और (२) संयमवृत्ति वाला। **पसवई**—उत्पन्न या उपार्जन करता है। **पूयणट्ठा**—पूजा चाहने वाला अर्थात्—वस्त्र-पात्रादि से सत्कार चाहने वाला। **माणसम्माणकामए**—वन्दना, अभ्युत्थान (आने पर खड़ा हो जाना) आदि मान है, और वस्त्र-पात्रादि का लाभ सम्मान है। अथवा एकदेशीय पूजाप्रतिष्ठा मान है, और सर्व प्रकार से पूजाप्रतिष्ठा सम्मान है। मान-सम्मान का अभिलाषी—मानसम्मान-कामुक है।[३०]

मद्यपान, स्तैन्यवृद्धि आदि तज्जनित दोष एवं दुष्परिणाम

२४९. सुरं वा मेरगं वा वि अन्नं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥३६॥

२५०. पियए एगओ+तेणो, न मे कोइ वियाणइ।
तस्स पस्सह दोसाइं नियडिं च सुणेह मे ॥३७॥

---

३०. (क) "विविहेहिं पगारेहिं गूहति विणिगूहति, अप्पसारियं करेइ, अन्नेण अंतपंतेण ओहाडेति।" —जिनदासचूर्णि, पृ. २०१

(ख) विनिगूहते—अहमेव भोक्ष्ये, इत्यन्त-प्रान्तादिनाऽऽच्छादयति। —हा. वृत्ति, पत्र १८७

(ग) आयतो मोक्खो, तं आययं अत्थयतीति आययट्ठी। —जिन. चूर्णि, पृ. २०२

(घ) आयतट्ठी—'आगामिणि काले हितमायतीहितं, आयतीहितेण अत्थी आयत्थाभिलासी। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १३३

(ङ) दश. (आ. म. मं. टीका) भा. १, पृ. ५२८

(च) रूक्षवृत्तिः संयमवृत्तिः। —हारि. वृत्ति, पत्र १८७

(छ) लूहाइ से वित्ती, एतस्स ण णिहारे गिद्धी अत्थि। —जि. चू., पृ. २०२

(ज) तत्र वन्दनाऽभ्युत्थानलाभनिमित्तो मानः, वस्त्र-पात्रादिलाभनिमित्तः सम्मानः। —हारि. वृत्ति, पत्र १८७

(झ) अहवा माणो एगदेसे कीरइ, सम्माणो पुण सव्वपगारेहिं इति। —जिन. चूर्णि, पृ. २०२

पाठान्तर—+ पियाएगइओ।

२५१. वड्ढइ सोंडिया तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ॥३८॥

२५२. निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई।
तारिसो मरणंते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ॥३९॥

२५३. आयरिए नाराहेइ, समणे यावि तारिसो।
गिहत्था वि णं गरहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥४०॥

२५४. एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जए।
तारिसो मरणं ते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ॥४१॥

२५५. तवं कुव्वइ मेहावी पणीयं वज्जए रसं।
मज्ज-प्पमाय-विरओ, तवस्सी अइ उक्कसो ॥४२॥

२५६. तस्स पस्सह कल्लाणं अणेगसाहुपूइयं।
विउलं अत्थसंजुत्तं कित्तइस्सं सुणेह मे ॥४३॥

२५७. एवं तु गुणप्पेही× अगुणाणं+ विवज्जए।
तारिसो मरणंते वि आराहेइ संवरं ॥४४॥

२५८. आयरिए आराहेइ समणे यावि तारिसो।
गिहत्था वि णं पूयंति जेण जाणंति तारिसं ॥४५॥

२५९. तवतेणे वइतेणे रूवतेणे य जे नरे।
आयार-भावतेणे य कुव्वई देवकिव्विसं ॥४६॥

२६०. लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिव्विसे।
तत्थावि से न याणाइ किं मे किच्चा इमं फलं? ॥४७॥

२६१. तत्तो वि से चइत्ताणं लब्भिही☐ एलमूयगं।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥४८॥

२६२. एयं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं।
अणुमायं पि मेहावी मायामोसं विवज्जए ॥४९॥

[२४९] अपने संयम (यश) की सुरक्षा करता हुआ भिक्षु सुरा (मदिरा), मेरक या अन्य किसी भी प्रकार का मादक रस आत्मसाक्षी से (या केवली भगवान् की साक्षी से) न पीए ॥३६॥

पाठान्तर— × एवं तु स गुणप्पेही। + अगुणाणं च विवज्जए।
☐ लब्भइ।

[२५०] 'मुझे कोई नहीं जानता-देखता', यों विचार कर एकान्त में अकेला (मद्य) पीता है, वह (भगवान् की आज्ञा का लोपक होने से) चोर है। उसके दोषों को (तुम स्वयं) देखो, और मायाचार (कपटवृत्ति) को मुझ से सुनो ।।३७।।

[२५१] उस (मद्यपायी) भिक्षु की (मदिरापानसम्बन्धी) आसक्ति, माया-मृषा, अपयश, अनिर्वाण (अतृप्ति) और सतत असाधुता बढ़ जाती है ।।३८।।

[२५२] जैसे चोर सदा उद्विग्न (घबराया हुआ) रहता है, वैसे ही वह दुर्मति साधु अपने दुष्कर्मों से सदा उद्विग्न रहता है। ऐसा मद्यपायी मुनि मरणान्त समय में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता ।।३९।।

[२५३] न तो वह आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणों की। गृहस्थ भी उसे वैसा (मद्य पीने वाला दुश्चरित्र) जानते हैं, इसलिए उसकी निन्दा (गर्हा) करते हैं ।।४०।।

[२५४] इस प्रकार अगुणों (मद्यपानजनित अनेक दुर्गुणों) को ही (अहर्निश) प्रेक्षण (ध्यान या धारण) करने वाला और गुणों (ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों) का त्याग करने वाला उस प्रकार का साधु मरणान्तकाल में भी संवर (चारित्र) की आराधना नहीं कर पाता ।।४१।।

[२५५-२५६] (इसके विपरीत) जो मेधावी और तपस्वी साधु तपश्चरण करता है, प्रणीत (स्निग्ध) रस से युक्त पदार्थों का त्याग करता है, जो मद्य (मादक द्रव्यों) और प्रमाद से विरत है, अहंकारातीत है अथवा अत्यन्त उत्कृष्ट साधु है; उसके अनेक साधुओं द्वारा पूजित (प्रशंसित या वन्दित) विपुल एवं अर्थसंयुक्त कल्याण को स्वयं देखो और मैं उसके (गुणों का) कीर्तन (गुणानुवाद) करूंगा, उसे मुझ से सुनो ।।४२-४३।।

[२५७] इस प्रकार (ज्ञानादि) गुणों की प्रेक्षा करने वाला और अगुणों (प्रमादादि दोषों) का त्यागी शुद्धाचारी साधु मरणान्त काल में भी संवर की आराधना करता है ।।४४।।

[२५८] (वह संवराराधक साधु) आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे उस प्रकार का शुद्धाचारी जानते हैं, इसलिए उसकी पूजा (सन्मान-सत्कार-प्रशंसा) करते हैं ।।४५।।

[२५९] (किन्तु) जो (साधु होकर भी) तप का चोर है, वचन का चोर है, रूप का चोर है, आचार तथा भाव का चोर है, वह किल्विषिक देवत्व के योग्य कर्म करता है ।।४६।।

[२६०] देवत्व (देवभव) प्राप्त करके भी किल्विषिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ वह वहाँ यह नहीं जानता कि यह मेरे किस कर्म (कृत्य) का फल है ? ।।४७।।

[२६१] वह (किल्विषिक देव) वहाँ से च्युत हो कर मनुष्यभव में एडमूकता (बकरी या भेड की तरह गूंगापन) अथवा नरक या तिर्यञ्चयोनि को प्राप्त करेगा जहाँ उसे बोधि की (प्राप्ति) अत्यन्त दुर्लभ है ।।४८।।

[२६२] इस (पूर्वोक्त) दोष (-समूह) को जान-देख कर ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने कहा कि मेधावी मुनि अणुमात्र (लेशमात्र) भी मायामृषा (कपटसहित झूठ) का सेवन न करे ।।४९।।

विवेचन—मद्यपानजनित दोष और दुष्परिणाम—प्रस्तुत १४ सूत्रगाथाओं (२४९ से २६२ तक) में साधु मद्यपान का दुर्गुण लग जाने पर किन-किन महादोषों से वह घिर जाता है और उनके क्या-क्या दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं ? इसका विशद निरूपण है। तथा ४ गाथाओं में इस महादुर्गुण तथा महादोषों से बच कर चलने वाले शुद्धाचारी साधु के प्रशंसनीय जीवन का निरूपण भी है। यह पान-परिभोगैषणा से सम्वन्धित दोष है।

मद्यपानजनित महादोष—मद्यपायी साधु के जीवन में निम्नोक्त दोष घर कर जाते हैं—(१) अकेला और एकान्त में छिप कर पीने से मायाचार, (२) चोरी, (भगवदाज्ञालोपनरूप चौर्य), (३) पानासक्ति में वृद्धि, (४) मायामृषा—वृद्धि, (५) अपकीर्ति, (६) अतृप्ति, (७) असाधुता का दौर, (८) चोर की तरह मन में सदैव उद्विग्नता, (९) मरणान्तकाल तक भी संवर की आराधना का अभाव, (१०) आचार्य एवं श्रमणों की अनाराधना—अप्रसन्नता, (११) गृहस्थों के द्वारा निन्दा, घृणा। (१२) दुर्गुणप्रेक्षण, (१३) ज्ञानादिगुणोंका ह्रास, एवं (१४) अन्त में तप, वचन, रूप, आचार और भाव का स्तैन्य (चौर्य)।[३१]

सुरा, मेरक और मद्यकरस : स्वरूप और प्रकार—सुरा और मेरक ये दोनों मदिरा के ही प्रकार हैं। भावमिश्र के अनुसार उवाले हुए शालि, षष्टिक (साठी) आदि चावलों को संधित करके तैयार की हुई मदिरा 'सुरा' कही जाती है। किन्तु अन्य आचार्यों ने मदिरा की तीन किस्में वताई हैं—गौड़ी, माध्वी और पैष्टी। गुड़ से निष्पन्न गौड़ी, महुआ से निष्पन्न माध्वी और धान्य आदि के पिष्ट (आटे) से वनाई हुई पैष्टी कहलाती है। एक आचार्य ने मद्य के १२ प्रकार वताए हैं—(१) महुआ का, (२) पानस (अनन्नास) का, (३) द्राक्षा का, (४) खजूर का, (५) ताड़ का (ताड़ी), (६) गन्ने का, (७) मैरेय—धावड़ी के फूल का, (८) मधुमक्खियों का (माक्षिक), (९) कविट्ठ—कैथ का (टांक), (१०) मधु—अन्य प्रकार के शहद का, (११) नारियल का और (१२) आटे का (पैष्ट)।[३२]

मैरेय : मेरक : विभिन्न परिभाषाएँ—(१) सुरा को पुनः सन्धान करने से निष्पन्न होने वाली सुरा, (२) धाई के फल, गुड़ तथा धान्याम्ल (कांजी) के सन्धान से तैयार की जाने वाली, (३)

---

३१. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ३६-३७

३२. (क) 'शालि-षष्ठिक-पिष्टादिकृतं मद्यं सुरा स्मृता।' —चरक पूर्व भा. (सूत्रस्थान) अ. २५, पृ. २०३

(ख) मदिरा त्रिविधा—माध्वी (मधुकेन निष्पादिता), गौडी (—गुडनिष्पादिता), पैष्टी (व्रीह्यादिपिष्ट-निर्वृतेति)। द्वादशविधमद्यानि, यथा—

माध्वीकं पानसं द्राक्षं, खार्जूरं नारिकेलजम्।
मैरेयं माक्षिकं टांकं, माधूकं तालमैक्षवम्।
मुख्यमन्नविकारोत्थं, मद्यानि द्वादशैव च ॥

—दशवै. (आचारमणिमंजूषा), टीका भा. १, पृ. ५३१-५३२

आसव और सुरा को एक बर्तन में सन्धान करने से निष्पन्न मद्य (४) कैथ की जड़, बेर और खांड का एकत्र सन्धान करके तैयार की मदिरा।[३३] (५) सिरका नामक मद्य है।❋

मद्यकरस—भांग, गांजा, अफीम, चरस आदि मदजनक या मादक रस-द्रव्य को मद्यक रस कहते हैं। जो-जो द्रव्य बुद्धि को लुप्त करते हैं, वे मदकारी—मद्यक कहलाते हैं।[३४]

जसं सारक्खमप्पणोः—अपने यश अथवा अपने संयम की सुरक्षा करने के लिए। यहाँ यश शब्द का सभी टीकाकारों ने 'संयम' अर्थ किया है।[३५]

ससक्खं : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **स्वसाक्ष्य**—आत्मसाक्षी से, (२) **ससाक्ष्य**—सदा के लिए मद्य-परित्याग में साक्षीभूत केवली के द्वारा निषिद्ध, (३) ससाक्ष्य—गृहस्थों की साक्षी से न पीए।[३६]

संवर : तीन अर्थों में—(१) प्रत्याख्यान, (२) संयम, और (३) चारित्र।[३७]

मेधावी : बुद्धिमान् के दो प्रकार हैं—(१) ग्रन्थमेधावी=बहुश्रुत, शास्त्र-पारंगत और (२) मर्यादा-मेधावी—शास्त्रोक्त मर्यादाओं के अनुसार चलने वाला।[३८]

मद्यप्रमाद : स्पष्टीकरण—मद्य और प्रमाद ये दोनों भिन्नार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु भिन्नार्थक नहीं हैं। मद्य प्रमाद का हेतु है। इसलिए यहाँ मद्य को ही प्रमाद कहा गया है।[३९]

---

३३. (क) 'मेरकं वापि प्रसन्नाख्याम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १८८
(ख) 'मैरेयं धातकीपुष्प-गुड-धान्याम्ल-सन्धितम्।' —चरक पू. भा. सूत्रस्थान अ. २५, पृ. २०३
(ग) "आसवश्च सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने, संधानं तद्विजानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम्।"
—वही, अ. २७, पृ. २४०
(घ) मालूरमूलं बदरी शर्करा च तथैव हि। एषामेकत्र सन्धानात् मैरेयी मदिरा स्मृता।—वही अ. २५, पृ. २०३
❋ मेरकं सरकानामधेयं मद्यम्। —दश. आ. म. मं. टीका, पृ. ५३२

३४. 'माद्यकं—मदजनकं रसम्, मादकत्वेन द्वादशविधमद्यस्य तदितरस्य विजयादेश्च सर्वस्य संग्रहः।'
—दशवै. (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १; पृ. ५३२

३५. 'यशः शब्देन संयमोऽभिधीयते।' —हारि. वृत्ति, पत्र १८८

३६. (क) सक्खीभूतेण अप्पणा—सचेतणेण इति। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १३४
(ख) ससक्खं नाम सागारिएहिं पडुप्पाइयमाणं। —जि. चू., पृ. २०२
(ग) ससाक्षिकं—सदापरित्यागसाक्षि-केवलि-प्रतिषिद्धं न पिबेत् भिक्षुः। अनेन आत्यन्तिक एव तत्प्रतिषेधः।
—हारि. वृत्ति, पत्र १८८

३७. (क) 'संवरं पच्चक्खाणं।'—अ. चू., पृ. १३४, (ख) संवरो नाम संजमो। —जि. चू., पृ. २०४
(ग) संवरं चारित्रम्। —हारि. वृत्ति, पृ. १८८

३८. मेधावी दुविहो तं०—गंथमेधावी, मेरामेधावी य। तत्थ जो महंतं गंथं अहिज्जति, सो गंथमेधावी, मेरामेधावी णाम मेरा मज्जाया भण्णति, तीए मेराए धावति त्ति मेरामेधावी। —जिन. चू., पृ. २०३

३९. छव्विहे पमाए प. तं.—मज्जपमाए""मद्य-सुरादि, तदेव प्रमादकारणत्वात् प्रमादो मद्यप्रमादः।
—स्थानांग ६-४४

'नियडि' आदि शब्दों के विशेषार्थ—**नियडि-निकृति**—एक कपट को छिपाने के लिए किया जाने वाला दूसरा कपट। प्रथम कपट है—सुरापान, दूसरा है—झूठ बोल कर उसे छिपाना। **सुंडिया-शौण्डिका**—मद्यपान-सम्बन्धी आसक्ति। **अगुणप्पेही-अगुणप्रेक्षी**—दोषदर्शी, प्रमादादि दोषों में लीन। अवगुणों को धारण करने वाला—सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र, क्षमा आज्ञापालन आदि गुणों की उपेक्षा करने वाला। **आयरिए नाराहेइ**—आचार्य और रत्नाधिक श्रमणों की आराधना—अर्थात्-विनय, वैयावृत्य आदि द्वारा प्रसन्न नहीं कर पाता। **अणेगसाहुपूइयं**—अनेक साधुओं द्वारा पूजित प्रशंसित या आचरित-सेवित। अनेक का अर्थ है—इहलौकिक तथा पारलौकिक। **विउलं अट्ठसंजुत्तं**—विपुल का अर्थ है—विशाल, अर्थात् मोक्ष अथवा विस्तीर्ण अक्षय निर्वाण रूप अर्थ से संयुक्त। **एलमूयगं**—मेमने की तरह मैं-मैं करने वाला, भेड का बच्चा। (२) **एडमूल**—अज—बकरे की तरह अनुकरण करने वाला।[४०]

तवतेणे आदि शब्दों की व्याख्या—**तपःस्तेन**—तप का चोर। किसी का मासक्षमण आदि लम्बी तपस्या करने वालों का-सा कृश शरीर देखकर कोई पूछे—वह दीर्घ तपस्वी आप ही हैं?" इसके उत्तर में पूजा-सत्कार पाने के लिए वह कहे कि साधु तो दीर्घ तप करते ही हैं। यह तपःस्तेन है। **वचनस्तेन**—वाणी का चोर। अर्थात्—किसी धर्मकथाकारसदृश या वादी के समान दीखने वाले से कोई पूछे कि आप ही वह धर्मकथाकार हैं? तब वह पूजा-सत्कारार्थी साधु कहे—हाँ, मैं ही हूँ, या कहे—साधु ही तो धर्मकथाकार या वादी होते हैं। यह वचनस्तेन है। **रूपस्तेन**—(रूप का चोर), जैसे प्रव्रजित राजपुत्रादि के समान किसी को देख कर कोई पूछे—आप ही वे राजकुमार हैं, जो वहाँ प्रव्रजित हुए थे? तब हाँ कहे। यह रूपस्तेन है। पर के ज्ञानादि पांच आचारों को अपने में आरोपित करने या बताने वाला **आचारस्तेन** है, जैसे—क्या वे प्रसिद्ध क्रियापात्र आप ही हैं? उत्तर में हाँ कहे, अथवा कहे—साधु तो क्रियापात्र होते ही हैं। यह **भावस्तेन** है। किन्हीं गीतार्थ मुनिवर से सूत्रार्थ-विषयक सन्देहनिवारण होने पर कहे—यह तो मुझे पहले से ही मालूम था, आपने कोई नयी बात नहीं बतलाई। यह भी **भावचोर** है।[४१]

आयरिए नाराहेइ इत्यादि—प्रस्तुत गाथा में मद्यपायी साधु की इहलौकिक दुर्गति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह आचार्यों की आराधना नहीं कर सकता। इसका आशय यह है कि मद्यपान के कारण सदैव कलुषित भाव बने रहने के कारण वह आचार्यों की सेवा, विनय, भक्ति एवं आज्ञापालन से आराधना-उपासना नहीं कर पाता, न वह रत्नाधिक या सहवर्ती श्रमणों की भी सेवाशुश्रूषा या विनय, भक्ति से आराधना कर पाता है। ऐसे मद्यपायी, अनाचारी मायावी एवं मृषावादी मुनि के प्रति गृहस्थों की भी श्रद्धा-भक्ति समाप्त हो

---

४०. (क) विउलं अट्ठसंजुत्तं नाम विपुलं विसालं भण्णति, सो मोक्खो।
(ख) विपुलं विस्तीर्णं विपुलमोक्षावहत्वात् अर्थसंयुक्तं तुच्छतादिपरिहारेण निरुपमसुखरूपमोक्षसाधनत्वात्।
—हारि. वृत्ति, पत्र १८९
(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ. २९८

४१. (क) जिनदासचूर्णि, पृ. २०४ : 'तत्थ तवतेणो णाम ''''''''सोऊण गेण्हइ।'
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३०२-३०३

जाती है। वे लोग उसकी निन्दा करते हैं। उसका यह पाप छिपा नहीं रहता। इसलिए वह सर्वत्र गर्हित और निन्दित होता है। निष्कर्ष यह है कि ऐसा अनाराधक (विराधक) साधु न तो धर्म की आराधना कर सकता है, न धार्मिक महापुरुषों की। सर्वत्र तिरस्कारभाजन बनता है।[४२]

अगुणाणं विवज्जए—अवगुणों का त्याग कर देता है, या (२) अवगुणरूपी ऋण नहीं करता। 'अवगुण' शब्द का आशय यहाँ है—प्रमाद, अविनय, क्रोध, असत्य, कपट, रसलोलुपता आदि)[४३]

समाचारी के सम्यक् पालन की प्रेरणा : उपसंहार

२६३. सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खु सुप्पणिहिइंदिए तिव्वलज्जगुणवं विहरेज्जासि ॥ ५० ॥
—त्ति बेमि ॥

पिण्डेसणाए बीओ उद्देसओ समत्तो

पंचमं पिंडेसणाऽज्झयणं समत्तं ॥ ५ ॥

[२६३] (इस प्रकार) संयमी एवं प्रबुद्ध गुरुओं (आचार्यों) के पास भिक्षासम्बन्धी एषणा की विशुद्धि सीख कर इन्द्रियों को सुप्रणिहित (समाधिस्थ) रखने वाला, तीव्रसंयमी (लज्जाशील) एवं गुणवान् होकर भिक्षु (संयम में) विचरण करे ॥५०॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ॥

विवेचन—एषणाविशुद्धि सीखे और उत्कृष्ट संयम में विचरे—प्रस्तुत उपसंहारगाथा में दो प्रेरणाएँ मुख्यतया विहित हैं।

तिव्वलज्ज-गुणवं : भावार्थ—तीव्र—उत्कृष्ट, लज्जा—संयम और गुण से युक्त होकर।[४४]

॥ पिण्डैषणा अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ पांचवाँ पिण्डैषणा नामक अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

४२. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. २९४

४३. (क) वही, पृ. २९९, (ख) अगस्त्यचूर्णि, पृ. १३६ : 'अगुणो एव रिणं, तं विवज्जेति।'

४४. "लज्जा—संजमो। तिव्वसंजमो-उक्किट्ठो संजमो जस्स सो तिव्वसंजमो भण्णइ।" —जिन. चूर्णि, पृ. २०५

छट्ठं : धम्मऽत्थ-कामऽज्झयणं

(महायारकथा)

छठा : धर्मार्थकामाऽध्ययन (महाचार-कथा)

प्राथमिक

* दशवैकालिक सूत्र का यह छठा अध्ययन है। इसके दो नाम मिलते हैं—'धर्मार्थ-कामाऽऽध्ययन' और 'महाचारकथा'।

* 'धर्मार्थ-काम' का भावार्थ है—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का अर्थ—प्रयोजन भूत जो मोक्ष है, एकमात्र उसी की कामना—अभिलाषा करने वाले मुमुक्षु सत्पुरुष। और महाचारकथा का अर्थ है—(उन्हीं मुमुक्षु पुरुषों के) महान् आचार का कथन। दोनों नामों का संयुक्तरूप से अर्थ यों हुआ—धर्म के लक्ष्यरूप मोक्ष के इच्छुक महापुरुषों के आचार का कथन है।[1]

* श्रुत-चारित्ररूप या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप सद्धर्म, संवर और निर्जरा (कर्मक्षय) से होता है, और उक्त सद्धर्माचरण का फल है—मोक्ष-प्राप्ति। अर्थात्—सद्धर्म के आचरण का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है। और मोक्ष-प्राप्ति कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त हुए बिना नहीं हो सकती। कर्मबन्धन से मुक्त होने का उत्तम मार्ग है—सम्यग्दर्शनादि धर्म का आचरण। निष्कर्ष यह है कि मोक्ष साध्य है, और उसकी प्राप्ति के लिए श्रुत-चारित्ररूप या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म साधन है। महाव्रती साधु-साध्वियों के द्वारा सद्धर्म के आचरण का नाम ही महाचार है। पूर्ण त्याग-मार्ग की साधना करने वाले साधु-साध्वियों के त्यागरूपी प्रासाद के प्रमुख स्तम्भ 'आचार' हैं। आचार-सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रधर्म का अंग है। दूसरे शब्द में कहें तो चारित्र धर्म का सम्यक् पालन करने के लिए जो मौलिक नियम निर्धारित किये जाते हैं, उनका नाम आचार है। उस आचार के बिना निर्ग्रन्थ साधुवर्ग के पांच महाव्रतों का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता।[2]

---

१. (क) "धर्मः चारित्रधर्मादिस्तस्य अर्थ—प्रयोजनं मोक्षस्तं कामयन्ति-इच्छन्तीति धर्मार्थकामाः-मुमुक्षवः।"
—हारि. वृत्ति, पत्र १९२

(ख) "जो पुव्वि उद्दिट्ठो आयारो सो अहीणमइरित्तो। सच्चेव य होइ कहा, आयारकहाए महईए॥"
—निर्युक्ति गा. २०५

२. (क) धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिवं अणाबाहं।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मत्थकामत्ति॥ —निर्युक्ति गा. २६५

(ख) दशवै. (संतबालजी), पृ. ७०

※ प्रस्तुत शास्त्र के तीसरे अध्ययन का नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' है, जबकि इस (छठे) अध्ययन का दूसरा नाम 'महाचारकथा' है। इन दोनों में अन्तर यह है कि क्षुल्लकाचारकथा में साधु-साध्वियों के लिए अनाचरणीय (अनाचार-सम्बन्धी) विविध पहलुओं का उल्लेख है, जब कि इसमें उन्हीं का तथा कुछ अन्य का विधिनिषेधरूप में सहेतुक प्रतिपादन किया है। 'क्षुल्लकाचार-कथा' की रचना निर्ग्रन्थ वर्ग के अनाचारों का संकलन करने के लिए हुई है, जब कि महाचार-कथा की रचना मुमुक्षु महापुरुषों के आचार-विचार सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए हुई है। दोनों की निरूपणपद्धति में अन्तर है। क्षुल्लकाचारकथा में अनाचारों का सामान्यरूप से ही निर्देश किया गया है, जब कि महाचारकथा में यत्र-तत्र सकारण अनाचार-वर्जन की तथा उत्सर्ग और अपवाद की परिचर्चा की गई है। उदाहरणार्थ—इस अध्ययन में एक ओर १८ ही अनाचारस्थान बाल, वृद्ध और रुग्ण सभी प्रकार के साधु-साध्वियों के लिए उत्सर्ग रूप से अनाचरणीय बताए हैं, वहाँ दूसरी ओर 'निषद्या' नामक १६ वें अनाचारस्थान के लिए अपवाद भी बताया है कि 'जराग्रस्त, रोगी और उग्रतपस्वी निर्ग्रन्थ के लिए गृहस्थ के घर में बैठना (निषद्या) कल्पनीय है।' इस प्रकार इस अध्ययन में उत्सर्ग और अपवाद के अनेक संकेत मिलते हैं।[3]

※ साधुजीवन में निवृत्ति, एकान्त निष्क्रियता का तथा धर्मसंघ, गुरु आदि से पृथक् स्वार्थजीविता का रूप न लें ले, इसके लिए 'वीर्याचार' (विधेयात्मक विनय, सेवा-शुश्रूषा, भिक्षाचरी, प्रतिलेखन, स्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति) का सम्यक् विधान भी है।

※ मुमुक्षु निर्ग्रन्थों के लिए निम्नोक्त १८ अनाचारस्थानों का प्रस्तुत अध्ययन में परिभाषाओं तथा कारणों सहित प्रतिपादन किया गया है—व्रतषट्क (हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह एवं रात्रिभोजन इन ६ का त्यागरूप व्रत), कायषट्क (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन षड्जीवनिकायों का संयम), अकल्प (कुछ अकल्पनीय आचार), गृहिभाजन, पर्यंक, निषद्या (गृहस्थ के घर में बैठना), स्नान और शोभावर्जन।[4]

※ प्रस्तुत अध्ययन में निर्ग्रन्थ वर्ग के लिए आचरणीय अहिंसा का आदर्श, सत्यभाषण से लाभ और असत्य के दुष्परिणाम, ब्रह्मचर्य के लाभ और अब्रह्मचर्य के दुष्फल, ब्रह्मचर्यपालन के उपाय, परिग्रह की वास्तविक परिभाषा, आसक्ति और मूर्च्छा का सयुक्तिक स्पष्टीकरण, आदि विषयों का समुचित रूप से समावेश किया गया है।[5] □

---

३. (क) दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४-५, ३९-४०
(ख) दसवेयालिय. (मु. नथमलजी), पृ. २९३

४. वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक—निसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं॥' —निर्युक्ति गा. २६८, समवायांग १८ वां समवाय

५. दशवै. (संतवालजी), पृ. ७१

छट्ठं : धम्मऽत्थकामऽज्झयणं (महायारकथा)

छठा : धर्मार्थकामाऽध्ययन (महाचारकथा)

राजा आदि द्वारा निर्ग्रन्थों के आचार के विषय में जिज्ञासा

२६४. नाण-दंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं।
गणिमागमसंपन्नं उज्जाणम्मि समोसढं ॥ १ ॥

२६५. रायाणो रायमच्चा य माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छंति निहुयऽप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो? ॥ २ ॥

[२६४-२६५] ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में रत, आगम-सम्पदा से युक्त गणिवर्य (आचार्य) को उद्यान में समवसृत (विराजित) (देखकर) राजा और राजमंत्री, ब्राह्मण (माहन) और क्षत्रिय निश्चलात्मा (शान्तमनस्क) होकर पूछते हैं—हे भगवन्! आप (निर्ग्रन्थ-श्रमणवर्ग) का आचार-गोचर कैसा है? ॥ १-२ ॥

विवेचन—राजा आदि की जिज्ञासा का सूत्रपात—प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ राजा आदि की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। वृद्धपरम्परा से जिज्ञासा का सूत्रपात इस प्रकार हुआ—भिक्षा-विशुद्धि का ज्ञाता कोई साधु नगर में भिक्षार्थ गया। मार्ग में राजा, राजमंत्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कुछ जिज्ञासु सज्जन मिले। उन्होंने साधु से पूछा—आप श्रमणों का आचार-विचार कैसा है? हमें आपके आचार-विचार जानने की अतीव उत्कण्ठा है। साधु ने शान्तभाव से उत्तर दिया—मैं इस समय भिक्षाटन कर रहा हूँ, इसलिए नियमानुसार आपके प्रश्न का समुचित एवं विस्तृत रूप से उत्तर नहीं दे सकता। अतः आप अमुक उद्यान में विराजमान हमारे गणिवर्य से अपने प्रश्न का समाधान प्राप्त कर लें। वे ज्ञानदर्शन-सम्पन्न संयमी एवं पूर्ण अनुभवी आचार्य हैं। उनसे आपको अपने प्रश्न का यथोचित उत्तर अवश्य मिलेगा। इस प्रकार कहने पर वे राजादि सब गणिवर्य के पास पहुँचे और अपनी जिज्ञासा जिस रूप में प्रस्तुत की उसका दिग्दर्शन प्रस्तुत दो गाथाओं में है।[1]

गणि की गुणसम्पन्नता : व्याख्या—प्रस्तुत गाथा में गणि के कुछ सार्थक विशेषण अंकित हैं, उनकी व्याख्या क्रमशः इस प्रकार है—**ज्ञानसम्पन्न**—ज्ञान के पांच प्रकार हैं। आचार्यश्री की ज्ञान-सम्पन्नता के चार विकल्प हो सकते हैं—(१) मति और श्रुत, इन दो ज्ञानों से युक्त, (२) मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मनःपर्याय इन तीन ज्ञानों से सम्पन्न, (३) मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय, इन चार ज्ञानों से सम्पन्न, (४) एकमात्र केवलज्ञान से सम्पन्न।

---

१. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. ३०९-३१०

दर्शनसम्पन्न—दर्शनावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला सामान्य निराकार अवबोध दर्शन कहलाता है। उक्त दर्शन से सम्पन्न।[२]

संयम और तप में रत—१७ प्रकार के संयम और १२ प्रकार के तप में रत। **आगमसम्पन्न**—जो ग्यारह अंगों के अध्येता एवं वाचक हों, अथवा चतुर्दश पूर्वधर हों, या स्वसमय-परसमय के ज्ञाता विशिष्ट श्रुतधर हों। ज्ञान-दर्शन सम्पन्न से प्राप्त विज्ञान की महत्ता, और आगमसम्पन्न से दूसरों को ज्ञान देने की क्षमता बताई गई है। **उद्यान में समवसृत :** उद्यान के दो अर्थ मुख्य हैं—(१) पुष्प, फल आदि से युक्त वृक्षों से जो सम्पन्न हो, और जहाँ लोग उत्सव आदि में एकत्रित होते हों, (२) नगर का निकटवर्ती वह स्थान, जहाँ लोग सहभोज या क्रीड़ा के लिए एकत्र होते हों। ऐसे उद्यान में समवसृत, अर्थात् विराजित अथवा धर्मसभा में प्रवचन आदि के लिए विराजित। **गणी**—गणनायक, आचार्य।[३] **जिज्ञासुगण : व्याख्या** गणिवर्य के निकट जिज्ञासु बन कर राजा, राजामात्य, माहन (ब्राह्मण) एवं क्षत्रिय पहुँचे थे। राजा का अर्थ प्रसिद्ध है। **राजामात्य**—मंत्री, सेनानायक और दण्डनायक प्रभृति, (२) मंत्रीगण, (३) राजा के सहायक या कर्मसचिव। **क्षत्रिय के तीन अर्थ** मिलते हैं—(१) राजन्य या सामन्त, (२) ऐसे क्षत्रिय, जो राजा नहीं हैं, (३) श्रेष्ठी आदि जन। **निहु-अप्पाणो-निभृतात्मानः**—निश्चलात्मा, एकाग्रता एवं शान्ति से प्रश्न पूछने वाला ही सच्चा जिज्ञासु होता है।[४]

---

२. (क) नाणं पंचविहं-मति-सुयाऽवधि-मणपज्जव-केवलणामधेयं.....तत्थ तं दोहिं वा मुतिसुतेहिं, तीहिं वा मति-सुयावहीहिं, अहवा मति-सुय-मणपज्जवेहिं, चतुहिं वा मतिसुयावहिमणपज्जवेहिं; एक्केण वा केवलनाणेण संपण्णं। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १३८

(ख) दर्शनं द्विप्रकारं क्षायिकं क्षायोपशमिकं च। अतस्तेन क्षायिकेण क्षायोपशमिकेन वा संपन्नम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १९१

३. (क) आगमो सुतमेव। अतो तं चोद्दसपुव्विं एकारसंगसुयधरं वा। —अ. चू., पृ. १३८

(ख) आगमसंपन्नं नाम वायगं, एक्कारसंगं च, अन्नं वा ससमय-परसमयवियाणगं। —जि. चू., पृ. २०८

(ग) आगमसंपन्नं—विशिष्टश्रुतधरं, बह्वागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्। —हारि. वृत्ति, पत्र १९१

(घ) नाणदंसणसंपण्णमिति एतेण आतगतं विण्णाणमाहप्पं भण्णति, गणि आगमसंपण्णं एतेण परग्गाहण-सामत्थसंपण्णं। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १३८

(ङ) उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति, जं वा ईसिं णगरस्स उवकंठं ठियं तं उज्जाणं। —नि. उ. ८

(च) उद्यानं पुष्पादिसद्वृक्षसंकुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यम्। —जीवाभि. सू. २५८ वृ.

(छ) बहुजनो यत्र भोजनार्थं याति। —समवायांग ११७ वृ.

४. (क) रायमच्चा—अमच्चा डंडणायगा, सेणावइप्पभितयो। —जि. चू., पृ. २०८

(ख) राजामात्याश्च मंत्रिणः। —हारि. वृ., पृ. १९१

(ग) अमात्या नाम राज्ञः सहायाः। —कौटिल्य. अ. ८।४

(घ) खत्तिया राइण्णादयो। —अ. चू., पृ. १३८

(ङ) क्षत्रियाः श्रेष्ठ्यादयः। —हारि. वृ., प. १९१

(च) खत्तिया नाम कोइ राया भवइ ण खत्तियो, अन्नो खत्तियो भवइ ण राया। तत्थ जे खत्तिया, ण राया, तेसिं गहणं कयं। —जिन. चू., पृ. २०८-२०९

(छ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३१०-३११

कहं भे आयारगोयरो ?—जिज्ञासुओं का प्रश्न है—आपका आचारगोचर कैसा है? आचारगोचर : अर्थ—(१) आचार का विषय, (२) साधु के आचार के अंगभूत छह व्रत, (३) क्रिया-कलाप, (४) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, यह पंचविध आचार और गोचर अर्थात् भिक्षाचरी।[५]

आचार्य द्वारा निर्ग्रन्थाचार की दुश्चरता और अठारह स्थानों का निरूपण

२६६. तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूयसुहावहो।
सिक्खाए सुसमाउत्तो आइक्खइ वियक्खणो ॥ ३ ॥

२६७. हंदि! धम्मऽत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे।
आयारगोयरं भीमं सयलं दुरहिट्ठियं ॥ ४ ॥

२६८. नऽन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाणभाइस्स न भूयं, न भविस्सइ ॥ ५ ॥

२६९. सखुड्डग-वियत्ताणं वाहियाणं च जे गुणा।
अखंड-फुडिया कायव्वा तं सुणेह जहा तहा ॥ ६ ॥

२७०. दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झई।
तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताओ भस्सई ॥ ७ ॥

[वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक-निसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥]+

[२६६] (ऐसा पूछे जाने पर) वे निभृत (शान्त), दान्त, सर्वप्राणियों के लिए सुखावह, ग्रहण और आसेवन, शिक्षाओं से समायुक्त और परम विचक्षण गणी उन्हें (राजा आदि प्रश्नकर्त्ताओं से) (उत्तर में) कहते हैं—॥३॥

[२६७] हे राजा आदि जनो! धर्म के प्रयोजनभूत मोक्ष की कामना वाले निर्ग्रन्थों के भीम, (कायर पुरुषों के लिए) दुरधिष्ठित (दुर्धर) और सकल (अखण्डित) आचार-गोचर (आचार का विषय) मुझ से सुनो ॥४॥

---

५. (क) आयारस्स आयारे वा गोयरो—आयारगोयरो। गोयरोपुण विसयो। —अ. चू., पृ. १३९
(ख) आचारगोचरः—क्रियाकलापः। —हारि. वृत्ति, पत्र १९१
(ग) आचारः—साधुसमाचारस्तस्य गोचरो विपयो—व्रतषट्कादिराचारगोचरोऽथवा आचारश्च ज्ञानादिविषयः पंचधा, गोचरश्च—भिक्षाचर्येत्याचारगोचरम्। —स्था. ८।३।६५१ वृ. पत्र ४१८

अधिक पाठ—+ इस चिह्न से अंकित गाथा निर्युक्ति में भी है, परन्तु वर्तमान में कई प्रतियों में मूल सूत्रगाथा के रूप में अंकित की गई है। वस्तुतः यह निर्युक्तिगाथा है। —सं.

[२६८] जो (निर्ग्रन्थाचार) लोक (प्राणिजगत्) में अत्यन्त दुश्चर (अतीव कठिन) है, इस प्रकार के श्रेष्ठ आचार का कथन जैनशासन के अतिरिक्त कहीं नहीं किया गया है। विपुल (सर्वोच्च) स्थान के भागी साधुओं का ऐसा आचार (अन्य मत में) न तो अतीत में था, और न हीं भविष्य में होगा ॥५॥

[२६९] बालक हो या वृद्ध, अस्वस्थ हो या स्वस्थ, (सभी मुमुक्षु साधकों) को जिन गुणों (आचार-नियमों) का पालन अखण्ड और अस्फुटित रूप से करना चाहिए, वे गुण जिस प्रकार (भगवद्भाषित) हैं, उसी प्रकार (यथातथ्यरूप से) मुझ से सुनो ॥६॥

[२७०] (उक्त आचार के) अठारह स्थान हैं। जो अज्ञ साधु इन अठारह स्थानों में से किसी एक का भी विराधन करता है, वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है ॥७॥

[(वे अठारह स्थान ये हैं—) छह व्रत (पाँच महाव्रत और छठा रात्रिभोजनविरमणव्रत), छह काय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस, इन षड् जीवनिकायों संबंधी संयम करना), अकल्प्य (अग्राह्य भक्त-पान आदि पदार्थों का परित्याग करना); गृहस्थ के बर्तन (भाजन) में आहार-पानी ग्रहण-सेवन का त्याग करना, पर्यंक (लचीले पलंग आदि पर न सोना, न बैठना); निषद्या (गृहस्थ के घर या आसन आदि पर न बैठना); स्नान तथा शरीर की शोभा (विभूषा का त्याग करना।)]

विवेचन—प्रवक्ता के योग्य एवं श्रेष्ठ गुण—धर्मोपदेशक, शास्त्र-सम्मत समाधानदाता तथा प्रवक्ता यदि योग्य गुणों से सम्पन्न नहीं होगा तो उसके उपदेश, व्याख्यान, समाधान, प्रेरणा या कथन का श्रोता पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ेगा, न उसको सन्तोषजनक समाधान होगा। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा है—

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणेलिसं ॥

अर्थात्—'जो सदा तीन गुप्तिओं से आत्मा को सुरक्षित (गुप्त) रखता हो, दान्त हो, कर्म-बन्धन के स्रोत को जिसने छिन्न कर दिया हो, जो आश्रवों से रहित (संवरधर्म में रत) हो, वही परिपूर्ण, अनुपम एवं शुद्ध (जिनोक्त) धर्म का प्रतिपादन कर सकता है।[६]

इन्हीं गुणों से मिलते-जुलते कुछ प्रमुख गुणों का निरूपण प्रस्तुत गाथा में किया गया है—वह (१) निभृत, (२) दान्त, (३) सर्वजीव-सुखावह, (४) शिक्षा-समायुक्त एवं (५) विचक्षण हो। इनकी व्याख्या क्रमशः इस प्रकार है—**(१) निहुओ—निभृत : तीन अर्थ**—(१) स्थितात्मा, (२) निश्चलमना, (३) असम्भ्रान्त या निर्भय। **(२) दंतो—दान्त**—जितेन्द्रिय, **(३) सव्वभूतसुखावह**—(१) सर्वजीवों को सुख पहुंचाने वाला, (२) सब जीवों का हितैषी, (३) सब प्राणियों का सुखवाञ्छक।[७] **(४) शिक्षा-**

---

६. सूत्रकृतांग श्रुत. १

७. (क) दशवेयालियं (मुनि नथ.), पृ. २९५

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३१२-३१३

(ग) दशवै. (संतवालजी), पृ. ७१

समायुक्त—गुरु के सान्निध्य में रहकर ग्रहणशिक्षा (सूत्र और अर्थ का अभ्यास करना) और आसेवन शिक्षा (आचार का सेवन और अनाचार का वर्जन) करने वाला। **(५) वियक्खणो—विचक्षण**—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पात्र और परिस्थिति का आकलन करने में निपुण। इस प्रकार के गुणों से सुशोभित महान् चारित्रात्मा आचार्य या गणी ही अपने शान्त, शीतल, मधुर उपदेश या समाधान से सुखशान्ति का संदेश देते हैं।[८]

निर्ग्रन्थ-आचार की विशेषता—यहाँ दो सूत्र गाथाओं (२६७-२६८) में मुमुक्षु निर्ग्रन्थों के आचार की विशेषता का प्रतिपादन किया गया है। विशेषण ये हैं—(१) **भीम**—कठिन कर्म-शत्रुओं को खदेड़ने में यह आचार भयंकर है, कर्ममल धोने के लिए रौद्र है। (२) **दुरधिष्ठित**—दुर्बल (कायर) आत्माओं के लिए इस आचार का धारण (स्वीकार) करना शक्य नहीं है अतः कायर पुरुषों के लिए यह आचार दुर्धर है। (३) **सकल**—सम्पूर्ण। (४) **लोक में परम दुश्चर**—यह आचार समग्र जीवलोक में पालन करने में अत्यन्त दुश्चर-दुष्कर है। (५) **विपुलस्थान के भाजन निर्ग्रन्थों का आचार**—यह आचार केवल मोक्षस्थान को प्राप्त करने में योग्यतम निर्ग्रन्थों का है। (६) **सभी आचारों में अद्वितीय तथा सर्वकालानुपम**—जैन निर्ग्रन्थाचार के सदृश अन्यमतीय आचार नहीं है, न हुआ है, न होगा।[९]

सखुड्डगवियत्ताणं० आदि पदों के अर्थ और व्याख्या—खुड्डग-क्षुद्रक का अर्थ है—बालक और वियत्त—व्यक्त का अर्थ है—वृद्ध, अर्थात् सबाल-वृद्ध। **वाहियाणं**—व्याधित। रोगग्रस्त अथवा स्वस्थ, किसी भी अवस्था में क्यों न हों, जो भी गुण अर्थात् आचारगोचर के नियम हैं, उन्हें अखण्ड और अस्फुटित रूप से पालन करना या धारण करना चाहिए। अखण्ड का अर्थ है—देश (आंशिक) विराधना न करना, अफुडिया (अस्फुटित) का अर्थ है—पूर्णतः (सर्वथा) विराधना न करना। निष्कर्ष यह है कि इन आचार गुणों का सभी अवस्थाओं के साधु-साध्वीवर्ग के लिए अखण्ड और अस्फुटित रूप से धारण-पालन करना अनिवार्य है। इन आचार-नियमों का पालन देशविराधना और सर्व-विराधना से रहित करना चाहिए।[१०]

निर्ग्रन्थता से भ्रष्टता का कारण—सूत्रगाथा २७० में किसी भी आचारस्थान की विराधना निर्ग्रन्थता से परिभ्रष्टता का कारण बताया गया है। इसका कारण है कि जब कोई व्यक्ति किसी मौलिक आचार-नियम का भंग या उल्लंघन करता है, तब वह अज्ञान और प्रमाद से युक्त हो जाता

---

८. (क) सिक्खा दुविधा, तं०—गहणसिक्खा आसेवणासिक्खा य। गहणसिक्खा नाम सुत्तत्थाणं गहणं, आसेवणा-सिक्खा नाम जे तत्थ करणिज्जा जोगा, तेसिं काएण संफासणं, अकरणिज्जाण य वज्जणया।

(ख) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. ३१६-३१७

९. (क) दशवै. वही, पृ. ३१५-३१६ (ख) दशवै. (संतवालजी) पृ. ७८

१०. (क) सह खुड्डगेहिं सखुड्डगा, वियत्ता (व्यक्ताः) नाम महल्ला, तेसिं, बालबुड्ढाणं तिवुत्तं भवइ।

—जि. चू., पृ. २१६

(ख) अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन, अस्फुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन। —हा. वृ., पत्र १९५-१९६

है। अज्ञान और प्रमाद से युक्त होने अथवा चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय के कारण मूढ और अज्ञ बना हुआ साधु साधुता से स्वतः पतित और भ्रष्ट हो जाता है।[11]

प्रथम आचारस्थान : अहिंसा

२७१. तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा× दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥८॥

२७२. जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
तं जाणमजाणं वा, न हणे, न हणावए ॥९॥

२७३. +सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं, न मरिज्जिउं।
तम्हा □पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१०॥

[२७१] (तीर्थंकर) महावीर ने उन (अठारह आचारस्थानों) में प्रथम स्थान अहिंसा का कहा है, (क्योंकि) अहिंसा को (उन्होंने) सूक्ष्मरूप से (अथवा अनेक प्रकार से सुखावहा) देखी है। सर्वजीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है ॥ ८ ॥

[२७२] लोक में जितने भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी हैं; साधु या साध्वी, जानते या अजानते, उनका (स्वयं) हनन न करे और न ही (दूसरों से) हनन कराए; (तथा हनन करने वालों की अनुमोदना भी न करे।) ॥ ९ ॥

[२७३] सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु (या साध्वी) प्राणिवध को घोर (भयानक जानकर) उसका परित्याग करते हैं ॥ १० ॥

विवेचन—अहिंसा की प्राथमिकता और विशेषता—प्रस्तुत तीन गाथाओं में प्रथम आचारस्थानरूप अहिंसा को प्राथमिकता और उसका पूर्णरूपेण आचरण निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी के लिए क्यों आवश्यक है ? इसका सहेतुक प्रतिपादन किया गया है।

निउणा निउणं : दो अर्थ (१) जिनदासचूर्णि के अनुसार—'निउणा' पाठ मानकर उसे अहिंसा का विशेषण माना है, निपुणा का अर्थ किया है—सब जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग करना। जो साधु औद्देशिक आदि दोषों से युक्त आहार करते हैं, वे पूर्वोक्त कारणों से हिंसादोषयुक्त हो जाते हैं। अथवा 'निपुणा' का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार है—आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार के अपरिभोग (असेवन) तथा कृत-कारित आदि रूप से हिंसा के परिहार के कारण सूक्ष्म है। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार 'निउणं' क्रियाविशेषण-पद है, जो 'दिट्ठा' क्रिया का विशेषण है। निपुणं का अर्थ है—सूक्ष्मरूप से।[12]

---

११. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी. म.) पृ. ३१९

पाठान्तर— × निउणं। + सव्वजीवा। □ पाणवहं।

१२. (क) 'निउणा' नाम सव्वजीवाणं, सव्वे वाहिं अणववाएण, जे णं उद्देसियादीणि भुंजंति, ते तहेव हिंसगा भवंति। —जि. चू., पृ. २१७

(ख) आधाकर्माद्यपरिभोगतः कृत-कारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा। —हारि. वृत्ति, पत्र १९६

(ग) 'निपुणं'—सव्वपाकारं सव्वसत्तगता इति।' —अग. चूर्णि, पृ. १४४

'ते जाणमजाणं वा०' व्याख्या—प्रतिज्ञाबद्ध होने पर भी साधक से हिंसा दो प्रकार से होनी संभव है—(१) जान में (२) अनजाने। जो जानबूझ कर हिंसा करता है, उसमें स्पष्टत: रागद्वेष की वृत्ति-प्रवृत्ति होती है, और जो अजाने हिंसा करता है, उसकी हिंसा के पीछे प्रमाद या अनुपयोग (असावधानता) होती है।[13]

हिंसा का परित्याग करने के दो मुख्य कारण—प्रस्तुत गाथा (२७३) में निर्ग्रन्थों द्वारा हिंसा के परित्याग के दो मुख्य कारण बताए हैं—(१) सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, चाहे वह विपन्न एवं अत्यन्त दु:खी ही क्यों न हो। (२) सभी जीव सुख चाहते हैं, दु:ख नहीं, मरण अत्यन्त दु:खरूप प्रतीत होता है, यहाँ तक कि मृत्यु का नाम सुनते ही भय के मारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।[14]

द्वितीय आचारस्थान—सत्य (मृषावाद-विरमण)

२७४. अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥११॥

२७५. मुसावाओ अ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥१२॥

[२७४] (निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी) अपने लिए या दूसरों के लिए, क्रोध से अथवा (मान, माया और लोभ से) या भय से हिंसाकारक (परपीडाजनक सत्य) और असत्य (मृषावचन) न बोले, (और) न ही दूसरों से बुलवाए, (और न बोलने वालों का अनुमोदन करे ॥११॥

[२७५] (इस समग्र) लोक में समस्त साधुओं द्वारा मृषावाद (असत्य) गर्हित (निन्दित) है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। अत: (निर्ग्रन्थ) मृषावाद का पूर्णरूप से परित्याग कर दे ॥१२॥

विवेचन—असत्याचरण क्या, उसका त्याग क्यों और कैसे?—जिस वचन, विचार और व्यवहार (कार्य) से दूसरों को पीड़ा पहुंचती हो, जो वचनादि समग्रलोकगर्हित हो, वह **असत्य** है। प्रस्तुत दो गाथाओं में असत्य भाषण के मुख्यतया क्रोध और भय इन दो कारणों का उल्लेख है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इन दोनों को सांकेतिक मानकर तथा द्वितीय महाव्रत में निर्दिष्ट, क्रोध लोभ, भय और हास्य, इन चारों को परिगणित करके उपलक्षण से ('एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणं' इस न्याय से) इसके ६ कारण बताए हैं—**(१) क्रोध से असत्य**—जैसे 'तू दास है' ऐसा कहना, **(२) मान से असत्य**—जैसे अबहुश्रुत होते हुए भी स्वयं को बहुश्रुत, शास्त्रज्ञ या पण्डित कहना या लिखना, **(३) माया से असत्य**—जैसे भिक्षाचर्या से जी चुराने के लिए कहना कि मेरे पैर में बहुत पीड़ा है,

---

१३. 'जाणमाणो' नाम जेसिं चिंतेऊण रागद्दोसाभिभूओ घाएइ अजाणमाणो नाम अपदुस्समाणो अणुवओगेणं इंदियाइणावी पमातेण घातयति। —जिन. चूर्णि, पृ. २१७

१४. (क) दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४०
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३२४

(४) **लोभ से असत्य**—सरस भोजन की प्राप्ति के लोभ से एषणीय नीरस भोजन को अनेषणीय कहना, (५) **भय से असत्य**—असत्याचरण करके प्रायश्चित्त के भय से उसे अस्वीकार करना। (६) **हास्यवश असत्य**—हंसी-मजाक में या कुतूहलवश असत्य बोलना, लिखना।[१५]

हिंसक वचन सत्य होते हुए भी असत्य माना गया है; इसलिए उसका भी साधुवर्ग के लिए निषेध है। हिंसक वचन में कर्कश, कठोर, वधकारक, छेदन-भेदनकारक, निश्चयकारक या संदिग्ध आदि सब परपीड़ाकारक वचन आ जाते हैं। अतः अपने निमित्त या दूसरों के निमित्त (अर्थात्—स्वार्थ या परार्थ) दोनों दृष्टियों से मन-वचन-काया से, कृत, कारित, अनुमोदित रूप से इन सब असत्याचरणों का परित्याग साधुवर्ग के लिए अनिवार्य है; क्योंकि असत्य संसार के सभी मतों और धर्मों के साधु पुरुषों-सज्जनों एवं शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्दनीय है। यह अविश्वास का कारण है।[१६]

सत्य की आराधना के बिना शेष शिक्षापदों (व्रतों) का महत्त्व नहीं—बौद्ध धर्म विहित पंचशिक्षापदों में भी मृषावाद-परिहार (सत्य) को अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए माना गया है कि इसकी आराधना के बिना, अन्य शिक्षापदों की आराधना सम्भव नहीं होती। एक उदाहरण भी जिनदासचूर्णि में प्रस्तुत किया गया है—एक उपासक (बौद्ध श्रावक) ने मृषावाद के सिवाय शेष चार शिक्षापद ग्रहण कर लिये। मृषावाद की छूट के कारण वह अन्य शिक्षापदों को भंग करने लगा। उसके मित्र ने उससे कहा—"तुम इन शिक्षापदों (व्रतों) को क्यों तोड़ते हो।" उसने कहा—"यह सरासर झूठ है, मैं कहाँ इन्हें तोड़ता हूँ?" मैंने मृषावाद का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं किया था, इसलिए इन सब शिक्षापदों को हृदय में धारण करके रखे हैं। इस प्रकार सत्य शिक्षापद (व्रत) के अभाव में उसने शेष सभी शिक्षापदों को भंग कर दिया।[१७]

तृतीय आचारस्थान : अदत्तादान-निषेध (अचौर्य)

२७६. चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि ओग्गहंसि अजाइया ॥१३॥

---

१५. हारि. वृत्ति, पृ. १९७

१६. (क) हिंसगं जं सच्चमवि पीडाकारिं, मुसा-वितहं, तदुभयं ण बूया, ण वयेज्ज।

—अगस्त्य० चूर्णि पृ. १४५

(ख) "अपि च न तच्चवचनं सत्यमतच्चवचनं न च। यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमितरं मृषा।"

—जिन. चूर्णि, पृ. २१८

(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज) पृ. ३२५-३२६

१७. (क) वही, पृ. ३२७

(ख) "जो सो मुसावाओ, एस सव्वसाहूहिं गरहिओ, सक्कादिणोऽवि मुसावादं गरहंति। तत्थ सक्काणं पंचण्हं सिक्खावयाणं मुसावाओ भारियतरोत्ति। एत्थ उदाहरणं—एगेण उवासएण....। एतेण कारणेण तेसिंपि मुसावाओ भुज्जो सव्वसिक्खापदेहिंतो। —जिनदासचूर्णि, पृ. २१८

(ग) सर्वस्मिन्नेव सर्वसाधुभिः गर्हितो—निन्दितः, सर्वव्रतापकारित्वात् प्रतिज्ञाताऽपालनात्।

—हारि. वृत्ति, पत्र १९७

**२७७. तं अप्पणा न गेण्हंति, नो वि गेण्हावए परं ।
अन्नं वि गेण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ।।१४।।**

[२७६-२७७] संयमी साधु-साध्वी, पदार्थ सचेतन (सजीव) हो या अचेतन (निर्जीव), अल्प हो या बहुत, यहाँ तक कि दन्तशोधन मात्र (दाँत कुरेदने के लिए एक तिनका) भी हो, जिस गृहस्थ के अवग्रह (अर्थात्—अधिकार) में हो; उससे याचना किये बिना (अथवा आज्ञा लिए बिना) उसे स्वयं ग्रहण नहीं करते, दूसरों से ग्रहण नहीं कराते और न ग्रहण करने वाले अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करते हैं ।।१३-१४।।

विवेचन—अचौर्य आचार—किसी के स्वामित्व, अधिकार या निश्राय की वस्तु, चाहे वह सजीव हो या निर्जीव (पात्र, पुस्तक, रजोहरणादि), अल्प हो या बहुत, अल्पमूल्य हो या बहुमूल्य, यहाँ तक कि एक तिनका ही क्यों न हो; उसके स्वामी या अधिकारी की विना आज्ञा, अनुमति या सहमति के मन, वचन और काया से स्वयं ग्रहण न करना, दूसरों से ग्रहण न कराना और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन न करना; अचौर्य महाव्रत का आचरण है, जिसका सभी साधु-साध्वियों को पालन करना अनिवार्य है ।[१८]

चित्तमंतमचित्तं० : व्याख्या—चित्त का अर्थ है—चेतना । ज्ञान-दर्शन-स्वभाव वाली चेतना जिसमें हो, वह चित्तवान् कहलाता है, वह द्विपद, चतुष्पद और अपद भी हो सकता है । जो चेतना-रहित हो वह अचित्त कहलाता है, जैसे—सोना, चाँदी आदि ।[१९]

अप्पं वा……बहुं वा : व्याख्या—अल्प और बहुत का अभिप्राय यहाँ प्रमाण और मूल्य दोनों से है । अतः अल्प और बहु की दृष्टि से चार विकल्प हो सकते हैं ।[२०]

ओग्गहंसि अजाइया : भावार्थ—अवग्रह का अभिप्राय है—वस्तु जिसके अधिकार में हो, उससे याचना (आज्ञारूप याचना, अनुमति-सहमतिरूपा या इच्छारूपा) किये विना (ग्रहण न करे) ।[२१]

चतुर्थ आचारस्थान : ब्रह्मचर्य (अब्रह्मचर्य-सेवन निषेध)

**२७८. अबंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्ठियं ।
नाऽऽयरंति मुणी लोए भेयाययणवज्जिणो ।।१५।।**

**२७९. मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं ।।१६।।**

---

१८. दशवै. (आचार्य श्री आत्माराम जी म.), पृ. ३२९

१९. चित्तं नाम चेतणा भण्णइ, सा च चेतणा जस्स अत्थि तं चित्तमंतं भण्णइ, तं दुप्पयं चउप्पयं अपयं वा, होज्जा, अचित्तं नाम हिरण्यादि । —जिन. चूर्णि, पृ. २१८-२१९

२०. अप्पं नाम पमाणओ मुल्लओ वा, बहुमवि पमाणओ मुल्लओ । —वही, पृ. २१९

२१. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३२८-३२९

[२७८] अब्रह्मचर्य लोक में घोर (रौद्र), प्रमादजनक और दुराचरित है। संयम का भंग(भेद) करने वाले स्थानों से दूर रहने वाले (पापभीरु) मुनि उसका आचरण नहीं करते ।।१५।।

[२७९] यह (अब्रह्मचर्य) अधर्म (पाप) का मूल है। महादोषों का पुंज है। इसीलिए निर्ग्रन्थ (साधु और साध्वी) मैथुन के संसर्ग (आसेवन) का त्याग करते हैं ।।१६।।

विवेचन—अब्रह्मचर्य त्याज्य : क्यों और कैसे ? प्रस्तुत दो गाथाओं में अब्रह्मचर्य के दोषोत्पादक पांच विशेषण बताकर इसे सर्वथा त्याज्य कहा है—(१) घोर, (२) प्रमाद, (३) दुरधिष्ठित, (४) अधर्म का मूल और (५) महादोषों का पुंज। इनके कारणों की मीमांसा इस प्रकार है—(१) अब्रह्मचर्य को घोर, अर्थात्—रौद्र इसलिए कहा है कि अब्रह्मचारी के मन में दयाभाव नहीं रहता। वह अपने पाप को छिपाने अथवा अब्रह्मचर्य में येन-केन-प्रकारेण प्रवृत्ति करने के लिए रौद्र (क्रूर) बन जाता है। अपने मार्ग में रोड़ा अटकाने वाले का सफाया कर डालता है। ऐसा कोई भी दुष्कृत्य नहीं है, जिसे वह न कर सके। (२) अब्रह्मचर्य सभी प्रमादों का मूल है। इसमें प्रवृत्त मनुष्य इन्द्रियों और मन के दुर्विषयों में आसक्त, समस्त आचार, क्रियाकलाप और चर्याओं में प्रमत्त, भूलों से परिपूर्ण एवं असावधान तथा विलासी बन जाता है। कामभोग में आसक्त मनुष्य को अपने संयम, व्रत या आचार का भान नहीं रहता। वह मोह-मदिरा पी कर मतवाला बन जाता है। इसलिए अब्रह्मचर्य को 'प्रमाद' कहा है।[२२] (३) अब्रह्मचर्य को दुरधिष्ठित इसलिए कहा गया है कि यह घृणा का अधिष्ठान (आश्रय) है, अथवा यह दुरधिष्ठान—यानी दुराचरण (निन्द्य आचरण) है। अथवा अब्रह्मचर्य जुगुप्सित (निन्दित-घृणित) जनों द्वारा अधिष्ठित—आश्रित-सेवित है, साधुजन सेव्य नहीं है। (४) अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, अर्थात्—समस्त पापों का बीज है या प्रतिष्ठान है। ऐसा कोई पाप नहीं है, जो अब्रह्मचारी से न हो सके। अब्रह्मचारी को धर्म, संयम, तप आदि की कोई भी बात नहीं सुहाती। (५) महादोष-समुच्छ्रय इसलिए कहा गया है कि अब्रह्मचर्य से व्यक्ति असत्य, माया, झूठ-फरेब, छल, पाप को छिपाने की दुर्वृत्ति, चोरी, हत्या आदि अनेक महादोषों का पात्र बन जाता है।[२३]

---

२२. (क) दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३३०-३३१
(ख) घोरं भयाणगं। —अ. चू., पृ. १४६
(ग) घोरं रौद्रं रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्। —हारि. वृत्ति, पत्र १९८
(घ) घोरं नाम निरणुक्कोसं, कहं ? अबंभपवत्तो हि ण किंचि तं अकिच्चं जं सो न भणइ।
—जिनदासचूर्णि पृ. २१९
(ङ) 'जम्हा एतेण पमत्तो भवति, अतो पमादं भणइ, तं च सव्वपमादाणं आदी, अहवा सव्वं चरणकरणं, तंमि वट्टमाणे पमादेति त्ति। —वही, पृ. २१९
(च) 'प्रमादं'—प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्। —हारि. वृत्ति, पत्र १९८

२३. (क) दुरहिट्ठियं नाम दुगुञ्छं पावइ तमहिट्ठियंतो त्ति दुरहिट्ठियं। —जिन. चूर्णि, पृ. २१९
(ख) 'दुरहिट्ठियं दुगुंछियाधिट्ठितं।' — अग. चूर्णि, पृ. १४६
(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३३०

पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन के दो ठोस उपाय—प्रस्तुत दो गाथाओं में अब्रह्मचर्य से बचने के लिए दो ठोस उपाय बताए हैं, वे ही ब्रह्मचर्यसुरक्षा के उपाय हैं। पहला उपाय है—**भेदायतनवर्जी**—अर्थात् जो-जो बातें ब्रह्मचर्य या संयम में विघातक हैं, जैसे कि स्त्री-पशु-नपुंसक-संसक्त स्थान में रहना आदि, उनको वर्जित करे, उनसे दूर रहे और उनसे विपरीत नौ बाड़ से ब्रह्मचर्य की सर्वविध रक्षा करे और दूसरा ठोस उपाय है—**मैथुन-संसर्ग-वर्जन**। स्मरण, कीर्तन, क्रीड़ा, प्रेक्षण, एकान्तभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति, इन आठ प्रकार के मैथुनांगों का वर्जन करे, अब्रह्मचर्यजनक समस्त संसर्गों से दूर रहे।[२४]

पंचम आचारस्थान : अपरिग्रह (सर्वपरिग्रहविरमण)

२८०. विडमुब्भेइमं लोणं तेल्लं सप्पिं च फाणियं।
न ते सन्निहिमिच्छंति नायपुत्तवओरया ॥१७॥

२८१. लोभस्सेसऽणुफासो मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निही-कामे गिही, पव्वइए न से ॥१८॥

२८२. जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारेंति परिहरेंति य ॥१९॥

२८३. न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो', इइ वुत्तं महेसिणा ॥२०॥

२८४. सव्वत्थुवहिणा बुद्धा संरक्खण-परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि नाऽऽयरंति ममाइयं ॥२१॥

[२८०] जो ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के वचनों में रत हैं, (वे साधु-साध्वी) विडलवण, सामुद्रिक (उद्भिज) लवण, तैल, घृत, द्रव गुड़ आदि पदार्थों का संग्रह करना नहीं चाहते ॥ १७ ॥

[२८१] यह (संग्रह) लोभ का ही विघ्नकारी अनुस्पर्श (प्रभाव) है, ऐसा मैं मानता हूँ। जो साधु (या साध्वी) कदाचित् यत्किंचित् पदार्थ की सन्निधि (संग्रह) की कामना करता है, वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है ॥ १८ ॥

[२८२] (मोक्षसाधक साधु-साध्वी) जो भी (कल्पनीय) वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण (पादप्रोंछन) (आदि धर्मोपकरण) (रखते) हैं, उन्हें भी वे संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं और उनका उपयोग करते हैं ॥ १९ ॥

[२८३] समस्त जीवों के त्राता ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने (साधुवर्ग द्वारा धर्मोपकरण के रूप में रखे एवं उपयोग किये जाने वाले) इस (वस्त्रादि उपकरण समुदाय) को परिग्रह नहीं कहा है। 'मूर्च्छा परिग्रह है',—ऐसा महर्षि (गणधरदेव) ने कहा है ॥ २० ॥

---

२४. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३३१

[२८४] यथावद्वस्तुतत्त्वज्ञ (बुद्ध साधु-साध्वी) (वस्त्रपात्रादि) सर्व उपधि (सभी देश-काल में उचित उपकरण) का संरक्षण करने (रखने) और उन्हें ग्रहण (धारण) करने में ममत्वभाव का आचरण नहीं करते, इतना ही नहीं, वे अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते ।। २१ ।।

विवेचन—संग्रह, परिग्रह और अपरिग्रह का स्पष्टीकरण—प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं (२८० से २८४ तक) में संग्रह का निषेध, उपकरणादि वस्तु के अपरिग्रहत्व की तथा अपरिग्रहवृत्ति की चर्चा की गई है।

सन्निहि आदि पदों का अर्थ—सन्निधि और संचय—लवण आदि जो द्रव्य चिरकाल तक रखे जा सकते हैं, उन्हें अविनाशी द्रव्य तथा दूध, दही आदि जो द्रव्य अल्पकाल तक ही टिके रह सकते हैं, उन्हें विनाशी द्रव्य कहते हैं। यहाँ अविनाशी द्रव्यों के संग्रह को 'सन्निधि' कहा गया है। निशीथ-चूर्णि में अविनाशी द्रव्य के संग्रह को 'संचय' और विनाशी द्रव्य के संग्रह को 'सन्निधि' कहा गया है। जो भी हो, लवण आदि वस्तुओं का संग्रह करना, उन्हें अपने पास रखना अथवा रात को बासी रखना 'सन्निधि' है, जो कि ममत्वभाव से रखे जाने के कारण परिग्रह है।[२५]

विडं : लक्षण—गोमूत्र आदि में पकाकर जो कृत्रिम नमक तैयार किया जाता है, वह प्रासुक नमक विडलवण कहलाता है।

उब्भेइमं लोणं—उद्भिज लवण, जो खान में से निकलता है, अथवा समुद्र के खारे पानी से बनाया जाता है। यह अप्रासुक है।

फाणियं : फाणित—इक्षुरस को पकाने के बाद जो गाढ़ा द्रव गुड़ (काकब) होता है, उसे फाणित कहते हैं।

लोहस्सेस अणुफासे—यह सन्निधि या संचय लोभ का ही अनुस्पर्श है, चेप है। लोभ का चेप एक बार लगने पर फिर छूटता नहीं है। अथवा अनुस्पर्श का अर्थ—प्रभाव, सामर्थ्य या माहात्म्य भी होता है। लोभ के प्रभाव से परिग्रहवृत्ति और संग्रहप्रवृत्ति बढ़ती जाती है।[२६]

---

२५. (क) "सन्निही णाम दधिखीरादि जं विणासि दव्वं, जं पुण घय-तेल्ल-वत्थ-पत्त-गुल-खंड-सक्कराइयं अविणासि दव्वं, चिरमवि अच्छइ, ण विणस्सइ सो संचतो।" —निशीथ. उ. ८, सू. १७ चूर्णि

(ख) एताणि अविणासिदव्वाणि न कप्पंति, किमंग पुण रसादीणि विणासिदव्वाणि ? एवमादि सण्णिधिं न ते साधवो भगवंतो णायपुत्तस्स वयणे रया इच्छंति। —जि. चू., २२०

(ग) 'सन्निधिं कुर्वन्ति—पर्युषितं स्थापयन्ति।' —हारि. वृत्ति, पत्र १९८।

२६. (क) विलं (डं) गोमुत्तादीहिं पचिऊण कित्तिमं कीरइ,....अहवा विलग्गहणेण फासुगलोणस्स गहणं कयं। —जि. चू., पृ. २२०

(ख) उब्भेइमं—सामुद्दोति लवणागरेसु वा समुप्पज्जति तं अफासुगं। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १४६

(ग) फाणितं द्रवगुडः। —हारि. वृत्ति, पत्र १९८

(घ) 'अणुफासो नाम अणुभावो भण्णति।' —जिन. चूर्णि, पृ. २२०

(ङ) यः स्यात् यः कदाचित्। —हारि. टीका, प. १९८

सन्निधिकामी को प्रव्रजित मानने से इन्कार—शास्त्रकार या तीर्थंकर मानते हैं ('मन्ने' शब्द से दोनों अर्थ निकलते हैं) कि सन्निधि करना तो दूर रहा, सन्निधि करने को इच्छा करनेवाला भी परिग्रहदोष से युक्त होकर गृहस्थतुल्य बन जाता है। वस्तुत: प्रव्रजित नहीं रहता। व्यवहारसूत्र की टीका में दशवैकालिकसूत्र की एक गाथा उद्धृत की गई है। उसमें बताया गया है कि अशनादि चतुर्विध आहार की जो भिक्षु सन्निधि (संचय) करता है वह गृही है, प्रव्रजित नहीं।[२७] उस गाथा का अन्तिम चरण ही इस गाथा से मिलता है। प्रथम तीन चरण पृथक् हैं।

शंका-समाधान—प्रश्न होता है—लवणादि का तथा उपलक्षण से किसी भी वस्तु का संग्रह करने से अपरिग्रहव्रत भंग हो जाता है, तब साधु-साध्वी जो वस्त्र, पात्र, रजोहरण, पुस्तक आदि रखते हैं, उनका उपयोग करते हैं, क्या वे परिग्रही नहीं हैं ? क्या उनसे साधु का अपरिग्रहव्रत दूषित नहीं होता ? इसी का समाधान शास्त्रकार दो गाथाओं द्वारा करते हैं। तात्पर्य यह है कि साधुवर्ग के पास जो भी वस्त्र-पात्रादि उपकरण होते हैं, वे सब संयमपालन के लिए तथा लज्जानिवारण के लिए ही रखे जाते हैं। उन पर उनका ममत्व नहीं होता, यहाँ तक कि वे अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नहीं रखते और भगवद्वचनानुसार ममता-मूर्च्छा न हो, वहाँ परिग्रहदोष नहीं होता, क्योंकि भगवान् ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।[२८]

संजम-लज्जट्ठा : व्याख्या—साधु-साध्वी जो भी कल्पनीय शास्त्रोक्त वस्त्रादि धर्मोपकरण रखते हैं, उसके दो प्रयोजन बताए हैं—संयम और लज्जा। वृत्तिकार ने संयम और लज्जा को अभिन्न (एक शब्द) माना है, तदनुसार एक ही प्रयोजन फलित होता है—संयमरूप लज्जा की रक्षा के लिए।

वस्त्र का ग्रहण संयम के निमित्त किया जाता है। वस्त्र के अभाव में कोई साधु शीत से पीडित होकर अग्निसेवन न कर ले, इसलिये वस्त्र रखने का विधान है। पात्र के अभाव में संसक्त और परिशाटन दोष उत्पन्न होंगे, इसलिये पात्र रखने का विधान है। वर्षाकल्प आदि में अप्काय के जीवों की रक्षा के लिए कम्बल रखने का विधान है तथा लज्जानिवारणार्थ चोलपट्ट आदि वस्त्र रखने का विधान है, कटिपट के अभाव में महिला आदि के समक्ष विशिष्टश्रुत-परिणति आदि से रहित साधक में निर्लज्जता होनी संभव है।[२९]

---

२७. व्यवहारसूत्र, उ. ५, गा. ११४

२८. (क) दशवै. (संतबालजी), पृ. ७५

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३३५

२९. (क) संयमलज्जार्थमिति—संयमार्थं पात्रादि,""लज्जार्थं वस्त्रम्। तद्व्यतिरेकेण अंगनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्तेः। अथवा संयम एव लज्जा, तदर्थं सर्वमेतद् वस्त्रादि धारयन्ति।

—हारि. वृत्ति, पत्र १९९

(ख) '""संजमनिमित्तं वा वत्थस्स गहणं कीरइ। मा तस्स अभावे अग्गिसेवणादिदोसा भविस्संति, पाताभावेऽवि संसत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्संति, कंवलं वासकप्पादी तं उदगादि-रक्खणट्ठा घेप्पति। लज्जानिमित्तं चोलपट्टको घेप्पति।' —जिनदासचूर्णि, पृ. २२१

धारंति परिहरंति : विशेषार्थ—प्रयोजन होने पर वस्त्रादि का उपयोग करने की दृष्टि से शास्त्रोक्त मर्यादानुसार रखना, धारण करना कहलाता है तथा वस्त्रादि का स्वयं परिभोग करना, परिहरण करना (पहनना) कहलाता है ।[30]

महेसिणा : महर्षि ने : दो अभिप्रायार्थ—(१) प्रस्तुत शास्त्र के कर्ता आचार्य शय्यंभव ने, (२) गणधर ने ।[31]

प्रस्तुत २८४ वीं सूत्रगाथा का अर्थ वृत्तिकार और दोनों चूर्णिकार अलग-अलग करते हैं। वृत्तिकारसम्मत अर्थ ऊपर दिया गया है। चूर्णिकारद्वय-सम्मत अर्थ इस प्रकार है—सर्व कालों और सर्व क्षेत्रों में बुद्ध (तीर्थंकर भगवान्) उपधि (एक देवदूष्य-वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येकबुद्ध, जिनकल्पिक आदि भी संयम-धन की रक्षा के लिए उपधि (रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपकरणों पर तो दूर रहा, अपने तन पर भी ममत्व नहीं करते, क्योंकि वे केवल यतना के लिए उपकरण धारण करते हैं ।[32]

छठा आचारस्थान : रात्रिभोजनविरमणव्रत

२८५. अहो निच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जा य लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं ॥ २२ ॥

२८६. संतिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ? ॥ २३ ॥

---

३०. 'तत्थ धारणा णाम संपयोअणत्थं धारिज्जइ, जहा उप्पणे पयोयणे एतं परिभुंजिस्सामि त्ति, एसा धारणा। परिहरणा नाम जा सयं वत्थादी परिभुंजइ, सा परिहरणा भण्णइ।' —जिनदासचूर्णि, पृ. २२१

३१. (क) गणधरा, मणगपिया वा एवमाहु:। —वही, पृ. २२१
(ख) महर्षिणा—गणधरेण, सूत्रे सेज्जंभव आहेति। —हारि. वृत्ति, पत्र १९९

३२. (क) दशवै. (संतबालजी), पृ. ७६
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३३६
(ग) सव्वत्थ उवधिणा सह सोपकरणा बुद्धा-जिणा।....सव्वेवि एगदूसेण निग्गता। पत्तेयबुद्ध-जिणकप्पियादयो वि रयहरण-मुहणंतगातिणा सह संजमसारक्खणत्थे परिग्गहेण मुच्छानिमित्ते, तंमि विज्जमाणे वि भगवंतो मुच्छं न गच्छंतीति अपरिग्गहा। कहं च ते भगवंतो उवकरणे मुच्छं काहिति, जेहिं जयणत्थमुवगरणं धारिज्जति तंमि ? अवि अप्पणो वि देहंमि णाचरंति ममाइतं।
—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १४८
(घ) संरक्षणपरिग्रह इति संरक्षणाय षण्णां जीवनिकायानां वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योगः। बुद्धाः यथावद्विदितवस्तुतत्त्वाः साधवः। सर्वत्र उचिते क्षेत्रे काले च।—हारि. वृत्ति, पत्र १९९
(ङ) सव्वेसु अतीताणागतेसु सव्वभूमिएसु त्ति। —जिन. चूर्णि, पृ. २२१
(च) संरक्खणपरिग्गहो नाम संजमरक्खणनिमित्तं परिगिण्हंति। —वही, पृ. २२१

२८७. उदओल्लं बीअसंसत्तं पाणा निव्वडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ? ॥ २४ ॥

२८८. एयं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥ २५ ॥

[२८५] अहो ! समस्त तीर्थंकरों (बुद्धों) ने (देह-पालन के लिए) संयम (लज्जा) के अनुकूल (सम) वृत्ति और एक बार भोजन (अथवा दिन में ही रागद्वेषरहित होकर आहार करना); इस नित्य (दैनिक) तपःकर्म का उपदेश दिया है ॥२२॥

[२८६] ये जो त्रस और स्थावर अतिसूक्ष्म प्राणी हैं, जिन्हें (साधुवर्ग) रात्रि में नहीं देख पाता, तब (आहार की) एषणा कैसे कर सकता है ? ॥२३॥

[२८७] उदक से आर्द्र (सचित्त जल से भीगा हुआ), बीजों से संसक्त (संस्पृष्ट) आहार को तथा पृथ्वी पर पड़े हुए प्राणियों को दिन में बचाया जा सकता है, (रात्रि में नहीं,) तब फिर रात्रि में निर्ग्रन्थ भिक्षाचर्या कैसे कर सकता है ? ॥२४॥

[२८८] ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने इसी (हिंसात्मक) दोष को देख कर कहा—निर्ग्रन्थ (साधु या साध्वी) रात्रिभोजन नहीं करते। (वे रात्रि में) सब (चारों) प्रकार के आहार का सेवन नहीं करते ॥२५॥

विवेचन—रात्रिभोजननिषेध : क्यों ?—प्रस्तुत चार गाथाओं (२८५ से २८८ तक) में रात्रि-भोजनत्याग की सहज भूमिका, रात्रि में भिक्षाचरी एवं एषणाशुद्धि की दुष्करता तथा अहिंसा की दृष्टि से भगवान् महावीर द्वारा रात्रि में चतुर्विध-आहार-परिभोग के सर्वथा निषेध का प्रतिपादन किया गया है।

एकभक्त-भोजन : रात्रिभोजननिषेध का समर्थक—प्रस्तुत गाथा रात्रिभोजन-त्याग के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई है, इसलिए एकभक्तभोजन का अर्थ दिवसभोजन माना जाए, या दिन में एक बार भोजन माना जाए ? यह प्रश्न है। यहाँ इसे नित्य तपःकर्म (स्थायी तपश्चर्या) बताया गया है। चूर्णिकार और वृत्तिकार के मतानुसार दिवस में एक बार भोजन करना अथवा रागद्वेषरहित होकर एकाकी भोजन करना एकभक्त-भोजन है। मूलाचार में भी इसी का समर्थन मिलता है—"सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घड़ी छोड़ कर मध्यकाल में एक मुहूर्त्त, दो मुहूर्त्त या तीन मुहूर्त्त काल में एक बार भोजन करना, एकभक्तभोजन रूप मूलगुण है।" स्कन्दपुराण, मनुस्मृति और वशिष्ठ-स्मृति में भी एक बार भोजन का संन्यासियों के लिए विधान है। उत्तराध्ययनसूत्र में दिन के तृतीय पहर में भिक्षा और भोजन करने का विधान है। किन्तु आगमों के अन्य स्थलों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह क्रम सब साधुओं के लिए या सभी स्थितियों में नहीं रहा। दशवैकालिकसूत्र के अष्टम अध्ययन की २८ वीं गाथा से तो साधु-साध्वियों का भोजनकाल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के बीच का दिवस का कोई भी काल सिद्ध होता है। जो भी हो, एकभक्त-भोजन से अनायास ही

रात्रिभोजनत्याग तो फलित हो ही जाता है।[33] ओघनिर्युक्ति में प्रातः, मध्याह्न और सायं इन तीनों समयों में भोजन करने की अनुज्ञा प्रतीत होती है।*

लज्जासमावित्ति : विशेष भावार्थ—लज्जा का अर्थ यहाँ संयम है। उसके सदृश यानी संयम के अनुरूप या अविरोधिनी वृत्ति (निर्दोष भिक्षा से प्राप्त आहारादि का दिवस में उपभोग)। तात्पर्य यह है कि दिवस में शुद्ध भिक्षा से प्राप्त आहार का उपभोग संयम के अनुरूप—अविरोधी वृत्ति है, जो भगवान् ने साधु-साध्वियों के लिए बताई है।[34]

रात्रिभोजनत्याग के मुख्य कारण—प्रस्तुत दो गाथाओं में रात्रिभोजन के मुख्य दोष बताए गए हैं—रात्रि में अन्धकार होने से त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा नहीं हो सकती; रात्रि में दीपक, या अन्य प्रकाश का उपयोग साधु नहीं कर सकता, यदि चाँदनी रात हो, या प्रकाशित स्थान हो तो भी रात्रि में नाना प्रकार के संपातिम जीव आ-आकर भोजन में गिर सकते हैं। इससे आत्मविराधना और जीवविराधना दोनों होती हैं। भिक्षाचर्या भी रात में सर्वत्र प्रकाश न होने से नहीं हो सकती और न ही एषणाशुद्धि हो सकती है। रात्रि में अन्धकार में मार्गशुद्धि और आहारशुद्धि नहीं हो सकती। रात्रि को भिक्षाचरी के लिए भ्रमण करने में भूमि पर पड़े हुए या रहे हुए जीव-जन्तु नहीं दिखाई दे सकते। सचित्त जल से भीगा हुआ या बीजादि से संस्पृष्ट आहार दिखाई न देने से रात्रि में आहार ग्रहण करना भी निषिद्ध है। निष्कर्ष यह है कि रात्रि में विहार और भिक्षाचर्या दोनों ही निषिद्ध होने से रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध हो जाता है। इन सब दोषों के कारण साधुवर्ग के लिए भगवान् ने रात्रि में आहार करने का निषेध किया है।[35] रात्रिभोजन से संयमविराधना का

---

३३. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ३१७
(ख) एगस्स रागद्दोसरहियस्स भोअणं, अहवा इक्कवारं दिवसओ भोयणंति। —जिनदासचूर्णि, पृ. २२२
(ग) द्रव्यतः एकं-एकसंख्यानुगतं, भावतः कर्मबन्धाभावाद् द्वितीयं, तद्दिवस एव रागादिरहितस्य, अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति। —हारि. वृत्ति, पत्र १९९
(घ) उदयत्थमणे काले णाली-तिय-वज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ-तिए वा मुहुत्तकाले य भत्तं तु॥ —मूलाचार, मूलगुण. ३५
(ङ) दिनार्द्धसमयेऽतीते, भुज्यते नियमेन यत्। एकभक्तमिति प्रोक्तं, रात्रौ तन्न कदाचन॥ —स्कन्दपुराण
(च) 'एककाले चरेद् भैक्ष्यम्।' —मनुस्मृति ६।५५
(छ) ब्रह्मचर्योक्तमार्गेण सकृद्भोजनमाचरेत्। —वशिष्ठस्मृति ३।१९८
(ज) अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए। आहारमाइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए। —दश. ८।२८
(झ) भगवती ७।१ सू. २१

* ओघनिर्युक्ति गा. २५०, भाष्य गा. १४८-१४९

३४. (क) 'लज्जा—संयमस्तेन समा-सदृशी-तुल्या संयमाविरोधिनीत्यर्थः।'
यावल्लज्जासमा। —हारि. वृत्ति, पत्र १९९

३५. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. ३४०, ३४१, ३४२
(ख) उदकार्द्र पूर्ववद्ग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्स्निग्धादिपरिग्रहः।
'बीजसंसक्त'—बीजैः संसक्तं—मिश्रम्, ओदनादीति गम्यते, अथवा बीजानि पृथक्भूतान्येव, संसक्तं चारनालाद्यपरेणेति।' —हारि. वृत्ति, पत्र २००

दोष बतलाया गया है, संयमविराधना से सभी दोषों का समावेश हो गया। यथा—रात्रि में भिक्षाटन करने जाएगा, तब अन्धकार हो जाने से विशेष निर्लज्जता भी बढ़ सकती है, फिर मैथुनादि दोषों का प्रसंग भी उपस्थित होना सम्भव है। कभी-कभी स्वार्थ-सिद्धि के लिए असत्य का प्रयोग भी कर सकता है, अदत्तादान और परिग्रह का भी भाव रात्रि में गृहस्थों के घरों में जाने से हो सकता है, अतः रात्रि में आहार-विहार से संयमविराधना के अन्तर्गत ये सब दोष उत्पन्न हो सकते हैं।[३६]

सातवें से बारहवें आचारस्थान तक : षट्जीवनिकाय-संयम

२८९. पुढविकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया ॥ २६ ॥

२९०. पुढविकायं विहिंसंतो हिंसई तु तदस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ २७ ॥

२९१. तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइवड्ढणं।
पुढविकाय-समारंभं जावज्जीवाए+ वज्जए ॥ २८ ॥

२९२. आउकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया ॥ २९ ॥

२९३. आउकायं विहिंसंतो हिंसई उ तदस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ ३० ॥

२९४. तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दोग्गइवड्ढणं।
आउकाय-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥ ३१ ॥

२९५. जायतेयं न इच्छंति पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं सव्वओ वि दुरासयं ॥ ३२ ॥

२९६. पाईणं पडिणं वा वि उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वावि दहे उत्तरओ वि य ॥ ३३ ॥

२९७. भूयाणमेसमाघाओ हव्ववाहो, न संसओ।
तं पईव-पयावट्ठा संजया किंचि नाऽऽरभे ॥ ३४ ॥

---

३६. (क) दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. ३४३
(ख) दशवै. (संतबालजी), पृ. ७७
(ग) विशेष स्पष्टीकरण के लिए 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' ग्रन्थ देखें।

पाठान्तर— + जावज्जीवाइं। × तिक्खमन्नयरा सत्था। —अगस्त्यचूर्णि।

२९८. तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥ ३५ ॥

२९९. अनिलस्स समारंभं बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेव, नेयं ताईहिं सेवियं ॥ ३६ ॥

३००. तालियंटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं ॥ ३७ ॥

३०१. जं पि वत्थं वा पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति जयं परिहरंति य ॥ ३८ ॥

३०२. तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइवड्ढणं ।
वाउकाय-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥ ३९ ॥

३०३. वणस्सइं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया ॥ ४० ॥

३०४. वणस्सइं विहिंसंतो हिंसई उ तदस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ ४१ ॥

३०५. तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइ-वड्ढणं ।
वणस्सइ-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥ ४२ ॥

३०६. तसकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया ॥ ४३ ॥

३०७. तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तदस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ ४४ ॥

३०८. तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दोग्गइ-वड्ढणं ।
तसकाय-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥ ४५ ॥

[२८९] श्रेष्ठ समाधि वाले संयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन और काय,—इस त्रिविध योग से और कृत, कारित एवं अनुमोदन,—इस त्रिविध करण से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते ॥२६॥

[२९०] पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ (साधक) उसके आश्रित रहे हुए विविध प्रकार के चाक्षुप (नेत्रों से दिखाई देने वाले) और अचाक्षुष (नहीं दिखाई देने वाले) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ॥२७॥

[२९१] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर यावज्जीवन पृथ्वीकाय के समारम्भ का त्याग करे ।।२८।।

[२९२] सुसमाधिमान् संयमी मन, वचन और काय—इस त्रिविध योग से तथा कृत, कारित और अनुमोदन,—इस त्रिविध करण से अप्काय की हिंसा नहीं करते ।।२९।।

[२९३] अप्कायिक जीवों की हिंसा करता हुआ (साधक) उनके आश्रित रहे हुए विविध चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्यमान) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।।३०।।

[२९४] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) यावज्जीवन अप्काय के समारम्भ का त्याग करे ।।३१।।

[२९५] (साधु-साध्वी) जाततेज-अग्नि को जलाने की इच्छा नहीं करते; क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों की अपेक्षा तीक्ष्ण शस्त्र तथा सब ओर से दुराश्रय है ।।३२।।

[२९६] वह (अग्नि) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्वदिशा तथा अधोदिशा और विदिशाओं में (सभी जीवों का) दहन करती है ।।३३।।

[२९७] निःसन्देह यह हव्यवाह (अग्नि) प्राणियों के लिए आघातजनक है। अतः संयमी (साधु-साध्वी) प्रकाश (प्रदीपन) और ताप (प्रतापन) के लिए उस (अग्नि) का किंचिन्मात्र भी आरम्भ न करें ।।३४।।

[२९८] (अग्नि जीवों के लिए विघातक है); इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का त्याग करे ।।३५।।

[२९९] बुद्ध (तीर्थंकरदेव) वायु (अनिल) के समारम्भ को अग्निसमारम्भ के सदृश ही मानते हैं। यह सावद्य-बहुल (प्रचुर पापयुक्त) है। अतः यह षट्काय के त्राता साधुओं के द्वारा आसेवित नहीं है ।।३६।।

[३००] (इसलिए) वे (साधु-साध्वी) ताड़ के पंखे से, पत्र (पत्ते) से, वृक्ष की शाखा से, अथवा पंखे से (स्वयं) हवा करना तथा दूसरों से हवा करवाना नहीं चाहते (और उपलक्षण से अनुमोदन भी नहीं करते हैं।) ।।३७।।

[३०१] जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या रजोहरण हैं, उनके द्वारा (भी) वे वायु की उदीरणा नहीं करते, किन्तु यतनापूर्वक वस्त्र-पात्रादि उपकरण को धारण करते हैं ।।३८।।

[३०२] (वायुकाय सावद्य-बहुल है) इसलिए इस दुर्गतिवर्द्धक दोष को जान कर (साधुवर्ग) जीवनपर्यन्त वायुकाय-समारम्भ का त्याग करे ।।३९।।

[३०३] सुसमाहित संयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन और काय—इस त्रिविध योग से तथा कृत, कारित और अनुमोदन—इस त्रिविध करण से वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते ।।४०।।

[३०४] वनस्पतिकाय की हिंसा करता हुआ (साधु) उसके आश्रित विविध चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।। ४१ ।।

[३०५] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) जीवन भर वनस्पतिकाय के समारम्भ का त्याग करे ।। ४२ ।।

[३०६] सुसमाधियुक्त संयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन, काया—इस त्रिविध योग तथा कृत, कारित और अनुमोदन—इस त्रिविध करण से त्रसकायिक जीवों की हिंसा नहीं करते ।। ४३ ।।

[३०७] त्रसकाय की हिंसा करता हुआ (साधु) उसके आश्रित रहे हुए अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।। ४४ ।।

[३०८] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) जीवनपर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का त्याग करे ।। ४५ ।।

विवेचन—षट्कायिक जीवों की हिंसा का त्याग—प्रस्तुत २० सूत्रगाथाओं (२८९ से ३०८ तक) में क्रमशः पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकायों की हिंसा का त्याग साधुवर्ग को क्यों और किस प्रकार से करना चाहिए? इसका प्रतिपादन किया गया है। पृथ्वीकायादि की हिंसा का त्याग क्यों करना चाहिए? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—इन षड्जीवनिकायों की हिंसा करते समय व्यक्ति उस-उस काय के अतिरिक्त उसके आश्रित कई प्रकार के त्रस एवं स्थावर, आँखों से दीखने वाले और न दीखने वाले जीवों का भी संहार करता है। इन षट्कायिक जीवों की हिंसा से दुर्गति (नरक या तिर्यञ्च गति) तो मिलती ही है, किन्तु उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, अर्थात्—कुगतियों में जन्ममरण की परम्परा बढ़ती जाती है। यह दोष अतीव भयंकर और आत्मगुणों का विघातक है, यह जानकर इनकी हिंसा का त्याग करना अनिवार्य है।[३६]

इनकी हिंसा का त्याग किस प्रकार से?—(१) सामान्यतया षट्कायिक जीवों की हिंसा के त्याग की विधि इस प्रकार बताई गई है—तीन करण और तीन योग से पृथ्वीकायादि छह जीवनिकायों की हिंसा एवं समारम्भ का त्याग जीवन भर के लिए करे। (२) विशेष रूप से प्रत्येक जीवनिकाय के जीवों की हिंसा के त्याग की विधि पृथक्-पृथक् भी बताई गई है। वैसे तो 'षड्जीवनिकाय' नामक चतुर्थ अध्ययन में प्रत्येक जीवनिकाय से सम्बन्धित प्रकार और उसकी हिंसा के विविध प्रकारों का उल्लेख किया गया है, इसलिए यहाँ उसकी विशेष चर्चा नहीं की गई है। प्रस्तुत में तेजस्काय एवं वायुकाय की हिंसा के त्याग के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला गया है—अग्नि अन्य शस्त्रों से अधिक तीक्ष्ण शस्त्र है, सर्वतः दुराश्रय, सर्व दिशाओं-विदिशाओं में संहारक हो जाती है—वहाँ रहे हुए सभी जीवों को भस्म करती है। यह प्रचुर प्राणियों के लिए विघातक है। अतः संयमी साधुवर्ग ताप और प्रकाश दोनों के लिए अग्नि का जरा भी प्रयोग न करे। वायुकाय का समारम्भ भी अग्निकायसदृश घोर विघातक है, सावद्यबहुल है, त्रायी साधुवर्ग के द्वारा अनासेवित है। अतः ताड़पत्र के पंखे, पत्ते, शाखा अथवा अन्य किस्म के पंखे आदि से तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल या रजोहरण से हवा नहीं करनी चाहिए। यतनापूर्वक वस्त्रादि उपकरणों को रखना-उठाना या धारण करना चाहिए।[३७]

---

३६. (क) दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ४१-४२-४३
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.)

३७. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ४२

'जाततेयं' आदि शब्दों की व्याख्या : जाततेयं—जाततेज—जो उत्पत्तिकाल से ही तेजस्वी हो, सूर्य उदयकाल में मृदु और मध्याह्न में तीव्र होता है, अतः वह जाततेज नहीं है। स्वर्ण जाततेज नहीं है, परिकर्म से तेजस्वी बनता है, अग्नि परिकर्म के बिना उत्पत्ति के साथ ही तेजस्वी होती है, अतः इसे 'जाततेज' कहा गया है। **पावक** भी अग्नि का पर्यायवाची नाम है, जाततेज उसका विशेषण है।[३८]

तिक्खमन्नयरं सत्थं—अग्नि तीक्ष्णतम शस्त्र है। कई शस्त्र एक धार वाले, कई दो धार, तीन धार, चार धार अथवा पांच धार वाले होते हैं, किन्तु अग्नि सर्वतोधार—सब ओर से धार वाला शस्त्र है। *अजानुफल पांच धारवाले शस्त्र होते हैं,* सभी शस्त्रों में अग्नि जैसा तीक्ष्णतर कोई शस्त्र नहीं है। अन्यतर का अर्थ है—प्रधान शस्त्र। सबसे तीक्ष्ण या सर्वतोधार अथवा तीक्ष्णशस्त्रों में प्रधान शस्त्र। अग्नि सर्वतोधार है, इसलिए इसे **'सर्वतोदुराश्रय'** कहा गया है। अर्थात्—इसे अपने आश्रित करना कठिन है। **हव्ववाहो—हव्यवाह**—देवतृप्ति के लिए होम किये जाने वाले घृत आदि हव्य द्रव्यों का जो वहन करे वह हव्यवाह है, यह अग्नि का पर्यायवाची शब्द है। **आघाओ—आघात**—प्राणियों के आघात (विनाश) का हेतु होने से इसे आघात कहा गया है। **सावज्जबहुलं**—प्रचुर पापयुक्त। सावद्य शब्द का अर्थ है—अवद्य-पाप सहित। **उईरंति—उदीरयन्ति**—प्रेरित करते हैं—प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न करते हैं।[३९]

तेरहवाँ आचारस्थान : प्रथम उत्तरगुण अकल्प्य-वर्जन

३०९. जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं इसिणाऽऽहारमाइणि।
ताइं तु विवज्जेंतो संजमं अणुपालए ॥४६॥

---

३८. (क) जात एव जम्मकाल एव तेजस्वी, ण तहा आदिच्चो, उदये सोमो मज्झे तिव्वो। —अ. चू., पृ. १५०

(ख) जायते तेजमुप्पत्तीसमकमेव जस्स सो जायतेयो भवति। जहा सुवण्णादीणं परिक्कम्मणाविसेसेण तेयाभिसम्बन्धो भवति, ण तहा जायतेयस्स। —जि. चू., पृ. २२४

३९. (क) सासिज्जइ जेण तं सत्थं, किंचि एगधारं, दुधारं, तिधारं, चउधारं, पंचधारं, सव्वतो धारं नत्थि, मोत्तुमगणिमेगं। तत्थ एगधारं, परसु, दुधारं कणयो, तिधारं असि, चउधारं तिपडतो कणीयो, पंचधारं अजानुफलं, सव्वओ धारं अग्गी। एतेहिं एगधार-दुधार-तिधार-चउधार-पंचधारेहिं सत्थेहिं अण्णं नत्थि सत्थं, अगणिसत्थाओ तिक्खतरमिति। —जिनदासचूर्णि, पृ. २२४

(ख) 'तीक्ष्णं'-छेदकरणात्मकम्, 'अन्यतरत् शस्त्रं'-सर्वशस्त्रम्। सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भावः। —हारि. वृत्ति, पत्र २०१

(ग) अण्णतराओत्ति पधाणाओ। —अग. चूर्णि, पृ. १५०

(घ) सव्वओवि दुरासयं नाम एतं सत्थं सव्वतोधारत्तणेण दुक्खमाश्रयत इति दुराश्रयं। —जिनदासचूर्णि, पृ. २२४

(ङ) अणुदिसाओ—अंतरदिसाओ। —अग. चूर्णि, पृ. १५०

(च) वहतीति वाहो, हव्वं नाम जं हूयते घयादि तं हव्वं भण्णइ। —जि. चू., पृ. २२५

(छ) 'हव्यवाह'-अग्निः। एष आघातहेतुत्वादाघातः। —हारि. वृत्ति, पत्र २०१

(ज) 'सावज्जबहुलं-पापभूयिष्ठम्'। —हारि. वृत्ति, पत्र २०१

(झ) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ३२१

३१०. पिंडं सेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य।
अकप्पियं न इच्छेज्जा, पडिग्गाहेज्ज कप्पियं ॥४७॥

३११. जे नियागं ममायंति कीयमुद्देसियाऽऽहडं।
वहं ते समणुजाणंति, इइ वुत्तं[४०] महेसिणा ॥४८॥

३१२. तम्हा असण-पाणाई+ कीयमुद्देसियाऽऽहडं।
वज्जयंति ठियप्पाणो निग्गंथा धम्मजीविणो ॥४९॥

[३०९] जो आहार आदि (निम्नोक्त) चार पदार्थ ऋषियों के लिए अकल्पनीय (अभोग्य) हैं, उनका विवर्जन करता हुआ (साधु) संयम का पालन करे ॥ ४६ ॥

[३१०] साधु या साध्वी अकल्पनीय पिण्ड (आहार), शय्या (वसति, उपाश्रय या धर्मस्थानक), वस्त्र (इन तीन) और चौथे पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे, ये कल्पनीय हों तो ग्रहण करे ॥ ४७ ॥

[३११] जो साधु-साध्वी नित्य आदरपूर्वक निमंत्रित कर दिया जाने वाला (नियाग), क्रीत (साधु के निमित्त खरीदा हुआ), औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाया हुआ) और आहृत (निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया हुआ) आहार ग्रहण करते हैं, वे (प्राणियों के) वध का अनुमोदन करते हैं, ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है ॥ ४८ ॥

[३१२] इसलिए धर्मजीवी, स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ), निर्ग्रन्थ, क्रीत, औद्देशिक एवं आहृत (आदि दोषों से युक्त) अशन-पान आदि का वर्जन करते हैं ॥ ४९ ॥

विवेचन—साधुवर्ग की चार मुख्य आवश्यकताएँ : उनमें अकल्प्य का वर्जन, कल्प्य का ग्रहण—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (३०९ से ३१२ तक) में चार मुख्य आवश्यकताओं का निरूपण करके उनमें अकल्पनीय का वर्जन और कल्पनीय को ग्रहण करने का निर्देश किया गया है।

साधुवर्ग की ४ मुख्य आवश्यकताएँ—(१) पिण्ड (आहार-पानी), (२) शय्या (आवासस्थान), (३) वस्त्र और (४) पात्र। आचारांगसूत्र, पिण्डनिर्युक्ति आदि में इन चारों के सम्बन्ध में कौन-सा, कैसा, कब और किस स्थिति में, किस दाता द्वारा ग्रहण करना कल्पनीय है? कौन-सा पिण्ड आदि अकल्पनीय है? इसका विस्तृत वर्णन है।

अकल्प्य और कल्प्य की मीमांसा और अकल्प्यनिषेध का रहस्य—जो पिण्ड, शय्या, वस्त्र और पात्र अकल्प्य हो, उसे ग्रहण करना तो दूर रहा, उसे ग्रहण करने की इच्छा भी न करे। अकल्प्य का विचार इस प्रकार है—अकल्प्य दो प्रकार के हैं—शैक्षस्थापना-अकल्प्य और अकल्पस्थापना-अकल्प्य। शैक्ष (नवदीक्षित जो कल्प, अकल्प को न जानता हो) के द्वारा लाया हुआ या याचित आहार, वसति, वस्त्रग्रहण तथा वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना या ऋतुवद्ध काल में अयोग्य को प्रव्रजित

४०. पाठान्तर—उत्तं। + पाणाइं।

करना, शैक्षस्थापना-अकल्प्य है। जिनदास महत्तर के अनुसार जिसने पिण्डनिर्युक्ति या पिण्डैषणाऽध्ययन (आचारांग) न पढ़ा हो उसके द्वारा लाया हुआ भक्त-पान, जिसने शय्याऽध्ययन (आचारचूला-२) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा याचित वसति (उपाश्रयादि) और जिसने वस्त्रैषणा (आचारचूला-५) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा आनीत वस्त्र, वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना तथा ऋतुबद्ध काल में अयोग्य को प्रव्रजित करना शैक्ष-स्थापना-अकल्प्य कहलाता है। वृत्तिकार ने इसके अतिरिक्त भी बताया है कि जिसने पात्रैषणा (आचारचूला-६) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा आनीत पात्र भी शैक्षस्थापना-अकल्प्य है। अकल्पनीय पिण्ड आदि को ही इन व्याख्याकारों ने 'अकल्पस्थापना-अकल्प्य' कहा है और यही यहाँ संगत है।[४१]

अभोज्जाइं आदि पदों का विशेषार्थ—अभोज्जाइं-अभोज्यानि अर्थात् अकल्पनीय, असेवनीय। जो भक्त-पान, वस्त्र, पात्र और वसति (उपाश्रय आदि आवासस्थान) साधु-साध्वियों के लिए अग्राह्य हों, विधिसम्मत न हों, संयम के लिए अपकारी हों, वे अकल्पनीय हैं। '**इसिणा : (१) ऋषिणा : ऋषि के द्वारा** अथवा **(२) ऋषीणां** : ऋषियों का। आहारमाईणि—आहारादि। आदि शब्द से शय्या, वस्त्र और पात्र का ग्रहण करना चाहिए।[४२]

चौदहवाँ आचारस्थान : गृहस्थ के भाजन में परिभोगनिषेध

३१३. कंसेसु कंसपाएसु कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाई+आयारा परिभस्सई॥ ५०॥

३१४. सीओदगसमारंभे मत्तधोयणछड्डणे।
जाइं छण्णंति भूयाइं, तत्थ* दिट्ठो असंजमो॥ ५१॥

---

४१. (क) पढमोत्तरगुणो अकप्पो। सो दुविहो तं.—सेहठवणाकप्पो अकप्पठवणाकप्पो य। पिंड-सेज्ज-वत्थ-पत्ताणि अप्पप्पणो अकप्पितेण उप्पाइयाणि ण कप्पंति।·········अकप्पठवणाकप्पो इमो। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १५२

(ख) अणहीआ खलु जेणं पिंडेसणसेज्ज-वत्थ-पाएसा।
तेणाणियाणि जतिणो कप्पंति ण पिंडमाईणि॥ १॥
उउबद्धंमि ण अणला, वासावासे उ दोवि णो सेहा।
दिक्खिज्जंती पायं उवणाकप्पो इमो होइ॥ २॥ —हारि. वृत्ति, पत्र २०३

४२. (क) अभोज्जाणि-अकप्पियाणि। —जि. चू., पृ. २२७
(ख) अभोज्यानि-संयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि।
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ३२२
(घ) इसिणा—साधुना। —जिन. चू., पृ. २२७
(ङ) ऋषीणां—साधूनाम्। —हारि. वृत्ति, पृ. २०३
(च) 'आहार-शय्या-वस्त्रपात्राणि—आहारादीनि।' —हा. वृ., पत्र २०३

पाठान्तर + असणपाणाइं। * सो तत्थ।

३१५. पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिया तत्थ न कप्पई।
एयमट्ठं न भुंजंति निग्गंथा गिहिभायणे ॥ ५२ ॥

[३१३] (गृहस्थ के) कांसे के कटोरे (या प्याले) में, कांसे में बर्तन (या थाली) में अथवा कुंडे के आकार वाले कांसे के बर्तन में जो साधु अशन, पान आदि खाता-पीता है, वह श्रमणाचार से परिभ्रष्ट हो जाता है ॥ ५० ॥

[३१४] (गृहस्थ के द्वारा) उन बर्तनों को सचित्त (शीत) जल से धोने में और बर्तनों के धोए हुए पानी को डालने में जो प्राणी निहत (हताहत) होते हैं, उसमें (तीर्थंकरों ने) असंयम देखा है ॥ ५१ ॥

[३१५] (गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने से) कदाचित् पश्चात्कर्म और पुरःकर्म (दोष) संभव है। (इस कारण वह निर्ग्रन्थ के लिए) कल्पनीय नहीं है। इसी कारण वे गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करते ॥ ५२ ॥

विवेचन—गृहस्थ के पात्र में भोजन कल्पनीय क्यों नहीं?—गृहस्थ के कांसे आदि धातुओं के बर्तन में साधु को भोजन करना या पेयपदार्थ पीना इसलिए कल्पनीय नहीं है कि गृहस्थ साधु-साध्वी को अपना बर्तन देने से पहले या लौटाने के पश्चात् उसे सचित्त जल से धो सकता है और फिर बर्तन का वह धोया हुआ पानी जहाँ-तहाँ अविवेक से डाल देगा। वहाँ उससे त्रसजीवों की उत्पत्ति और विराधना हो सकती है। ऐसा करने से पश्चात्कर्म और पुरःकर्म नामक एषणादोष लगना सम्भव है। अतएव गृहस्थ के बर्तन में आहार-पानी करने से श्रमणों को आचार से पतित और भ्रष्ट बताया है।[४३]

'कंसेसु' आदि पदों का अर्थ—कंसेसु : अनेक अर्थ—(१) कांसे का बना हुआ बर्तन (कांस्य), (२) क्रीड़ा-पान का बर्तन, (कंस), (३) थाल, खोरक (गोलाकार बर्तन), (४) कटोरा, गगरी जैसा बर्तन। **कंसपाएसु : दो अर्थ**—(१) कांसे के बर्तनों में या कांसे की थालियों में। **कुंडमोएसु**—कुण्डमोदेषु तीन अर्थ—(१) कच्छ आदि देशों में प्रचलित कुंडे की आकृति जैसा कांस्यपात्र। (२) हाथी के पैर जैसी आकृति वाला बर्तन, (३) हाथी के पैर के आकार का मिट्टी आदि का भाजन-कुण्डमोद है। **सीओदगं-शीतोदक**—सचित्त जल। **छण्णंति-क्षणंति**—हिंसा करता है। क्षणु धातु हिंसा करने के अर्थ में है।[४४]

---

४३. दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३६५-३६६

४४. (क) कंसेसु—कंसस्स विकारो कांसं तेसु वट्टगातिसु लीलापाणेसु। —अ. चू., पृ. १५३
(ख) कुण्डमोदेषु हस्तिपादाकारेषु मृण्मयादिषु। —हारि. वृत्ति, पृ. २०३
(ग) कुंडमोयं कच्छातिसु कुंडसंथियं कंसभायणमेव महंतं। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. १५३
(घ) 'सीतग्गहणेण सचेयणस्स उदगस्स गहणं कयं।' —जिन. चूर्णि, पृ. २२८
(ङ) छन्नंति—क्षणुं हिंसायामिति हिंसज्जंति। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. १५३

पन्द्रहवाँ स्थान : पर्यंक आदि पर सोने-बैठने का निषेध

३१६. आसंदी-पलियंकेसु मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं आसइत्तु सइत्तु वा ।।५३।।

३१७. नासंदीपलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए ।
निग्गंथाऽपडिलेहाए बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ।।५४।।

३१८. गंभीरविजया एए पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदी पलियंको य एयमट्ठं विवज्जिया ।।५५।।

[३१६] आर्य (एवं आर्याओं) के लिए आसन्दी और पलंग पर, मंच (खाट) और आसालक (सिंहासन या आरामदेह लचीली कुर्सी) पर बैठना या सोना अनाचरित है ।।५३।।

[३१७] तीर्थंकरदेवों (बुद्धों) द्वारा कथित आचार का पालन करने वाले निर्ग्रन्थ (विशेष परिस्थिति में बैठना पड़े तो) विना प्रतिलेखन किये, न तो आसन्दी, पलंग पर बैठते हैं और न गद्दी या आसन (निषद्या) पर बैठते हैं, न ही पीढे पर बैठते (उठते या सोते) हैं ।।५४।।

[३१८] ये (सब शयनासन) गम्भीर छिद्र वाले होते हैं, इनमें सूक्ष्म प्राणियों का प्रतिलेखन करना दुःशक्य होता है; इसलिए आसन्दी एवं पर्यंक (तथा मंच आदि) पर बैठना या सोना वर्जित किया है ।।५५।।

विवेचन—पर्यंक आदि पर सोने-बैठने का वर्जन क्यों ?—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (३१६ से ३१८) में पर्यंक आदि पर सोने-बैठने के निषेध के कारणों की मीमांसा तथा आपवादिक रूप से प्रतिलेखनपूर्वक बैठने-सोने का प्रतिपादन किया है । पर्यंक आदि पर बैठने-सोने का निषेध करने के पीछे एक प्रबल कारण यह दिया है कि ये सब शयन-आसन गम्भीर (पोले) छिद्र वाले अथवा इनके विभाग अप्रकाशकर होते हैं । इसलिए वहाँ रहे हुए जीवों का भलीभाँति प्रतिलेखन नहीं हो सकता । किसी विशेष परिस्थिति में राजकुलादि में धर्मकथा आदि करने हेतु कदाचित् बैठना पड़े तो प्रतिलेखन किये विना न बैठे ।[४५]

पलिअंक आदि पदों के विशेष अर्थ—**आसंदी**—भद्रासन, **पलिअंक**—पर्यंक—पलंग । **मंच**—मांचा, खाट या चारपाई । **आशालक**—जिसमें सहारा हो, ऐसा सुखकारक-आसन । वर्तमान काल में इसे आरामकुर्सी आदि कहते हैं । **निसिज्जा**—निषद्या—एक या अनेक वस्त्रों से बना हुआ आसन या गद्दी । **पीढए**—पीठ, पीढा । जिनदासचूर्णि के अनुसार यह पीढा पलाल का और वृत्ति के अनुसार वेंत का बना हुआ होता है । **गंभीरविजया**—(१) **गंभीरविचया**—गम्भीर छिद्रों वाले या (२)

---

४५. (क) गंभीरं अप्रकाशं, विजयः-आश्रयः अप्रकाशाश्रया एते । —हारि. वृत्ति, पत्र २०४
(ख) गंभीरं अप्पगासं विजयो-विभागो । गंभीरो विजयो जेसिं ते गंभीरविजया । —अ. चू., पृ. १५४
(ग) धम्मकहा-रायकुलादिसु पडिलेहिऊण निसीयणादीणि कुव्वंति । —जिन. चूर्णि, पृ. २९९
(घ) पडिलेहणा-पमत्तो-विराहओ होई । —उत्तरा. अ. २७।३०

गंभीर-विजया—गंभीर का अर्थ अप्रकाश और छिद्र का अर्थ—विभाग है। जिनके विभाग अप्रकाशकर होते हैं। **बुद्ध-वुत्तमहिट्ठगा**—तीर्थंकरों के वचनों को मानने वाले।[४६]

सोलहवाँ आचारस्थान : गृहनिषद्या-वर्जन

३१९. गोयरग्गपविट्ठस्स निसेज्जा जस्स कप्पई।
इमेरिसमणायारं आवज्जइ अबोहियं ॥५६॥

३२०. विवत्ती बंभचेरस्स पाणाणं* च वहे वहो।
वणीमागपडिग्घाओ पडिकोहो य अगारिणं ॥५७॥

३२१. अगुत्ती बंभचेरस्स इत्थीओ यावि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं दूरओ परिवज्जए ॥५८॥

३२२. तिण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पई।
जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो ॥५९॥

[३१९] भिक्षा के लिए प्रविष्ट जिस (साधु) को (गृहस्थ के घर में) बैठना अच्छा लगता है, वह इस प्रकार के (आगे कहे जाने वाले) अनाचार को (तथा उसके) अबोधि (रूप फल) को प्राप्त होता है ॥५६॥

[३२०] (गृहस्थ के घर में बैठने से) ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन न करने में विपत्ति खड़ी हो जाती है। प्राणियों का वध होने से संयम का घात हो जाता है और भिक्षाचरों को अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है ॥५७॥

[३२१] (गृहस्थ के घर में बैठने से) ब्रह्मचर्य की असुरक्षा (अगुप्ति) होती है; स्त्रियों के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है। अतः यह गृहस्थगृहनिषद्या कुशीलता बढ़ाने वाला स्थान (भयस्थल) है, (अतः साधु) इसका दूर से ही परिवर्जन कर दे ॥५८॥

---

४६. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. ३६९
(ख) निसिज्जा नाम एगे कप्पो, अणेगा वा कप्पा। —जिन. चूर्णि, पृ. २२९
(ग) पीढगं—पलालपीठगादि। —जि. चूर्णि, पृ. २२९
पीठके—वेत्रमयादौ। —हारि. वृत्ति, पृ. २०४
(घ) गंभीरं अप्पगासं भण्णइ, विजओ नाम मग्गणंति वा, पिथुकरणंति वा, विवेयणंति वा विजओ त्ति वा एगट्ठा। —जिन. चूर्णि, पृ. २२९
गंभीरं-अप्रकाशं विजय आश्रयः अप्रकाशाश्रया एते। —हारि. वृ. २०४
(ङ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३६८

पाठान्तर—* अवहे वहो।

[३२२] जरा (बुढ़ापे) से ग्रस्त, व्याधि (रोग) से पीड़ित और (उग्र) तपस्वी; इन तीनों में से किसी के लिए गृहस्थ के घर में बैठना कल्पनीय है ॥५९॥

विवेचन—गृहस्थ के घर में बैठने से दोष—प्रस्तुत ४ गाथाओं (३१९ से ३२२ तक) में गृहस्थ के घर में बैठने से होने वाले दोषों का उल्लेख किया है। मुख्य दोष निम्नलिखित बताए हैं—(१) अनाचार-प्राप्ति, (२) अबोधिकारक फल (मिथ्यात्व) की प्राप्ति, (३) ब्रह्मचर्य के आचरण में विपत्ति, (४) प्राणियों का वध होने से संयम का घात, (५) भिक्षाचरों के अन्तराय लगता है, जिससे उन्हें आघात पहुँचता है, (६) ब्रह्मचर्य असुरक्षित हो जाता है एवं (७) स्त्रियों के प्रति शंका।

'अणायारं' आवज्जइ अबोहियं : आशय—(१) गृहस्थ के घर में बैठने या कथावार्ता करने से साधु का साध्वाचारपथ से गिर कर अनाचारपथ पर पहुँच जाना सम्भव है। एक बार अनाचार प्राप्त होने से साधक किसी भी तुच्छ निमित्त को पाकर सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाता है और क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव, जो अत्यन्त सत्प्रयत्नों से प्राप्त होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और साधक औदयिकभाव में पहुँच कर मिथ्यात्वग्रस्त हो जाता है। (२) घर में इधर-उधर डोलती-फिरती, सोती एवं बैठती स्त्रियों के अंगप्रत्यंगों को बार-बार देखने तथा उनकी मनोज्ञ इन्द्रियों को निरखने से और उनके साथ बातचीत करने तथा अतिपरिचय होने से चित्त कामरागवश चंचल होने से ब्रह्मचर्य का विनाश सम्भव है। (३) अतिसंसर्ग के कारण रागभाववश साधु के लिए नाना प्रकार का स्वादिष्ट भक्त-पान तैयार किया जा सकता है, जिससे प्राणियों का वध होना स्वाभाविक है। (४) जो भिक्षाचर घर पर मांगने आते हैं, उनको अन्तराय होता है, क्योंकि देने वाले सब साधु की सेवा में बैठ जाते हैं, साधु को बुरा लगेगा, यह सोच कर गृहिणी उन भिक्षाचरों की ओर ध्यान नहीं देती। फलतः वे निराश होकर लौट जाते हैं। (५) घर के स्वामी को, साधु के इस प्रकार घर में बैठने से उस के चारित्र के प्रति शंका होती है। **'इत्थीओ वावि संकणं'** से यह अर्थ किया गया है—स्त्री के प्रफुल्ल वदन और कटाक्ष आदि की अनेक कामोत्तेजक चेष्टाएँ देख कर लोग उसके प्रति शंका करने लगते हैं कि इस स्त्री का मुनि से लगाव दिखता है। वैसे ही मुनि के प्रति भी शंकाशील हो जाते हैं कि यह साधु ब्रह्मचर्य से पतित है।[४७]

निसिज्जा जस्स कप्पइ—पहले उत्सर्ग के रूप में गृहस्थ के घर में बैठने का साधु के लिए निषेध किया गया था। इस सूत्र में अपवाद रूप से तीन प्रकार के साधुओं के लिए गृहस्थ के घर में बैठना परिस्थितिवश कल्पनीय बताया है—साधु यदि (१) रोगिष्ठ, (२) उग्र तपस्वी, या (३) वृद्धावस्था से पीड़ित हो। रोग, उग्र तप या बुढ़ापा देह को शिथिल बना देता है, इस कारण गोचरी के लिए गया हुआ भिक्षु कदाचित् हाँफने लगे या थक जाए तो गृहस्थ के यहाँ घर के लोगों से अनुज्ञा

---

४७. (क) दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आतमारामजी म.) पृ. ३७१
(ख) दशवै. (संतबालजी), पृ. ८५
(ग) अबोहिकारिं अबोहिकं। —अग. चूर्णि, पृ. १५४
अबोहिं नाम मिच्छत्तं। —जिन. चूर्णि, पृ. २२९
(घ) कहं बंभचेरस्स विवत्ती होज्जा ? अवरोप्परओ-संभास-अन्नोऽन्नदंसणादीहिं बंभचेर विवत्तीभवति।
—जिन. चूर्णि, २२९
(ङ) "तत्थ य बहवे भिक्खायरा एंति···· ते तस्स अवण्णं भासंति।" —जिन. चू, पृ. २३०।

मांग कर अपनी थकान मिटाने या विश्राम लेने हेतु थोड़ी देर तक विवेकपूर्वक बैठ सकता है। यह अपवाद मार्ग है। इसका एक या दूसरे प्रकार से लाभ लेकर कोई अनर्थ न कर बैठे, इसलिए प्रत्येक स्थिति में विवेक करना अनिवार्य है।[४८]

सत्तरहवाँ आचारस्थान : स्नानवर्जन

३२३. वाहिओ वा अरोगी वा सिणाणं जो उ पत्थए।
वोक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥६०॥

३२४. संतिमे सुहुमा पाणा घसासु भिलुगासु* य।
जे उ भिक्खू सिणायंतो,+ वियडेणुप्पिलावए ॥६१॥

३२५. तम्हा ते न सिणायंति सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं असिणाणमहिट्ठगा ॥६२॥

[३२३] रोगी हो या नीरोग, जो साधु (या साध्वी) स्नान करने की इच्छा करता है, उसके आचार का अतिक्रमण (उल्लंघन) हो जाता है; उसका संयम भी त्यक्त (शून्यरूप) हो जाता है ॥६०॥

[३२४] यह तो प्रत्यक्ष है कि पोली भूमि में और भूमि की दरारों में सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से भी स्नान करता हुआ भिक्षु उन्हें (जल से) प्लावित कर (-बहा) देता है ॥६१॥

[३२५] इसलिए वे (संयमी साधु-साध्वी) शीतल या उष्ण जल से स्नान नहीं करते। वे जीवन भर घोर अस्नानव्रत पर दृढ़ता से टिके रहते हैं ॥६२॥

विवेचन—स्नाननिषेध का हेतु ?—प्रस्तुत तीन गाथाओं (३२३ से ३२५ तक) में ब्रह्मचारी एवं संयमी साधु या साध्वी के स्नान करने में निम्नोक्त दोषों की सम्भावना बतलाई गई है—(१) आचार का उल्लंघन (साधु का यावज्जीवन आचार (नियम) है—अस्नान का, वह भंग होता है); (२) प्राणिरक्षणरूप संयम की विराधना, क्योंकि स्नान करता है तो पानी के बहने से अनेक सूक्ष्म त्रस प्राणियों की हिंसा होने की सम्भावना है। (३) पोली और दरार वाली भूमि में स्नान का बहता हुआ पानी घुस जाने से वहाँ पर रहे हुए अनेक सूक्ष्म जीवों की विराधना होती है। (४) प्रासुक या उष्ण जल से स्नान करने में भी यही पूर्वोक्त दोष है।[४९]

---

४८. (क) दशवैकालिक (संतबालजी), पृ. ८४
(ख) दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४५
(ग) जराए अभिभूयगाहणे णं अतिकट्ठपत्ताए जराए वज्जति। अत्तलाभिओ वा अविकिट्ठतवस्सी वा एवमादि।
—जिन. चूर्णि, पृ. २३०-२३१

पाठान्तर — * भिलगासु। + जे अ भिक्खू सिणायंति।

४९. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३७५

'वोक्कंतो' आदि कठिन शब्दों के अर्थ—**वोक्कंतो-व्युत्क्रान्त**—उल्लंघित होता है। **आयारो-आचार : दो अर्थ**—(१) कायक्लेशरूप बाह्यतप, अथवा अस्नानरूप मौलिक आचार (नियम)। **जढो-त्यक्त**—प्राणीरक्षारूप संयम को छोड़ दिया जाता है। **घसासु—दो अर्थ**—(१) शुषिर-पोली भूमि, (२) पुराने भूसे की राशि का वह प्रदेश, जिसके एक छोर को छूते या जिस पर रखते ही सारा प्रदेश हिल जाए। **भिलुगासु**—यह देशी शब्द है। अर्थात् राजियों—लम्बी-लम्बी दरारों से युक्त भूमि। **वियडेण-विकटेन-विकृतेन**—प्रासुक जल या धोवन पानी से। **उप्पिलावए**—(१) उत्प्लावयति—उत्प्लावन करता है, डुबा देता है, या बहा देता है। अथवा उत्पीडयति—बहुत पीड़ित कर देता है। **सीएण उसिणेण वा**—ठंडे स्पर्श सुखकारी प्रासुक जल से अथवा उष्ण (गर्म) जल से। **असिणाणमहिट्ठगा**—अस्नान के नियम पर स्थिर रहने वाले।[५०]

शृंगार एवं विभूषादि की दृष्टि से भी संयमी पुरुषों के लिए स्नान का निषेध किया गया है, यह बात अठारहवें आचारस्थान की गाथाओं से स्पष्ट है।[५१]

अठारहवाँ आचारस्थान : विभूषात्याग

३२६. सिणाणं अदुवा कक्कं लोद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुवट्टणट्ठाए नाऽयरंति कयाइ वि ॥६३॥

३२७. नगिणस्स वा वि मुंडस्स दीहरोम-नहंसिणो।
मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाए कारियं ॥६४॥

३२८. विभूसावत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसार-सायरे घोरे जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥६५॥

३२९. विभूसावत्तियं चेयं बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥६६॥

---

५०. (क) आचारो—बाह्यतपोरूपः, संयमः—प्राणिरक्षणादिकः। —जढः—परित्यक्तो भवति। प्रासुकस्नानेन कथं संयमपरित्यागः? इत्याह—संतिमे सुहुमा०। —हारि. वृत्ति, पत्र २०५

(ख) घसासु—शुषिरभूमिसु, भिलुगासु च—तथाविधभूमिराजीषु च। विकृतेन—प्रासुकोदकेन। —हारि. वृत्ति, पत्र २०६

(ग) गसति—सुहुमसरीरजीवविसेसा इति घसि। अंतो सुण्णो भूमिपदेसो पुराणभूसातिरासी वा। —अ. चूर्णि, पृ. १५६

(घ) घसा नाम जत्थेकदेसे अक्कममाणे सो पदेसो सव्वो चलइ, सा घसा भण्णइ। —जि. चू., पृ. २३१

५१. (क) वियडं पाणयं भवइ। "........जइ उप्पीलावणादि दोसा न भवंति तहावि अन्ने ण्हायमाणस्स दोसा भवंति, कहं? ण्हायमाणस्स बंभचेरे अगुत्ती भवन्ति, असिणाणपच्चइयो य कायकिलेसो तवो सो ण हवइ; विभूसादोसो य भवति।" —जिन. चूर्णि, पृ. २३२

(ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. ८५

[३२६] (शुद्ध संयम के पालक साधु या साध्वी) स्नान अथवा अपने शरीर का उबटन करने के लिए कल्क (चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य), लोध्र (लोध) या पद्मराग (कुंकुम, केसर आदि तथा अन्य सुगन्धित तेल या द्रव्य) का कदापि उपयोग नहीं करते ॥६३॥

[३२७] (द्रव्य और भाव से) नग्न, मुण्डित, दीर्घ (लम्बे-लम्बे) रोम और नखों वाले तथा मैथुनकर्म से उपशान्त (निवृत्त) साधु को विभूषा (शरीरशोभा या शृंगार) से क्या प्रयोजन है ! ॥६४॥

[३२८] विभूषा के निमित्त से साधु (या साध्वी) चिकने (दारुण) कर्म बाँधता है, जिसके कारण वह दुस्तर संसार-सागर में जा पड़ता है ॥६५॥

[३२९] तीर्थंकर देव (बुद्ध) विभूषा में संलग्न चित्त को वैसा ही (विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्मबन्ध का हेतु) मानते हैं। ऐसा चित्त (आर्त्त-रौद्रध्यान से युक्त होने से) सावद्य-बहुल (प्रचुर-पापयुक्त) है। (अतएव) यह षट्काय के त्राता (साधु-साध्वियों) के द्वारा आसेवित नहीं है ॥६६॥

विवेचन—विभूषा : स्वरूप, निषेधहेतु एवं दुष्फल—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (३२६ से ३२९ तक) में यह बताया गया है कि विभूषा साधुवर्ग के लिए क्यों त्याज्य है ? विभूषा के ध्यान में रत चित्तवाला साधक कैसे कठोर दुष्कर्मों को बाँधता है ?

स्वरूप—शरीर को विभिन्न सुगन्धित द्रव्यों से उबटन करके चिकना, कोमल और गौर बनाना, विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणों से या अन्य पदार्थों से सुसज्जित-सुगन्धित करना, केश, नख आदि अमुक ढंग से काटना, रंगना, सजाना-संवारना आदि सब विभूषा है।

विभूषा के साधन—प्रस्तुत गाथाओं में विभूषा के उस युग में प्रचलित कुछ साधनों का उल्लेख किया है। यथा—सौन्दर्य-प्रसाधनार्थ स्नान, कल्क, लोध, पद्मकेसर, केशकलाप, नखकर्तन वस्त्रादि से साजसज्जा आदि। वर्तमान में अन्य साधन हो सकते हैं।

विभूषा का त्याग क्यों आवश्यक ?—(१) इससे देहभाव बढ़ता है, जिससे शरीर पर ममता-मूर्च्छा बढ़ती है, आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं, संयम नियम में शिथिल हो जाता है। (२) अहर्निश शरीरसज्जा पर ध्यान रहने से चित्त भ्रान्त रहता है। स्वाध्याय, ध्यान आदि आवश्यक दिनचर्या से मन हट जाता है। (३) विभूषा के लिए अनेक आरम्भ-समारम्भयुक्त साधनों का उपभोग करना हिंसानुप्राणित होने से वह असंयमवर्द्धक है, सावद्य-बहुल है। (४) शरीर पर अत्यधिक मोह एवं आसक्ति होने से विभूषा चिकने कर्मबन्ध का कारण है।[५२]

'सिणाणं' आदि शब्दों का विशेषार्थ—'स्नान' : तीन अर्थ—(१) अंगप्रक्षालन चूर्ण, (२) गन्धवर्तिका, (३) सामयिक उपस्नान। **कक्कं-कल्क : तीन अर्थ**—(१) तेल की चिकनाई मिटाने हेतु लगाया जाने वाला आँवले या पिसी हुई दाल का सुगन्धित उबटन, (२) गन्धाट्टक—स्नानार्थ प्रयुक्त

---

५२. (क) दशवै. (संतबालजी), पृ. ८६
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३७८-३७९

किया जाने वाला सुगन्धित द्रव्य, (३) चूर्णकाषाय। लोद्धं—लोध्र : दो अर्थ—(१) लोध्र पुष्प का पराग (गन्ध द्रव्य)। (२) मुख पर कान्ति लाने व पसीने को सुखाने के लिए प्रयोग किया जाने वाला पठानी लोध वृक्ष की छाल का चूर्ण। **पउमगाणि—पद्मक : दो अर्थ**—(१) पद्मकेसर, (२) कुंकुमयुक्त विशेष सुगन्धित द्रव्य।[५३]

नगिणस्स वा मुण्डस्स०—वृत्तिकार के अनुसार नग्न शब्द के दो लक्षण दिये गए हैं—(१) निरुपचरित नग्न और (२) औपचारिक नग्न। जो निर्वस्त्र रहते हैं, वस्त्र या अन्य किसी भी उपकरण से शरीर को आवृत नहीं करते, वे निरुपचरित नग्न होते हैं। वे जिनकल्पिक होते हैं। दूसरे स्थविरकल्पिक मुनि जो वस्त्र पहनते हैं, वे वस्त्र प्रमाणोपेत तथा अल्पमूल्य के होते हैं। इसलिए उन्हें कुचेलवान् या औपचारिक नग्न कहते हैं। **मुण्डस्स**—मुण्डित-मस्तक मुण्डित होने से साधु रूपवान् नहीं लगता, फिर शरीर को सजाने से क्या मतलब ! **दीहरोमनहंसिणो : दीर्घरोमनखवान्**—कांख आदि में लम्बे-लम्बे रोम वाले तथा हाथ में बढ़े हुए नख वाले या **दीर्घरोमनखाश्लीय**—जिनके रोम तथा नख के कोण (काटे न जा सकने से) दीर्घ हैं। अथवा प्रस्तुत गाथा जिनकल्प मुनि को लेकर अंकित है, ऐसा व्याख्याकारों का मत है—क्योंकि सर्वथा नग्न जिनकल्पी मुनि रहते हैं, दीर्घ नख तथा रोम रखने का व्यवहार भी जिनकल्पिकों का है। स्थविरकल्पिक के नख तो प्रमाणोपेत ही होते हैं, ताकि अन्धकार आदि के समय दूसरे साधुओं को न लग सकें।[५४]

आचारनिष्ठा निर्मलता एवं निर्मोहता आदि का सुफल

३३०. खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया संजम अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं, नवाइं पावाइं न ते करेंति ॥६७॥

३३१. सओवसंता अममा अकिंचणा सविज्ज-विज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा सिद्धिं विमाणाइं उवेंति ताइणो ॥६८॥

—त्ति बेमि ॥

छट्ठं धम्मऽत्थकामऽज्झयणं समत्तं ॥६॥

---

५३. (क) सिणाणं सामयिणं उवण्हाणं। अथवा गंधवट्टओ। कवकं ण्हाणसंजोगो वा। लोद्धं कसायादि अपंडुरच्छदिकरणत्थं दिज्जति। —अ. चू., पृ. १५६

(ख) स्नानं पूर्वोक्तम्, लोध्रं-गन्धद्रव्यम्। पद्मकानि—कुंकुमकेसराणि। —हारि. वृत्ति, पत्र २०६

(ग) स्नानमङ्गप्रक्षालनं चूर्णम्। —प्रव. प्र. ४३ अव.

५४. (क) 'नग्नस्य वापि'—कुचेलवतोऽप्युपचारनग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यमेव सूत्रम्। दीर्घरोमनखवतः—दीर्घरोमवतः कक्षादिषु, दीर्घनखवतो हस्तादौ, जिनकल्पिकस्य। इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता नखा भवन्ति, यथाऽन्यसाधूनां शरीरेषु तमस्यपि न लगन्ति। —हारि० वृत्ति, पत्र २०६

(ख) दीहाणि रोमाणि कक्खादिसु जस्स सो दीहरोमो। अस्री कोटी, णहाणं आश्रीयो नहस्सीओ। णहा जदि वि पडिणहादीहिं कप्पिज्जंति, तहवि असंठविताओ णहथूराओ दीहाओ भवंति। दीहसद्दो पत्तेयं भवति। दीहाणि रोमाणि, णहस्सीयो य जस्स सो दीहरोमणहस्सी तस्स। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १५७

(ग) दशवै०, (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. ३७८-३७९

[३३०] व्यामोह-रहित तत्त्वदर्शी तथा तप, संयम और आर्जव गुण में रत रहने वाले वे (पूर्वोक्त अष्टादश आचारस्थानों के पालक साधु) अपने शरीर (आप) को क्षीण (कृश) कर देते हैं। वे पूर्वकृत पापों का क्षय कर डालते हैं और नये पाप नहीं करते ॥६७॥

[३३१] सदा उपशान्त, ममत्व-रहित, अकिंचन (निष्परिग्रही) अपनी अध्यात्म-विद्या के अनुगामी तथा जगत् के जीवों के त्राता और यशस्वी हैं, वे शरद ऋतु के निर्मल चन्द्रमा के समान सर्वथा विमल (कर्ममल से रहित) साधु (या साध्वी) सिद्धि (मुक्ति) को अथवा (कर्म शेष रहने पर सौधर्मावतंसक आदि) विमानों को प्राप्त करते हैं ॥६८॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अष्टादश आचारस्थान-पालक साधु की अर्हताएँ—प्रस्तुत दो (३३०-३३१) सूत्र-गाथाओं में पूर्वोक्त अष्टादश आचार-स्थानों के पालक साधु-साध्वियों की अर्हताओं का वर्णन करके उनकी आचार-पालन-निष्ठा के सुपरिणाम का प्रतिपादन किया गया है।

आचारपालननिष्ठ साधुवर्ग की अर्हताएँ—(१) अमोहदर्शी, (२) तप, संयम और आर्जव गुण में रत, (३) शरीर को तपश्चर्या एवं कठोर आचार से कृश करने वाले, (४) सदा उपशान्त, (५) ममत्वरहित, (६) अकिंचन, (७) अध्यात्मविद्या के अनुगामी, (८) षड्जीवनिकायत्राता, (९) यशस्वी एवं (१०) शरद्ऋतु के निर्मल चन्द्र के समान कर्ममलरहित।[५५]

'अमोहदंसिणो' आदि पदों की व्याख्या—अमोहदर्शी—मोह का प्रतिपक्षी अमोह है। अमोहदर्शी का अर्थ अविपरीतदर्शी अर्थात् सम्यग्दृष्टि या मोहरहित होकर तत्त्व का द्रष्टा, है। क्योंकि जो साधु मोहरहित होकर पदार्थों का स्वरूप देखते हैं, वे ही यथार्थ द्रष्टा हो सकते हैं।

अप्पाणं खवेंति—आत्मा शब्द शरीर और जीव दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे—मृत शरीर को देख कर कहा जाता है—इसका आत्मा (जीव) चला गया। यहाँ आत्मा जीव के अर्थ में प्रयुक्त है। 'यह कृशात्मा या स्थूलात्मा है', इस प्रयोग में आत्मा शरीर के अर्थ में है। प्रस्तुत गाथा में आत्मा 'शरीर' अर्थ में प्रयुक्त है। शरीर ५ प्रकार के होते हैं, किन्तु यहाँ कार्मण शरीर का अधिकार है। तप द्वारा कार्मण (सूक्ष्म) शरीर का क्षय (कर्मक्षय) किया जाता है, तब औदारिक (स्थूल) शरीर तो स्वतः कृश हो जाता है। अथवा औदारिक शरीर के क्षयार्थ तप किया जाता है, तब कार्मण शरीर स्वयं कृश हो जाता है।

सओवसंता : सदा उपशान्त—जिनको अपकार करने वाले पर भी क्रोध नहीं आता। **अममा-अकिंचणा**—जो शरीरादि पर ममत्वभाव से रहित हैं और द्रव्यभावपरिग्रह से रहित हैं। **सविज्ज-विज्जाणुगया**—स्व यानी आत्मा की विद्या यानी विज्ञान-अध्यात्मविद्या। तात्पर्य यह है कि स्वविद्या ही विद्या है, उससे जो अनुगत—युक्त हैं। विद्या शब्द का दुबारा प्रयोग लौकिक विद्या का निषेध करने के लिए है। वृत्तिकार ने स्वविद्या का अर्थ केवल श्रुतज्ञानरूप परलोकोपकारिणी विद्या किया है। अर्थात्—जो परलोकोपकारिणी श्रुतज्ञान विद्या के अतिरिक्त इहलोकोपकारिणी शिल्पादिकलाओं में प्रवृत्त नहीं हैं। **उउप्पसन्ने विमले०**—ऋतु-प्रसन्न—छह ऋतुओं में सबसे अधिक प्रसन्न ऋतु शरद् है। शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान विमल-पापकर्ममलरहित है। **विमाणाइं उवेंति**—

---

५५. दसवेयालियं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ४६.

वैमानिक देवों के निवासस्थान विमान कहलाते हैं। रत्नत्रयाराधक साधक उत्कृष्टतः अनुत्तर विमान तक को प्राप्त कर लेते हैं।[५६]

॥ छठा : धर्माऽर्थकामाऽध्ययन समाप्त ॥

---

५६. (क) मोहं विवरीयं ण मोहं अमोहं पस्संति—अमोहदंसिणो। —अ. चू., १५७

(ख) अमोहं पासंति त्ति अमोहदंसिणो सम्मदिट्ठी। —जि. चू., पृ. २३३

(ग) अप्पाणं—अप्पा इति एस सद्दो जीवे सरीरे य दिट्ठप्पयोगो। जीवे जधा मतसरीरं भण्णति—गतो सो अप्पा, जस्सिमं सरीरं। तत्थ सरीरे ताव थूलप्पा किसप्पा। इह पुण तं खविज्जति। अप्पवयणं सरीरे ओरालियसरीरखवणेण कम्मणं वा सरीरक्खवणमिति, उभयेणाधिकारो। —अ. चू., पृ. १५७

(घ) दशवै. (आ. आत्मा.), पृ. ३८३

(ङ) स्वविद्यविद्यानुगताः—स्व इति अप्पा, विज्जा-विन्नाणं, आत्मनि विद्या सविज्जा, अज्झप्पविज्जा। विद्यागणातो सेसिज्जति, अज्झप्पविज्जा जा विज्जा, ताए अणुगता। —अ. चू., पृ. १५८

(च) वीयं विज्जागहणं लोइयविज्जापडिसेहणत्थं कयं।—जि. चू. पृ. २३४

(छ) स्वविद्या—परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा।

(ज) उऊ छ, तेसु पसन्नो उउप्पसण्णो, सो पुण सरदो। अहवा उडू एव पसण्णो। —अ. चू., पृ. १५८

(झ) जहा सरए चंदिमा विसेसेण निम्मलो भवति। —जिन. चूर्णि., पृ. २३४

(ञ) विमानानि—सौधर्मावतंसकादीनि। —हारि. वृत्ति, पत्र २०७

(ट) विमाणाणि-उक्कोसेण अणुत्तरादीणि। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १५८

सत्तमं : वक्कसुद्धि-अज्झयणं

सप्तम अध्ययन : वाक्यशुद्धि

प्राथमिक

* यह दशवैकालिक सूत्र का सप्तम अध्ययन है 'वाक्यशुद्धि'। यह अध्ययन सत्यप्रवादपूर्व से उद्धृत है।[1]

* वाक्यशुद्धि का अर्थ—व्याकरण की दृष्टि से वाक्य की शुद्धता नहीं, किन्तु निर्ग्रन्थ श्रमण के आचार के अनुसार वाक्य अर्थात्—वाणी, भाषा की शुद्धि है। साधु का पद बहुत ऊँचा है, उसके द्वारा सत्य-महाव्रत स्वीकार किया गया है, इसलिए उसे प्रत्येक शब्द तौल-तौल कर, पहले बुद्धि से भलीभांति सोच-विचार कर, हिताहित का विवेक करके उपयोगपूर्वक निरवद्य वचन बोलना चाहिए।[2] निर्युक्तिकार मौन और भाषण दोनों को कसौटी पर कसते हुए कहते हैं—वचन-विवेक में अकुशल तथा अनेकविध वचनगत प्रभेदों तथा प्रभावों को नहीं जानता हुआ, यदि कुछ भी नहीं बोलता (मौन रखता) है, तो वह यत्किंचित् भी वचनगुप्ति को प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत वचन-विवेक में कुशल तथा वचनगत प्रभेदों तथा अनेकविध प्रभावों को जानता हुआ व्यक्ति दिन भर बोल कर भी वचनगुप्ति (मौन) की आराधना से सम्पन्न हो जाता है। अतः पहले बुद्धि से सम्यक्तया विचार करके तत्पश्चात् वचन बोलना चाहिए। हे साधक! तेरी वाणी, बुद्धि का उसी तरह अनुगमन करे, जिस तरह अन्धा व्यक्ति अपने नेता (ले जाने वाले) का अनुगमन करता है।[3]

* वाक्यशुद्धि के साथ संयम एवं अहिंसा की शुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक साधक की वाणी हृदयगत भावों से शुद्ध और बुद्धिगत विवेक से नियंत्रित होकर नहीं निकलेगी, तब तक न तो उसका मन:संयम ठीक होगा और न वचनसंयम और इन दोनों के अभाव में काय-संयम बहुत ही कठिन है। अहिंसा और सत्य दोनों के छन्ने से छन कर निकलने वाली वाणी ही भावशुद्धि

---

१. सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धीउ। —दशवै. निर्युक्ति गा. १७

२. (क) दशवै. (आ. आत्मा.) पत्राकार प. ६३३
(ख) दशवै. निर्युक्ति गा. २९२

३. वयणविभत्ति-अकुसलो, वयोगयं वहुविहं अयाणंतो।
जइ वि न भासति किंची, न चेव वयगुत्तयं पत्तो ॥ १९२ ॥
वयणविभत्ती-कुसलो, वओगयं वहुविहं वियाणंतो।
दिवसमवि भासमाणो अभासमाणो व वइगुत्तो ॥ १९३ ॥
पुव्वं बुद्धीइ पेहित्ता, पच्छा वयमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेतारं, बुद्धिमन्नेउ ते गिरा ॥ १९४ ॥ —निर्युक्ति गा. २९०-१९४

का हेतु बनती है। प्रस्तुत अध्ययन वाक्यशुद्धि का विवेक देने हेतु स्वतंत्र रूप से निर्मित है, जिससे साधक वाणी के महत्त्व को समझ सके।

❋ वाणी अन्तःकरण के भावों को व्यक्त करने का साधन है, यही इसकी उपयोगिता है। किसी कार्य, प्रयोजन या कारण के बिना वाणी का उपयोग करना वाचालता है, इसे वाणी का दुरुपयोग कहा जा सकता है। उस वाणी का, श्रोतागण पर पर्याप्त प्रभाव नहीं पड़ता तथा उसमें कठोरता, एकान्तवाद, हठाग्रह एवं असत्यता आने की संभावना रहती है।[५] ये सब अनिष्ट हैं। जिस साधक को सावद्य-निरवद्य का विवेक नहीं है, उसे बोलना भी उचित नहीं, उपदेश देना तो बहुत दूर है। वाणी का प्रयोग समिति है, जो सावद्य-निरवद्य के विवेक से युक्त होती है। इसलिए साधक को कब, कहाँ, कितना और कैसा वचन बोलना चाहिए? बोलने से पहले और बोलते समय कितनी सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना चाहिए?, यह प्रस्तुत अध्ययन में विस्तृतरूप से बताया गया है।[६]

❋ वस्तु के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त करने वाली भाषा तथ्य हो सकती है, किन्तु वह सत्य हो भी सकती है, नहीं भी। जिस वधकारक या परपीड़ाकारी भाषा से कर्मपरमाणुओं का प्रवाह आए, वह बाहर से सत्य प्रतीत होने पर भी अवक्तव्य है, एक तरह से वह असत्यसम है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में सत्य-असत्य के विवेक के साथ-साथ वक्तव्य-अवक्तव्य का भी विवेक बताया गया है।[७]

❋ यद्यपि भाषा के प्रकारों का विस्तृत वर्णन *प्रज्ञापना* एवं *स्थानांग* में किया गया है; तथापि यहाँ संक्षेप में चार प्रकार की भाषाओं में से असत्या और सत्या-मृषा (मिश्र) भाषा का प्रयोग निषिद्ध बताया गया है, क्योंकि इन दोनों प्रकार की भाषाओं का प्रयोग सावद्य होता है; तथा सत्या और असत्याऽमृषा (व्यवहार भाषा) के प्रयोग का विधान-निषेध दोनों हैं; क्योंकि सत्य और व्यवहार भाषा सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की हो सकती है। साधु को निरवद्य भाषा ही बोलना है, सावद्य नहीं।[८]

❋ इस अध्ययन के अन्तर्गत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पात्र, परिस्थिति की कसौटी पर कस कर निरवद्य वचन का विधान और सावद्य का निषेध किया है।

❋ अन्त में, उपसंहार में सुवाक्यशुद्धि के अनन्तर एवं परम्पर फल का वर्णन किया गया है।[९]

---

४. जं वक्कं वयमाणस्स संजमो सुज्झइ न पुण हिंसा।
न य अत्तकलुसभावो, तेण इहं वक्कसुद्धित्ति॥ —दश. निर्युक्ति २८८

५. दशवै. (संतबालजी) प्रस्तावना पृ. ८८।

६. (क) सावज्जण-वज्जाणं, *वयणाणं* जो न याणइ विसेसं।
वोत्तुं पि तस्स ण खमं, किमंग पुण देसणं काउं?॥ हारि. टीका, पृ. २-७

७. दशवै. (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) अ. ७। ११, १२, १३

८. (क) प्रज्ञापना पद ११, स्थानांग, स्थान-१०, (ख) दशवै. (मू. पा. टि.), गा. १-२-३

९. वही, गा. ५५, ५६, ५७,

सत्तमं अज्झयणं : वक्कसुद्धी

सप्तम अध्ययन : वाक्यशुद्धि

चार प्रकार की भाषाएँ और वक्तव्य-अवक्तव्य-निर्देश

[३३२] चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पन्नवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो ॥ १ ॥

[३३३] जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना, न तं भासेज्ज पण्णवं ॥ २ ॥

[३३४] असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पण्णवं ॥ ३ ॥

[३३५] एयं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं।
सभासं असच्चमोसं पि+ तं पि धीरो विवज्जए ॥ ४ ॥

[३३६] वितहं पि तहामुत्तिं जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुणो जो मुसं वए ? ॥ ५ ॥

[३३२] प्रज्ञावान् साधु (या साध्वी) (सत्या आदि) चारों ही भाषाओं को सभी प्रकार से जान कर दो उत्तम भाषाओं का शुद्ध प्रयोग (विनय) करना सीखे और (शेष) दो (अधम) भाषाओं को सर्वथा न बोले ॥ १ ॥

[३३३] तथा जो भाषा सत्य है, किन्तु (सावद्य या हिंसाजनक होने से) अवक्तव्य (बोलने योग्य नहीं) है, जो सत्या-मृषा (मिश्र) है, तथा मृषा है एवं जो (सावद्य) असत्यामृषा (व्यवहारभाषा) है, (किन्तु) तीर्थंकरदेवों (बुद्धों) के द्वारा अनाचीर्ण है, उसे भी प्रज्ञावान् साधु न बोले ॥ २ ॥

[३३४] प्रज्ञावान् साधु, जो असत्याऽमृषा (व्यवहारभाषा) और सत्यभाषा अनवद्य (पाप-रहित), अकर्कश (मृदु) और असंदिग्ध (सन्देहरहित) हो, उसे सम्यक् प्रकार से विचार कर बोले ॥ ३ ॥

[३३५] धैर्यवान् साधु उस (पूर्वोक्त) सत्यामृषा (मिश्रभाषा) को भी न बोले, जिसका यह अर्थ है, या दूसरा है ? (इस प्रकार से) अपने आशय को संदिग्ध (प्रतिकूल) बना देती हो ॥ ४ ॥

[३३६] जो मनुष्य सत्य दीखने वाली असत्य (वितथ) वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है, उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है, तो फिर जो (साक्षात्) मृषा बोलता है, (उसके पाप का तो क्या कहना ?) ॥ ५ ॥

पाठान्तर—+ सच्चमोसं पि।—वृत्तिकार

विवेचन—चारों भाषाओं का स्वरूप और हेयोपादेय-विवेक—प्रस्तुत ५ सूत्रगाथाओं (३३२ से ३३६ तक) में चारों भाषाओं का स्वरूप भलीभांति जान कर उनमें से वक्तव्य, अवक्तव्य के विवेक का प्रतिपादन किया है।

१. सत्याभाषा—वह भाषा जो वस्तुस्थिति का यथार्थ परिबोध हो जाने के पश्चात् विचारपूर्वक बोली जाती है।

२. असत्याभाषा—वह है, जो वस्तुस्थिति का पूर्ण भान हुए बिना ही क्रोधादि कषाय-नोकषायवश अविचार से बोली जाती है। यह वक्ता-श्रोता दोनों का अकल्याण करती है।

३. सत्यामृषा (मिश्र) भाषा—वह है, जिसमें सत्य और असत्य दोनों का मिश्रण हो। किसी को सोते-सोते सूर्योदय के बाद कुछ देर हो गई, उससे कहा—दिखता नहीं, 'दोपहर हो गया'। यह भी असत्यभाषा के समान ही है।

४. असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा—वह है, जो जनता में सामान्यतया प्रचलित होती है, जिसका श्रोता पर अनुचित प्रभाव नहीं पड़ता।[१]

हेयोपादेय-विवेक—इन चार प्रकार की भाषाओं में से असत्य तथा सत्या-मृषा तो सर्वथा वर्जनीय हैं, शेष दो भाषाओं में विवेक करना चाहिए। जो भाषा सत्य तो है, किन्तु हिंसादि पाप को उत्तेजित करती है, वह नहीं बोलनी चाहिए। जैसे—किसी कसाई के पूछने पर सच कह देना कि गाय इधर गई है। अथवा जो असत्याऽमृषा (व्यवहार भाषा) भी पापकारी हो, जैसे—'मिट्टी खोद डालो, इन्हें मार डालो आदि, नहीं बोलनी चाहिए। सत्य भाषा अगर पापकारी नहीं है, मधुर है, (कर्कश-कठोर, भयावह नहीं है, तथा संदेहरहित है, तो विचारपूर्वक बोली जा सकती है। कर्कश एवं कठोर भाषा सत्य होते हुए भी दूसरे के चित्त को आघात पहुंचाने वाली होने से बोलने योग्य नहीं। कठोर भाषा का परिणाम वैर और हिंसक प्रतीकार उत्पन्न करता है। अतः साधु के मुंह से निकलने वाली वाणी मधुर और सत्य होनी चाहिए।[२]

विणयं—(१) भाषा का वह प्रयोग, जिससे धर्म का अतिक्रमण न हो, विनय कहलाता है, (२) भाषा का शुद्ध प्रयोग विनय है, (३) **'विजयं सिक्खे'** : विजय अर्थात् निर्णय सीखे। तात्पर्य यह है कि बोलने योग्य भाषाओं के शुद्धप्रयोग का निर्णय सीखे। अथवा वचनीय और अवचनीय रूप का निर्णय (विजय) सीखे। अथवा सत्य और व्यवहारभाषा का निर्णय करना चाहिए कि उसे क्या और कैसे बोलना या नहीं बोलना ?[३]

---

१. दशवैकालिकसूत्रम् पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्र ६३५-६३६

२. (क) वही, पत्र ६३७-६३९ (ख) बुद्धैस्तीर्थंकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमंत्रणयाज्ञापन्यादिलक्षणा।
—हा. वृ., पत्र २१३

३. (क) विनयं—शुद्धप्रयोगं, विनीयतेऽनेन कर्मेति कृत्वा। —हारि. वृत्ति, पत्र २१३
(ख) जं भासमाणो धम्मं णातिक्कमइ एसो विणयो भण्णइ। —जिन. चूर्णि, पृ. २४४
(ग) विजयो समाणजातियाओ णिकरिसणं।....तत्थ वयणीयावयणीयत्तेण विजयं सिक्खे। अ. चू., पृ. १६४

जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना-आशय—प्रस्तुत गाथा संख्या ३३३ के तृतीय चरण में 'य' शब्द से 'असत्यामृषा' का अध्याहार किया गया है। वृत्तिकार ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'तथा सत्या और असत्यामृषा जो बुद्धों अर्थात्—तीर्थंकर—गणधरों द्वारा अनाचरित हैं। आशय यह है कि जो सत्यभाषा या असत्यामृषा (आमंत्रणी या आज्ञापनी आदि रूपा सावद्य होने के कारण) तीर्थंकरों या गणधरों द्वारा अनाचरणीय बतलाई गई हैं, उस भाषा को भी प्रज्ञावान् न बोले।[4]

एयं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं : दो व्याख्याएँ, स्पष्टीकरण—(१) अगस्त्यसिंह स्थविर इस गाथा (३३५) का सम्बन्ध सत्या और असत्यामृषा के निषेध से बतलाते हैं। इस दृष्टि से सासयं का अर्थ 'स्वाशय' है। तथा 'सच्चमोसं' के बदले 'असच्चमोसं' पाठ मानकर अर्थ किया है—साधुवर्ग के लिए अभ्यनुज्ञात उस सत्यभाषा और असत्यामृषा भाषा को भी धीर साधु (या साध्वी) न बोले, जो स्वाशय (अपने आशय) को 'यह अर्थ है या दूसरा ?' इस प्रकार संशय में डाल दे। असत्यामृषाभाषा के १२ प्रकारों में १० वाँ प्रकार 'संशयकरणी' है, जो अनेकार्थवाचक होने से श्रोता को संशय में डाल दे। जैसे—किसी ने कहा—"सैन्धव ले आओ।" सैन्धव के ४ अर्थ होते हैं—(१) नमक, (२) सिन्धु देश का घोड़ा, (३) वस्त्र, और (४) मनुष्य। श्रोता संशय में पड़ जाता है कि कौन-सा सैन्धव लाया जाए ? यहाँ वक्ता ने सहजभाव से अनेकार्थक शब्द का प्रयोग किया है, इसलिए अनाचीर्ण नहीं है, किन्तु जहाँ आशय को छिपा कर दूसरों को भ्रम में डालने के लिए 'अश्वत्थामा हतः' की तरह अनेकार्थवाचक शब्द का प्रयोग किया जाए तो ऐसी संशयकरणी व्यवहार (असत्यामृषा) भाषा अनाचीर्ण है। अथवा जो शब्द संदेहोत्पादक हो, उसका प्रयोग भी अनाचीर्ण है। (२) अगस्त्यचूर्णि के अनुसार सासयं का संस्कृत रूप। 'शाश्वत' भी होता है, शाश्वत स्थान का अर्थ 'मोक्ष' है। अर्थात्—सक्रिय आस्रवकर एवं छेदनकर आदि अर्थ, जो शाश्वत मोक्ष को भग्न करे, उस सत्यभाषा और असत्यामृषा भाषा का भी धीर साधक प्रयोग न करे।[5]

---

४. (क) 'या च बुद्धैः—तीर्थंकर—गणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा।'

—हा. वृ., प. २१३

(ख) चउत्थी वि जा अ बुद्धेहिंऽणाइन्ना गहणेण असच्चामोसा वि गहिता, उक्कमकरणे मोसावि गहिता।

—जि. चू., पृ. २४४

५. (क) संशयकरणी च भाषा—अनेकार्थ-साधारणा योच्यते सैन्धवमित्यादिवत्। —हा. वृ., प. २१०

(ख) 'साम्प्रतं सत्या-सत्यामृषा प्रतिषेधार्थमाह।' —हा. वृ., प. २१०

(ग) 'स भिक्खू ण केवलं जाओ पुव्वभणियाओ सावज्जभासाओ वज्जेज्जा, किन्तु जा वि असच्चमोसा भासा तामपि 'धीरो'-बुद्धिमान् 'विवर्जयेत्'—न ब्रूयादिति भावः। एयं सावज्जं कक्कसं च।

—जि. चू., पृ. २४५

(घ) सा पुण साधुणोऽब्भणुण्णाता त्ति सच्चा……असच्चमोसामपि तं पढममब्भणुण्णतामवि। एतमिति सावज्जं कक्कसं च। अण्णं सकिरियं अण्हयकरी छेदनकरी एवमादि। सासतो मोक्खो। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १६५

(ङ) तत्र मृषा सत्या-मृषा च साधूनां तावन्न वाच्या, सत्याऽपि या कर्कशादिगुणोपेता सा न वाच्या। 'तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कडुयं निट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूओवघाइयं अभिकंख नो भासेज्जा।' —आचारांग चूला, ४।१०

वृत्तिकार इस गाथा को सत्यामृषा (सत्यासत्य) तथा सावद्य एवं कर्कश सत्य का निषेधपरक कहते है, किन्तु सत्यामृषा और असत्या ये दोनों भाषाएँ तो सावद्य होने के कारण सर्वथा अवक्तव्य हैं, फिर इनके पुनर्निषेध की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसके अनुसार इस पंक्ति का आशय यह है कि बुद्धिमान् भिक्षु सत्यामृषा—अर्थात्—कुछ सत्य और कुछ असत्य, ऐसी मिश्रभाषा भी न बोले, क्योंकि मिश्र भाषा में भी सत्य का अंश होने से जनता अधिक भ्रमित होती है, और स्वयं भी सत्यवादी कहलाने का दम्भ करता है। ऐसी दम्भवृत्ति ऐहिक और पारलौकिक हित में अत्यन्त बाधक है।

फलितार्थ—इसकी तुलना आचारचूला से भी की जा सकती है। वहाँ चारों प्रकार की भाषा का स्वरूप बताने के बाद कहा गया है कि "मुनि को तथाप्रकार की सत्यभाषा भी सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, कठोर (परुष), आस्रवकारी, छेदनकारी, भेदनकारी, परितापनकारी, और भूतोपघातिनी नहीं बोलनी चाहिए।

वितहं पि तहामुत्तिं० : व्याख्या—(१) अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—जो मनुष्य अन्यथाऽवस्थित, किन्तु किसी भाव से तथाभूतस्वरूप वाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है। (२) जिनदासमहत्तर के अनुसार—जो पुरुष वितथमूर्तिवाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है। (३) जो असत्य (वितथ) वस्तु, आकृति से सत्यवस्तु के समान प्रतिभासित होती है साधु या साध्वी उसे सत्यवस्तु के समान न बोले। जैसे—किसी पुरुष ने स्त्रीवेष धारण किया हुआ है, साधु उसे देखकर ऐसा न कहे कि स्त्री आ रही है। संदेहदशा में यह निषेध है।[६]

जब तक स्त्री या पुरुष का भलीभांति निर्णय न हो जाए, तब तक स्त्रीवेषी या पुरुषवेषी कहना चाहिए। किन्तु शंकित भाषा नहीं बोलनी चाहिए।[७]

कालादिविषयक निश्चयकारी-भाषा-निषेध

३३७. तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सई।
अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सई॥ ६॥

३३८. एवमाई उ जा भासा एसकालम्मि संकिया।
संपयाईयमट्ठे वा, तं पि धीरो विवज्जए॥ ७॥

३३९. अईयम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए।
जमट्ठं तु न जाणेज्जा, 'एवमेयं' ति नो वए॥ ८॥

---

६. (क) अतहा वितहं-अण्णहावत्थितं, जहा पुरिसमित्थिनेवत्थं भणति-सोभणे इत्थी एवमादि।""जतो एवं णेवच्छादीण य संदिद्धे वि दोसो, तम्हा। —अ. चू., पृ. १६५

(ख) वितहं नाम जं वत्थु न तेण सभावेण अत्थि तं वितहं भण्णइ। अविसद्दो संभावणे। मुत्ती सरीरं भण्णइ, "तत्थ पुरिसं इत्थिणेवत्थियं, इत्थिं वा पुरिसनेवत्थियं दट्ठूण जो भासइ—इमा इत्थिया गायति णच्चइ, वाएइ गच्छइ, इमो वा पुरिसो गायइ णच्चइ वाएति गच्छइत्ति।" —जिन. चूर्णि, पृ. २४६

७. दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ. ३४९, दशवै. (आचार्य आतमा.) पत्राकार, पृ. ६४३

३४०. अईयम्मि य कालम्मि पच्चुप्पन्नमणागए।
जत्थ संका भवे तं तु 'एवमेयं' ति नो वए॥ ९॥

३४१. अईयम्मि य कालम्मि पच्चुप्पन्नमणागए।
निस्संकियं भवे जं तु 'एवमेयं' ति निद्दिसे॥ १०॥

[३३७-३३८] इसलिए हम जाएँगे, हम कह देंगे, हमारा अमुक (कार्य) अवश्य हो जाएगा, या मैं अमुक कार्य करूंगा, अथवा यह (व्यक्ति) यह (कार्य) अवश्य करेगा; यह और इसी प्रकार की दूसरी भाषाएँ, जो भविष्यत्कालसम्बन्धी, वर्तमानकालसम्बन्धी अथवा अतीतकाल-सम्बन्धी अर्थ (बात) के सम्बन्ध में शंकित हों; धैर्यवान् साधु न बोले॥६-७॥

[३३९] अतीतकाल, वर्तमान काल और अनागत (भविष्य) काल सम्बन्धी जिस अर्थ (बात) को (सम्यक् प्रकार से) न जानता हो, उसके विषय में 'यह इसी प्रकार है,' ऐसा नहीं बोलना चाहिए॥८॥

[३४०] अतीत, वर्तमान और अनागतकालसम्बन्धी जिस अर्थ (बात) के विषय में शंका हो, (उसके विषय में)—'यह ऐसा ही है'; इस प्रकार नहीं कहना चाहिए॥९॥

[३४१] अतीत, वर्तमान और अनागतकालसम्बन्धी जो अर्थ निःशंकित हो, उसके विषय में 'यह इस प्रकार है', ऐसा निर्देश करे (कहे)॥१०॥

विवेचन—निश्चयकारी भाषा का निषेध—प्रस्तुत ५ सूत्रों में से चार सूत्रों में (३३७ से ३४० तक) में तीनों काल से सम्बन्धित निश्चयकारी भाषा का निषेध तथा ३४१ सूत्रगाथा में त्रिकाल-सम्बन्धी निर्णय करने के पश्चात् निःशंकित होकर दीर्घदृष्टि से विचार कर निश्चित रूप से कहने का विधान भी किया है।

निश्चयकारी भाषा : स्वरूप तथा निषेध का कारण—पूर्वसूत्र (३३६ वीं) गाथा में 'वेष-शंकित' भाषा का निषेध था, इन चार सूत्रों में 'क्रियाशंकित' भाषा का निषेध है। तीनों कालों के विषय में निश्चयात्मक वचन इस प्रकार का होता है—**भविष्यत्कालीन**—'यह कार्य अवश्य ही ऐसा होगा, कल मैं अवश्य ही चला जाऊंगा, इत्यादि।' भविष्य अज्ञात होता है, अव्यक्त होता है। न मालूम कब कौन-सा विघ्न आ जाए और वह कार्य पूरा न हो। तब निश्चय-वक्ता को झूठा बनना पड़ता है। **वर्तमानकालीन**—'स्त्रीवेषधारी पुरुष को देख कर यह कहना कि यह स्त्री ही है।' **भूतकालीन**—भूतकाल में जिसका निर्णय ठीक से नहीं हुआ, उस विषय में निश्चित रूप से कह देना कि वह ऐसा ही था। यथा—'वह गाय ही थी या बैल ही था।' इस प्रकार त्रिकालसम्बन्धित शंका-युक्त निश्चयात्मक भाषा है, जिसका प्रयोग साधु-साध्वी को नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कह देने से नाना उपद्रव खड़े हो सकते हैं। जैन शासन की लघुता हो सकती है। अबोधदशा में कह देने से उक्त साधु-साध्वी के प्रति लोकश्रद्धा डगमगा सकती है।[८]

---

८. तहेवाणागतं अट्ठं जं वऽण्णऽणुवधारितं।
संकितं पडुपण्णं वा, एवमेयं ति णो वदे॥ ८॥ —अगस्त्यचूर्णि, गा. ८
एसो आसण्णो, अणागतो विकिट्ठो। अणुवधारितं—अविण्णातं। —अ. चू., पृ. १६६

कैसे बोला जाए ?—शास्त्रकार ने भूतकालीन, भविष्यकालीन या वर्त्तमानकालीन निश्चयकारी भाषा का निषेध किया है, किन्तु कोई साधु या श्रावक या गुरु किसी भूत, भविष्य या वर्तमानकालिक किसी कार्य, व्यक्ति या वस्तु के विषय में पूछे तो उन्हें क्या कहा जाए ? कैसे बोला जाए, जिससे भाषासम्बधी दोष न लगे ? इसका समाधान यह है कि जिस विषय में वक्ता को सन्देह हो, या पूरा ज्ञान न हो, जो विषय अनिर्णीत हो, उसके विषय में निश्चयात्मक भाषा नहीं बोलनी चाहिए, कि ऐसा करूंगा, ऐसा होगा, ऐसा ही था, यही हो रहा है, इत्यादि । किन्तु प्रत्येक वाक्य के साथ व्यवहार शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जिससे भाषा निश्चयकारी न रहे । जहाँ सन्देह हो, वहाँ कहना चाहिए—'व्यवहार से ऐसा है, मुझे जहाँ तक स्मरण है, या मेरा अनुभव है कि ऐसा है या ऐसा था । 'वहाँ जाने के भाव हैं,' सम्भव है, यह इस प्रकार का रहा हो । अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की भाषा में बोलने का अभ्यास करना चाहिए । इस गाथा का आशय यह है कि जिस विषय में किसी प्रकार की शंका न रही हो, जिस तथ्य को यथार्थरूप से जान लिया हो, उसके विषय में साधु या साध्वी निश्चयात्मक कथन कर सकता है । एक बात और है—साधु-साध्वी को किसी विषय में जैसा जाना, सुना, समझा और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम एवं उपमान आदि प्रमाणों से सोचा-समझा हो, तदनुसार हित, मित एवं यथार्थ कथन करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रमाण की अपेक्षा से जो कहा जाता है, वह उस प्रमाण के अनुसार निश्चयात्मक कथन है ।

सत्य, किन्तु पीड़ाकारी कठोर भाषा का निषेध

३४२. तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ।।११।।

३४३. तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं 'पंडगे' त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ।।१२।।

३४४. एएणऽन्नेण अट्ठेण परो जेणुवहम्मई ।
आयारभाव-दोसण्णू ण तं भासेज्ज पण्णवं ।।१३।।

[३४२] इसी प्रकार जो भाषा कठोर हो तथा बहुत (या महान्) प्राणियों का उपघात करने वाली हो, वह सत्य होने पर भी बोलने योग्य नहीं है; क्योंकि ऐसी भाषा से पापकर्म का बन्ध (या आस्रव) होता है ।। ११ ।।

[३४३] इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक (पण्डक) को नपुंसक तथा रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ।। १२ ।।

[३४४] इस (पूर्वगाथा में उक्त) अर्थ (भाषा) से अथवा अन्य (इसी कोटि की दूसरे) जिस अर्थ (भाषा) से कोई प्राणी पीड़ित (उपहत) होता है, उस अर्थ (भाषा) को आचार (वचनसमिति

१. (क) दशवैकालिक पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्र ६५१
(ख) तहेवाणागतं अत्थं जं होति अवहारियं ।
निस्संकियं पडुप्पण्णे एवमेयति णिद्दिसे ।। —जिन. चूर्णि, पृ. २४८
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ३५१

तथा वाग्गुप्ति-गत आचरण) सम्बन्धी भावदोष (प्रद्वेष-प्रमाद-रूप वैचारिक दोष) को जाननेवाला प्रज्ञावान् साधु (कदापि) न बोले ।। १३ ।।

विवेचन—परपीड़ाकारी भाषा सत्य होते हुए भी त्याज्य—प्राणियों के चित्त को आघात पहुँचाने वाली, कठोर, कटु, कर्कश, एवं पीड़ित करने वाली भाषा भले ही सत्य हो, किन्तु उसका प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए।

नेत्र-पीड़ा के कारण किसी व्यक्ति की एक आँख जाती रही, उसे काना कहना, अन्धे को अन्धा कहना, अथवा रोगी को रोगी या चोर को चोर कहना सत्य है, फिर ऐसे कथन का निषेध क्यों किया गया ? इसका समाधान यह है, जो भाषा स्नेहरहित या कोमलता से रहित होने के कारण कठोर या कटु है, जिसे सुनकर दूसरे प्राणी को मन में चोट पहुँचती है, जो भाषा मर्मभेदिनी है, प्राणियों की विघातक है, वह भाषा सच्ची होने पर भी बोलने योग्य नहीं है। यद्यपि वह भाषा बाह्य अर्थ की अपेक्षा से सत्य मालूम होती है, किन्तु भावार्थ की अपेक्षा से वह प्राणियों के लिए हितकर-सुखकर न होने से असत्यस्वरूप है। छोटे या बड़े किसी भी जीव की घात करने वाली भाषा मुनि के लिए अवक्तव्य है। जिस प्रकार असत्यभाषण से पापकर्म का बन्ध होता है, उसी प्रकार ऐसी पीड़ाकारी कठोर भाषा के बोलने से भी पापकर्मों का आगमन होता है। काना आदि अपमानजनक शब्दों से दूसरे को सम्बोधन करने से उसके हृदय को अतीव दुःख पहुँचता है, वह मन में अत्यधिक लज्जित होता है, आत्महत्या के लिए भी उतारू हो सकता है। जो साधु-साध्वी दीर्घ दृष्टि से सोचे बिना ही परपीड़ाकारी कठोर भाषा का प्रयोग करते हैं, या मर्मयुक्त वचन बोलते हैं, अन्य आत्मा का हनन करते हैं, अपनी गंभीरता और महानता को नष्ट करके क्षुद्रता और क्रूरता को अपनाते हैं, ऐसे साधु-साध्वी के प्रति जनता को अप्रीति, अश्रद्धा, घृणा, अभक्ति, एवं वैरविरोधभावना पैदा हो जाती है। ऐसे साधु-साध्वी को भी लज्जानाश, धृष्टता, क्रूरता, भावहिंसा, बौद्धिक विराधना, अस्थिरता एवं प्रतिज्ञाभ्रष्टता आदि पाप-दोष लगते हैं। वह संयम का विराधक हो जाता है।[९]

साधु के दो विशेषण : सार्थक—शास्त्रकार ने यहाँ भाषाशुद्धि के अनुसार चलने वाले साधु के दो विशेषण अंकित किये हैं, जो साधु की गम्भीरता एवं दक्षता सूचित करते हैं—(१) आचार-भावदोषज्ञ और (२) प्रज्ञावान्।[१०]

फरुसा—परुष=कठोर, रूक्ष, स्नेहवर्जित अथवा मर्मप्रकाशन करने वाली वाणी। **गुरुभूओवघाइणी**—(१) जिस भाषा के प्रयोग से महान् भूतोपघात हो। (२) छोटे-बड़े सभी जीवों के लिए घातक; (३) गुरुजनों (बुजुर्गों या गुरुओं-मातापिता आदि) को संतप्त करने वाली। (४) अभ्याख्यानात्मक।[११]

---

९. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार, पत्र ६५२-६५३
(ख) वही, पृ. ६५५-६५६

१०. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार, पृ. ६५५

११. (क) वयणनियमणमायारो, एयंमि आयारे सति भावदोसो—पदुट्ठं चित्तं तेण भावदोसेण न भासेज्ज। अहवा आयारे भावदोसो पमातो, पमातेण ण भासेज्ज। —जि. चू., पृ. १६८
(ख) फरुसा णाम णेहवज्जिया, जीए भासाए भासियाए गुरुओ भूयाणुवघाओ भवइ। —वही, पृ. २४९
(ग) परुषा भाषा—निष्ठुरा भावस्नेहरहिता। —हा. वृ., पत्र २१५।
(घ) परुषां मर्मोद्घाटनपराम्। —आचार चू., ४-१० पृ.

भाषासम्बन्धी अन्य विधि-निषेध

३४५. तहेव 'होले' 'गोले' त्ति, 'साणे' वा 'वसुले' त्ति य ।
'दमए' 'दुहए' वा वि, न तं भासेज्ज पण्णवं ।।१४।।

३४६. अज्जिए पज्जिए वा वि अम्मो माउसिय त्ति वा ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति, धूए नत्तुणिए त्ति य ।।१५।।

३४७. हले हले त्ति अन्ने त्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति, इत्थियं नेवमालवे ।।१६।।

३४८. नामधेज्जेण णं बूया, इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ आलवेज्ज लवेज्ज वा ।।१७।।

३४९. अज्जए पज्जए वा वि बप्पो चुल्लपिउ त्ति य ।
माउला भाइणेज्ज त्ति, पुत्ते णत्तुणिय त्ति य ।।१८।।

३५०. हे हो हले त्ति, अन्ने त्ति, भट्टा सामिय गोमिय ।
होल गोल वसुलत्ति पुरिसं नेवमालवे ।।१९।।

३५१. नामधेज्जेण णं बूया पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ आलवेज्ज लवेज्ज वा ।।२०।।

[३४५] इसी प्रकार प्रज्ञावान् साधु, 'रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ते !, ऐ वृषल (शूद्र) !, हे द्रमक !, ओ दुर्भग !' इस प्रकार न बोले ।।१४।।

[३४६-३४७-३४८] स्त्री को—'हे आर्यिके (हे दादी हे ! नानी !) हे प्रार्यिके (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्बे ! (हे मां !), हे मौसी !, हे बुआ !, ऐ भानजी !, अरी पुत्री !, हे नातिन (पोती) !, हे हले, हे हला !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले ! हे गोले !, हे वृषले ! —इस प्रकार आमंत्रित न करे । किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष, वय, आदि का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे ।। १५-१६-१७ ।।

[३४९-३५०-३५१] पुरुष को—'हे आर्यक ! (हे दादा ! या हे नाना !), हे प्रार्यक (हे परदादा ! हे परनाना !), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोते !, हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल ! हे वृषल !' इस प्रकार आमंत्रित न करे । किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष वय आदि का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित करे ।। १८-१९-२० ।।

विवेचन—अयोग्य सम्बोधनों का निषेध और योग्य सम्बोधनों का निर्देश—प्रस्तुत ७ सूत्र-गाथाओं में से ३४८-३५१, इन दो गाथाओं को छोड़कर शेष ५ गाथाओं में तुच्छतादिसूचक सम्बोधनों का निषेध, तथा शेष दो गाथाओं में योग्य सम्बोधनों का विधान किया गया है ।

अवज्ञासूचक सम्बोधन—कई बार व्यवहार में सत्यभाषा होते हुए भी जिस-जिस देश में जो-जो शब्द नीचता, अवज्ञा, तुच्छता, निर्लज्जता या निष्ठुरता आदि के सूचक माने जाते हों उन शब्दों से बुद्धिमान् साधु किसी को सम्बोधित नहीं करे। यथा—हे होल !, हे गोले !, अरे कुत्ते !, हे वृषल—शूद्र !, हे रंक (कंगाल) ! अरे अभागे ! आदि। होल आदि शब्द उन-उन देशों में प्रसिद्ध होने से निष्ठुरतावाचक या अवज्ञासूचक हैं। इनका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—होल—निष्ठुर आमंत्रण, गोल—जारपुत्र या दासीपुत्र—गोला। श्वान—कुत्ता, वृषल—शूद्र, द्रमक—रंक (कंगाल), दुर्भग—अभागा।[१२]

आर्यिके आदि सम्बोधनों का निषेध क्यों ? स्त्रियों के लिए आर्यिके आदि सम्बोधन गृहस्थ के लिए तो ठीक है, किन्तु साधु-साध्वियों का कौटुम्बिक नाता छूट गया है। अतः अब ये सम्बोधन मोह, आसक्ति या चाटुकारिता के द्योतक होने के कारण साधु-साध्वी के लिए त्याज्य हैं। जनता साधु-साध्वी के मुंह से ये शब्द सुनकर ऐसा अनुभव करती है कि यह श्रमणी या श्रमण अभी तक लोकसंज्ञा या चाटुकारिता को नहीं छोड़ पाया है।[१३]

'हले' आदि सम्बोधनों का प्रयोग कहाँ और निषिद्ध क्यों ? 'हले हले'—शब्द सखी या तरुणी के लिए सम्बोधन शब्द है। इसका प्रयोग महाराष्ट्र या वरदातट में होता था। ये शब्द काम-राग के सूचक हैं। हला शब्द-प्रयोग लाटदेश में होता था। 'अन्ने' शब्दप्रयोग महाराष्ट्र में वेश्याओं के लिए होता था। यह नीच सम्बोधन है। 'भट्टे' पुत्ररहित स्त्री के लिए या लाटदेश में ननद के लिए प्रयुक्त होता था। यह सम्बोधन प्रशंसासूचक है। सामिणी (स्वामिनी) शब्द, तथा गोमिणी (गोमिनि) अर्थात् गायवाली लाटदेश में प्रयुक्त होने वाले सम्मानसूचक अथवा चाटुतासूचक शब्द हैं। होले (गंवारिन), गोले (गोली, जारजा—दासी), वसुले (छिनाल) ये तीनों गोल देश में प्रयुक्त होते थे। ये तीनों शब्द निर्लज्जतासूचक हैं।[१४]

सम्बोधन के लिए उपयुक्त शब्द—सूत्रगाथा ३४८ में साधु-साध्वियों द्वारा स्त्रियों के सम्बोधनार्थ एवं ३५१ में पुरुषों के सम्बोधनार्थ दो उपयुक्त नामों का निर्देश किया है—(१) गोत्रनाम और (२) व्यक्तिगत नाम। आशय यह है कि यदि किसी महिला अथवा पुरुष का नाम याद हो तो उस नाम से सम्बोधित करना चाहिए। यथा—(स्त्री को) देवदत्ता, कल्याणी बहन, मंगलादेवी आदि, (पुरुष को) इन्द्रभूति, नाम ज्ञात न हो तो गोत्र से सम्बोधित करना चाहिए। यथा (स्त्री को) हे गौतमी ! हे काश्यपी ! (पुरुष को) जैसे—गणधर इन्द्रभूति को गौतम, भगवान् महावीर को काश्यप। यदि नाम और गोत्र दोनों ज्ञात न हों तो वय, देश, गुण, ईश्वरता (प्रभुता) आदि की अपेक्षा से स्त्री या पुरुष को सभ्यतापूर्ण, शिष्टजनोचित एवं श्रोतृजनप्रिय शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए। यथा—(स्त्री को) हे मांजी, वयोवृद्धे, हे भद्रे ! हे धर्मशीले ! हे सेठानीजी !, (पुरुष को) हे धर्मप्रिय,

---

१२. (क) 'इह होलादिशब्दास्तत्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादिवाचकाः।' —हा. वृ., पत्र २१५
(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पत्राकार, पृ. ६५६
(ग) अगस्त्य चूर्णि, पृ. १६८

१३. जि. चू., पृ. २५०

१४. (क) अ. चू., पृ. १६८ (ख) जिनदास चूर्णि, पृ. २५०

हे देवानुप्रिय ! हे भद्र ! हे धर्मनिष्ठ ! इत्यादि मधुरशब्दों से सम्बोधित करना चाहिए।[15] इसके लिए शास्त्रकार ने कहा है—**'जहारिहमभिगिज्झ'**—अर्थात् यथायोग्य, जहाँ जिसके लिए अवस्था आदि की दृष्टि से जो शब्द उचित हो, उस सुन्दर शब्द से गुणदोष का विचार करके बोले ।

पुरुष को आर्यक आदि शब्दों से सम्बोधन का निषेध : क्यों ?—सूत्रगाथा ३४९-३५० में बताया गया है कि आर्यक आदि सांसारिक कौटुम्बिक सम्बोधनों से सम्बोधित नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे रागभाव, मोह या आसक्ति बढ़ने की आशंका है। द्वितीय गाथा में उक्त होल, गोल, वसुल आदि शब्द भी निन्दा-स्तुति-चाटुतादि सूचक होने से दोषोत्पादक हैं। विशेष वक्तव्य पूर्वोक्त स्त्री सम्बोधन-प्रकरण में कह दिया गया है।

पंचेन्द्रिय प्राणियों के विषय में बोलने का निषेध-विधान

३५२. पंचिंदिआण पाणाणं एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न वियाणेज्जा ताव, 'जाइ' त्ति आलवे ॥२१॥

३५३. तहेव माणुसं पसुं पक्खि वा वि सरीसिवं।
थूले पमेइले वज्झे, पाइमे त्ति य नो वए ॥२२॥

३५४. परिवूढे त्ति णं बूया, बूया उवचिए त्ति य।
संजाए पीणिए वा वि, महाकाए त्ति आलवे ॥२३॥

३५५. तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहग त्ति य।
वाहिया रहजोग्ग त्ति, नेवं भासेज्ज पण्णवं ॥२४॥

३५६. जुवंगवे त्ति णं बूया, धेणुं रसदय त्ति य।
रहस्से महल्लए वा वि वए संवहणे त्ति य ॥२५॥

[३५२] पंचेन्द्रिय प्राणियों को (दूर से देख कर) जब तक 'यह मादा (स्त्री) है अथवा नर (पुरुष) है' यह निश्चयपूर्वक न जान ले, तब तक (साधु या साध्वी) (यह मनुष्य की जाति है, यह गाय की जाति है, या यह घोड़े की) जाति है; इस प्रकार बोले ॥ २१ ॥

[३५३] इसी प्रकार (दयाप्रेमी साधु या साध्वी) मनुष्य, पशु-पक्षी अथवा सर्प (सरीसृप आदि) को (देख कर यह) स्थूल है, प्रमेदुर (विशेष मेद बढ़ा हुआ) है, वध्य (अथवा वाह्य) है, या पाक्य (पकाने योग्य) है, इस प्रकार न कहे ॥ २२ ॥

[३५४] (प्रयोजनवश बोलना ही पड़े तो) उसे परिवृद्ध (सब प्रकार से वृद्धिगत) है, ऐसा भी कहा जा सकता है; उपचित (मांस से पुष्ट) है, ऐसा भी कहा जा सकता है, अथवा (यह) संजात

१५. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ३५३
(ख) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी), पृ. ६६०
(ग) अभिगिज्झ नाम पुव्वमेव दोसगुणे चिंतेऊण । —जि. चू., पृ. २५१

१६. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पत्राकार पत्र, ६६२

(युवावस्था-प्राप्त) है, प्रीणित (तृप्त) है, या (यह) महाकाय (प्रौढ शरीर वाला) है, इस प्रकार (भलीभांति विचार कर) बोले ।। २३ ।।

[३५५] इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि-'ये गायें दुहने योग्य हैं, तथा ये बछड़े (गोपुत्र) दमन करने (नाथने) योग्य हैं, (भार-) वहन करने योग्य हैं, अथवा रथ (में जोतने)-योग्य हैं; इस प्रकार न बोले ।। २४ ।।

[३५६] प्रयोजनवश बोलना ही पड़े तो (दम्य) बैल को यह युवा बैल है, (दोहनयोग्य) गाय को यह दूध देने वाली है, तथा (लघुवृषभ को) छोटा (बैल), (वृद्ध वृषभ को) बड़ा (बैल) अथवा (रथयोग्य वृषभ को) संवहन (धुरा को वहन करने वाला) है, इस प्रकार (विवेकपूर्वक) बोले ।। २५ ।।

विवेचन—पंचेन्द्रिय जीवों के लिए निषेध्य एवं विधेय वचन—प्रस्तुत पांच सूत्र-गाथाओं (३५२ से ३५६ तक) में पंचेन्द्रिय प्राणियों के लिए न बोलने योग्य सावद्य एवं विवेकपूर्वक बोलने योग्य निरवद्य वचन का निरूपण किया गया है ।

अनिश्चय दशा में 'जाति' शब्द का प्रयोग—दूरवर्ती मनुष्य या तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय प्राणी के विषय में जब तक सन्देह हो कि यह मादा (स्त्री) है या नर, तब तक साधु-साध्वी को उसके विषय में निश्चयात्मक नहीं कह कर 'यह अमुक जातीय है', ऐसा शब्द प्रयोग करना चाहिए ।[१७]

साधुवर्ग द्वारा प्रयुक्त सावद्य शब्दों को सुनकर उन प्राणियों को दुःख होता है, तथा सुनने वाले लोग उन्हें दुःख पहुंचा सकते हैं, इसलिए साधु वर्ग को परपीड़ाकारी या हिंसाजनक वचन नहीं बोलना चाहिए ।[१८]

'थूले' आदि पदों का भावार्थ—थूले-स्थूल—मांस की अधिकता के कारण मोटा या तगड़ा । **पमेइले**—जिसकी मेद (चर्बी) बढ़ी हुई हो । **वज्झे : दो रूप : दो अर्थ**—(१) वध्य—वध करने योग्य (२) वाह्य—वहन करने योग्य । **पाइमे**—(१) **पाक्य**—पकानेयोग्य अथवा कालप्राप्त । (२) **पात्य**—पातनयोग्य अर्थात्—देवता आदि को बलि देने योग्य । **परिवूढे : दो रूप दो अर्थ**—(१) परिवृद्ध—अत्यन्त वृद्ध, (२) परिवूढ—समर्थ । **संजाए-संजात**—युवा हो गया है, यह सुन्दर है । **पीणिए-प्रीणित**—आहारादि से तृप्त या हृष्टपुष्ट । **उवचिए-उपचित**—मांस के उपचय से उपचित अथवा पुष्ट । **महाकाए**—महाकाय—प्रौढ़ । **दुज्झाओ : दोह्या : दो अर्थ**—(१) दुहनेयोग्य (२) दोहन-काल—जैसे इन गायों के दुहने का समय हो गया है । **दम्मा—दम्या**—दमन करने योग्य, वधिया (खस्सी) करने योग्य या नाथने योग्य । **वाहिमा-वाह्य**—गाड़ी का भार ढोने के समर्थ । **रहजोग्ग-रथयोग्य**—रथ में जोतने योग्य । **गोरहग : दो अर्थ**—(१) तीन वर्ष का बछड़ा अथवा (२) जो बैल

---

१७. दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ६६६

१८. (क) दशवै. (मुनिश्री संतबालजी), पृ. ९३

(ख) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पत्र ६६८, ६७१

रथ में जुत गया, वह। जुवंगवे—युवा बैल अर्थात्—चार वर्ष का बैल। संवहणे-संवहन—धुरा को वहन करने योग्य। अर्थात्—रथ को चलाने वाले बैल।[१९]

वृक्षों एवं वनस्पतियों के विषय में अवाच्य एवं वाच्य का निर्देश—

३५७. तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासेज्ज पण्णवं ॥ २६ ॥

३५८. अलं पासाय-खंभाणं * तोरणाण गिहाण य।
फलिहऽग्गल-नावाणं अलं उदगदोणिणं ॥ २७ ॥

३५९. पीढए चंगबेरे य नंगले मइयं सिया।
जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिया व अलं सिया ॥ २८ ॥

३६०. आसणं सयणं जाणं होज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासेज्ज पण्णवं ॥ २९ ॥

३६१. तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए एवं भासेज्ज पण्णवं ॥ ३० ॥

३६२. जाइमंता इमे रुक्खा दीहा वट्टा महालया।
पयायसाला विडिमा वए दरिसणित्ति य ॥ ३१ ॥

३६३. तहा फलाइं पक्काइं पायखज्जाइं नो वए।
वेलोइयाइं टालाइं वेहिमाइं ति नो वए ॥ ३२ ॥

३६४. असंथडा इमे अंबा बहुनिव्वट्टिमा-फला +।
वएज्ज बहुसंभूया भूयरूव त्ति वा पुणो ॥ ३३ ॥

३६५. तहेवोसहीओ पक्काओ, नीलियाओ छवीइय।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति, पिहुखज्जत्ति नो वए ॥ ३४ ॥

---

१९. (क) दशवै. (पत्राकार, आचार्यश्री आत्मारामजी. म.), पत्र ६६८, ६७१
—आचा. चूला, ४।२५ वृत्ति
अगस्त्यचूर्णि, पृ. १७०
हारि. वृत्ति, पत्र २१७
आचा. चूला ४।२५ वृ.
(ख) गोजोग्गा रहा गोरहजोगत्तणेण गच्छंति गोरहगा····गोपोतलगा।····अ. चू., पृ. १७०
'गोरट्ठगं ति त्रिहायणं बलीवर्दम्।'—सूत्र कृ. १।४।२।१३ वृ.

पाठान्तर—*तोरणाणि गिहाणि य। + बहु-निव्वड्डिमा फला।

३६६. विरूढा बहुसंभूया थिरा ऊसढा वि य ।
गब्भियाओ पसूयाओ ससाराओ त्ति आलवे ।। ३५ ।।

[३५७-३५८] इसी प्रकार उद्यान में, पर्वतों पर अथवा वनों में जाकर (अथवा गया हुआ या रहा हुआ) (वहाँ) बड़े-बड़े वृक्षों को देख कर प्रज्ञावान् साधु इस प्रकार न बोले—'ये वृक्ष प्रासाद, स्तम्भ, तोरण (नगरद्वार), घर, (नाना प्रकार के गृह), परिघ, अर्गला एवं नौका तथा जल की कुंडी (—उदक-द्रोणी या रेंहट की घड़िया) बनाने के लिए उपयुक्त—योग्य हैं ।। २६-२७ ।।

[३५९] (ये वृक्ष) पीठ (चौकी या बाजोट), काष्ठपात्र (चंगबेर), हल (नंगल), तथा मयिक (मड़े—बोये हुए बीजों को या अनाज के ढेर को ढांकने के लिए लकड़ी के ढक्कन), यंत्र-यष्टि (कोल्हू की लाट), गाड़ी के पहिये की नाभि अथवा अहरन (गण्डिका) रखने की काष्ठनिर्मित वस्तु के लिए उपयुक्त हो सकते हैं; (इस प्रकार न कहे ।) ।।२८।।

[३६०] (इसी प्रकार इस वृक्ष में) आसन, शयन (सोने के लिए पट्टा), यान (रथ आदि) और उपाश्रय के (लिए) उपयुक्त कुछ (काष्ठ) हैं—इस प्रकार की भूतोपघातिनी (प्राणि-संहारकारिणी) भाषा प्रज्ञासम्पन्न साधु (या साध्वी) न बोले ।।२९।।

[३६१-३६२] (कारणवश) उद्यान में, पर्वतों पर या वनों में जा कर (रहा हुआ या गया हुआ) प्रज्ञावान् साधु वहां बड़े-बड़े वृक्षों को देख (प्रयोजनवश कहना हो तो) इस प्रकार (निरवद्य-वचन) कहे—'ये वृक्ष उत्तम जाति वाले हैं, दीर्घ (लम्बे) हैं, गोल (वृत्त) हैं, महालय (अति विस्तृत या स्कन्धयुक्त) हैं, बड़ी-बड़ी फैली हुई शाखाओं वाले एवं छोटी-छोटी प्रशाखाओं वाले हैं तथा दर्शनीय हैं, इस प्रकार बोले ।।३०-३१।।

[३६३] तथा ये फल परिपक्व हो गए हैं, (अथवा) पका कर खाने के योग्य हैं, (इस प्रकार साधु-साध्वी) न कहें । तथा ये फल (ग्रहण)-कालोचित (अविलम्ब तोड़नेयोग्य) हैं, इनमें गुठली नहीं पड़ी, (ये कोमल) हैं; ये दो टुकड़े (फांक) करने योग्य हैं—इस प्रकार भी न बोले ।।३२।।

[३६४] (प्रयोजनवश बोलना पड़े तो) "ये आम्रवृक्ष फलों का भार सहने में असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (बद्धास्थिक हो कर प्रायः निष्पन्न) फल वाले हैं, बहु-संभूत (एक साथ बहुत-से उत्पन्न एवं परिपक्व फल वाले) हैं अथवा भूतरूप (अबद्धास्थिक होने से कोमल अथवा अद्भुतरूप वाले) हैं; इस प्रकार बोले ।।३३।।

[३६५] इसी प्रकार (विचारशील साधु या साध्वी)—'ये गेहूं, ज्वार, बाजरा, चावल आदि धान्यरूप) ओषधियाँ पक गई हैं तथा (चोला, मूंग आदि को फलियाँ) नीली (हरी) छवि (छाल) वाली (होने से अभी अपक्व) हैं, (ये धान्य) काटने योग्य हैं, ये भूनने योग्य हैं, अग्नि में सेक (अर्धपक्व) कर खाने योग्य हैं; इस प्रकार न कहे ।।३४।।

[३६६] (यदि प्रयोजनवश कुछ कहना हो तो) ये (गेहूँ आदि अन्नरूप) ओषधियाँ अंकुरित (प्ररूढ) हो गई हैं, प्रायः निष्पन्न हो गई हैं, स्थिरीभूत हो गई हैं, उपघात से पार हो गई हैं । अभी कण गर्भ में हैं (सिट्टे नहीं निकले हैं) या कण गर्भ से बाहर निकल आये हैं, या सिट्टे परिपक्व बीज वाले हो गये हैं, इस प्रकार बोले ।।३५।।

विवेचन—वृक्षों और वनस्पतियों के विषय में अवाच्य एवं वाच्य का निर्देश—प्रस्तुत १० सूत्रगाथाओं (३५७ से ३६६ तक) में से प्रथम ६ गाथाओं में वृक्षों के सम्बन्ध में, तत्पश्चात् दो गाथाओं में फलों के सम्बन्ध में और अन्त में दो गाथाओं में ओषधियों (विविध धान्यों) के विषय में सावद्यभाषा बोलने का निषेध और साधुमर्यादोचित निरवद्य भाषा बोलने का विधान किया गया है ।

वृक्षों एवं वनस्पतियों के सम्बन्ध में निषेध (अवाच्य) का कारण—किसी वृक्ष को देख कर चौकी, पट्टा, खाट, कुर्सी आदि चीजें इस वृक्ष से वन सकती हैं, इस प्रकार कहने से वनस्वामी व्यन्तरादि देव के कुपित हो जाने की संभावना है, अथवा वृक्ष के विषय में साधु के द्वारा इस प्रकार का सावद्य कथन सुन कर संभव है कोई उस वृक्ष को अपने कार्य के लिए उपयुक्त जानकर छेदन-भेदन करे । इस प्रकार के सावद्य वचन से साधु की भाषासमिति एवं वचनगुप्ति की रक्षा न होने से वह दोषयुक्त हो जाती है, जिससे संयमरक्षा या आत्मरक्षा खतरे में पड़ जाती है ।

अवाच्य होने का यही कारण वनस्पतियों के विषय में भी समझना चाहिए ।[२०]

साधु या साध्वी को विशेष रूप से यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें वृक्षों, फलों या धान्यों आदि के विषय में तभी निरवद्य भाषा में बोलना उचित है, जब कोई विशेष प्रयोजन हो । बिना किसी कारण के यों ही लोगों को वृक्षों आदि के सम्बन्ध कहते रहने से भाषा में निरवद्यता के स्थान पर सावद्यता आए विना नहीं रह सकती । हित, मित एवं निरवद्य भाषण में ही संयमरक्षा एवं आत्मरक्षा है ।[२१]

'पासाय' आदि शब्दों के अर्थ—पासाय : प्रासाद—एक खम्भे वाला मकान, या जिसे देख कर लोगों का मन और नेत्र प्रसन्न हों । **फलिहऽग्गला—परिघ अर्गल**—नगरद्वार की आगल को परिघ और गृहद्वार की आगल को अर्गला कहते हैं । **उदगदोणिणं-उदकद्रोणि : चार अर्थ**—(१) एक काष्ठ से निर्मित जलमार्ग, (२) काष्ठ की वनी हुई प्रणाली, (घड़िया) जिससे रेंहट आदि के जल का संचार हो । (३) रेंहट की घड़ियाँ, जिसमें पानी डालें, वह जलकुण्डी या (४) काष्ठनिर्मित बड़ी कुण्डी, जो कम पानी वाले देशों में भर कर रखी जाती है । **चंगबेरे**—काष्ठपात्री, चंगेरी । **मइय-मयिक**—बोए हुए खेत को सम करने के लिए उपयोग में आने वाला एक कृषि-उपकरण । **गंडिया-गण्डिका : चार अर्थ**—(१) सुनारों की अहरन, (२) काष्ठनिर्मित अधिकरिणी, (३) काष्ठफलक या (४) प्लवन-काष्ठ (जल पर तैरने के लिए काष्ठ—जलसंतरण) । **उवस्सय-उपाश्रय : दो अर्थ**—(१) आश्रयस्थान अथवा (२) उपाश्रय—साधुओं के रहने का स्थान । **दीहा वट्टा महालया**—वृक्ष के ये विशेषण हैं । नारिकेल, ताड़ आदि वृक्ष दीर्घ (लम्बे) होते हैं । अशोक नन्दी आदि वृक्ष वृत्त (गोल) होते हैं; बरगद आदि वृक्ष महालय होते हैं, जो अत्यन्त विस्तृत होने से अनेकविध पक्षियों के लिए आधारभूत हों । **पयायसाला—प्रजातशाखा**—जिनके बड़ी-बड़ी शाखाएँ फटी हों । **विडिमा—विटपी : दो अर्थ**—(१)

---

२०. (क) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पत्र ६७९, ६८५
(ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. ९४

२१. दशवैकालिक, पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ६८२

स्कन्धों से निकली हुई शाखाएँ, अथवा (२) प्रशाखाएँ जिनमें फूट गई हों। **पायखज्जाइं—पाकखाद्य—** पका कर खाने के योग्य। **वेलोचित—**जो फल पक्का हो जाने पर डाल पर लगा नहीं रह सकता, तत्काल तोड़ने योग्य फल। **टालाइं—**जिस फल में अभी तक गुठली न पड़ी हो, अबद्धास्थिक कोमल फल 'टाल' कहलाते हैं। **वेहिमाइं-द्वैधीकरणयोग्य—**जिनमें गुठली न पड़ी हो तथा दो विभाग करने योग्य। **असंथडा—**फल धारण करने में अपर्याप्त—असमर्थ। **बहुनिवट्टिया-बहुनिर्वतित—**अधिकांश निष्पन्न फल वाले। **ओसहीओ—**ओषधियाँ—चावल, गेहूँ आदि धान्य या एक फसल वाला पौधा। **नीलियाओ—**हरी या अपक्व। **छवीइय—**छवि—त्वचा (छाल) या फली वाली। **पिहुखज्जा : दो अर्थ—**(१) अग्नि में सेक कर खाने योग्य, अथवा[22] (२) पृथुक (चिड़वा) बना कर खाने योग्य।

'रूढा' आदि शब्दों की व्याख्या—बीज अंकुरित होने से लेकर पुनः बीज बनने तक की सात अवस्थाएँ वनस्पति की हैं। उन्हीं का सूत्रगाथा ३६६ में उल्लेख है। (१) **रूढ—**बीज बोने के बाद जब वह प्रादुर्भूत होता है, तो दोनों बीजपत्र एक दूसरे से अलग-अलग हो जाते हैं, भ्रूणाग्र को बाहर निकलने का मार्ग मिलता है, इस अवस्था को 'रूढ़' कहते हैं। (२) **सम्भूत—**पृथ्वी पर आने पर बीजपत्र का हरा हो जाना और बीजांकुर को प्रथम पत्ती बन जाना। (३) **स्थिर—**भ्रूणमूल का नीचे की ओर बढ़ कर जड़ के रूप में विस्तृत हो जाना। (४) **उत्सृत—**भ्रूणाग्र स्तम्भ के रूप में आगे बढ़ना। (५) गर्भित-आरोह पूर्ण हो जाना, किन्तु भुट्टा या सिट्टा न निकलने की अवस्था। (६) **प्रसूत—**भुट्टा या सिट्टा निकलना और (७) **ससार—**दाने पड़ जाना। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार **रूढ** को अंकुरित, **बहुसम्भूत** को सुफलित, उपघातमुक्त बीजांकुर की उत्पादक शक्ति को स्थिर, सुसंवर्धित स्तम्भ को **उत्सृत**, भुट्टा न निकलने को **गर्भित**, भुट्टा निकलने पर प्रसूत और दाने पड़ने को **ससार** कहा जाता है।[23]

साधु को फलों के विषय में आरम्भ-समारम्भ-जनक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि साधु के मुख से इस फल को इस प्रकार खाना चाहिए, इत्यादि सावद्य वचन सुन कर गृहस्थ उसके आरम्भ में प्रवृत्त हो सकता है, जिससे अनेक दोष सम्भव हैं।[24]

---

२२. (क) हा. वृ., पत्र २५८। —अग. चूर्णि, पृ. १७१
(ख) अग. चूर्णि, पृ. १८१
(ग) हारि. वृत्ति, पत्र २१८
(घ) अ. चूर्णि, पृ. १७१

२३. (क) विरूढा—अंकुरिता। बहुसम्भूता-सुफलिता। जोगादि उववातातीताओ थिरा। सुसंवड्ढिता-उस्सढा। अणिव्विसूणाओ-गब्भिणाओ। णिव्विसूताओ—पसूताओ सव्वोवघात-रहिताओ सुणिप्फण्णाओ ससाराओ। —अ. चू., पृ. १७३
(ख) रूढाः—प्रादुर्भूताः, 'बहुसम्भूता' निष्पन्नप्रायाः ......उत्सृता-उपघातेभ्यो निर्गता इति वा। तथा गर्भिताः-अनिर्गतशीर्षकाः, प्रसूताः-निर्गतशीर्षकाः, ससाराः-संजात-तन्दुलादिसाराः।
—हारि. वृत्ति.. पत्र २१९

२४. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ.
(ख) दशवै. पत्राकार, (आचार्यश्री आत्मारामजी) पृ. ६८५, ६८३

संखडि एवं नदी के विषय में निषिद्ध तथा विहित वचन

३६७. तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जं ति नो वए ।
तेणगं वावि वज्झे त्ति, सुतित्थे त्ति य आवगा ।।३६।।

३६८. संखडिं संखडिं बूया, पणियट्ठं ति तेणगं ।
बहुसमाणि तित्थाणि आवगाणं वियागरे ।।३७।।

३६९. तहा नईओ पुण्णाओ कायतिज्ज त्ति नो वए ।
नावाहिं तारिमाओ त्ति, पाणिपेज्जत्ति नो वए ।।३८।।

३७०. बहुवाहडा अगाहा बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुवित्थडोदगा यावि एवं भासेज्ज पण्णवं ।।३९।।

[३६७] इसी प्रकार (दयालु साधु को) जीमणवार (संखडी) और कृत्य (मृतकभोज) जान कर ये करणीय हैं (अथवा ये पुण्यकार्य हैं), अथवा (यह) चोर मारने योग्य है, तथा ये नदियाँ अच्छी तरह से तैरने योग्य अथवा अच्छे घाट वाली हैं, इस प्रकार (सावद्य वचन) नहीं बोलना चाहिए ।।३६।।

[३६८] (प्रयोजनवश कहना पड़े तो) संखडी को (यह) संखडी है, तथा चोर को 'अपने प्राणों को कष्ट में डाल कर स्वार्थ सिद्ध करने वाला' कहे । और नदियों के तीर्थ (घाट) बहुत सम हैं, इस प्रकार विचार करके बोले ।।३७।।

[३६९] तथा ये नदियाँ जल से पूर्ण भरी हुई हैं; शरीर (भुजाओं) से तैरने योग्य हैं, इस प्रकार न कहे । तथा ये नौकाओं द्वारा पार की जा सकती हैं, एवं प्राणी (तट पर बैठ कर सुखपूर्वक इनका जल) पी सकते हैं. ऐसा भी न बोले ।।३८।।

[३७०] (प्रयोजनवश कभी कहना पड़े तो) (ये नदियां) प्रायः जल से भरी हुई हैं; अगाध (अत्यन्त गहरी) हैं, (इनका जलप्रवाह) बहुत-सी नदियों के प्रवाह को हटा रहा है, अतः ये बहुत विस्तृत जल (चौड़े पाट) वाली हैं,—प्रज्ञावान् भिक्षु इस प्रकार कहे ।।३९।।

विवेचन—संखडी आदि के विषय में अवाच्य-वाच्य-वचनविवेक—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (३६७ से ३७० तक) में संखडो, चोर, नदी के घाट, नदी के पानी आदि के विषय में साधु-साध्वी को कैसे वचन नहीं कहने चाहिए ? और कैसे कहने चाहिए ? इसका विवेक बताया गया है ।

संखडी आदि के सम्बन्ध में अवाच्य वचन कहने में दोष—(१) कोई साधु या साध्वी किसी ग्राम, नगर या कस्बे आदि में जाए और वहाँ किसी गृहस्थ के यहाँ श्राद्ध, भोज आदि की जीमनवार होती हुई देखे, तब मुनि इस प्रकार से न बोले कि—'यह श्राद्ध या मृतकभोज अथवा जीमणवार गृहस्थ को अवश्य करने चाहिए; ये कार्य पुण्यवर्द्धक हैं ।' क्योंकि इस प्रकार कहने से भोजन तैयार करने में होने वाले आरम्भ-समारम्भ का अनुमोदन होता है जो हिंसाजनक है, तथा ऐसे अयोग्य वचन

कहने से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। साधु वर्ग की जिह्वालोलुपता द्योतित होती है।[२५] आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है—'संखडी आदि कृत्यों (भोजों) में जो मुनि सरस आहार ग्रहण करते हैं, अथवा सरस भोजन पाने के लिए ऐसे भोजों की प्रशंसा करते हैं, वे वनीपक (भिखमंगे) हैं, मुनि नहीं।'[२६] (२) वध्यस्थान पर ले जाते हुए या गिरफ्तार या दण्डित किये जाते हुए चोर को देख कर—'यह चोर महापापी है, यह जीएगा तो लोगों को बहुत सताएगा, अतः इस दुष्ट को मार डालना या कठोर दण्ड देना ही ठीक है।' ऐसा कहना ठीक नहीं। (३) तथा जल से लबालब भरी हुई बहती नदी को देख कर—"इस नदी के तट बहुत अच्छे हैं। यह सुखपूर्वक भुजाओं से तैर कर पार की जा सकती है, इसमें खूब मजे से जलक्रीड़ा की जा सकती है। अथवा यह नदी नौका से पार की जा सकती है। इसके तट पर बैठे-बैठे ही सभी प्राणी सुखपूर्वक पानी पी सकते हैं"; इत्यादि वचन साधु-साध्वी नहीं कहें; क्योंकि ऐसा कहने से अधिकरण तथा जल के तथा तदाश्रित जीवों के विघात आदि दोषों का प्रसंग उपस्थित हो सकता है।[२७]

'संखडि' आदि शब्दों के विशेषार्थ—संखडि : दो अर्थ—(१) जिससे षट्जीवनिकाय के आयुष्य खण्डित होते हैं अर्थात् उनकी विराधना होती है, वह संखडी है। अथवा (२) भोज में अन्न का संस्कार किया जाता है,—पकाया जाता है, इसलिए इसे 'संस्कृति' भी कहते हैं। **किच्चं : दो अर्थ**—(१) कृत्य—मृतकभोज, अथवा (२) पितरों या देवों के प्रीति सम्पादनार्थ किये जाने वाले 'कृत्य'।[२८]

पणिअट्ठ आदि शब्दों का भावार्थ—पणिअट्ठ : पणितार्थ—चोर को देख कर मुनि चोर न कह कर सांकेतिक भाषा में पणितार्थ—(जिसे धन से ही प्रयोजन है, वह) है, ऐसा कहे या ऐसा कहे कि अपने स्वार्थ के लिए यह प्राणों को दाव पर लगा देता है। **पाणिपिज्ज-प्राणिपेया**—जिससे तट पर बैठे-बैठे प्राणी जल पी सकें, वे नदियां। **उप्पिलोदगा-उत्पीडोदका**—दूसरी नदियों के द्वारा जिनका जल उत्पीड़ित होता हो, अथवा बहुत भरने के कारण जिनका जल उत्पीड़ित हो गया हो—दूसरी ओर मुड़ गया हो; वे नदियाँ। अथवा अन्य नदियों के जल-प्रवाह को पीछे हटाने वाली।[२९]

---

२५. (क) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्माराम जी म.), पृ. ६९०-६९१
(ख) किच्चमेयं जं पितीण देवयाण य अट्ठाए दिज्जइ; करणिज्जमेयं जं पियकारियं देवकारियं वा किज्जइ। —जि. चूर्णि, पृ. २५७

२६. संखडिपमुहे किच्चे, सरसाहारं खु जे पगिण्हंति। भत्तट्ठं थुव्वंति, वणीमगा ते वि, न हु मुणिणो॥
—हारि. वृ., प. २१९

२७. दशवै. (पत्राकार) (आचार्यश्री आत्माराम जी म.), पृ. ६९१

२८. (क) 'छण्हं जीवनिकायाणं आउयाणि संखंडिज्जंति जीए सा संखडी भण्णइ।' —जि. चू., पृ. २५७
(ख) किच्चमेव वरत्थेण देवपीति-मणुसकज्जमिति। —अग. चूर्णि, पृ. १७४

२९. (क) पणितेनार्थो यस्येति पणितार्थः, प्राणद्यूतप्रयोजन इत्यर्थः। —हा. वृ., प. २१९
(ख) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्र ६९२
(ग) तडत्थिएहिं पाणीहिं पिज्जतीति पाणिपिज्जाओ 'उप्पिलोदगा' नाम जासिं परनदीहिं उप्पीलियाणि उदगाणि, अहवा बहुउप्पिलादओ जासिं अइभरियत्तणेण अण्णओ पाणियं वच्चइ।
—जिन. चूर्णि, पृ. २५८

परकृत सावद्यव्यापार के सम्बन्ध में सावद्यवचन निषेध

३७१. तहेव सावज्जं जोगं परस्सऽट्ठाए निट्ठियं।
कीरमाणं ति वा णच्चा सावज्जं नाऽलवे मुणी ॥४०॥

३७२. सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुनिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥४१॥

३७३. पयत्तपक्के त्ति व पक्कमालवे, पयत्तछिन्ने त्ति× व छिन्नमालवे।
पयत्तलट्ठे त्ति+ व कम्महेउयं पहारगाढे त्ति✽ व गाढमालवे ॥४२॥

३७४. सव्वुक्कस्सं परग्घं वा अउलं नत्थि एरिसं।
☐अचक्कियमवत्तव्वं अचिंतं× चेव णो वए ॥४३॥

३७५. सव्वमेयं वइस्सामि सव्वमेयं ति नो वए।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ एवं भासेज्ज पण्णवं ॥४४॥

३७६. सुक्कीयं वा सुविक्कीयं अकेज्जं केज्जमेव वा।
इमं गेण्ह इमं मुंच पणियं, नो वियागरे ॥४५॥

३७७. अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए व विक्कए वि वा।
पणियट्ठे समुप्पन्ने अणवज्जं वियागरे ॥४६॥

३७८. तहेवाऽसंजयं धीरो आस एहि करेहि वा।
+सय चिट्ठ वयाहि त्ति, नेवं भासेज्ज पण्णवं ॥४७॥

[३७१] इसी प्रकार (किसी के द्वारा किसी प्रकार का) सावद्य (पापयुक्त) व्यापार (प्रवृत्ति या क्रिया) दूसरे के लिए किया गया हो, (वर्तमान में) किया जा रहा हो, अथवा (भविष्य में किया जाएगा) ऐसा जान कर (या देख कर, यह ठीक किया है; इस प्रकार का) सावद्य (पापयुक्त वचन) मुनि न बोले ॥४०॥

[३७२] (कोई सावद्यकार्य हो रहा हो तो उसे देखकर) (यह प्रीतिभोज आदि कार्य) बहुत अच्छा किया, (यह भोजन आदि) बहुत अच्छा पकाया है; (इस शाक आदि को या वन को) बहुत अच्छा काटा है; अच्छा हुआ (इस कृपण का धन) हरण हुआ (चुराया गया); (अच्छा हुआ, वह दुष्ट) मर गया, (दाल या सत्तु में घी आदि रस, अथवा यह मकान आदि) बहुत अच्छा निष्पन्न हुआ है; (यह कन्या) अतीव सुन्दर (एवं विवाहयोग्य हो गई) है; इस प्रकार के सावद्य वचनों का मुनि प्रयोग न करे ॥४१॥

पाठान्तर— × पयत्तछिन्नत्ति। + पयत्तलट्ठित्ति। ✽ पहारगाढ त्ति।
☐ अविक्किय। × अचिअत्तं। + सयं।

[३७३] (प्रयोजनवश कभी बोलना पड़े तो) सुपक्व (भोजनादि) को 'यह प्रयत्न से पकाया गया है' इस प्रकार कहे; छेदन किये हुए (शाक आदि या वनादि) को 'प्रयत्न से काटा गया है' इस प्रकार कहे, (शृंगार आदि) कर्म-(बन्धन-) हेतुक (कन्या के सौन्दर्य) को (देखकर) कहे (कि इस कन्या का) प्रयत्नपूर्वक लालन-पालन किया गया है; तथा गाढ (घायल हुए व्यक्ति) को यह प्रहार गाढ है, ऐसा (निर्दोष वचन) बोले ।।४२।।

[३७४] (क्रय-विक्रय के प्रसंग में साधु या साध्वी) (यह वस्तु) सर्वोत्कृष्ट है; यह बहुमूल्य (महार्थ) है, यह अतुल (अनुपम) है, इसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है, (यह वस्तु बेचने योग्य नहीं है, अथवा) (इसका मूल्यांकन) अशक्य है; (यह वस्तु) अवर्णनीय (—अकथ्य) है; (अथवा इसकी विशेषता कही नहीं जा सकती); यह वस्तु अप्रीतिकर है; (अथवा यह वस्तु अचिन्त्य है), (और यह वस्तु प्रीतिकर है); (इत्यादि व्यापारविषयक) वचन न कहे ।।४३।।

[३७५] (साधु या साध्वी से कोई गृहस्थ किसी को संदेश कहने को कहे तब) 'मैं तुम्हारी सब बातें उससे अवश्य कह दूंगा' (अथवा किसी को सन्देश कहलाते हुए) (मेरी) 'यह सब (बात तुम उससे कह देना'; इस प्रकार न बोले; (किन्तु सब प्रकार के पूर्वोक्त वचन सम्बन्धी विधि-निषेधों का) पूर्वापर विचार करके बोले, (जिससे कर्मबन्ध न हो) ।।४४।।

[३७६] अच्छा किया (आपने यह माल) खरीद लिया अथवा बेच दिया यह अच्छा हुआ, यह पदार्थ खराब है, खरीदने योग्य नहीं है, अथवा (यह माल) अच्छा है, खरीदने योग्य है; इस माल को ले लो (खरीद लो) अथवा यह (माल) बेच डालो (इस प्रकार) व्यवसाय-सम्बन्धी (वचन), साधु न कहे ।।४५।।

[३७७] (कदाचित् कोई गृहस्थ) अल्पमूल्य अथवा बहुमूल्य माल खरीदने या बेचने के विषय में (पूछे तो) व्यावसायिक प्रयोजन का प्रसंग उपस्थित होने पर साधु या साध्वी निरवद्य वचन बोले, (जिससे संयमधर्म में बाधा न पहुँचे या इस प्रकार से कहे कि क्रय-विक्रय से विरत साधु-साध्वियों का इस विषय में कोई अधिकार नहीं है ।) ।।४६।।

[३७८] इसी प्रकार धीर और प्रज्ञावान् साधु असंयमी (गृहस्थ) को—यहाँ बैठ, इधर आ, यह कार्य कर, सो जा, खड़ा हो जा (या रह) या चला जा, इस प्रकार न कहे ।।४७।।

विवेचन—सावद्य-प्रवृत्ति के अनुमोदन का निषेध तथा योग्य वचन-विधान—प्रस्तुत ८ सूत्र-गाथाओं (३७१ से ३७८ तक) में से अधिकांश गाथाओं में गृहस्थ के द्वारा की जाने वाली सावद्य क्रियाओं की अनुमोदना एवं प्रेरणा का निषेध एवं साथ ही वक्तव्य-वचनों का विधान प्रतिपादित है।

त्रैकालिक सावद्यभाषा निषेध—प्रस्तुत ३७१ वीं गाथा में परकृत सावद्य प्रवृत्तियों की मानसिक वाचिक अनुमोदना का निषेध किया गया है। उदाहरणार्थ—पूर्वकाल में अमुक संग्राम बहुत ही अच्छा हुआ, वर्तमान में ये संग्रामादि हो रहे हैं, ये अच्छे हो रहे हैं, तथा भविष्य में यदि संग्राम छिड़ गया तो अच्छा होगा,[३०] इत्यादि सावद्य भाषण साधु या साध्वी न करे। ऐसी सावद्य

३०. दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ६९७

भाषा के प्रयोग से पापकर्मों की अनुमोदना और प्रेरणा मिलती है। सूत्रोक्त उदाहरण केवल समझाने के लिए हैं। इसी प्रकार की अन्य सावद्य प्रवृत्तियों की भी प्रेरणा या अनुमोदना साधुवर्ग को नहीं करनी चाहिए।

'सुकडे त्ति सावद्यक्रियाओं की अनुमोदना भी निषिद्ध—अगस्त्यचूर्णि के अनुसार 'सुकृतं' शब्द समस्त क्रियाओं का प्रशंसात्मक वचन है, तथैव सुपक्व (पाकक्रिया), सुच्छिन्न (छेदनक्रिया), सुहृत (हरणक्रिया), सुमृत (मरणक्रिया) सुनिष्ठित (सम्पादनक्रिया), एवं सुलष्ट (शोभनक्रिया) के प्रशंसात्मक या अनुमोदक वचन हैं। वृत्तिकार एवं अन्य व्याख्याकार इनके उदाहरण भोजन-विषयक भी देते हैं, और सामान्य अन्य क्रियाविषयक भी। आचारांग में आए हुए इसी प्रकार के पाठ को देखते हुए यह गाथा भोजनविषयक लगती है। उत्तराध्ययनसूत्र की नेमिचन्द्राचार्य वृत्ति के अनुसार ये ही शब्द शुद्ध निरवद्य भावों के कारण निरवद्य क्रियाओं के अनुमोदक भी हो सकते हैं, यथा—इसने अमुक रुग्ण मुनि की सेवा की, यह अच्छा किया, इसका वचनविज्ञान परिपक्व है, इसने स्नेह-बन्धन को अच्छी तरह काट दिया है, अच्छा हुआ कि इसने कुपथ पर ले जाते हुए सम्बन्धियों से शिष्य को छुड़ा लिया। अच्छा हुआ कि अमुक मुनि की मृत्यु पण्डितमरण से हुई। यह मुनि साध्वाचार में अच्छी तरह प्रवीण हो गया, इस बालक ने व्रतग्रहण सुन्दर ढंग से किया है।[३१]

इससे अगली गाथा में इन्हीं क्रियाओं के विषय में निरवद्यवचन बोलने का निर्देश किया गया है।

'कम्महेउयं' आदि पदों के विशिष्ट अर्थ—कम्महेउयं—कर्महेतुकः—शिक्षापूर्वक किया गया, सधे हुए हाथों से किया हुआ, अथवा ये सांसारिक या शृंगारादि क्रियाएं कर्मबन्धन की हेतु हैं। **अचविकयं : अविक्किअं : दो पाठ—तीन अर्थ**—(१) **अशक्य**—इसका मोल करना अशक्य है, (२) **असंस्कृत**—यह वस्तु असंस्कृत है, खराब है, अथवा (३) **अविक्रेय**—यह वस्तु बेचनेयोग्य नहीं है।

अचियत्तं-अचिंतं : दो पाठ : दो अर्थ—(१) अप्रीतिकर या (२) अचिन्त्य। **अणुवीइ-अनुचिन्त्य**—पूर्वापर विचार करके या पूर्वोक्त सब वचनविधियों का अनुचिन्तन करके। **पणियट्ठे समुप्पन्ने अणवज्जं वियागरे** : तात्पर्य—व्यवसाय सम्बन्धी पदार्थ के सम्बन्ध में प्रसंग उपस्थित होने पर साधु निरवद्य वचन बोले, जैसे कि—जिन मुनियों ने व्यवसाय (व्यापार) छोड़ रखा है, उन्हें क्या अधिकार है कि वे व्यापार के सम्बन्ध में अपनी राय दें। यह अनधिकार चेष्टा है।

---

३१. (क) उत्तरा. कमल सं: १।३६.
(ख) उत्त. ने. १।३६. वृ.
(ग) आचा. चू. ४।२३
(घ) निरवद्यं तु सुकृतमनेन धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य वचनविज्ञानादि, सुच्छिन्नं स्नेह-निगडादि, सुहृतोऽय मुत्प्रवाजयितुकामेभ्यो निजकेभ्य : शैक्षकः, सुमृतमस्य पण्डितमरणेन, सुनिष्ठितोऽयं साध्वाचारे, सुलष्टोऽयं दारको व्रतग्रहणस्येत्यादिरूपम्। —उत्तरा. ने मि. वृत्ति. १।३६

असंजयं—असंयत :—बैठने, उठने आदि क्रियाओं में सम्यक् यतना—संयम—रहित। असंयमी पुरुष लोहे के तपे हुए गोले के समान है उसे जिधर से छुओ, उधर से जला देता है, वैसे ही असंयमी चारों ओर से जीवों को कष्ट देता है। वह सोया हुआ भी अहिंसक नहीं होता।[३२]

पक्व आदि विषयों में निरवद्यवचन-विवेक—यदि कोई साधु किसी रुग्ण साधु के लिए जरूरत होने पर सहस्रपाक तेल किसी सद्गृहस्थ के यहाँ से लाया, तब पूछने पर वह कह सकता है—बड़े प्रयत्न (आरम्भ) से पकाया गया है। वन में विहार करते समय कटे हुए वृक्षों को देख कर मुनि अन्य मुनियों से कह सकता है—यह वन बड़े प्रयत्न से काटा गया है। तथा किसी कन्या को दीक्षा के लिए उद्यत देख कर कहे—इसका पालन-पोषण बड़ी सावधानी से करने योग्य है। ये जो सांसारिक क्रियाएं हैं, वे सब कर्मबन्धन की ही कारण हैं। यदि किसी चोर पर अत्यन्त मार पड़ रही हो तब कहा जा सकता है—दुष्कर्म का फल अतीव कटु होता है। देखो, दुष्कर्म के कारण बेचारे पर कितनी कठोर मार पड़ रही है।[३३]

व्यापार से सम्बन्धित विषयों में बोलने के निषेध का कारण—यह पदार्थ सर्वोत्कृष्ट है, शीघ्र खरीदने योग्य है, इत्यादि वचन बोलने से अप्रीति, अधिकरण और अन्तराय दोष लगता है। साधु के द्वारा कही बात को सुन कर यदि कोई गृहस्थ व्यापार सम्बन्धी नाना क्रियाओं में लग जाए तो उसमें बहुत-से अनर्थों के होने की सम्भावना है। यदि साधु द्वारा कथित वस्तु महंगी या सस्ती न हुई तो साधु के प्रति अप्रीति-अप्रतीति पैदा होगी। यदि उसी प्रकार हो गई तो अधिकरणादि दोष उत्पन्न होंगे।[३४]

'मैं सब की सब बातें कह दूंगा', इत्यादि निश्चयात्मक भाषा निषेध क्यों?—साधु यदि यह स्वीकार करता है कि मैं तुम्हारी सब बातें कह दूंगा तो उसके सत्यमहाव्रत में दोष लगता है, क्योंकि जिस प्रकार उस व्यक्ति ने स्वर-व्यञ्जन से युक्त भाषा व्यक्त की, उसी प्रकार नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार दूसरा भी उस साधु की बात ज्यों की त्यों कह नहीं सकता। कारण वही पूर्वोक्त है। यदि साधु बिना सोचे-विचारे जो मन में आया, सो कहता चला जाएगा तो एक नहीं, अनेक आपत्तियाँ आती चली जाएँगी, जिनका हटाना कठिन होगा।[३५]

---

३२. (क) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) ७०१
(ख) 'कम्महेउयं नाम सिक्खा पुव्वगं ति वृत्तं भवति।'—जिन.चू., पृ. २५९
(ग) अवक्कियं नाम असक्कं, को एतस्स मोल्लं करेउं समत्थो त्ति, एवं अचक्कियं भण्णइ। अचिंतं नाम ण एतस्स गुणा अम्हारिसेहिं पागएहिं चिंतिज्जंति।—जि. चू., पृ. २६०
(घ) दशवै. पत्राकार (आ. आत्मा.) प. ७०९
(ङ) 'नाऽधिकारोऽत्र तपस्विनां व्यापाराभावात्।'—हा. वृ., पत्र २२१

३३. दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) प. ७०२

३४. दशवै. पत्राकार (आ. आत्मा.) प. ७०४, ७०७, ७०८

३५. वही, पत्राकार, प. ७०६

असाधु और साधु कहने का विवेक

३७९. बहवे इमे असाहू लोए वुच्चंति साहुणो।
न लवे असाहुं साहुं ति, साहुं साहुं ति आलवे ॥४८॥

३८०. णाण-दंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं।
एवं गुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे ॥४९॥

[३७९] ये बहुत से असाधु लोक में साधु कहलाते हैं; किन्तु (निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी) असाधु को—'यह साधु है,' इस प्रकार न कहे, (अपितु) साधु को ही—'यह साधु है;' इस प्रकार कहे ॥४९॥

[३८०] ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न तथा संयम और तप में रत—इस प्रकार के सद्‌गुणों से समायुक्त (सम्पन्न) संयमी को ही साधु कहे ॥५०॥

विवेचन—किसको असाधु कहा जाए, किसको साधु?—प्रस्तुत दो सूत्रगाथाओं (३७९-३८०) में जनता में साधु नाम से प्रख्यात किन्तु वस्तुतः असाधु को साधु कहने का निषेध तथा साधु के लक्षणों से सम्पन्न को साधु कहने का विधान किया गया है।

लोकव्यवहार में साधु, गुणों से असाधु—जिसे वेषभूषा या अमुक क्रियाकाण्ड से जनसाधारण में साधु कहा जाता है किन्तु जो गुणों से साधु नहीं है उसके विषय में साधु या साध्वी क्या कहे? इसी का समाधान इन दोनों गाथाओं में है। तात्पर्य यह है कि साधु का वेष धारण करने मात्र से कोई साधु नहीं हो जाता। अतएव पूर्वोक्त गाथा में दिये गए साधु के लक्षणों से युक्त संयमी को ही साधु कहे। असाधु को वेषधारी या द्रव्यलिंगी कहा जा सकता है। परन्तु जिसका दुनिया में अपवाद नहीं है, जिसका व्यवहार शुद्ध है, प्रशंसनीय है, उसी पर से निर्णय करके उसे साधु कहना चाहिए। निश्चय तो केवली भगवान् ही जानते हैं कि कौन व्यक्ति कैसा है? प्रकट रूप में व्यवहारशुद्धि ही देखी जाती है।[३६]

जय-पराजय, प्रकृतिकोपादि एवं मिथ्यावाद के प्ररूपण का निषेध

३८१. देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥५०॥

३८२. वाओ वुट्ठं व सीउण्हं खेमं धायं सिवं ति वा।
कया णु होज्ज एयाणि? मा वा होउ त्ति नो वए ॥५१॥

३८३. तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देव देव त्ति गिरं वएज्जा।
संमुच्छिए उन्नए वा पओदे, वएज्ज वा 'वुट्ठे बलाहए' त्ति ॥५२॥

---

३६. (क) दशवैकालिकसूत्र, पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), प. ७१२, ७१३
(ख) जे णिव्वाणसाहए जोगे साधयति ते भावसाधवो भण्णंति। —जिन. चूर्णि, पृ. २६१

३८४. 'अंतलिक्खे' त्ति णं बूया, 'गुज्झाणुचरियं' ति य ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स 'रिद्धिमंतं' ति आलवे ।।५३।।

[३८१] देवों का, मनुष्यों का अथवा तिर्यञ्चों (पशु-पक्षियों) का परस्पर संग्राम (विग्रह या कलह) होने पर अमुक (पक्षवालों) की विजय हो, अथवा (अमुक पक्ष वालों की) विजय न हो,—इस प्रकार न कहे ।।५०।।

[३८२] वायु, वृष्टि, सर्दी, गर्मी, क्षेम (रोगादि उपद्रव से शान्ति), सुभिक्ष अथवा शिव (कल्याण), ये कब होंगे ? अथवा ये न हों (तो अच्छा रहे;) इस प्रकार न कहे ।।५१।।

[३८३] इसी प्रकार (साधु या साध्वी) मेघ को, आकाश को अथवा मानव को—'यह देव है, यह देव है,' इस प्रकार की भाषा न बोले । (किन्तु मेघ को देख कर)—'यह मेघ चढ़ा हुआ' (उमड़ रहा है), अथवा उन्नत हो रहा है (झुक रहा है) यह मेघमाला (बलाहक) बरस पड़ी है, इस प्रकार बोले ।।५२।।

[३८४] (भाषाविवेकनिपुण साधु या साध्वी) नभ (और मेघ) अन्तरिक्ष तथा गुह्यानुचरित (गुह्यक देवों द्वारा सेवित अथवा देवों के आवागमन का गुप्त मार्ग) है, इस प्रकार कहे तथा ऋद्धिमान् मनुष्य को देख कर—'यह ऋद्धिशाली है,' ऐसा कहे ।।५३।।

विवेचन—जय-पराजय-विषयक कथन में दोष—पारस्परिक युद्ध या द्वन्द्व, चाहे देवों का हो, मनुष्यों का हो अथवा तिर्यञ्चों का, साधु को यह कदापि नहीं कहना चाहिए कि अमुक पक्ष या व्यक्ति की विजय हो, अमुक की हार हो, क्योंकि इस प्रकार कहने से युद्ध के अनुमोदन का दोष लगता है । दूसरे पक्ष को द्वेष उत्पन्न होता है, आघात पहुँचता है, अधिकरणादि दोषों की सम्भावना रहती है । अत: ऐसी भाषा कर्मबन्ध का कारण होती है ।[३७]

वायु, वर्षा आदि के होने, न होने के विषय में बोलने का निषेध—जिसमें अपनी और दूसरों की शारीरिक सुख-सुविधा अथवा धूप आदि से पीड़ित साधु को अपनी पीड़ानिवृत्ति के लिए अनुकूल स्थिति के होने (हवा, वृष्टि, सर्दी-गर्मी, उपद्रवशमन, सुभिक्ष तथा दैविक उपसर्ग की शक्ति आदि) तथा प्रतिकूल परिस्थिति के न होने की आशंका हो, ऐसा वचन साधु या साध्वी न कहे । क्योंकि जो बातें प्राकृतिक हैं, उनके होने, न होने के विषय में साधु को कुछ कहना ठीक नहीं । साधु द्वारा इस प्रकार के कथन करने से अधिकरण दोष का प्रसंग तो है ही, दूसरे, साधु के कथन के अनुसार वायु, वृष्टि आदि के होने से वायुकाय जलकायादि के जीवों की विराधना का अनुमोदन तथा कई लोगों को वायु-वृष्टि आदि से पीडा या हानि भी हो सकती है । साधु के कहे अनुसार यदि पूर्वोक्त कार्य न हों तो उसे स्वयं को आर्त्तध्यान होगा, तथा श्रोता की धर्म एवं धर्मगुरु (मुनि) पर से श्रद्धा कम हो

---

३७. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार, पत्र ७१४
(ख) जिन. चूर्णि, पृ. २६२
(ग) हारि. वृत्ति, पत्र २२२

जाएगी। इस प्रकार की और भी बहुत हानियां हैं। अतः प्रकृति की उक्त क्रियाओं के विषय में साधु को भविष्य कथन या सम्मतिप्रदान कदापि नहीं करना चाहिए।[३८]

खेमं धायं सिवं ति वा : विभिन्न अर्थ—क्षेम का अर्थ—शत्रुसेना (परचक्र) आदि का उपद्रव न होने की स्थिति है, अथवा टीकाकार के मतानुसार—क्षेम का अर्थ राजरोग का अभाव होना है। 'धायं' का अर्थ है सुभिक्ष और सिवं (शिवं) का अर्थ है रोग-महामारी का अभाव, उपद्रव का अभाव।[३९]

'तहेव मेहं व०' गाथा का फलितार्थ—निर्ग्रन्थ साधु के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हो कि प्रश्नोपनिषद् आदि वैदिक धर्मग्रन्थों में आकाश, वायु, मानव, अग्नि, जल आदि को देव कहा गया है, ऐसी स्थिति में आप क्या कहते हैं ?, इसके समाधान में यह गाथा है। इसमें कहा गया है कि निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी सत्यमहाव्रती हैं, जिसका जैसा स्वरूप है, वैसा ही कथन करना उनके लिए अभीष्ट है। अतः मेघ, आकाश और (ब्राह्मण या क्षत्रिय) मानव आदि को देव कहना अत्युक्तिपूर्ण है। ये देव नहीं हैं, इन्हें देव कहने से मिथ्यात्व की स्थापना और मानव में लघुता (हीनता) आदि की भावना आती है, साथ ही मृषावाद का दोष लगता है। जनता में मिथ्या धारणा न फैले, इसलिए यह निषेध किया है। वस्तुतः यह कथन इन सबको देव कहने का प्रतिषेधक है; उपमालंकारादि की अपेक्षा से नहीं।[४०]

प्रश्न उपस्थित होता है कि मेघ, आकाश एवं ऋद्धिशाली मनुष्य आदि को क्या कहा जाए ? इसके समाधानार्थ इस गाथा का उत्तरार्द्ध तथा अगली गाथा प्रस्तुत है। इसका फलितार्थ यह है कि जब आकाश में बादल उमड़-घुमड़कर चढ़ आएँ, तब आकाशदेव में मेघदेव चढ़ आए हैं, ऐसा न कह कर आकाश में मेघ चढ़ा हुआ आ रहा है। बरसने लगे तो कहना चाहिए कि मेघ बरस रहा है। मेघ (बादल) को जैनशास्त्रों में पुद्गलों का समूह माना गया है। नभ और मेघ को-अन्तरिक्ष को गुह्यानुचरित अर्थात्—देवसेवित (अथवा देवों के चलने का मार्ग) कहे। ऋद्धिमान् वैभवशाली एवं चमत्कारी मनुष्य को प्राचीन काल में देव या भगवान् कहने का रिवाज था, परन्तु यहाँ बताया गया है कि ऋद्धिमान् को देव या भगवान् न कह कर 'ऋद्धिमान्' कहे। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जिस प्रकार

---

३८. (क) एताणि सरीरसुहहेउं पयाणं वा आसंसमाणो.......णो वदे। —अ. चू., पृ. १७७
(ख) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ७१७

३९. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्माराम जी) पृ. ७१७
(ख) क्षेमं—राजविज्वरशून्यम्।
(ग) ध्रातं सुभिक्षम्। शिवं इति चोपसर्गरहितम्॥ —हारि. वृत्ति, पृ. २२३

४०. (क) प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न २।२
(ख) मनुस्मृति अ. ७।८; 'महाभा. शान्ति' ६८।४०
(ग) 'मिथ्यावाद-लाघवादि-प्रसंगात्।' —हा. वृ. प. २२३।
(घ) तत्थ मिच्छत्तथिरीकरणादि दोसा भवंति। —जि. चूर्णि, पृ. २६२
(ङ) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी), पत्र ७१८-७१९

से हो, उसे उसी प्रकार से कहना चाहिए। मिथ्या प्रशंसा या झूठी अद्भुतता व्यक्त नहीं करनी चाहिए।[41]

भाषाशुद्धि का अभ्यास अनिवार्य

३८५. तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
　　ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
　से कोह-लोह-भयसा व+ माणवो,
　　न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥५४॥

३८६. *सु-वक्कसुद्धि समुपेहिया मुणी,
　　गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
　मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
　　सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥५५॥

३८७. भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
　　तीसे य ×दुट्ठाए विवज्जए सया।
　छसु संजए सामणिए सया जए,
　　वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥५६॥

[३८८] इसी प्रकार जो भाषा सावद्य (पाप-कर्म) का अनुमोदन करने वाली हो, जो निश्चयकारिणी (और संशयकारिणी हो) एवं पर-उपघातकारिणी हो, उसे क्रोध, लोभ, भय (मान) या हास्यवश भी (साधु या साध्वी) न बोले ॥५४॥

[३८६] जो मुनि श्रेष्ठ वचनशुद्धि का सम्यक् सम्प्रेक्षण करके दोषयुक्त भाषा को सर्वदा सर्वथा छोड़ देता है तथा परिमित और दोषरहित वचन पूर्वापर विचार करके बोलता है, वह सत्पुरुषों के मध्य में प्रशंसा प्राप्त करता है ॥५५॥

[३८७] षड्जीवनिकाय के प्रति संयत (सम्यक् यतना करने वाला) तथा श्रामण्यभाव में सदा यत्नशील (सावधान) रहने वाला प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) साधु भाषा के दोषों और गुणों को जान कर एवं उसमें से दोषयुक्त भाषा को सदा के लिए छोड़ दे और हितकारी तथा आनुलोमिक (सभी प्राणियों के लिए अनुकूल) वचन बोले ॥५६॥

---

४१. (क) दशवै. (आ. आत्माराम जी), पत्राकार, पृ. ७१८-७१९
　(ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. ९९
　(ग) तत्थ नभं अंतलिक्खंति वा वदेज्जा गुज्झाणुचरितं ति वा।........मेहोवि अंतरिक्खो भण्णइ, गुज्झगाणुचरिओ भण्णइ ॥ —जि. चू. पृ. २६३

पाठान्तर—+ भय-हास माणवो।　* सवक्कसुद्धि। 　× दुट्ठे।

विवेचन—अध्ययन का सारांश—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (३८५ से ३८७ तक) में इस अध्ययन में प्रतिपादित भाषाशुद्धि के विवेक का सारांश दिया गया है।

भाषाविवेकसूत्र ये हैं—(१) सावद्य की अनुमोदिनी, (२) अवधारिणी (निश्चयकारिणी या संशयकारिणी), (३) परोपघातिनी तथा (४) क्रोध-लोभ-भय-हास्य से प्रेरित भाषा न बोले, (५) सुवाक्यशुद्धि का सम्यक् विचार करे, (६) दोषयुक्त वाणी का त्याग करे, (७) पूर्वापर विचार करके दोषरहित वाणी बोले, (८) भाषा के दोषों और गुणों को जाने, (९) षट्काय के प्रति संयत और सदा यत्नवान् होकर प्रबुद्ध साधु स्व-पर-हितकर और प्राणियों के लिए अनुकूल (मधुर) भाषा का ही प्रयोग करे।[४२]

सावद्यानुमोदिनी आदि शब्दों की व्याख्या—सावद्यानुमोदिनी—जो भाषा पापकर्म का अनुमोदन करने वाली हो; यथा—"अच्छा हुआ, यह पापी ग्राम नष्ट कर दिया गया।" अवधारिणी : दो अर्थ—(१) निश्चयकारिणी यथा—'यह ऐसा ही है।' अथवा 'यह बुरा ही है।' (२) अथवा संदिग्ध वस्तु के विषय में असंदिग्ध वचन बोलना, जैसे—'भंते ! यह ऐसा ही है।' अथवा (३) संशयकारिणी, यथा—यह चोर है या परस्त्रीगामी ? परोपघातिनी—जिसके बोलने से दूसरे जीवों को पीड़ा पहुँचती हो, यथा—मांस खाने में कोई दोष नहीं है। सवक्क-सुद्धि-सुवक्कसुद्धि चार रूप : चार अर्थ—(१) स वाक्यशुद्धि—वह मुनि वाक्यशुद्धि को, (२) सद्वाक्यशुद्धि—सद्वाक्य की शुद्धि को, (३) स्ववाक्यशुद्धि—अपने वाक्य की शुद्धि को, (४) सुवाक्यशुद्धि—श्रेष्ठ वाक्—(वचन) की शुद्धि को (विचार कर)। हियाणुलोमियं—सर्वजीवहितकर तथा मधुर होने से सबको रुचिकर या अनुकूल।[४३]

हसंतो य माणवो—हे मानव (साधो !) हँसी में सावद्य का अनुमोदन करने वाली भाषा न बोले, भय, क्रोधादि से बोलने की तो बात ही दूर ! तत्त्व केवलिगम्य या बहुश्रुतगम्य।[४४]

---

४२. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ५३

४३. (क) दशवै. पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पत्र ७२१

(ख) अवधारिणी-इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा।
अवधारिणीम्—अशोभन एवाऽयमित्यादिरूपाम्। —हा. वृ., प. २५३-२५४

(ग) "ओधारिणीमसंदिद्धरूवं संदिद्धं विभणितं च—"से णूणं भंते !
मण्णामीति ओधारिणी भासा।" अग. चूर्णि, पृ. १७८

(घ) तत्थ ओहारिणी संकिया भण्णति। जहा—एसो चोरो, पारदारिओ ? एवमादि।
—जिन. चूर्णि, पृ. ३२१

(ङ) दशवै. पत्राकार (आ. आत्मा.) पत्र ७२३

४४. (क) माणवा ! इति मणुस्सामंतणं, "मणुस्सेसु धम्मोवदेस" इति। —अ. चू., पृ. १७८

(ख) माणवा इति मणुस्सजातीए एस साहुधम्मोत्ति काऊण मणुस्सामंतणं कयं, जहा—हे माणवा !

(ग) मानवः—पुमान् साधुः। —हा. वृ., पत्र २२३

(घ) दसवेयालियं (मुनिनथमलजी) पृ. ३६७

भाषाशुद्धि की फलश्रुति

३८८. परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए, चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
स निद्धुणे धुण्णमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तहा परं ॥५७॥
—त्ति बेमि ॥

॥ सत्तमं वक्कसुद्धि-अज्झयणं समत्तं ॥७॥

[३८८] (जो साधु गुण-दोषों को) परीक्षा करके बोलने वाला है, जिसकी इन्द्रियाँ सुसमाहित हैं, (जो) चार कषायों से रहित है, (जो) अनिश्रित (प्रतिबन्धरहित या तटस्थ) है, वह पूर्वकृत पाप-मल को नष्ट करके इस लोक तथा परलोक का आराधक होता है। —ऐसा मैं कहता हूँ ॥

विवेचन—परीक्ष्यभाषी की अर्हता और उपलब्धि—जो साधु सुसमाहितेन्द्रिय, कषायों से रहित तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से मुक्त-तटस्थ है, वही वचन के गुण-दोषों की परख करके बोल पाता है तथा तप-संयम के प्रभाव से पूर्वकृत वही पाप-मल को नष्ट कर डालता है तथा अपने सुन्दर संयम से सत्पुरुषों में इस लोक में मान्य बनता है तथा परलोक में उत्तम देवलोक या सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है। यह उसकी सर्वोत्तम उपलब्धि है।[४५]

॥ सप्तम : वाक्यशुद्धि-अध्ययन समाप्त ॥

४५. धुन्नमलं—पापमलं। —हारि. वृत्ति, २२४

अट्ठमं अज्झयणं : आयारपणिही

अष्टम अध्ययन : आचार-प्रणिधि

प्राथमिक

※ यह दशवैकालिकसूत्र का आचार-प्रणिधि नामक आठवाँ अध्ययन है।

※ आचार का वर्णन पहले तृतीय अध्ययन में संक्षेप से और छठे अध्ययन में विस्तार से किया गया है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य है—आचार का प्रणिधान।[1]

※ बँधी-बँधाई आचारसंहिता पर चलना आसान है। जो आचार-विषयक नियमोपनियम तृतीय और छठे अध्ययन में बताए हैं, उन्हें स्थूलरूप से पालना सहज है। परन्तु आचार को पाकर निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी को कैसे चलना चाहिए ? आचार की सरिता में अवगाहन करते समय मन, वचन, काया एवं इन्द्रियों को किस प्रकार प्रवाहित करना चाहिए ? यही पथप्रदर्शन इस अध्ययन में है। क्योंकि कई बार साधक स्थूल दृष्टि से आचार का पालन करता हुआ भी अन्तरंग से आचार में निष्ठा, एकाग्रता या प्रवृत्ति नहीं कर पाता। जिस प्रकार उच्छृंखल घोड़े सारथी को उत्पथ पर ले जाते हैं, वैसे ही दुष्प्रणिहित (रागद्वेषयुक्त) इन्द्रियाँ साधक को उत्पथ में भटका देती हैं। यह इन्द्रियों का दुष्प्रणिधान है। शब्दादि विषयों में इन्द्रियों का रागद्वेषयुक्त लगाव न होना—समत्वयुक्त प्रवृत्ति होना इन्द्रियों का सुप्रणिधान है। इसी प्रकार मन क्रोधादि कषाय या राग, द्वेष, मोह के प्रवाह में पड़कर भटक जाता है, इसे मन का दुष्प्रणिधान कहते हैं। किन्तु कषायों तथा रागद्वेषादि के प्रवाह में मन को न बहने देना, मन का सुप्रणिधान है।[2]

※ अत: 'आचार-प्रणिधि' का अर्थ हुआ—आचार में इन्द्रियों और मन को सुप्रणिहित करना-एकाग्र करना या निहित करना। जिस प्रकार निधान (खजाने) में धन को सुरक्षित रखा जाता है, उसी प्रकार आचाररूपी धन को सुरक्षित रखने के लिए यह अध्ययन आचार की प्रकर्ष (उत्कृष्ट) निधि (निधान) है।

---

१. 'जो पुव्वि उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो।' —दश. निर्युक्ति गा. २९३

२. (क) दशवै. (संतबालजी) पृ. १०१

(ख) जस्स खलु दुप्पणिहिआणि इंदिआइं तवं चरंतस्स।
सो हीरइ असहीणेहिं सारही वा तुरंगेहिं ॥२९९॥
सामन्नमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुप्फुल्लं व, निप्फलं तस्स सामन्नं ॥३०१॥ —दशवै. निर्युक्ति गा. २९९, ३०१,

※ आचार की अन्तरंग निष्ठा या एकाग्रतापूर्वक आराधना करने वाले साधु या साध्वी को शक्ति होते हुए भी क्षमा रखनी पड़ती है, स्वयं में ज्ञान, बल, अधिकार और उच्च गुण होते हुए भी सामान्यजनों के प्रति समता और नम्रता धारण करनी पड़ती है। विरोध करने और शत्रुता रखने वाले व्यक्ति के प्रति भी समभाव रखना पड़ता है। अपने से आचार-पालन में दुर्बल अथवा स्थूल दृष्टि से क्रियाकाण्ड में मन्द अथवा शास्त्रीय ज्ञान में न्यून साधकों के प्रति भी राग-द्वेष या मोह न करके समभाव रखना पड़ता है, दूसरों में गुणों की कमी होने पर भी सहन करना पड़ता है। सैकड़ों सेवक या भक्त हाजिर होते हुए भी स्वावलम्बी और संयमी बनना पड़ता है। सुख-सुविधाओं और प्रलोभनों के सरल प्रतीत होने वाले पथ पर चलने के लिए मन को शिथिल और चंचल न बनाते हुए त्याग, तप और संयम की संकीर्ण पगडंडी पर सावधानीपूर्वक चलना पड़ता है। सदाचार के पथ पर चलते हुए प्रतिक्षण हर मोड़ पर जागृत रहना पड़ता है। यही है आचार की प्रणिधि अर्थात् आचार को पाकर साधु को उसमें एकाग्रता, निष्ठा, मन-वचन-काय एवं इन्द्रियों की सुप्रणिहितता करनी है।[३]

※ यह अध्ययन 'प्रत्याख्यान-प्रवाद' नामक नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किया गया है।[४] इसमें नेत्र, श्रोत्र आदि के दृष्ट, श्रुत के विघातक अंश को प्रकाशित करने का निषेध है, मन को स्वाध्याय, ध्यान आदि में लगाने का विधान है। कषायविजय, निद्राविजय, अट्टहास-विरति, श्रद्धा-सातत्य, भावविशुद्धि, काय-ममत्व-विसर्जन, त्यागपथ पर बढ़ने की प्रेरणा एवं दैनिक व्यवहार में सावधानी का सुन्दर निर्देश है।

※ अन्त में आत्मा से परमात्मा बनने की पराकाष्ठा पर आचारप्रणिधि की पूर्णता बताई गई है।[५]

---

३. (क) तम्हा अप्पसत्थं, पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं। पणिहाणंमि पसत्थे भणिओ आयारपणिहि त्ति ॥३०८ दश. नि.

(ख) दशवै. (संतबालजी) १०१-१०२।

४. दश. नियु. ३।१७।

५. दशवै. अ. ९।२०-२१,६१,२७,६३।

अट्ठमं अज्झयणं : आयारपणिहि

अष्टम अध्ययन : आचार-प्रणिधि

आचार-प्रणिधि की प्राप्ति के पश्चात् कर्त्तव्य-निर्देश की प्रतिज्ञा

[३८९] आयारपणिहिं* लद्धुं जहा कायव्व भिक्खुणा ।
तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

[३८९] आचार-प्रणिधि (आचाररूप उत्कृष्ट निधि) को पाकर, भिक्षु को जिस प्रकार (जो) करना चाहिए, वह (प्रकार) मैं तुम्हें कहूँगा, जिसे तुम अनुक्रम से मुझसे सुनो ॥१॥

विवेचन—आचारप्रणिधि : व्याख्या—प्रणिधि का अर्थ है—उत्कृष्ट निधि, खजाना या कोष अथवा समाधि या एकाग्रता अर्थात् आचार के सर्वात्मना अध्यवसाय या दृढ मानसिक संकल्प या इन्द्रियों और मन को आचार में निहित या प्रवृत्त करना या एकाग्र करना।[1] लद्धुं—प्राप्त कर अथवा पाने के लिए। जिनदासचूर्णि के अनुसार अर्थ है—आचारप्रणिधि की प्राप्ति के लिए।[2]

विभिन्न पहलुओं से विविध जीवों की हिंसा का निषेध

३९०. पुढवि-दग-अगणि-मारुय-तण-रुक्ख* सबीयगा ।
तसा य पाणा जीव त्ति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२॥

३९१. तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया ।
मणसा काय-वक्केण एवं भवइ संजए ॥३॥

३९२. पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे, न संलिहे ।
तिविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए ॥४॥

३९३. सुद्धपुढवीए न निसिए ससरक्खम्मि य आसणे ।
पमज्जित्तु निसीएज्जा +जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥५॥

---

१. (क) दशवै. (पत्राकार, आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ७३०
(ख) आयारप्पणिधी—आयारे सव्वप्पणा अज्झवसातो ।
(घ) दशवै. निर्युक्ति गा. २९९ । —अगस्त्यचूर्णि पृ. १८४
२. (क) लद्धुं—पाविऊण । —अग. चू., पृ. १८४
(ख) लद्धुं—प्राप्तये ।—जिनदासचूर्णि, पृ. २७१

पाठान्तर—*आयारप्पणिहिं ।
पाठान्तर—* रुक्खस्स बीयगा ॥ सया ।
+ जाणित्तु जाइयोग्गहं ।

३९४. सीओदगं न सेवेज्जा सिला वुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए ॥६॥

३९५. उदओल्लं अप्पणो कायं नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं नो णं संघट्टए मुणी ॥७॥

३९६. इंगालं अगणिं अच्चिं अलायं वा सजोइयं।
न उंजेज्जा न घट्टेज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥८॥

३९७. तालियंटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा।
न वीएज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वा वि पोग्गलं ॥९॥

३९८. तणरुक्खं न छिंदेज्जा फलं मूलं व कस्सइ।
आमगं विविहं बीयं मणसा वि न पत्थए ॥१०॥

३९९. गहणेसु न चिट्ठेज्जा बीएसु हरिएसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं उत्तिंग-पणगेसु वा ॥११॥

४००. तसे पाणे न हिंसेज्जा वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु पासेज्ज विविहं जगं ॥१२॥

[३९०] पृथ्वी (-काय), अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय तथा तृण, वृक्ष और बीज (रूप वनस्पतिकाय) [अथवा बीजपर्यन्त तृण, वृक्ष] तथा त्रस प्राणी; ये जीव हैं, ऐसा महर्षि (महावीर) ने कहा है ॥२॥

[३९१] (साधु या साध्वी को) उन (पूर्वोक्त स्थावर-त्रस जीवों) के प्रति मन, वचन और काया से सदा अहिंसामय व्यापारपूर्वक ही रहना चाहिए। इस प्रकार (अहिंसकवृत्ति से रहने वाला) संयत (संयमी) होता है ॥३॥

[३९२] सुसमाहित संयमी (साधु या साध्वी) तीन करण तीन योग से (सचित्त) पृथ्वी, भित्ति (दरार), (सचित्त) शिला अथवा मिट्टी का, ढेले का स्वयं भेदन न करे और न उसे कुरेदे, (दूसरों से भेदन न कराए, न ही कुरेदाए तथा अन्य कोई इनका भेदन करता हो या कुरेदता हो तो उसका अनुमोदन मन-वचन-काया से न करे) ॥४॥

[३९३] (साधु या साध्वी) शुद्ध (अशस्त्रपरिणत-सचित्त) पृथ्वी और सचित्त रज से संसृष्ट (भरे हुए) आसन पर न बैठे। (यदि बैठना हो तो) जिसकी वह भूमि हो, उससे आज्ञा (अवग्रह) मांग कर तथा उसका प्रमार्जन करके (उस अचित्त भूमि पर) बैठे ॥५॥

[३९४] संयमी (साधु या साध्वी) शीत (सचित्त) उदक (जल), ओले, वर्षा के जल और हिम (वर्फ) का सेवन न करे। (आवश्यकता पड़ने पर अच्छी तरह) तपा हुआ (तप्त) गर्म जल तथा प्रासुक (वर्णादिपरिणत धोवन) जल ही ग्रहण करे (और सेवन करे) ॥६॥

[३९५] मुनि सचित्त जल से भीगे हुए अपने शरीर को न तो पोंछे और न ही (हाथों से) मले। तथाभूत (सचित्त जल से भीगे) शरीर को देखकर, उसका (जरा भी) स्पर्श (संघट्टा) न करे ॥७॥

[३९६] मुनि जलते हुए अंगारे, अग्नि, त्रुटित अग्नि की ज्वाला (चिनगारी), ज्योति-सहित अलात (जलती हुई लकड़ी) को न प्रदीप्त करे (सुलगाए); न हिलाए (न परस्पर घर्षण करे या स्पर्श करे) और न उसे बुझाए ॥८॥

[३९७] (साधु या साध्वी) ताड़ के पंखे से, पत्ते से, वृक्ष की शाखा से, अथवा सामान्य पंखे (व्यजन) से अपने शरीर को अथवा बाह्य (गर्म दूध आदि) पुद्गल (पदार्थ) को भी हवा न करे ॥९॥

[३९८] (अहिंसामहाव्रती मुनि) तृण (हरी घास आदि), वृक्ष, (किसी भी वृक्ष के) फल, तथा (किसी भी वनस्पति के) मूल का छेदन न करे, (यही नहीं) विविध प्रकार के सचित्त बीजों (तथा कच्ची अशस्त्रपरिणत वनस्पतियों के सेवन) की मन से भी इच्छा न करे ॥१०॥

[३९९] (मुनि) वनकुंजों में, बीजों पर, हरित (दूब आदि हरी वनस्पति) पर तथा उदक, उत्तिग और पनक (काई) पर खड़ा न रहे ॥११॥

[४००] (मुनि) वचन अथवा कर्म (कार्य) से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। समस्त जीवों की हिंसा से उपरत (साधु या साध्वी) विविध स्वरूप वाले जगत् (प्राणिजगत्) को (विवेकपूर्वक) देखे ॥१२॥

विवेचन—अहिंसा के आचार को जीवन में चरितार्थ करने के उपाय—प्रस्तुत ११ सूत्र-गाथाओं (३९० से ४००) में जीवों के विविध प्रकार और उनकी विविध प्रकार से मन-वचन-काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदन से होने वाली हिंसा से बचने और अहिंसा को साधुजीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में क्रियान्वित करने का निर्देश किया है।

'सबीयगा' आदि शब्दों के विशेषार्थ—सबीयगा—बीजपर्यन्त—जिनदासचूर्णि के अनुसार—**'सबीज'** शब्द के द्वारा वनस्पति के बीजपर्यन्त दस भेदों का ग्रहण किया गया है—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। **अच्छणजोएण**—'क्षण' का अर्थ—हिंसा है। अक्षण, अर्थात्—अहिंसा। 'योग' का अर्थ—सम्बन्ध या व्यापार है। इसका भावार्थ है—अहिंसामय वृत्ति (व्यापार) पूर्वक। **भित्ति : दो अर्थ**—भींत और पर्वतादि की दरार। अथवा नदीतट। अर्थात् नदी के किनारे जो मिट्टी की ऊँची दीवार बन जाती है, वह भित्ति है। **सीओदगं—शीतोदक**—भूमि के आश्रित सचित्त जल। **वुट्ठं—वृष्ट**—वृष्टि का जल, अन्तरिक्ष का जल। **उसिणोदकं तत्तफासुयं**—उष्णोदक—तप्तप्रासुक—उष्ण जल तो तप्त भी होता है और प्रासुक भी, फिर उष्णोदक के साथ तप्त प्रासुक विशेषण लगाने का प्रयोजन यह है कि सारा उष्णोदक तप्त व प्रासुक नहीं होता, किन्तु

पर्याप्त मात्रा में उबल जाने पर ही वह तप्तप्रासुक होता है, इसलिए उष्णोदक के साथ तप्त-प्रासुक विशेषण लगाया गया है। पूर्णमात्रा में उबाला हुआ उष्णोदक ही मुनियों के लिए ग्राह्य है।[3]

इसके अतिरिक्त जिन कुण्डों में पानी स्वाभाविक रूप से गर्म होता है, जैसे राजगृह आदि अनेक स्थलों में ऐसे कुण्ड हैं जिनका पानी बहुत गर्म होता है उसमें चावल आदि भी पक जाते हैं। पर वह गर्म प्रासुक नहीं होगा। उस पानी में उष्णयोनिक जीव होते हैं जिससे उन कुण्डों का उष्ण पानी श्रमण के लिए ग्राह्य नहीं होता, यह प्रकट करने के लिए यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

उदउल्लं-उदकार्द्र—मुनि के शरीर को भीगने के तीन प्रसंग आते हैं—(१) जब वे नदी पार करते हैं, (२) विहार करते समय वर्षा आ जाती है, अथवा (३) भिक्षाटन आदि के समय वर्षा आ जाती है। **'पुंछे' एवं 'संलिहे' में अन्तर**—वस्त्र, तृण आदि से पोंछना प्रोंछन और हाथ, उंगली आदि से पोंछना संलेखन कहलाता है। **बाहिरं पोग्गलं बाह्य पुद्गल**—इसका अर्थ है—अपने शरीर से अतिरिक्त गर्म जल या गर्म दूध, खिचड़ी आदि। **तणरुक्खं**—'तृण' शब्द से यहाँ सभी प्रकार के घासों तथा रुक्ख शब्द से खजूर, ताड़, नारियल, सुपारी आदि सभी प्रकार के वृक्षों एवं गुच्छ, गुल्म आदि का ग्रहण किया गया है। **गहणेसु**—वृक्षों से आच्छन्न प्रदेशों में अर्थात्—वननिकुंजों में। इनमें हलन-चलन करने से वृक्ष की शाखा आदि का स्पर्श होने की संभावना रहती है, इसलिए यहाँ ठहरने का निषेध किया गया है। **उदगम्मि : उदक पर**—उदक शब्द के दो अर्थ होते हैं—जल और उदक नामक वनस्पति। प्रज्ञापना में अनन्तकायिक वनस्पति के प्रकरण में 'उदक' नामक वनस्पति का निरूपण है। जल में होने वाली वनस्पति के कारण इसका नाम 'उदक' है। यह अनन्तकायिक वनस्पति है। **उत्तिंग**—यहाँ उत्तिंग का अर्थ सर्पच्छत्र या कुकुरमुत्ता है, जो बरसात के दिनों में होता है। **ण चिट्ठे**—इसका खड़ा न रहे अर्थ होता है। किन्तु यह शब्द न बैठे, न सोए आदि क्रियाओं का संग्राहक है। **'विविहं—विविध**—अर्थात् हीन, मध्यम और उत्कृष्ट, अथवा कर्मपरतन्त्रता के कारण नरकादि गतियों में उत्पन्न—विभिन्न प्रकार के जीव।[4]

पृथ्वी के भेदन-विलेखन तथा शुद्ध पृथ्वी पर बैठने आदि का निषेध क्यों?—पृथ्वी के भेदन और विलेखन आदि करने से पृथ्वी सचित्त हो तो उसकी और तदाश्रित जीवों की तथा अचित्त हो

---

३. (क) सवीयगहणेण मूलकंदादि-वीजपज्जवसाणस्स पुव्वभणितस्स दसप्पगारस्स वणप्फतिणो गहणं। —जि. चू., पृ. २७४

(ख) छणणं छणः क्षणु हिंसायामिति एयस्स रूवं। ण छणः अछणः, अहिंसणमित्यर्थः। जोगो सम्बंधो। अच्छणेण अहिंसणेण जोगो जस्स सो अच्छणजोगो तेण। —अ. चू., पृ. १८५

(ग) अक्षणयोगेन—अहिंसाव्यापारेण। —हा. टी., प. २२८

(घ) भित्तिमादि णदितडीतो जवोवद्दलिया सा भित्ती भन्नति। सुद्धपुढवी नाम न सत्थोवहता, असत्थोवहयावि जा णो वत्थंतरिया सा सुद्धपुढवी भण्णइ। सीतोदगगहणेण उदयस्स गहणं कयं। —जि. चूर्णि, पृ. २७६

(ङ) वुट्ठं तक्कालवरिसोदगं। —अ. चू. पृ. १८५।

(च) 'तं पुणा उण्होदगं जाहे तत्तफासुयं भवति, ताहे संजतो पडिग्गाहिज्जत्ति। —जि. चू., पृ. २७६

४. (क) नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहतः। उदकार्द्रमुदकविन्दुचितमात्मनः काय शरीरं स्निग्धं वा। —हा. टी., प. २२८

तो भी उसके आश्रित जीवों की हिंसा होती है, इसलिए इसका निषेध है। शुद्ध पृथ्वी के दो अर्थ हैं—(१) शस्त्र से अनुपहत (सचित्त) और (२) शस्त्र से उपहत (अचित्त) सचित्त। पर बैठने आदि से सीधी पृथ्वी-जीव-विराधना होती है और कंबलादि बिछाए विना अचित्त पृथ्वी पर बैठने से शरीर की उष्मा से उसके निम्न भाग में रहे जीवों की विराधना होती है। शरीर भी धूल से लिप्त हो जाता है।[5]

अष्टविध सूक्ष्मजीवों की यतना का निर्देश

४०१. अट्ठ सुहुमाइं पेहाए जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सए हि वा ॥१३॥

४०२. कयराइं अट्ठसुहुमाइं? जाइं पुच्छेज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी आइक्खेज्ज वियक्खणे ॥१४॥

४०३. सिणेहं १ पुप्फसुहुमं २ च पाणुत्तिगं ३-४ तहेव य।
पणगं ५ बीयं ६ हरियं ७ च अंडसुहुमं ८ च अट्ठमं ॥१५॥

४०४. एवमेयाणि जाणित्ता सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्ते जए निच्चं सव्विदियसमाहिए ॥१६॥

[४०१] संयमी (यतनावान् साधु) जिन्हें जान कर (ही वस्तुतः) समस्त जीवों के प्रति दया का अधिकारी बनता है, उन आठ प्रकार के सूक्ष्मों (सूक्ष्म शरीर वाले जीवों) को भलीभांति देखकर ही बैठे, खड़ा हो अथवा सोए ॥१३॥

[४०२-४०३] जिन (सूक्ष्मों) के विषय में संयमी शिष्य पूछे कि वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से हैं? तब मेधावी और विचक्षण (आचार्य या गुरु) कहे कि वे ये हैं—

(ख) तत्थ पुंछणं वत्थेहिं तणादीहिं वा भवइ, संलिहणं जं पाणिणा संलिहिऊण णिच्छोडेइ, एवमादि।
(ग) सरीरवतिरित्तं वा वाहिरं पोग्गलं' बाहिरपोग्गलग्गहणेणं उसिणोदगादीणं गहणं। —जि. चू, पृ. २७७
(घ) तृणानि दर्भादीनि, वृक्षाः कदम्बादयः।
(ङ) गहनेषु वननिकुंजेषु न तिष्ठेत् संघट्टनादिदोषप्रसंगात्। —हारि. वृत्ति, पत्र २२९
(च) तत्थ उदगं नाम अणंतवणप्फई।··· अहवा उदगगहणेण उदगस्स गहणं करेंति, कम्हा? जेण उदएण वणप्फइकाओ अत्थि। —जिन. चूर्णि, पृ. २७७
(छ) जलरुहा अणेगविहा पण्णत्ता, तं.-उदए, अवए, पणए····। —प्रज्ञापना १।४३, पृ. १०५
(ज) उत्तिंगः—सर्पच्छत्रादिः। —हारि. वृत्ति, पत्र २२९
(झ) ण चिट्ठे णिसीदणादि सव्वं ण चेएज्जा। सव्वभूताणि तसकायाधिकारोत्ति सव्वतसा। विविहमणेगागारं हीणमज्झाधिकभावेण। —अ. चू., पृ. १८६
(ञ) विविधं जगत्-कर्मपरतंत्रं नरकादिगतिरूपम्। —हो. टी., पृ. २२९

५. (क) असत्थोवहता सुद्धपुढवी, सत्थोवहता वि कंबलियातीहिं अणंतरिया। —अ. चूर्णि, पृ. १८५
(ख) तत्थ सचित्तपुढवीए गायउण्हाए विराधिज्जइ, अचित्ताए एआए····हेठिल्ला वा तण्णिस्सिता सत्ता उण्हाए विराधिज्जेंति। —जि. चू., पृ. २७५

(१) स्नेहसूक्ष्म, (२) पुष्पसूक्ष्म, (३) प्राणिसूक्ष्म, (४) उत्तिंग (कीड़ीनगर) सूक्ष्म, (५) पनकसूक्ष्म, (६) बीजसूक्ष्म, (७) हरितसूक्ष्म और आठवाँ (८) अण्डसूक्ष्म ।।१४-१५।।

[४०४] सभी इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष रहित संयमी साधु इसी प्रकार इन (आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों) को सर्व प्रकार से जान कर सदा अप्रमत्त रहता हुआ (इनकी) यतना करे ।।१६।।

विवेचन—आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव, उनके उत्पत्ति-स्थान और यतनानिर्देश—प्रस्तुत ४ सूत्र गाथाओं (४०१ से ४०४) में अष्टविध सूक्ष्मों का स्वरूप ज्ञ-परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनकी हिंसा का परित्याग करने तथा उनकी यतना करने का निर्देश किया गया है।

अष्टविध सूक्ष्मों की व्याख्या— (१) **स्नेहसूक्ष्म**—अवश्याय (ओस), हिम (बर्फ), कुहासा (धुंध), ओले और उद्भिद् जलकण, इत्यादि सूक्ष्म जल को स्नेहसूक्ष्म कहते हैं। (२) **पुष्पसूक्ष्म**—बड़ और उम्बर (गूलर) आदि के फूल या उन जैसे वर्ण वाले फूल, जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से सहसा सम्यक्तया दृष्टिगोचर नहीं होते। (३) **प्राण (प्राणी) सूक्ष्म**—अणुद्धरी कुंथुवा आदि सूक्ष्म प्राणी, जो चलने पर ही दिखाई देते हैं, स्थिरावस्था में सूक्ष्म होने से जाने नहीं जा सकते। (४) **उत्तिंगसूक्ष्म**—अर्थात् कीड़ीनगर, जिसमें सूक्ष्म चींटियाँ तथा अन्य सूक्ष्म जीव रहते हैं। (५) **पनकसूक्ष्म**—काई या लीलन-फूलन, यह प्रायः वर्षाऋतु में भूमि, काष्ठ और उपकरण आदि पर उस द्रव्य के समान वर्ण वाली पांच रंग की लीलन-फूलन हो जाया करती है। इसमें भी जीव सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते। (६) **बीजसूक्ष्म**—सरसों, शालि आदि बीजों के अग्रभाग (मुखमूल) पर होने वाली कणिका, जिससे अंकुर उत्पन्न होता है, जिसे लोक में 'तुषमुख' भी कहते हैं। (७) **हरितसूक्ष्म**—तत्काल उत्पन्न होने वाला हरितकाय जो पृथ्वी के समान वर्ण वाला तथा दुर्विज्ञेय (जिसका झटपट पता नहीं लगता, ऐसा)। (८) **अण्डसूक्ष्म**—मधुमक्खी, चींटी, मकड़ी, छिपकली, गिलहरी और गिरगिट आदि के सूक्ष्म अंडे जो स्पष्टतः ज्ञात नहीं होते। ये उपर्युक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं, जिनका ज्ञपरिज्ञा से ज्ञान होने पर ही प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनकी हिंसा का परित्याग करने एवं यतना करने का प्रयत्न किया जाता है। स्थानांग में उत्तिंगसूक्ष्म के बदले लयनसूक्ष्म है, जिसका अर्थ है—जीवों का आश्रयस्थान। दोनों का अर्थ एक है, केवल शब्द में अन्तर है।[६]

सर्वजीवों के प्रति दयाधिकारी कौन और किन गुणों से ? शिष्य के द्वारा किये गए प्रश्न में यह भाव गर्भित है कि जिनके जाने बिना साधक सर्वजीवों के प्रति दया का अधिकारी बन ही नहीं

---

६. (क) सिणेहसुहुमं पंचपगारं, तं-ओसा हिमए महिया करए हरितणुए। पुप्फसुहुमं नाम बड-उंवरादीनि संति पुप्फाणि, तेसिं सरिसवन्नाणि दुव्विभावणिज्जाणि ताणि सुहुमाणि। पाणसुहुमं अणुद्धरी कुंथू जा चलमाणा विभाविज्जइ, थिरा दुव्विभावा। उत्तिंगसुहुमं-कीडिया धरगं, जे वा तन्थ पाणिणो दुव्विभावणिज्जा। पणगसुहुमं नाम पंचवन्नो पणगो वासासु भूमिकट्ट-उवगरणादिसु तद्दव्व समवन्नो पणगसुहुमं। वीयसुहुमं नाम सरिसवादि सालिस्स वा मुहमूले जा कणिया सा बीयसुहुमं। सा य लोगेण उ सुमहुत्ति भण्णई। हरितसुहुमं णाम जो अहुणुट्ठियं पुढविसमाणवण्णं दुव्विभावणिज्चं तं हरियसुहुमं।

—जि. चूर्णि., २७८

(ख) 'उद्दंसंडं महुमच्छिगादीण। कीडिया-अंडगं-पिपीलिया अंडं, उक्कलि अंडंलूयापडागस्से, हलियंडं वंभणिया-अंडगं सरडिअंडगं-हल्लोहल्लि अंडं।' —अग. चू., पृ. १८८

सकता, इसलिए उनका जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनके जानने पर ही साधक के द्वारा प्रत्येक क्रिया करते समय उन जीवों की रक्षा, दया या यतना की जा सकती है।[७]

प्रस्तुत गाथा में त्रस और स्थावर दोनों राशियों में से जो सूक्ष्म शरीर वाले जीव हैं, उनका उल्लेख किया गया है, ताकि दया के अधिकारी अप्रमत्त रह कर उनकी रक्षा या यतना कर सकें।[८]

प्रतिलेखन, परिष्ठापन एवं सर्वक्रियाओं में यतना का निर्देश

४०५. धुवं च पडिलेहेज्जा जोगसा पाय-कंबलं।
सेज्जमुच्चारभूमिं च संथारं अदुवाऽऽसणं ॥१७॥

४०६. उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाण जल्लियं।
फासुयं पडिलेहित्ता परिट्ठावेज्ज संजए ॥१८॥

४०७. पविसित्तु परागारं पाणट्ठा भोयणस्स वा।
जयं चिट्ठे मियं भासे न य रूवेसुमणं करे ॥१९॥

[४०५] (संयमी साधु, साध्वी) सदैव यथासमय मनोयोग (या उपयोगपूर्वक स्वस्थ चित्त से एकाग्रतापूर्वक) पात्र, कम्बल, शय्या (शयनस्थान या उपाश्रय), उच्चारभूमि, संस्तारक (बिछौना) अथवा आसन का प्रतिलेखन करे ॥१७॥

[४०६] संयमी (साधु या साध्वी) उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), कफ, नाक का मैल (लींट) और पसीना (आदि अशुचि पदार्थ डालने के लिए) प्रासुक (निर्जीव) भूमि का प्रतिलेखन करके (तत्पश्चात्) उनका (यतनापूर्वक) परिष्ठापन (उत्सर्ग) करे ॥१८॥

[४०७] पानी के लिए या भोजन के लिए गृहस्थ के (पर) घर में प्रवेश करके साधु (वहाँ) यतना से खड़ा रहे, परिमित बोले और (वहाँ मकान, अन्य वस्तुओं तथा स्त्रियों आदि के) रूप में मन को डांवाडोल न करे ॥१९॥

विवेचन—अप्रमाद के तीन सूत्र—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (४०५ से ४०७) में प्रतिलेखन, परिष्ठापन और क्रियाओं में यतना, इन तीन सूत्रों का आश्रय लेकर अप्रमाद की प्रेरणा दी गई है।

प्रतिलेखनसूत्र—अपने निश्राय में जो भी वस्त्र, पात्रादि उपकरण या मकान आदि हैं, अथवा जहाँ साधु को मल-मूत्रादि का विसर्जन करना हो, उस भूमि का अपने नेत्रों से सूक्ष्म रूप से देखना कि यहाँ 'कोई जीव-जन्तु तो नहीं है।' अगर कोई जीव-जन्तु हो तो उसे किसी प्रकार की

---

७. (क) सव्वभावेण-लिंग-लक्खणभेदविकप्पेणं। अहवा सव्वसभावेण ॥ —अगस्त्य चूर्णि, पृ. १८८
(ख) सर्वभावेन शक्त्यनुरूपेण स्वरूप-संरक्षणादिना। हारि. वृत्ति, पत्र २३०
(ग) सव्वपगारेहिं वण्णसंठाणाईहिं णाऊणं ति, अहवा ण सव्वपरियाएहिं छउमत्थो सक्केइ उवलभिउं, किं पुण जो जस्स विसयो ? तेण सव्वेण भावेण जाणिऊणं ति।

८. (क) दशवै. पत्राकार, (आचार्यश्री आत्माराम जी म) पृ. ७४८, ७५१, ७५३
(ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. १०५

हानि न पहुँचे, इस प्रकार से एक ओर कर देना। इस क्रिया को प्रतिलेखन कहते हैं। शास्त्र में साधु के लिए प्रतिलेखन दो बार (प्रातः, सायं) करने का विधान है।[९]

परिष्ठापनसूत्र—शरीर के विकार मल, मूत्र, लींट, कफ, पसीना, मैल, मैला पानी, भुक्त-शेष अन्न या झूठा पानी आदि को जहाँ-तहाँ डाल देने से जीवों की उत्पत्ति एवं विराधना होनी सम्भव है, इसलिए परिष्ठापनविधि में चार बातों का विवेक रखना जरूरी है—(१) स्नेहसूक्ष्म आदि जीवों का विनाश न हो, (२) परिठाए हुए पदार्थों में जीवोत्पत्ति की सम्भावना न हो, (३) दर्शक लोगों के हृदय में घृणा पैदा न हो और (४) परठाए हुए पदार्थ रोगोत्पत्ति के कारण न हों। साधुओं के लिए स्थंडिलभूमि या उच्चारभूमि निर्जीव, शुद्ध हो, उसे प्रतिलेखन करके यतनापूर्वक मल-मूत्रादि विसर्जन करने का भगवान् ने विधान किया है।[१०]

यतनासूत्र—इसमें चलना-फिरना, खड़े रहना, बैठना, देखना, विचारना, सोना, खाना-पीना आदि सभी क्रियाएँ इस प्रकार से विवेकपूर्वक करना, जिससे किसी भी जीव की हिंसा न हो, आघात या हानि न पहुँचे। यही यतना है।[११] इसका दूसरा नाम उपयोग, जागृति या सावधानी भी है।

धुवं, जोगसा आदि शब्दों के अर्थ—धुवं : दो अर्थ—ध्रुव—निश्चल होकर, (२) अथवा नित्य नियमित रूप से। **जोगसा : चार अर्थ**—(१) मनोयोगपूर्वक, (२) उपयोगपूर्वक, (३) प्रमाणोपेत—न हीन करे न अतिरिक्त और (४) सामर्थ्य होने पर। **सिंघाणं : सिंघाण**—नाक का मैल, लींट। **खेलं-श्लेष्म**—कफ। **जल्लियं : दो अर्थ**—(१) पसीना, अथवा (२) शरीर पर जमा हुआ मैल।[१२]

'जयं चिट्ठे' आदि की व्याख्या—जयं चिट्ठे : शब्दशः अर्थ है—यतनापूर्वक खड़ा रहे। भावार्थ है—गृहस्थ के घर में साधु झरोखा, जलगृह, सन्धि, शौचालय आदि स्थानों को बार-बार देखता हुआ या आँखों, हाथों को इधर-उधर घुमाता हुआ खड़ा न रहे, किन्तु उचित स्थान में एकाग्रतापूर्वक खड़ा रहे। **मियंभासे**—गृहस्थ के पूछने पर मुनि यतना से एक या दो बार बोले, अथवा प्रयोजनवश बहुत

---

९. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्माराम जी म.), पत्राकार, पृ. ७५४
(ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. १०६
(ग) उत्तरा. अ. २६ देखें।

१०. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पत्राकार, पृ. ७५६
(ख) दशवै. (संतवालजी), पृ. १०६

११. दशवै. (संतबालजी) पृ. ३५-३६

१२. (क) 'धुवं णियतं जोगसा जोगसामत्थे सति; अहवा उवउज्जिऊण पुव्विं ति। जोगेण जोगसा ऊणातिरित्त-पडिलेहणा-वज्जितं वा।' —अगस्त्य चू. १८८
(ख) धुवं णाम जो जस्स पच्चुवेक्खणकालो तं तम्मि णिच्चं। जोगसा नाम सति सामत्थे, अहवा जोगसा णाम जं पमाणं भणितं, ततो पमाणाओ ण हीणमहियं वा पडिलेहिज्जा।
(ग) शक्तिपूर्वक (जोगसा) प्रतिलेखन-सम्यक्तया देखना। —दश. आ. आत्मा. पत्राकार, पृ. ७५४
(घ) वही, पत्राकार, पृ. ७५५
(ङ) जल्लियं नाम मलो.। —अ. चू., पृ. १८९

ही संयत शब्दों में उत्तर दे। **'ण य रूवेसु मणं करे'**—भिक्षा के समय आहार देने वाली स्त्रियों, मकान तथा सौन्दर्य प्रसाधक वस्तुओं या अन्य वस्तुओं का रूप, आकृति आदि देख कर यह विचार न करे कि—'अहो ! कितना सुन्दर रूप है।' रूप की तरह शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श में भी मन न लगाए, यानी आसक्त—मोहित न हो। जिस प्रकार रूप का ग्रहण किया है, उसी प्रकार भोज्यपदार्थों के रस आदि के विषय में भी जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु ग्लान, रुग्ण, वृद्ध आदि साधुओं की औषधि के लिए या भोजन-पानी लाने के लिए जाए तो वहाँ गवाक्ष आदि को न देखता हुआ, एकान्त एवं उचित स्थान पर खड़ा हो और अपने आने का प्रयोजन आदि पूछने पर थोड़े शब्दों में ही कहे।[13]

दृष्ट, श्रुत और अनुभूत के कथन में विवेक-निर्देश

४०८. बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥२०॥

४०९. सुयं वा जइ वा दिट्ठं न लवेज्जो व घाइयं।
न य केणइ उवाएणं गिहिजोगं समायरे ॥२१॥

४१०. निट्ठाणं रसनिज्जूढं भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा लाभालाभं न निद्दिसे ॥२२॥

[४०८] भिक्षु कानों से बहुत कुछ सुनता है तथा आँखों से बहुत-से रूप (या दृश्य) देखता है किन्तु सब देखे हुए और सुने हुए को कह देना उचित नहीं ॥२०॥

[४०९] यदि सुनी हुई या देखी हुई (घटना) औपघातिक (उपघात से उत्पन्न हुई या उपघात उत्पन्न करने वाली) हो तो (साधु को किसी के समक्ष) नहीं कहनी चाहिए तथा किसी भी उपाय से गृहस्थोचित (कर्म का) आचरण नहीं करना चाहिए ॥२१॥

[४१०] (किसी के) पूछने पर अथवा विना पूछे भी यह (सब गुणों से युक्त या सुसंस्कृत) सरस (भोजन) है और यह नीरस है, यह (ग्राम या मनुष्य आदि) अच्छा है और यह बुरा (पापी) है, अथवा (आज अमुक व्यक्ति से सरस या नीरस आहार) मिला या न मिला; यह भी न कहे ॥२२॥

विवेचन—साधुवर्ग के लिए भाषाविवेक एवं कर्मविवेक रखना अत्यावश्यक—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (४०८ से ४१० तक) में चार बातों के विवेक की प्रेरणा दी गई है—(१) देखी या सुनी सभी बातें कहने योग्य नहीं, (२) आघात पहुँचाने वाली देखी या सुनी बात न कहे, (३) गृहस्थोचित कर्म न करे, (४) आहार आदि सरस मिला हो या नीरस, किसी के पूछने या न पूछने पर भी न कहे।[14]

---

१३. (क) जिन. चूर्णि, पृ. २८०
(ख) यतं गवाक्षादीन्यनवलोकयन् तिष्ठेदुचितदेशे। —हारि. वृ., पृ. २३१

१४. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ.

देखी-सुनी सभी बातें प्रकट करने में दोष—साधु या साध्वी जब भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के घरों में जाते हैं तो वहाँ अनेक अच्छी-बुरी, नैतिक-अनैतिक, निन्द्य-अनिन्द्य बातें सुनते-देखते हैं। किन्तु स्वपरहित की दृष्टि से वे सभी बातें लोगों के समक्ष कहने योग्य नहीं होतीं। यथा—'आज अमुक घर में लड़ाई हो रही है।' 'आज मैंने अमुक को दुराचार करते देखा।' अथवा 'अमुक स्त्री बहुत रूपवती है या अत्यन्त कुरूपा है।' ऐसी बातें प्रकट करने से अपना कोई हित नहीं होता, न दूसरों का कोई हित होता है। बल्कि जिस व्यक्ति के विषय में ऐसा कहा जाता है, वह साधु का विरोधी या द्वेषी बन सकता है, उसे हानि पहुँचा सकता है। चूर्णिकार ने इस गाथा के समर्थन में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—एक गृहस्थ परस्त्रीगमन कर रहा था। किसी साधु ने उसे ऐसा करते हुए देख लिया। वह लज्जित हो कर सोचने लगा—यदि साधु ने यह बात प्रकट कर दी तो समाज में मेरी बेइज्जती हो जाएगी, अतः इस साधु को मार डालना चाहिए। उसने शीघ्र दौड़कर साधु का मार्ग रोका और पूछा—"आज आपने रास्ते में क्या-क्या देखा ?" साधु ने इसी गाथा से मिलता-जुलता आशय प्रकट किया—"भाई! साधु बहुत-सी बातें देखता-सुनता है, किन्तु देखी-सुनी सभी बातें प्रकट करने की नहीं होतीं।" यह सुनते ही उसने साधु को मारने का विचार छोड़ दिया। अगली गाथा के पूर्वार्द्ध में यही बात कही है कि देखी या सुनी हुई औपघातिक बात भी नहीं कहनी चाहिए। यथा—'मैंने सुना है कि तू चोर है,' अथवा 'मैंने उसे लोगों का धन चुराते देखा है', यह क्रमशः सुना-देखा औपघातिक वचन है। हाँ, जिसके प्रकट करने से स्वपर का हित होता हो, उसे साधु प्रकट कर सकता है।[15]

"गिहिजोगं न समायरे०" : व्याख्या—गिहिजोगं (गृहियोग) का अर्थ है—गृहस्थ का संसर्ग या सम्बन्ध अथवा गृहस्थ का व्यापार (कर्म)। गृहिसम्बन्ध, जैसे—इस लड़की का तूने वैवाहिक सम्बन्ध नहीं किया ? अथवा इसकी सगाई अमुक के लड़के से कर दे। इस लड़के को अमुक कार्य में लगा दे। अथवा गृहस्थ के बालकों को खिलाना उसके व्यापार-धंधे को स्वयं देखना अथवा उसके अन्य गृहस्थोचित कार्य स्वयं करने लगना गृहस्थव्यापार (कर्म) है। यह साधु के लिए अनाचरणीय है। **गिहिणो वेयावडियं**—गृहस्थ की सेवा करना अनाचीर्ण बताया गया है।[16]

'निट्ठाणं' आदि पदों का अर्थ—निट्ठाणं—जो भोजन सर्वगुणों से युक्त हो, अथवा मिर्च-मसाले आदि से सुसंस्कृत हो अर्थात् जो सरस हो। **रसनिज्जूढं : रसनिर्यूढं**—जिसका रस चला गया हो, ऐसा निकृष्ट या नीरस भोजन।[17]

---

१५ (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पत्र ७५९, ७६०
(ख) जिनदासचूर्णि, पृ. २८१,
(ग) दशवै. (आ. आत्मा.) पत्र ७५९

१६. (क) वही, (आ. आत्मा.) ७६०
(ख) गिहिजोगं गिहिसंसग्गि, गिहवावारं वा। —अ. चू. पृ. १९०
(ग) ....अहवा गिहिकम्मं जोगो भण्णइ, तस्स गिहिकम्माणं कयाणं अकयाणं च तत्थ उवेक्खणं सयं वाऽकरणं, जहा—एस दारिया किं न दिज्जइ ?दारको वा किं न निदेसिज्जइ ? एवमादि। —जि. चू पृ. २८१
(घ) गृहियोगं—गृहिसंबंधं-तद्वालग्रहणादिरूपं गृहिव्यापारं वा। —हारि. वृ., पृ. २३१

१७. (क) णिट्ठाणं नाम जं सव्वगुणोववेयं सव्वसंभारसंभियं तं णिट्ठाणं भण्णइ। —जि. चू., पृ. २८१
(ख) रसणिज्जूढं णाम जं कदसणं ववगयरसं तं रसणिज्जूढं भण्णइ। —जि. चू. पृ. २८१

आहार के गुणदोषों का तथा लाभालाभ का कथन-निषेध क्यों ?—ऐसा कहने से साधु के अधैर्य, असंयम आदि दोष प्रकट होते हैं, संयम का विघात होता है, श्रोताओं के मन में नाना शुभाशुभ विकल्प पैदा होते हैं; जिससे भविष्य में साधु के निमित्त से आरम्भ-समारम्भ आदि होने की सम्भावना है।[१८]

रसनेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के विषयों में समत्वसाधना का निर्देश

४११. न य भोयणम्मि गिद्धो चरे उंछं अयंपिरो।
अफासुयं न भुंजेज्जा, कीयमुद्देसियाऽऽहडं ॥२३॥

४१२. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे हवेज्ज जगनिस्सिए ॥२४॥

४१३. लूहवित्ती सुसंतुट्ठे अप्पिच्छे सुहरे सिया।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा, सोच्चाणं जिणसासणं ॥२५॥

४१४. कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं काएण अहियासए ॥२६॥

[४११] (साधु सरस) भोजन में गृद्ध (आसक्त) होकर (विशिष्ट सम्पन्न घरों में) न जाए, (किन्तु) व्यर्थ न बोलता हुआ उञ्छ (ज्ञात-अज्ञात उच्च-नीच-मध्यम सभी घरों से थोड़ी-थोड़ी समानभाव से भिक्षा) ले। (वह) अप्रासुक, क्रीत, औद्देशिक और आहृत (सम्मुख लाये हुए प्रासुक) आहार का भी उपभोग न करे ॥२३॥

[४१२] संयमी (साधु या साध्वी) अणुमात्र भी सन्निधि न करे (संग्रह करके रात्रि में न रखे)। वह सदैव मुधाजीवी असम्बद्ध (अलिप्त) और जनपद (या मानवजगत्) के निश्रित रहे, (एक कुल या एक ग्राम के आश्रित न रहे) ॥२४॥

[४१३] साधु रूक्षवृत्ति, सुसन्तुष्ट, अल्प इच्छा वाला और थोड़े से आहार से तृप्त होने वाला हो। वह जिनप्रवचन (क्रोधविपाकप्रतिपादक जिनवचन) को सुन कर आसुरत्व (क्रोधभाव) को प्राप्त न हो ॥२५॥

[४१४] कानों के लिए सुखकर शब्दों में रागभाव (प्रेम) स्थापन न करे, (तथा) दारुण और कर्कश स्पर्श को शरीर से (समभावपूर्वक) सहन करे ॥२६॥

विवेचन—पंचेन्द्रियविषयों के प्रति मध्यस्थभाव रखे—प्रस्तुत ४ गाथाओं (४११ से ४१४ तक) में रसनेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के विषयों में राग-द्वेष न करके समत्वभाव रखने का प्रतिपादन स्पष्ट है, शेष घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के विषयों में भी समत्वभाव उपलक्षण से फलित होता है।[१९]

---

१८. दशवै. (आ. आत्मारामजी म.), पत्र ७६३

१९. (क) दसवेयालियं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ५७

(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्माराम जी म.), पृ. ७६७, ७६९

'ण य भोयणम्मि गिद्धो…… चरे०' : व्याख्या—भोजन शब्द से यहाँ चारों प्रकार के आहार का ग्रहण किया गया है। भोजन में आसक्त होकर निर्धन कुलों को छोड़ कर उच्च कुलों में प्रवेश न करे। अथवा भोजन के प्रति आसक्त होकर विशिष्टभोजनप्राप्ति के लिए दाता की प्रशंसा करता हुआ भिक्षाचर्या न करे।[२०]

'उञ्छ' शब्द का अर्थ—भावार्थ—गृहस्थ के भोजन कर लेने के बाद शेष रहा भोजन लेना, या घर-घर से थोड़ा-थोड़ा आहार लेना। यह स्वल्प भिक्षा का वाचक शब्द है।[२१]

'सन्निहिं' आदि शब्दों के अर्थ—सन्निधि—शाब्दिक अर्थ है—पास में रखना, जमा या संग्रह करना, भावार्थ है—रातबासी रखना। **मुहाजीवी—मुधाजीवी**—किसी प्रकार मूल्य (बदलने में) लिए बिना निःस्पृहभाव से जीने वाला, अपने जीवननिर्वाह के लिए धन आदि का प्रयोग न करने वाला, अथवा—सर्वथा अनिदान-जीवी, अर्थात्—गृहस्थ का किसी भी प्रकार का सांसारिक कार्य न करके प्रतिबद्धतारहित भिक्षावृत्ति द्वारा संयमी जीवन यापन करने वाला।

असंबद्धे : असम्बद्ध—गृहस्थों से अनुचित या सांसारिक प्रयोजनीय सम्बन्ध न रखने वाला या जल-कमलवत् गृहस्थों से निर्लिप्त अथवा जो सरस आहार में आसक्त-बद्ध न हो। **जगनिस्सिए : जगन्निश्रित : अर्थ और भावार्थ**—शब्दशः अर्थ होता है—जगत् के आश्रित—अखिल मानवजगत् के आश्रित रहे। किन्तु अगस्त्यसिंहचूर्णि के अनुसार भावार्थ है—मुनि एक कुल या ग्राम के निश्रित न रहे, किन्तु जनपद के निश्रित रहे, वर्तमान युग की भाषा में जनाधारित रहे। जिनदासचूर्णि के अनुसार इसका आशय है—मुनि गृहस्थ के यहाँ से जो निर्दोष व सहजभाव में प्राप्त हो, उसी पर आश्रित रहे। मन्त्र-तन्त्रादि दोषयुक्त उपायों के आश्रित न रहे। **लूहवित्ती : रूक्षवृत्ति : दो अर्थ**—(१) रूक्ष—संयम के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला, (२) चना, कोद्रव आदि रूक्ष द्रव्यों से जीविका (जीवननिर्वाह) करने वाला।

सुसंतुट्ठे—सुसन्तुष्ट—रूख-सूखा, वह भी थोड़ा-सा जैसा भी, जितना भी मिल जाता है, उसी में पूर्ण सन्तुष्ट रहने वाला। **सुहरे : सुभर**—थोड़े-से आहार से पेट भर लेने वाला या निर्वाह कर लेने वाला या अल्पाहार से तृप्त होने वाला। **अप्पिच्छे—अल्पेच्छ**—जिसके आहार की जितनी मात्रा हो, उससे कम खाने वाला अल्पेच्छ (अल्प इच्छा वाला)। रूक्षवृत्ति, सुसन्तुष्ट, अल्पेच्छ और सुभर में कार्य-कारण भाव है। ……**आसुरत्तं—आसुरत्व**—क्रोधभाव। असुर क्रोधप्रधान होते हैं, इसलिए आसुर शब्द क्रोध का वाचक हो गया। अक्रोध की शिक्षा के लिए आलम्बन के रूप में अगस्त्यचूर्णि में एक गाथा उद्धृत है, जिसका भावार्थ है—गाली देना, मारना, पीटना, ये कार्य

---

२०. (क) जिन. चूर्णि, पृ. २८१
(ख) हारि. वृत्ति, पृ. २३१

२१. (क) उञ्छः कणश आदानं कणशाद्यर्जनशीलमिति यादवकोशः।
(ख) दशवै. १०।१६, चू. २१५

बालजनों के लिए सुलभ हैं। कोई आदमी भिक्षु को गाली दे तो सोचे—पीटा तो नहीं, पीटे तो सोचे—मारा तो नहीं, मारे तो सोचे—मुझे धर्मभ्रष्ट तो नहीं किया। इस प्रकार क्रोधभाव पर विजय पाए।[२२]

क्षुधा, तृषा आदि परीषहों को समभाव से सहने का उपदेश

४१५. खुहं पिवासं दुस्सेज्जं सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ देहे दुक्खं* महाफलं ॥२७॥

[४१५] क्षुधा, पिपासा (प्यास), दुःशय्या (विषम भूमि पर शयन या अच्छा निवासस्थान न होना), शीत, उष्ण, अरति और भय को (मुनि) अव्यथित (क्षुब्ध न) होकर सहन करे; (क्योंकि) देह में (कर्मजनित उत्पन्न हुए) दुःख (कष्ट) को (समभाव से सहन करना) महाफलरूप होता है ॥ २७ ॥

विवेचन—देहदुःख : महाफलरूप : आशय—व्यथित हुए (झुंझलाए-क्षुब्ध हुए) बिना समभाव से अथवा अदीनभाव से असार शरीर से सम्बन्धित क्षुधादि परीषहों (कष्टों—दुःखों) को सहने से मोक्षरूप महाफल की प्राप्ति होती है। कष्टों के समय मुनि को इस प्रकार धैर्य धारण करना चाहिए—यह शरीर असार है, इसका क्या मोह ? एक न एक दिन यह छूटेगा ही, इससे जो कुछ संवर-निर्जरारूप धर्म कमा लिया जाए, वही अच्छा है। दूसरी दृष्टि से देखें तो देह का दुःख एक प्रकार से इन्द्रियों का संयम है। इन्द्रियों का असंयम, बाह्य दृष्टि से देखते हुए सुखरूप प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में एकान्त दुःख का ही कारण है, जब कि संयम पहलेपहल इन्द्रियों के अभ्यास के कारण दुःखरूप प्रतीत होता है, लेकिन परिणाम में एकान्त सुख का ही कारण है।[२३]

रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध

४१६. अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए ॥२८॥

---

२२. (क) सन्निधी—गुलघयतिल्लादीणं दव्वाणं परिवासणं ति। जिन. चू., पृ. २८२
(ख) जगणिस्सितो इति ण एक्कं कुलं गामं वा णिस्सितो, जणपदमेव।
(ग) अगस्त्यचूर्णि, पृ. १९०-१९१
(घ) मुधाजीवी—मुधा अमुल्लेण तथा जीवति मुधाजीवी, जहा-पढमपिंडेसणाए। —अ. चू., पृ. १९०
मुधाजीवी नाम जं जातिकुलादीहिं आजीवणविसेसेहिं परं न जीवति। —जि. चू., पृ. १९०
(ङ) असंबद्धे णाम जहा पुक्खरपत्तं तोएणं न संबज्झइ एवं गिहीहिं समं असंबद्धेण भवियव्वं ति। जगनिस्सिए णाम तत्थ पत्ताणि लभिस्सामो त्ति काऊण गिहत्थाण णिस्साए विहरेज्जा, न तेहिं समं कुंटलाइं करेज्जा। —जिन. चूर्णि, पृ. २८२
(च) जगन्निश्रितः—चराचर-संरक्षणप्रतिबद्धः। अप्पिच्छो—न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागी। सुभरः स्यादल्पेच्छत्वादेव दुर्भिक्षादाविति फलं प्रत्येकं वा स्यात्। —हारि. वृ., पत्र २३१
(छ) आसुरत्तं—असुराणं एस विसेसेणं ति आसुरो कोहो, तब्भावो आसुरत्तं।
(ज) अगस्त्यचूर्णि, पृ. १९१

२३. दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पत्र ७७०

पाठान्तर—* देह-दुक्खं।

[४१६] सूर्य के अस्त हो जाने पर और (पुनः प्रातःकाल) पूर्व में सूर्य उदय न हो जाए तब तक सब प्रकार के आहारादि पदार्थों (के सेवन) की मन से भी इच्छा न करे ।।२८।।

विवेचन—रात्रिभोजन की मन में भी अभिलाषा न करे : आशय—चौथे अध्ययन में रात्रि-भोजन विरमण को भगवान् ने छठा व्रत बताया है। इसलिए शास्त्रकार ने **'मणसा वि न पत्थए'** कह कर इस व्रत का दृढ़ता से पालन करने का निर्देश किया है। क्योंकि रात्रिभोजनविरमण व्रत के भंग से अहिंसा महाव्रत दूषित हो जाता है। एक महाव्रत के दूषित हो जाने से अन्य महाव्रतों के भी दूषित हो जाने की सम्भावना है।

रात्रिभोजन का त्याग बौद्धधर्म तथा वैदिकधर्म के पुराण (मार्कण्डेयपुराण आदि) में बताया है। आरोग्य के नियम की दृष्टि से भी रात्रिभोजन वर्ज्य है। **आहारमाइयं**—आहारादि सभी पदार्थ।

'अत्थंगयम्मि' आदि पदों का अर्थ—अस्त का अर्थ है—अदृश्य होना, छिप जाना। पुरत्थाए-पुरस्तात्—पूर्व दिशा में अथवा प्रातःकाल।[२४]

क्रोध-लाभ-मान-मद-माया-प्रमादादि का निषेध

४१७. अतिंतिणे अचवले अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते, थोवं लद्धुं न खिसए ।।२९।।

४१८. न बाहिरं परिभवे अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवसि बुद्धिए ।।३०।।

४१९. से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं बीयं तं न समायरे ।।३१।।

४२०. अणायारं परक्कम्म नेव गूहे, न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे असंसत्ते जिइंदिए ।।३२।।

[४१७] (साधु आहार न मिलने या नीरस आहार मिलने पर गुस्से में आकर) तनतनाहट (प्रलाप) न करे, चपलता न करे, अल्पभाषी, मितभोजी और उदर का दमन करने वाला हो। (आहारादि पदार्थ) थोड़ा पाकर (दाता की) निन्दा न करे ।।२९।।

[४१८] साधु अपने से भिन्न किसी जीव का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष भी प्रकट न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि से (उत्कृष्ट होने पर भी) मद न करे ।।३०।।

---

२४. (क) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ७७२

(ख) 'अस्तंगत आदित्ये—अस्तपर्वतं प्राप्ते, अदर्शनीभूते वा। पुरस्ताच्चानुद्गते—प्रत्यूषस्यनुदिते।'
—हारि. वृत्ति, पत्र २३२

(ग) पुरत्था य—पुव्वाए दिसाए। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १९२

[४१९] साधु से जानते हुए या अनजाने (कोई) अधार्मिक कृत्य हो जाए तो तुरन्त उससे अपने आपको रोक ले तथा दूसरी बार वह कार्य न करे ।।३१।।

[४२०] अनाचार का सेवन करके उसे गुरु के समक्ष न छिपाए (गुरु के समक्ष प्रकट करे) और न ही सर्वथा अपलाप (अस्वीकार) करे; किन्तु (प्रायश्चित्त लेकर) सदा पवित्र-(शुद्ध) प्रकट भाव धारण करने वाला (स्पष्ट), असंसक्त (अलिप्त या अनासक्त) एवं जितेन्द्रिय रहे ।।३२।।

विवेचन—आत्मा को क्रोधादि विचारों से दूर रखे—प्रस्तुत चार गाथाओं (४१७ से ४२० तक) में क्रोध, लोभ, गर्व, मद, आस्रव, माया, अपमान, निह्नवता आदि विकारों से आत्मा को दूर रख कर आत्मा को शुद्ध, निष्कपट, पवित्र, स्पष्ट, असंसक्त और जितेन्द्रिय रखने का निर्देश किया गया है ।

'अतिंतिणे' आदि पदों का भावार्थ—अतिंतिणे-अतिंतिण—तेन्दु आदि की लकड़ी को आग में डालने पर जैसे वह 'तिणतिण' शब्द करती है, वैसे ही मनचाहा काय, पदार्थ या आहार न मिलने पर व्यक्ति बकवास (प्रलाप) करता है, उसे भी 'तिंतिण' (तनतनाहट) कहते हैं । जो ऐसा प्रलाप नहीं करता, उसे अतिंतिण' कहते हैं । **अप्पभासी**—कार्य के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही बोलने वाला ।[२५]

मियासणे : दो रूप : दो अर्थ—(१) **मिताशनः**—मितभोजी, और (२) **मितासनः**—भिक्षादि के समय में थोड़े समय तक बैठने वाला । **थोवं लद्धुं न खिसए**—आहारादि थोड़ा पाकर आहारादि की या दाता की निन्दा न करे । **बाहिरं न परिभवे**—बाह्य अर्थात् अपने से भिन्न व्यक्ति का परिभव (तिरस्कार या अनादर) न करे । **अत्ताणं न समुक्कसे**—अपनी उत्कृष्टता की डींग न हांके । **सुयलाभे······बुद्धिए**—श्रुत आदि का मद न करे, श्रुतादि के मद की तरह मैं कुलसम्पन्न हूँ, बलसम्पन्न हूँ या रूपसम्पन्न हूँ, ऐसा कुल, बल और रूप का मद भी न करे । श्रुतमद यथा—मैं बहुश्रुत हूँ, मेरे समान कौन विद्वान् या बहुश्रुत है । लाभमद, यथा—मुझे जितना और जैसा आहार प्राप्त होता है, वैसा किसे होता है ? अथवा लब्धिमद—लब्धि में मेरे समान कौन है ? जाति, तप और बुद्धि के मद के विषय में भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए ।[२६]

निन्दा : आत्मशुद्धि में भयंकर बाधक—साधु को आहार थोड़ा या नीरस मिले या न मिले तो वह क्षेत्र की, दाता की या पदार्थ की निन्दा न करे, न ही व्यर्थ बकवास करे, वह चंचलता को छोड़ कर स्थिरचित्त रहे, अत्यन्त आवश्यक हो वहाँ थोड़ा-सा बोले । प्रमाण से अधिक आहार न करे । साधु को अपने उदर पर काबू रखना चाहिए । मितभोजी की स्वाध्याय, ध्यान आदि चर्याएँ ठीक हो सकती हैं । बहुभोजी स्वल्प आहार मिलने पर गृहस्थ के आगे यद्वा-तद्वा बकता है, निन्दा

---

२५. (क) अगस्त्यचूर्णि, पृ. १९२
(ख) हारि. वृत्ति, पत्र २३३

२६. (क) जिन. चूर्णि, २८४
(ख) हारि. वृत्ति, पृ. २३३

करता है। परन्तु सच्चा साधु गृहस्थ की, पदार्थ की या ग्राम की निन्दा नहीं करता, वह सन्तोष धारण कर लेता है कि गृहस्थ की चीज है, वह दे या न दे, उसकी इच्छा है।[२७]

मद : आत्मविकास में सर्वाधिक बाधक—जब मनुष्य अपनी थोथी बड़ाई हांकता है, अपने को उत्कृष्ट बताता है, तब वह प्रायः दूसरों की निन्दा करता है। दूसरों को नीच, निकृष्ट या पापी बताकर उनका तिरस्कार करता है। अपनी जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत, ऐश्वर्य आदि का मद (घमंड) करके अपना ही आत्मविकास रोकता है। चिकने कर्मों का बन्ध करके आत्मा पर अशुद्धि का आवरण डालता है। मद आते ही आत्मा पतन की ओर बढ़ती चली जाती है। मोक्ष-द्वार के निकट पहुँचे हुए बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी भी अष्टफन मदरूपी सर्प के चक्कर में पड़ कर संसारसागर में भटक जाते हैं। अहंकारी साधु साधुत्व, सम्यक्त्वी, सम्यग्ज्ञानी या श्रमणधर्मी होने का दावा नहीं कर सकता। इसलिए मद के दुर्गुण को छोड़ कर ही आत्मा निर्विकार हो सकती है।[२८]

आत्मशुद्धि में बाधक : माया—माया, क्रोध, लोभ और मद से भी बढ़ कर भयंकर है, दुर्गुणों की खान है, सत्यमहाव्रत को भस्म करने वाली ज्वाला है। यह कई रूपों में साधु या साध्वी के जीवन में आती है। अधर्म या अनाचरणीय का आचरण केवल अज्ञान में ही नहीं होता, किन्तु यदा-कदा ज्ञानपूर्वक भी होता है। जानबूझ कर भी कई बार मनुष्य अधार्मिक कृत्य कर बैठता है। इसका कारण है—मोह। मोह के उदयवश राग और द्वेष से ग्रस्त मुनि जानता हुआ भी मूलगुण या उत्तर-गुण में दोष लगाता है, कभी अज्ञानवश कल्प्य-अकल्प्य, करणीय-अकरणीय का ज्ञान न होने से अकल्प्य या अकरणीय कर बैठता है। शास्त्रकार गाथा ४१९ में कहते हैं कि अधार्मिक कृत्य हो गया हो तो उसे तुरन्त वहीं रोक देना चाहिए अन्यथा मायाग्रस्त होकर साधक की आत्मा अशुद्ध हो जाएगी।

अगली गाथा ४२० में कहते हैं कि यदि कोई भी अधर्मकृत्य-अनाचरणीय कृत्य हो गया तो उसे छिपाओ मत। जो दोष करके गुरु के समक्ष छिपाता है या पूछने पर अस्वीकार करता है वह पाप पर और अधिक पाप चढ़ाता जाता है। यदि आलोचना और प्रायश्चित्त आदि से उस कृत पाप की शुद्धि न की गई तो फिर अनुबन्ध पड़ जाएगा, जिसका फल चातुर्गतिक दुःखमय संसार में परिभ्रमण करके भोगना पड़ेगा। अतः भूल या अपराध होते ही तुरन्त गुरुजन के समक्ष आलोचना करके कुछ भी छिपाए बिना, जैसा और जितनी मात्रा में, जिस भाव से दोष लगा है, उसे प्रकट कर दे और गुरु से प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाए। इसीलिए साधक के विशेषण ४२० वीं गाथा में बताए हैं—**सुई सया वियडभावे०** अर्थात्—वह साधक सदा पवित्र, स्पष्ट, अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।[२९]

'अणायारं' इत्यादि पदों के विशेषार्थ—अणायारं—अनाचार अर्थात्—सावद्यकृत्य, अनाचरणीय-अकरणीय। **परक्कम्म**—सेवन करके। **नेव गूहे न निन्हवे**—यहाँ दो शब्द हैं, दोनों माया के पर्याय हैं—

२७. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्र ७७४

२८. वही, पत्र ७७५

२९. (क) ""तेण साहुणा जाहे जाणमाणेण रागद्दोसवसएण मूलगुण-उत्तरगुणाण अण्णतरं आधम्मियं पयं पडिसेवियं भवइ, अजाणमाणेण वा अकप्पियबुद्धीए पडिसेवियं होज्जा।

—जिन. चूर्णि, पृ. २८४-२८५

(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पत्र ७७७

गूहन का अर्थ है—पूरी बात न कहना, थोड़ी कहना और थोड़ी छिपाना, तथा निह्नव का अर्थ है—सर्वथा अपलाप—अस्वीकार करना। **सुई-शुचि**—अकलुषितमति, पवित्रात्मा, **वियडभाव—विकटभाव**—जिसके भाव (विचार) प्रकट—स्पष्ट हों, वह। शुचि (पवित्र) वही होता है, जो सदा स्पष्ट रहता है।[३०]

वीर्याचार की आराधना के विविध पहलू

४२१. अमोहं वयणं कुज्जा आयरियस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए ॥३३॥

४२२. अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमियमप्पणो ॥३४॥

[बलं थामं च पेहाए सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विण्णाय तहऽप्पाणं निजुंजए॥ ॥]

४२३. जरा जाव न पीलेई, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥३५॥

[४२१] मुनि महान् आत्मा आचार्य के वचन को सफल (अमोघ) करे। वह उनके (आचार्य के) कथन को ('एवमस्तु', इस प्रकार) वाणी से भलीभाँति ग्रहण करके कर्म से (कार्य द्वारा) सम्पन्न करे ॥३३॥

[४२२] (मुमुक्षु साधक) अपने जीवन को अध्रुव (अस्थिर या अनित्य) और आयुष्य को परिमित जान तथा सिद्धिमार्ग का विशेषरूप से ज्ञान प्राप्त करके भोगों से निवृत्त हो जाए ॥३४॥

[अपने बल (मनोबल या इन्द्रियों की शक्ति), शारीरिक शक्ति (पराक्रम), श्रद्धा और आरोग्य (स्वास्थ्य) को देख कर तथा क्षेत्र और काल को जान कर, अपनी आत्मा को (उचित रूप से) धर्मकार्य में नियोजित करे ॥]

[४२३] जब तक वृद्धावस्था (जरा) पीड़ित न करे, जब तक व्याधि न बढ़े और जब तक इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का सम्यक् आचरण कर लो ॥ ३६ ॥

विवेचन—आत्मा का शुद्ध पराक्रम—प्रस्तुत ४ गाथाओं (४२१-४२३ तक) में आत्मा को पराक्रम करने के तीन साधनों (मन, वचन, काय) से अपने अनित्य जीवन को भोगों से मोड़कर

---

३०. (क) अणायारं अकरणीयं वत्थुं। —अ. चू., पृ. १९३
(ख) गूहनं-किंचित् कथनम्, निह्नव एकान्तापलापः।
(ग) गूहणं किंचि कहणं भण्णइ। णिण्हवो णाम पुच्छिओ संतो सव्वहा अवलवइ। सो चेव सुई, जो सया वियडभावो। —जि. चू., पृ. २८५

※ यह गाथा कुछ प्रतियों में मिलती है, कुछ में नहीं मिलती। —सं.

श्रद्धा, स्वास्थ्य आदि देख कर, जरा-व्याधि-इन्द्रियक्षीणता की परिस्थिति आए उससे पहले-पहले ही धर्माचरण में पराक्रम कर लेने का निर्देश किया है।

गुरु की दी हुई शिक्षा कार्यरूप में परिणत करे—गा. ४२१ में गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनयव्यवहार आवश्यक बताया है। बहुत से साधक आचार्य या गुरु की शिक्षा केवल वचन से स्वीकार करते हैं, उसे आचरण में नहीं लाते। परन्तु गुरु या आचार्य द्वारा दी गई शिक्षा क्रियान्वित न हो तो उसका यथार्थ लाभ नहीं होता। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा गया है[32] **"तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए।" भोगों से निवृत्त होकर मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करे**—गा. ४२२ का फलितार्थ यही है कि साधक के सामने भोग और मोक्ष दोनों हैं। भोग अस्थिर हैं, जबकि मोक्ष स्थिर और यह निश्चित है कि जीवन अनित्य है, कब समाप्त हो जाएगा, कुछ भी पता नहीं। इस स्वल्पतर आयुष्य वाले जीवन को भोगों से सर्वथा मोड़ कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता। अतः फिर ऐसा अवसर और यह जन्म मिलना दुर्लभ है।[33]

बल आदि देख कर आत्मा को धर्माचरणपुरुषार्थ में लगाए—मनोबल, तनबल, श्रद्धा, स्वास्थ्य तथा क्षेत्र, काल आदि का सम्यक् विचार करने के पश्चात् यदि ये सब ठीक स्थिति में हों तो धर्माचरण में इन्हें लगाने में क्षण भर भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये सब साधन या निमित्त बार-बार नहीं मिलते, जब साधक को ये अनायास ही प्राप्त हुए हैं तो अपनी भक्ति और क्षमता का उपयोग धर्माचरण में करना चाहिए।[34]

फिर धर्माचरण होना कठिन है—शास्त्रकार ४२३ वीं गाथा में चेतावनी के स्वर में कहते हैं कि शरीर धर्म का सर्वोत्तम साधन है, वह स्वस्थ हो तभी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध धर्म का पालन हो सकता है। बचपन, बुढापा, बीमारी या इन्द्रियक्षीणता में उसका पालन होना दुष्कर है, अतः युवावस्था एवं स्वस्थता में ही धर्माचरण कर लेना चाहिए। यदि अनुकूल परिस्थिति में धर्माचरण न किया तो फिर मोक्षमार्ग पर चलना दुष्कर होगा। अतः धर्माचरण में इसी क्षण से पुरुषार्थ करो।[35]

कषाय से हानि और इनके त्याग की प्रेरणा—

४२४. कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो॥ ३६॥
४२५. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥ ३७॥

---

३१. दशवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त)
३२. दशवै. (संतबालजी), पृ. १०९
३३. भोगेभ्यो-बन्धैकहेतुभ्यः। —हारि. वृत्ति, पत्र २३३
३४. (क) वही, प. ७८३ (ख) दशवै (संत.), पृ. १०९
३५. दशवै. (आ. आत्मा.), पृ. ७८५

४२६. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥ ३८ ॥

४२७. कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ ३९ ॥

[४२४] क्रोध, मान, माया और लोभ, (ये चारों) पाप को बढ़ाने वाले हैं। (अतः) आत्मा का हित चाहने वाला (साधक) इन चारों दोषों का अवश्यमेव वमन (परित्याग) कर दे ॥ ३६ ॥

[४२५] क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाशक है; माया मित्रता का नाश करती है और लोभ तो सब (प्रीति, विनय, मैत्री आदि सब गुणों) का नाश करने वाला है ॥ ३७ ॥

[४२६] क्रोध का हनन 'उपशम' से करे, मान को मृदुता से जीते, माया को सरलता (ऋजु-भाव) से जीते और लोभ पर संतोष के द्वारा विजय प्राप्त करे ॥३८ ॥

[४२७] अनिगृहीत क्रोध और मान तथा प्रवर्द्धमान माया और लोभ, ये चारों संक्लिष्ट (या कृष्ण—काले या समस्त) कषाय पुनर्जन्म की जड़ें सींचते हैं ॥ ३९ ॥

विवेचन—कषायों पर विजय—प्रस्तुत ४ गाथाओं (४२४ से ४२७) में कषायों के नाम, उनसे होने वाली हानि, उन पर विजय पाने के उपाय का और चारों कषायों का निग्रह न करने और इन्हें बढ़ने देने से संसारवृक्ष की जड़ों को अधिकाधिक सींचे जाने का प्रतिपादन किया गया है।

कषाय : हानि और विजयोपाय—कषाय मुख्यतया चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। फिर इनके तीव्रता-मन्दता आदि की अपेक्षा से १६ भेद तथा हास्यादि नौ नोकषाय मिलकर कुल २५ भेद हो जाते हैं। इनसे रागद्वेष का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से पापकर्म का बन्ध होता रहता है और पापकर्म की वृद्धि से आत्मगुणों का घात होता है। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मैत्री का और लोभ से सर्वगुणों का नाश हो जाता है। इन चारों कषायों को वश में न करने से केवल इहलौकिक हानि ही नहीं होती, पारलौकिक हानि भी बहुत होती है। वर्तमान और आगामी अनेक जन्म (जीवन) नष्ट हो जाते हैं, अनेक बार जन्म-मरण करते रहने पर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का लाभ नहीं मिलता। क्रोधादि कषायों पर विजय का शास्त्रीय अर्थ है—अनुदित क्रोध आदि का निरोध और उदयप्राप्त का विफलीकरण करना। क्रोधादि पर विजय के क्रमशः उपाय ये हैं—क्रोध को उपशम अर्थात् क्षमा, सहिष्णुता या शान्ति धारण करके वश में किया जा सकता है। मान पर नम्रता, विनय तथा मृदुता से, माया पर ऋजुता—सरलता एवं निश्छलता से और लोभ पर संतोष, आत्मतृप्ति, निःस्पृहा तथा इच्छाओं के निरोध से विजय प्राप्त की जा सकती है।[३७]

क्रोधादि कषायों से आत्महित का नाश : कैसे? वस्तुतः आध्यात्मिक दोष जितने अंशों में नष्ट होते हैं, उतने ही अंशों में आत्मिक गुणों (ज्ञानादि) की उन्नति और वृद्धि होती है। समस्त

---

३७. जिनदासचूर्णि, पृ. २८६, हारि. वृत्ति, पत्र २३४

आध्यात्मिक दोषों के मूल ये चार कषाय हैं। इनसे आत्मिक गुणों की हानि होती है। चार घाती कर्मों—विशेषत: पापकर्मों की वृद्धि होती है। प्रीति अर्थात्—आत्मौपम्यभाव या वत्सलता जीवन की सुधा है। विनय जीवन की रसिकता है और मित्रता जीवन का मधुर अवलम्बन है तथा आत्म-संतुष्टि जीवन की शान्ति है, आनन्द है। क्रोधादि चारों कषायों से जीवन की सुधा, रसिकता, अवलम्बन और आनन्द (शान्ति) का नाश हो जाता है। आत्मगुणों का ह्रास हो जाता है। चेतन मोहग्रस्तता के कारण जडवत् बन जाता है। यह आत्महित का सर्वनाश है। अतः आत्महितैषी साधु-साध्वी के लिए कषाय सर्वथा त्याज्य है।[३८]

लोभो सव्वविणासणो—लोभ से प्रीति आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—लोभ के वशीभूत होकर पुत्र मृदुस्वभाव एवं मानवतापरायण पिता से रुष्ट हो जाता है, सम्बन्ध तोड़ लेता है, क्रोधान्ध होकर दुर्वचन बोलता है, यह प्रीति का नाश है। पुत्र को धन का भाग नहीं मिलता है तो उद्धत होकर पिता के सामने अविनयपूर्वक बोलता है, गालीगलौज करता है, उनको कुछ नहीं समझता, भाग लेने को कटिबद्ध हो जाता है, यह विनय का नाश है और कपटपूर्वक येन-केन-प्रकारेण धन ले लेता है, पूछने पर छिपाता है, छलकपट से विश्वास उठ जाता है, इस प्रकार मित्रभाव नष्ट हो जाता है। यह लोभ की सर्वगुणनाशक वृत्ति है।[३९]

कसिणा कसाया : व्याख्या—'कसिणा' शब्द के संस्कृत में दो रूप होते हैं—कृत्स्न (सम्पूर्ण) और कृष्ण (काला)। यद्यपि कृष्ण का प्रधान अर्थ काला रंग है, किन्तु मन के दुर्विचारों से ये चारों कषाय आत्मा को मलीन करने वाले हैं। इसलिए कृष्ण का अर्थ संक्लिष्ट किया गया है। दुष्ट विचार आत्मा को अन्धकार में ले जाते हैं, भावतिमिरवश आत्मा संक्लेश पाता है।[४०]

कषाय : व्याख्या—कषाय जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसके अनेक अर्थ हैं। प्राचीन व्याख्या इस प्रकार है—कष अर्थात् संसार—जन्ममरण का चक्र। उसकी आय अर्थात् लाभ जिससे हो, वह कषाय है। कषायवश आत्मा अनेक बार जन्म-मरण करता है, संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए कहा है—**'सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स'**, अर्थात् कषाय पुन: पुन: जन्म-मरणरूप संसारवृक्ष की जड़ों को सींचते रहते हैं। कषाय के क्रोध आदि ४ प्रकार के गाढ रंग हैं, जिनसे आत्मा रंजित होता है, कषायों के गाढ रंग के लेप से आत्मा कर्मरज से लिप्त-श्लिष्ट हो जाता है। अर्थात्—इनके लेप से आत्मा पर कर्मपरमाणु चिपक जाते हैं। क्रोधादि कषाय के रंगरस से भीगे हुए आत्मा पर कर्म-परमाणु चिपकते हैं, दीर्घकाल तक रहते हैं। यह कषाय शब्द का दार्शनिक विश्लेषण है।[४१]

---

३८. दशवै. (संतबालजी), पृ. १११

३९. जिनदासचूर्णि, पृ. २८६

४०. (क) कृत्स्नाः सम्पूर्णाः कृष्णा वा क्लिष्टाः। —हारि. वृत्ति, पत्र २३४
(ख) अहवा संकिलिट्ठा कसिणा भवन्ति। जिन. चूर्णि, पृ. २८६

४१ वही, पृ. ४०३

रत्नाधिकों के प्रति विनय और तप-संयम में पराक्रम की प्रेरणा

४२८. राइणिएसु विणयं पउंजे, धुवसीलयं सययं न हावएज्जा।
कुम्मोव्व अल्लीण-पलीणगुत्तो, परक्कमेज्जा तवसंजमम्मि ॥ ४० ॥

[४२८] (साधु) रत्नाधिकों (दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति विनय का प्रयोग करे। ध्रुवशीलता का कदापि त्याग न करे। कछुए की तरह आलीनगुप्त और प्रलीनगुप्त होकर तप-संयम में पराक्रम करे ॥ ४० ॥

विवेचन—विनय, शील, तप और संयम में पुरुषार्थ—प्रस्तुत गाथा में साधु को संयमादि में पराक्रम करने का निर्देश किया गया है।

रात्निकों के प्रति विनय का प्रयोग—शास्त्रों में 'रायणिय' 'राइणिय' दोनों शब्द मिलते हैं, जिनका संस्कृतरूप 'रात्निक' होता है। रात्निक की परिभाषाएँ दशवैकालिकसूत्र के व्याख्याकारों ने की हैं—(१) हारिभद्रीय वृत्ति के अनुसार—चिरदीक्षित अथवा जो ज्ञानादि भावरत्नों से अधिक समृद्ध हों वे। (२) जिनदासचूर्णि के अनुसार—पूर्वदीक्षित अथवा सद्भाव (तत्त्वज्ञान) के उपदेशक। (३) अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—आचार्य, उपाध्याय आदि समस्त साधुगण, जो अपने से पूर्व प्रव्रजित हुए हों, अर्थात्—दीक्षापर्याय में जो ज्येष्ठ हों। सब का आशय यही है कि दीक्षाज्येष्ठ एवं ज्ञानवृद्ध रात्निकों या गुरुजनों के प्रति मन-वचन-काय से विनय-भक्ति करनी चाहिए।[४२]

ध्रुवशीलता : व्याख्या—ध्रुवसीलयं० इस पंक्ति का शब्दशः अर्थ होता है—साधु सतत ध्रुवशीलता को न त्यागे। किन्तु वृत्तिकार और चूर्णिकार ने ध्रुवशीलता का अर्थ—'अष्टादशसहस्र-शीलांग-रथ' किया है। इसके लिए जैनवाङ्मय में प्रसिद्ध एक गाथा है—

जे णो करंति मणसा, णिज्जिअ-आहारसन्ना सोइंदिए।
पुढविकायारंभं खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे ॥

इसमें तीन करण, तीन योग, चार संज्ञा, पांच इन्द्रिय, पृथ्वीकायादि ५ स्थावर, ३ विकलेन्द्रिय और १ पंचेन्द्रिय, इन नौ प्रकार के जीवों का तथा अजीव का आरम्भ तथा दशविध श्रमणधर्म (क्षांति आदि) का संकेत है। क्षान्ति आदि १० श्रमणधर्म ध्रुवशील हैं। उनका दशविध जीव आदि के साथ क्रमशः संयोग एवं गुणाकार करने से १८००० भेद होते हैं। उसका रेखाचित्र अग्रिम पृष्ठानुसार है—[४३]

गणना-विधिः—दस प्रकार के श्रमणधर्म को दशविध जीव के साथ गुणा करने से १०० भेद हुए, इन १०० भेदों को श्रोत्रेन्द्रिय आदि प्रत्येक इन्द्रिय के साथ गुणा करने पर १००×५=५०० भेद हुए। इन ५०० को चार संज्ञाओं के साथ गुणा करने से २००० भेद हुए, इनको मन, वचन और काया से गुणा करने पर ६००० भेद हुए। इन्हें कृत, कारित और अनुमोदन

---

४२. 'रातिणिया-पुव्वदिक्खिता आयरियोवज्झायादिसु सव्वसाधुसु वा अप्पणतो पढमपव्वतियेसु।'
—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १९५

४३. 'धुवसीलयं णाम अट्ठारससीलंगसहस्साणि।' —जि. चू., पृ. २८७ —हारि. वृत्ति, पत्र २३५

से गुणा करने पर १८००० भेद शीलांगरथ के हुए। साधु इस शीलांगरथ पर सतत आरूढ़ रहे। कितना भी संकट, भय या प्रलोभन आए, इसे न छोड़े।

जे णो करंति ६०००	जे णो कारयंति ६०००	जे णो समणुजाणंति ६०००
मणसा २०००	वयसा २०००	कायसा २०००

णिज्जिय आहारसंज्ञा ५००	णिज्जिय भयसंज्ञा ५००	णिज्जिय मैथुनसंज्ञा ५००	णिज्जिय परिग्रहसंज्ञा ५००

श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शेन्द्रिय १००

पृथ्वी १०	अप् १०	तेज १०	वायु १०	वनस्पति १०	द्वीन्द्रिय १०	त्रीन्द्रिय १०	चतुरिन्द्रिय १०	पंचेन्द्रिय १०	अजीवारंभ १०
क्षान्ति १	मुक्ति (निर्लोभता) २	आर्जव ३	मार्दव ४	लाघव ५	सत्य ६	संयम ७	तप ८	ब्रह्मचर्य ९	आकिंचन्य १०

कुम्मोव्व अल्लीन-पलीणगुत्तो : व्याख्या—इस पंक्ति का अर्थ स्पष्ट है। भावार्थ यह है—कच्छप की तरह कायचेष्टाओं का निरोध करे। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—गुप्त शब्द का आलीन और प्रलीन दोनों के साथ सम्बन्ध होने से, अर्थ हुआ—कूर्म की तरह साधु आलीनगुप्त और प्रलीनगुप्त रहे। अर्थात्—कूर्मवत् कायचेष्टा का निरोध करे (आलीनगुप्त रहे) और कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक शारीरिक प्रवृत्ति करे। (प्रलीनगुप्त रहे)। जिनदासचूर्णि के अनुसार—आलीन का अर्थ है—थोड़ा लीन और प्रलीन का अर्थ—विशेष लीन। अर्थात् जिस प्रकार कूर्म अपने अंगों को गुप्त (संकोच कर सुरक्षित) रखता है और आवश्यकता पड़ने पर धीरे से उन्हें पसारता है, उसी प्रकार श्रमण भी आलीन-प्रलीनगुप्त रहे।[४४]

---

४४. (क) अ. चू., पृ. १९५
(ख) जिन. चूर्णि, पृ. २८७

प्रमादरहित होकर ज्ञानाचार में संलग्न रहने की प्रेरणा

४२९. निद्दं च न बहु मन्नेज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया ॥ ४१ ॥

४३०. जोगं च समणधम्मम्मि जुंजे अणलसो धुवं।
जुत्तो य समणधम्मम्मि अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥ ४२ ॥

४३१. इहलोग-पारत्तहियं जेणं गच्छइ सोग्गइं।
बहुसुयं पज्जुवासेज्जा, पुच्छेज्जऽत्थविणिच्छयं ॥ ४३ ॥

[४२९] साधु निद्रा को बहुमान न दे। अत्यन्त हास्य को भी वर्जित करे, पारस्परिक विकथाओं में रमण न करे, (किन्तु) सदा स्वाध्याय में रत रहे ॥ ४१ ॥

[४३०] साधु आलस्यरहित होकर श्रमणधर्म में योगों (मन-वचन-काया के व्यापार) को सदैव (यथोचितरूप से) नियुक्त (संलग्न) करे; क्योंकि श्रमणधर्म में संलग्न (जुटा हुआ) साधु अनुत्तर (सर्वोत्तम) अर्थ (पुरुषार्थ-मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥४२॥

[४३१] जिस (सम्यग्ज्ञान) के द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है (मृत्यु के पश्चात्) सुगति प्राप्त होती है। (उस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए) वह बहुश्रुत (मुनि) की पर्युपासना करे और (शास्त्रीय पाठ के) अर्थ के विनिश्चय के लिए पृच्छा करे ॥४३॥

विवेचन—स्वाध्याय, श्रमणधर्म और सम्यग्ज्ञान में अहर्निश रत रहने की प्रेरणा—प्रस्तुत तीन गाथाओं (४२९ से ४३१ तक) में साधक को निद्रा, हास्य, आलस्य, विकथा, आदि प्रमाद से दूर रह कर अहर्निश स्वाध्याय, श्रमणधर्म के पालन एवं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए यथोचित पुरुषार्थरत रहने की प्रेरणा दी गई है।

स्वाध्याय आदि में रत रहने के लिए प्रमादत्याग आवश्यक—साधु को अपना समय एवं शक्ति को सार्थक करने के लिए सदैव स्वाध्यायरत या श्रमणधर्मरत रहना चाहिए। इसके लिए उसे प्रमाद के इन तीन अंगों से सर्वथा दूर रहना चाहिए—अत्यधिक निद्रा से, सामूहिक परस्पर हास्य से और स्त्री आदि की विकथा से।[४५]

निद्दं च न बहु मन्नेज्जा : व्याख्या—निद्रा को बहुमान न दे अर्थात्—निद्रा का सत्कार न करे, प्रकामशायी न हो तथा जिस प्रकार निद्रा अधिक आए, ऐसे उपाय न करे। सूत्रकृतांग में बताया गया है कि 'शयनकाल में सोए।' निद्रा का हेतु केवल श्रम-निवारण है, परन्तु वही जब शौक की वस्तु हो जाए तो संयम में हानि पहुंचती है।[४६]

---

४५. दशवैकालिक (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ७९४

४६. (क) वही, पृ. ७९४
(ख) "निद्रां च न बहु मन्येत'—न प्रकामशायी स्यात्।" —हारि. वृत्ति, पत्र २३५
(ग) दशवै. (संतबालजी) पृ. ११२

सप्पहासं विवज्जए : दो रूप : दो अर्थ (१) संप्रहास—समुदित रूप से होने वाला सशब्द हास्य, (२) **सप्रहास**—अट्टहास अथवा अत्यन्त हास्य। साधु को अत्यन्त हँसना भी नहीं चाहिए, क्योंकि इससे अविनय और असभ्यता प्रकट होती है, घोर कर्मबन्धन होता है, किसी समय हँसी-मजाक से कलह उत्पन्न होने की सम्भावना है। हँसी-मजाक करने की आदत स्वयं को तथा दूसरे को दुःख उत्पन्न कराती है।[४७]

'मिहो कहाहिं न रमे'—परस्पर विकथाओं में लीन न हो। विकथाएँ चार हैं—स्त्रीविकथा, भक्तविकथा, राजविकथा और देशविकथा। रहस्यमयी कथाएँ, फिर वे स्त्री-सम्बन्धी हों या अन्य भक्तदेशादि-सम्बन्धी हों, मिथःकथा हैं। विकथा व्यर्थ की गप्पें हांकना, गपशप करना है। विकथाओं में साधक का अमूल्य समय नष्ट होता है, विकथा के शौक में पड़ जाने से साधक अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, ज्ञानादि की उपलब्धि से वंचित हो जाता है।[४८]

सज्झायम्मि रओ सया : व्याख्या—स्वाध्याय के दो अर्थ मुख्य हैं—(१) सुष्ठु अध्ययन अर्थात् विधिपूर्वक अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन। (२) शास्त्रों एवं ग्रन्थों के वाचन से स्व (अपने जीवन का) अध्ययन। साधु को सदैव स्वाध्याय तप में रत रहना चाहिए; क्योंकि इससे ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है, समय समाधिपूर्वक व्यतीत होता है, धर्मपालन में दृढ़ता आती है।[४९]

'प्रमादत्याग का द्वितीय उपाय' श्रमणधर्म में संलग्नता—यदि स्वाध्याय में सदैव मन न लगे तो क्या करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'समणधम्मम्मि जुंजे'**—अर्थात्—आलस्य को त्याग कर अपने मन, वचन, काया के योग (व्यापार) को श्रमणधर्म में जोड़ दे। यहाँ 'ध्रुव' शब्द के प्रयोग करने का आशय यह है कि श्रमणधर्म में साधु को निश्चल, एकाग्र होकर अथवा निश्चित या नियमित रूप से उत्साहपूर्वक श्रमणधर्म के पालन में जुटना चाहिए।[५०]

---

४७. (क) "समेच्च समुदियाणं पहसणं सतिरालावपुव्वं संपहासो।" —अग. चूर्णि, पृ. १९५
(ख) सप्पहासो नाम अतीव पहासो,....परवादिउद्धंसणादिकारणे जइ हसेज्जा तहावि सप्पहासं विवज्जए।
—जिन. चूर्णि, पृ. २८७
(ग) दशवै. (आचार्यश्री आत्मा.) पृ. ७९४
(घ) दशवै. (संतबालजी) पृ. ११२

४८. (क) मिहोकहाओ रहसियकहाओ भण्णंति, ताओ इत्थिसम्बद्धाओ वा होज्जा, अण्णाओ वा भत्तदेस-कहादियाओ तासु। —जिन. चूर्णि, पृ. २८७
(ख) मिथः कथासु—राहस्यिकीषु। —हारि. वृत्ति, पत्र २३५
(ग) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी) पृ. ७९४

४९. (क) स्वस्य अस्मिन् अध्ययनं—स्वाध्यायः।
(ख) सुष्ठु—विधिपूर्वकमध्ययनम्—स्वाध्यायः।
(ग) स्वाध्याये—वाचनादौ। —हारि. वृत्ति, पत्र २३५

५०. ध्रुवं कालाद्यौचित्येन नित्यं सम्पूर्णं सर्वत्र प्रधानोपसर्जनभावेन वा, अनुप्रेक्षाकाले मनोयोगमध्ययनकाले वाग्योगं प्रत्युपेक्षणकाले काययोगमिति।....युक्त एवं व्यापृतः। —हारि. वृत्ति, पत्र २३५

श्रमणधर्म का आशय—व्याख्याकारों ने यहाँ 'श्रमणधर्म' के दो आशय व्यक्त किये हैं—(१) क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य यह दशविध श्रमणधर्म है। (२) अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय और प्रतिलेखन आदि श्रमणचर्या श्रमणधर्म हैं। सूत्रकार का यहाँ आशय यह है कि अनुप्रेक्षा काल में मन को, स्वाध्याय काल में वचन को और प्रतिलेखन काल आदि में काया को श्रमणधर्म में संलग्न कर देना चाहिए तथा भंगप्रधान (विकल्पप्रधान) श्रुत (शास्त्र) में समुच्चयरूप से तीनों योगों को नियुक्त करना चाहिए। अर्थात्—उसमें मन से चिन्तन, वचन से उच्चारण और काया से लेखन, ये तीनों होते हैं।[५१]

अट्ठं लहइ अणुत्तरं : व्याख्या—श्रमणधर्म में युक्त—व्यापृत (लगा हुआ) साधु अनुत्तर अर्थ को प्राप्त करता है। अनुत्तर अर्थ का अर्थ है—सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष या उसके साधन ज्ञानादि।[५२]

इहलोग-पारत्तहियं इत्यादि गाथा की व्याख्या—दो प्रकार की मिलती है—(१) श्रमणधर्म-परक और (२) सम्यग्ज्ञान-परक। प्रथम व्याख्या के अनुसार इस गाथा का तात्पर्य यह है कि श्रमणधर्म में मन-वचन-काय को नियुक्त करने वाला इहलोक में वन्दनीय होता है,—श्रमणधर्म में एक दिन के दीक्षित साधु को भी लोग विनयपूर्वक वन्दन करते हैं, राजा-रानी द्वारा भी उसकी पूजा-प्रतिष्ठा होती है और परलोक में भी वह अच्छे कुल या स्थान में उत्पन्न होता है। इस उपलब्धि के लिए दो उपाय बताए हैं—बहुश्रुत की पर्युपासना और उनसे पूछ कर अर्थ का विनिश्चय करना। दूसरी व्याख्या के अनुसार गाथा का तात्पर्य यह है कि जिससे (कुशल और अकुशल प्रवृत्ति के सम्यग्ज्ञान से) इहलोक और परलोक दोनों में हित होता है, तथा जिससे सुगति की प्राप्ति—परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधु को बहुश्रुत की पर्युपासना करनी चाहिए और उनकी पर्युपासना करते हुए प्रश्न पूछ-पूछ कर पदार्थों का यथार्थ निश्चय करना चाहिए। बहुश्रुत मुनि ही अध्यात्मविद्या के अधिकारी हैं, वे ही मुमुक्षु को अध्यात्मविद्या का यथार्थ ज्ञान अथवा तत्त्व का निश्चय करा कर उसे संयम में निश्चल कर देते हैं।[५३]

बहुश्रुत वही होता है, जिसने श्रुत (शास्त्रों) का बहुत अध्ययन किया हो, अथवा जिनदास-चूर्णि के अनुसार आचार्य, उपाध्याय आदि को बहुश्रुत माना गया है।[५४]

---

५१. जोगं मणो-वयण-कायमय अणुप्पेहणसज्झायपडिलेहणादिसु पत्तेयं समुच्चयेण वा च सद्देण नियमेण भंगितसुते तिविधमपि। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १९५

५२. (क) अत्थो सद्दो, इह फलवाची। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. १९५
(ख) भावार्थ—ज्ञानादिरूपम्। —हारि. वृ., पृ. २३५

५३. इहलोगे एगदिवसदिक्खितो वि विणएण वंदिज्जते य पुजिज्जते य अवि रायरायीहिं, परलोए सुकुलसंभवादि। —अ. चू. १९५-१९६

५४. (क) 'बहुसुयगहणेणं आयरिय-उवज्झायादीयाण गहणं।' —जि. चू., २८७
(ख) 'अत्थविणिच्छयो तब्भावनिण्णयो तं।' —अ. चू., पृ. १९६
(ग) 'अर्थविनिश्चयं—अपायरक्षकं कल्याणावहं वाऽर्थावितथभावम्।' —हारि. वृ., प. २३५

गुरु की पर्युपासना करने की विधि

४३२. हत्थं पायं च कायं च पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए सगासे गुरुणो मुणी ॥४४॥

४३३. न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य ऊरुं समासेज्जा चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए ॥४५॥

[४३२] जितेन्द्रिय मुनि (अपने) हाथ, पैर और शरीर को संयमित करके आलीन (न अति-दूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से संयत) होकर गुरु के समीप बैठे ॥४४॥

[४३३] आचार्य आदि के न तो पार्श्वभाग (बराबर) में, न आगे और न ही पृष्ठभाग में (पीछे) बैठे तथा गुरु के समीप (उनके ऊरु से अपना) ऊरु सटा कर (भी) न बैठे ॥४५॥

विवेचन—गुरुजनों के समीप बैठने की विधि—प्रस्तुत दो गाथाओं (४३२-४३३) में गुरुजनों की पर्युपासना करते समय उनके समीप बैठने की विधि का प्रतिपादन किया है। पूर्वगाथा में बहुश्रुत पूज्यवरों की पर्युपासना करने का निर्देश था, इन दो गाथाओं में पर्युपासना की विधि बताई गई है।

'पणिहाय' आदि पदों का विशेषार्थ—पणिहाय—संयमित होकर। इसके दो विशेषार्थ मिलते हैं—(१) गुरु के समीप बैठते समय अपने हाथ, पैर आदि शरीर के अवयवों को संकोच कर पूर्ण सभ्यता से बैठना, (२) हाथों को न नचाना, पैरों को न फैलाना आदि एवं शरीर को बार-बार न मोड़ना या कुचेष्टा न करना। **अल्लीणगुत्तो—आलीनगुप्त—**दो विशेषार्थ (१) आलीन-ईषल्लीन—उपयोगयुक्त हो कर। (२) तात्पर्य है—गुरु के न अतिनिकट और न अतिदूर बैठने वाला, तथा गुप्त का अर्थ होता है—मन से गुरु के वचन में उपयोगयुक्त और वचन से प्रयोजनवश बोलने वाला। **किच्चाण—**गुरुओं या आचार्यों—बहुश्रुत पूज्यवरों के।

उरुं समासेज्जा : दो विशेषार्थ—(१) जांघ पर जांघ चढ़ा कर, (२) गुरु के ऊरु से अपने ऊरु (घुटने के ऊपर का भाग-साथल) का स्पर्श कर। उत्तराध्ययन सूत्र के **'न जुंजे उरुणा उरुं'** के अर्थ से यह अर्थ अधिक मेल खाता है।[५५]

बराबर में, आगे या पीछे बैठने का निषेध क्यों?—यह पंक्ति भी गुरु की उपासना करते समय उनकी अविनय-आशातना न हो, असभ्यता प्रकट न हो, इस दृष्टि से दी गई है। गुरु के पार्श्वभाग में अर्थात् बराबर में—कानों की समश्रेणि में बैठने का निषेध इसलिए किया गया है कि वहाँ बैठने पर शिष्य का शब्द सीधा गुरु के कर्णकुहरों में आता है। उससे गुरु की एकाग्रता भंग

---

५५. (क) पणिहाय णाम हत्थेहिं हत्थनट्टगादीणि अकरं पाएहिं पसारणादीणि अकुव्वंतो, काएण सासणदृगादीणि अकुव्वंतो। —जिन. चूर्णि, पृ. २८८

(ख) अल्लीणो नाम ईसिलीणो अल्लीणो, णातिदूरत्थो ण वा अच्चासणो।....वायाए कज्जमेत्तं भासंतो। —जि. चूर्णि, पृ. २८८

(ग) मणसा गुरुवयणे उवयुत्तो।—अ. चू., पृ. १९६

होती है। गुरु के आगे अर्थात्—गुरु के सम्मुख एकदम निकट बैठने से अविनय भी होता है, और गुरु को वन्दना करने वालों को व्याघात होता है। इस दृष्टि से गुरु के आगे न बैठने का निर्देश किया गया है। पृष्ठभाग में अर्थात् पीठ पीछे या गुरु की पीठ से सट कर बैठने से गुरु के दर्शन नहीं होते, उनकी कृपापूर्ण दृष्टि शिष्य पर नहीं पड़ने पाती। उनके इंगित और आकार को नहीं जाना जा सकता। इसलिए पीछे बैठने का निषेध किया गया है। गुरु के उरु से अपना उरु सटा कर बैठना भी अविनय-आशातना और असभ्यता प्रदर्शन है। सारांश यह है कि इस गाथा में गुरुजनों की पर्युपासना करते समय इस ढंग से नहीं बैठना चाहिए, जिससे उनकी अविनय-आशातना हो, असभ्यता प्रदर्शित हो।[५६]

स्व-पर-अहितकर भाषा-निषेध

> ४३४. अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अंतरा।
> पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥४६॥
>
> ४३५. अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पेज्ज वा परो।
> सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं ॥४७॥
>
> ४३६. दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुण्णं वियं जियं।
> अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं ॥४८॥
>
> ४३७. आयारपण्णत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं।
> वइ विक्खलियं णच्चा न तं उवहसे मुणी ॥४९॥
>
> ४३८. नक्खत्तं सुमिणं जोगं निमित्तं मंत भेसजं।
> गिहिणो तं न आइक्खे भूयाहिगरणं पयं ॥५०॥

[४३४] (विनीत साधु गुरुजनों के) बिना पूछे न बोले, (वे) बात कर रहे हों तो बीच में न बोले। पृष्ठमांस (चुगली) न खाए और मायामृषा (कपटसहित असत्य) का वर्जन करे ॥४६॥

[४३५] जिससे (जिस भाषा के बोलने से) अप्रीति (या अप्रतीति) उत्पन्न हो अथवा दूसरा (सुनने वाला व्यक्ति) शीघ्र ही कुपित होता हो, ऐसी अहित करने वाली भाषा सर्वथा न बोले ॥४७॥

[४३६] आत्मवान् (आत्मार्थी साधु या साध्वी) दृष्ट (देखी हुई), परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, व्यक्त (स्पष्ट या प्रकट), परिचित, अजल्पित (वाचालतारहित) और अनुद्विग्न (भयरहित) भाषा बोले ॥४८॥

---

५६. (क) "समुप्पेहपेरिया सद्दपोग्गला कण्णबिलमणुपविसंतीति कण्णसमसेढी पक्खो, ततो न चिट्ठे गुरूणमंतिए तधा अणेगग्गता भवति।" —अ. चू., पृ. १९६

(ख) पुरओ नाम अग्गओ, तत्थवि अविणओ वंदमाणाणं च वग्घाओ, एवमादि दोसा भवंतित्ति काऊण पुरओ गुरूण नवि चिट्ठेज्जत्ति। —जिन. चूर्णि, पृ. २८८

[४३७] आचारांग (आचार) और व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र के धारक एवं दृष्टिवाद के अध्येता साधु (कदाचित्) वचन से स्खलित हो जाएँ तो मुनि उनका उपहास न करे ।।४९।।

[४३८] (आत्मार्थी साधु) नक्षत्र, स्वप्न (-फल), वशीकरणादि योग, निमित्त, मन्त्र (तन्त्र, यन्त्र), भेषज आदि अयोग्य बातें गृहस्थों को न कहे; क्योंकि ये प्राणियों के अधिकरण-(हिंसा आदि अनिष्टकर) स्थान हैं ।।५०।।

विवेचन—भाषा में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं पात्र का विवेक—प्रस्तुत पांच गाथाओं (४३४ से ४३८ तक) में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं पात्र की दृष्टि से साधु के लिए न बोलने योग्य भाषा का निषेध तथा बोलने योग्य भाषा का विधान किया गया है ।

भाषा के विषय में पात्र का विवेक—यद्यपि साधक जो भाषा बोलता है, वह निरवद्य ही बोलता है, तथापि गाथा ४३४ में बोलने का जो निषेध किया गया है वह काल और मुख्यतया पात्र की दृष्टि से है । गुरुजन या कोई श्रावक आदि साधु से कुछ पूछे नहीं और कोई प्रयोजन भी न हो, उस समय निष्प्रयोजन बोलना निषिद्ध है, प्रयोजनवश बोलने का निषेध नहीं । साथ ही जब गुरुजन आदि किसी से बात कर रहे हों, उस समय बीच में ही उनकी बात काट कर बोलना उचित नहीं । उस समय पात्र और परिस्थिति दोनों देखे बिना ही तपाक से कह बैठना—आपने यह कहा था, यह नहीं, यह अविवेक है । पृष्ठमांस—पैशुन्य या चुगली को कहते हैं । पैशुन्यसूचक शब्द भले ही निरवद्य हों, किन्तु निन्दा और चुगली से द्वेष, ईर्ष्या, असूया, घृणा आदि दुर्गुण बढ़ते हैं, पापकर्म का बन्ध होता है, वैर बढ़ता है और मायामृषा तो द्रव्य, क्षेत्र आदि सभी दृष्टियों से हानिकर होने से त्याज्य है ही । क्योंकि इसमें असत्य बोलने के साथ-साथ पूर्वयोजित माया का प्रयोग होता है । अपनी असत्यता को छिपाने के लिए अपने कपटयुक्त भावों का उस पर चिन्तनपूर्वक आवरण डाल कर ऐसे कहा जाता है, ताकि सुनने वाला उसकी बात पूर्ण सच मान ले ।[५७]

गाथा संख्या ४३५ में **'सव्वसो'** कह कर सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पात्र सभी दृष्टि से ऐसी स्वपर-अहितकारिणी भाषा का प्रयोग निषिद्ध बताया है, जो अप्रीतिकर हो, जिससे श्रोता का क्रोध भड़कता हो ।

गाथा संख्या ४३७ में शास्त्रज्ञ साधु के मुंह से निकलने वाले वचनों में व्याकरण की दृष्टि से कदाचित् कोई त्रुटि या स्खलना रह जाए तो उनका उपहास करना भी प्राज्ञ साधु के लिए उचित नहीं, क्योंकि छद्मस्थ मनुष्य भूल न करने की पूरी-पूरी सावधानी रखता हुआ भी कभी भूल कर बैठता है । सर्वज्ञ बन जाने पर ही 'भूल' सर्वथा मिट सकती है । उपहास करना भी भाषा दोष है,

---

५७. (क) अपुच्छिओ निक्कारणे ण भासेज्जा । भासमाणस्स अंतरा ण कुज्जा, जहा—जं एयं ते भणितं, एयं न । "जं परंमुहस्स अवबोलिज्जइ, तं तस्स पिट्ठिमंसभक्खणं भवइ । मायाए सह मोसं—मायामोसं । न मायामन्तरेण मोसं भासइ, कहं ? जं पुव्वि भासं कुडिलीकरेइ पच्छा भासइ । अहवा जं माया-सहियं मोसं ।" —जिनदासचूर्णि, पृ. २८८

(ख) "पृष्ठिमांसं—परोक्षदोषकीर्तनरूपम् । मायाप्रधानां मृषावाचम् ।" —हारि. वृत्ति, पत्र २३६

(ग) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ८०२

क्योंकि ऐसा करने से पापकर्म का बन्ध तो होता ही है, महापुरुषों की अविनय-आशातना भी होती है, उनके हृदय को आघात पहुँचता है। उपहासात्मक वचन कदाचित् सत्य भी हो, तो भी परपीड़ाकारक होने से साधु के लिए वर्जित है।[५८]

निमित्त, नक्षत्रादि काल से सम्बन्धित हैं, योग, भैषज मन्त्रादि द्रव्य से तथा शेष भावों से सम्बन्धित हैं। कदाचित् किसी साधु को निमित्त-नक्षत्रादि का ज्ञान भी हो, तो भी घटी, पल की गणना ठीक न होने से, दृष्टिविपर्यासवश या किसी स्वार्थवश, छद्मस्थ होने के कारण कोई फलादेश विपरीत कह दिया गया अथवा कहने से विपरीत, उलटा परिणाम आ जाए तो साधुवर्ग के प्रति उसकी श्रद्धाभक्ति उठ जाएगी। अन्य अनर्थ होने की भी सम्भावना है। इस दृष्टि से निमित्तादि का कथन करना साधु के लिए वर्जित है।

नक्षत्र आदि का अर्थ—नक्षत्र—कृत्तिका आदि जो नक्षत्र हैं, उनके विषय में बताना कि आज चन्द्रमा अमुक नक्षत्रयुक्त है, उसका फल ऐसा है। **स्वप्न-फल**—स्वप्न का शुभाशुभ फल बताना। **वशीकरणादि योग**—अमुक औषध, जड़ी या खाद्यपदार्थों के संयोग से चूर्ण या वशीकरणयोग बना कर गृहस्थ को दूसरों को वश में करने के लिए देना। **निमित्त**—अतीत, वर्त्तमान और भविष्य सम्बन्धी शुभ-अशुभ फल बताने वाली विद्या या ज्योतिष विद्या के बल से शुभाशुभ फल गृहस्थों को बताना। **मन्त्र**—जपा जाने वाला शब्दसमूह, आकृति खींच कर कागज आदि पर लिखा जाने वाला यन्त्र तथा मन्त्र-यन्त्रसहित कठोर विधिपूर्वक सिद्ध किया जाने वाला तन्त्र। देवी को सिद्ध करने वाले मन्त्र को विद्या कहते हैं। मन्त्रादि का प्रयोग करना या बताना भी वर्जित है। **भूयाहिगरणं**—एकेन्द्रिय आदि भूत कहलाते हैं, अथवा भूत शब्द सभी प्राणियों का वाचक है। संघट्टन, परितापन आदि के द्वारा उनका अधिकरण—हनन करना भूताधिकरण है।[५९] कोई गृहस्थ यदि साग्रह पूछे तो कह देना चाहिए—साधुओं का यह अधिकारक्षेत्र नहीं है। इससे अहिंसा और भाषा दोनों की सुरक्षा होगी।

'अत्तवं' आदि पदों का विशेषार्थ—अत्तवं—आत्मवान्—जिसकी आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय हो, अथवा आत्मार्थी पुरुष। **दिट्ठं**—जिसे अपनी आँखों से देखा हो। **मियं**—परिमत भाषा, अर्थात्—जितना आवश्यक हो, उतना ही बोलना। **असंदिद्धं**—असंदिग्ध—जिसमें किसी प्रकार का सन्देह न हो। **पडिपुन्नं**—प्रतिपूर्ण अर्थात्—ऐसा न हो कि वाक्य में केवल क्रिया हो परन्तु कर्त्ता और कर्म न हो, अथवा केवल कर्त्ता हो, क्रिया न हो। अथवा जो वचन स्वर, व्यंजन, पद आदि से रहित हो। **वियं**—

---

५८. (क) "सव्वसो नाम सव्वकालं सव्वावत्थासु।" —जिनदास चूर्णि, पृ. २८९
(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ८०६-८०७
(ग) दशवै. (संतबालजी) पृ. ११४

५९. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ८०९
(ख) गिहत्थाण पुच्छमाणाण णो णक्खत्तं कहेज्जा, जहा चंदिमा अज्ज अमुकेण णक्खत्तेण जुत्तोत्ति। सुमिणे अव्वत्तदंसणे। जोगो ओसह समवादो, अहवा निद्देसण-वसीकरणाणि जोगो भण्णइ। निमित्तंतीतादि। मंतो असाहणो, 'एगगाहणे गहणं तज्जातीयाणमिति काउं विज्जा गहिता। भूताणि-एगिंदियाईणि तेसिं संघट्टणपरितावणादीणि अहियं कीरंति जंमि तं भूताधिकरणं। —जि. चू., पृ. २९९
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. ४१३

व्यक्त अर्थात्—स्पष्ट हो, जो गुनगुनात्मक न हो। **जियं**—जो परिचित हो, जिसका अर्थ परिचित हो। **अयंपिरं**—अजल्पित—जो भाषा केवल बकवास या वाचालता न हो तथा अनुद्विग्न उद्वेग-रहित हो।[६०]

आयारपन्नत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं : विविध व्याख्याएँ—(१) पहली व्याख्या शास्त्रपरक है, जो अर्थ में दी गई है। दूसरी व्याख्या भाषाशास्त्रपरक है। अर्थात्—**आचारधर**—स्त्री-पुरुष-नपुंसक लिंग-ज्ञाता, **प्रज्ञप्तिधर**—लिंगों का विशेष ज्ञाता तथा **दृष्टिवादधर**—प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार, कारक आदि व्याकरण के अंगों को जानने वाला। निर्युक्तिकार के अनुसार इनकी व्याख्या धर्मकथापरक है। आक्षेपणी कथा के ४ प्रकार हैं—आचारकथा, व्यवहारकथा, प्रज्ञप्तिकथा और दृष्टिवादकथा। आचार—लोच, अस्नान आदि, व्यवहार—किसी दोष की शुद्धि करने के लिए प्रायश्चित्त रूप व्यवहार, प्रज्ञप्ति—संशयग्रस्त व्यक्ति को मधुर वचनों से समझाना और दृष्टिवाद—श्रोता की अपेक्षा (दृष्टि) से सूक्ष्म जीवादि भावों का कथन करना।

समग्र वाक्य का अर्थ हुआ आचारधर, प्रज्ञप्तिधर और दृष्टिवाद का अध्येता (पाठक) यदि कहीं बोलने में चूक गया हो तो उसका उपहास न करे।[६१]

ब्रह्मचर्यगुप्ति के विविध अंगों के पालन का निर्देश

४३९. अन्नट्ठं पगडं लेणं भएज्ज सयणाऽऽसणं।
उच्चारभूमिसंपन्नं इत्थी-पसु-विवज्जियं ॥५१॥

४४०. विवित्ता य भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं।
गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं ॥५२॥

---

६०. (क) दिट्ठं नाम जं चक्खुणा सयं उवलद्धं। मितं दुविहं। सद्दओ परिमाणओ य। सद्दओ अणउव्वं उच्चारिज्ज-माणं मितं, परिमाणओ कज्जमेत्तं उच्चारिज्जमाणं मितं। पडुप्पन्नं नाम सर-वंजण-पयादीहिं उववेयं।
—जिन. चू., पृ. २८९

(ख) अणुच्चं कज्जमेत्तं च मितं। वियं व्यक्तं। जितं न वामोहकरमणेकाकारं। नाणदंसणचरित्तमयो जस्स आया अत्थि सो अत्तवं। —अ. चू., पृ. १९७

(ग) 'दृष्टां दृष्टार्थं विषयाम्। जितां परिचिताम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र २३५

६१. (क) आचारधर द्वादशांगी में प्रथम अंग आचारांग के धारक, प्रज्ञप्तिधर—पांचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति के धारक और दृष्टिवाद-अध्येता—बारहवें अंग दृष्टिवाद का पढ़ने वाला।
—दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. ८०६

(ख) आचारधरः स्त्रीलिंगादीनि जानाति, प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवंभूतम्। तथा दृष्टिवाद-मधीयानं—प्रकृति-प्रत्यय-लोपागमं-वर्णविकार-कालकारकादिवेदिनम्। —हारि. टी., प. २३६

(ग) आचारो—लोचास्नानादिः व्यवहारः कथंचिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणः प्रज्ञप्तिश्चैव संशयापन्नस्य मधुरवचनैः प्रज्ञापना दृष्टिवादश्च। श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादिभावकथनम्।
—हारि. टी., प. ११०

(घ) ठाणांग ४।२४७ : आयार-अक्खेवणी.... दिट्ठीवातअक्खेवेणी।

४४१. जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं ।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ।।५३।।

४४२. चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ।।५४।।

४४३. हत्थ-पाय-पडिच्छिन्नं+ कण्ण-नास-विगप्पियं ।
अवि वाससइं÷ नारिं बंभयारी विवज्जए ।।५५।।

४४४. विभूसा इत्थिसंसग्गो पणीयरसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ।।५६।।

४४५. अंग-पच्चंग-संठाणं चारुल्लविय-पेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए कामराग-विवड्ढणं ।।५७।।

४४६. विसएसु मणुण्णेसु पेमं नाभिनिवेसए ।
अणिच्चं तेसिं विण्णाय परिणामं पोग्गलाण× य ।।५८।।

४४७. पोग्गलाण परिणामं तेसिं णच्चा जहा तहा ।
विणीयतण्हो* विहरे सीईभूएण अप्पणा ।।५९।।

[४३९] (मुनि) दूसरों के लिए बने हुए, उच्चारभूमि (मल-मूत्र-विसर्जन की भूमि) से युक्त तथा स्त्री और पशु (उपलक्षण से नपुंसक के संसर्ग) से रहित स्थान (उपाश्रय), शय्या और आसन (आदि) का सेवन करे ।।५१।।

[४४०] यदि उपाश्रय (स्थानक या निवासस्थान) विविक्त (एकान्त—अन्य साधुओं से रहित) हो तो (वहाँ अकेला मुनि) केवल स्त्रियों के बीच (धर्म-) कथा (व्याख्यान) न कहे; (तथा मुनि) गृहस्थों के साथ संस्तव (अतिपरिचय) न करे, (अपितु) साधुओं के साथ ही परिचय करे ।।५२।।

[४४१] जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को बिल्ली से सदैव भय रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है ।।५३।।

[४४२] चित्रभित्ति (स्त्रियों के चित्रों से चित्रित या युक्त दीवार) को अथवा (वस्त्राभूषणों से) विभूषित (सुसज्जित) नारी को टकटकी लगा कर न देखे । कदाचित् सहसा उस पर दृष्टि पड़ जाए तो दृष्टि तुरंत उसी तरह वापस हटा ले, जिस तरह (मध्याह्नकालिक) सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि हटा ली जाती है ।।५४।।

[४४३] जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, जो कान और नाक से विकल हो, वैसी सौ वर्ष की (पूर्णवृद्धा) नारी (के संसर्ग) का भी ब्रह्मचारी परित्याग कर दे ।।५५।।

पाठान्तर—+पलिच्छिन्नं । ÷वाससयं । ×उ । *विणीय-तिण्हो ।

[४४४] आत्मगवेषी पुरुष के लिए विभूषा, स्त्रीसंसर्ग और स्निग्ध (प्रणीत) रस-युक्त (सरस) भोजन तालपुट विष के समान है ।।५६।।

[४४५] स्त्रियों के (शृंगाररसप्रसिद्ध) अंग, प्रत्यंग, संस्थान, चारु-भाषण (मधुर बोली) और कटाक्ष (मनोहर-प्रेक्षण) के प्रति (साधु) ध्यान न दे (गौर से न देखे); (क्योंकि ये सब) काम-राग को बढ़ाने वाले (ब्रह्मचर्य-विघातक) हैं ।।५७।।

[४४६] (ब्रह्मचारी) शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, इन पुद्गलों के परिणमन को अनित्य जान कर मनोज्ञ विषयों में रागभाव स्थापित न करे ।।५८।।

[४४७] उन (इन्द्रियों के विषयभूत) पुद्गलों के परिणमन को जैसा है, वैसा जान कर अपनी प्रशान्त (शीतल हुई) आत्मा से तृष्णारहित होकर विचरण करे ।।५९।।

विवेचन—ब्रह्मचर्य की गुप्तियों के सन्दर्भ में—प्रस्तुत ९ गाथाओं (४३९ से ४४७ तक) में ब्रह्मचर्यमहाव्रत की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्यव्रत की नौ बाड़ों के सन्दर्भ में कतिपय स्वर्णसूत्र दिये गए हैं ।

ब्रह्मचर्यगुप्ति के लिए दस स्वर्णसूत्र—(१) परकृत उच्चारभूमियुक्त स्त्री-पशु-नपुंसक रहित स्थान, शयन और आसन का सेवन करे । (२) विविक्त स्थान में स्थित अकेला साधु केवल स्त्रियों के बीच धर्मकथा न करे । (३) गृहस्थों से परिचय न करके साधुओं से परिचय करे । (४) मुर्गे के बच्चे को बिल्ली से भय होता है, वैसे ही साधु को स्त्रीशरीर से खतरा है । (५) दीवार पर चित्रित या विभूषित नारी को टकटकी लगा कर न देखे, कदाचित् दृष्टि पड़ जाए तो तुरंत वहाँ से हटा ले । (६) हाथ-पैर कटी हुई विकलांग सौ वर्ष की वृद्धा के संसर्ग से भी दूर रहे । (७) विभूषा, स्त्रीसंसर्ग और स्निग्ध सरसभोजन तालपुटविष के समान है । (८) स्त्रियों के अंगोपांग, मधुर भाषण, कटाक्ष आदि की ओर ध्यान न दे, विकारी दृष्टि से न देखे, क्योंकि ये कामरागवर्द्धक हैं । (९) मनोज्ञ इन्द्रियविषयों के प्रति रागभाव न रखे । (१०) पुद्गलों के परिणमनरूप विषयों को यथावत् जान कर उनके प्रति अनासक्त एवं उपशान्त होकर विचरण करे ।[६२]

'अन्नट्ठं पगडं' आदि शब्दों के विशेषार्थ—अन्नट्ठं पगडं—अन्यार्थं प्रकृत—निर्ग्रन्थ श्रमणों के अतिरिक्त अन्य के लिए निर्मित । 'अन्य' शब्द से सूचित होता है कि वह चाहे गृहस्थ के लिए बना हो या अन्य तीर्थिकों के लिए, साधु उसमें निवास कर सकता है । **लयनं** का अर्थ घर या निवासगृह है ।

इत्थीपसुविवज्जियं : स्त्रीपशुविवर्जितः तात्पर्य है—जहाँ स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त, बार-बार आवागमन होता हो या रात्रिनिवास हो अथवा जहाँ ये दीखते हों, वहाँ साधु को रहना वर्जित है ।

नारीणं न लवे कहं—(१) स्त्रियों को कथा न कहे अथवा (२) स्त्रियों की कथा न कहे ।

गिहिसंथवं न कुज्जा का तात्पर्य—यह है कि गृहस्थ के अतिसंसर्ग के कारण आसक्ति तथा आचारशैथिल्य आदि दोषों की सम्भावना है ।

---

६२. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ६०-६१

इत्थीविग्गहओ भयं : अभिप्राय—यहाँ 'स्त्री से भय है', ऐसा न कह कर स्त्रीविग्रह (नारीशरीर) से भय है, इसका फलितार्थ यह है कि स्त्रीसंसर्ग, स्त्रीपरिचय, स्त्री के साथ निवास अथवा विकारी दृष्टि से उसके हावभाव, कटाक्ष, अंगोपांग, चित्रित-विभूषित स्त्री आदि का प्रेक्षण साधु के लिए वर्जित है। यहाँ तक कि मृतक स्त्रीशरीर भी भयकारी हैं।

हत्थपायपडिच्छिन्नं. आदि गाथा का फलितार्थ—यहाँ 'अपि' शब्द सम्भावनार्थ है, अतः यह सम्भावना की जा सकती है कि जब हाथ-पैर कटी हुई विकलांग शतवर्षीया वृद्धा के संसर्ग से दूर रहने का कहा गया है, तब वह स्वस्थ एवं सर्वांगपूर्ण तरुण नारी से दूर रहे, इसमें कहना ही क्या है ?[६३]

अत्तगवेसिस्स : आत्मगवेषी—जिसने आत्मा के हित का अन्वेषण कर लिया, उसने आत्मा का अन्वेषण कर लिया। आत्मगवेषणा आत्मा के हिताहित के सन्दर्भ में की जाती है। दुर्गतिगमन,

---

६३. (क) 'अन्यार्थं प्रकृतं'—न साधुनिमित्तं निर्वर्तितम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र २३६

(ख) अन्नट्ठगहणेण अन्नउत्थिया गहिया, अन्नस्स अट्ठाए नाम अन्ननिमित्तं पगडं-पकप्पियं भण्णइ।
—जिन. चूर्णि, पृ. २९०

(ग) ······ विवज्जियं नाम जत्थ तेसिं आलोयमादीणि णत्थि तं विवज्जियं भण्णइ, तत्थ आत-पर-समुत्था दोसा भवंतित्ति काउं ण ठाइयव्वं। तीए विवित्ताए सेज्जाए नारीणं णो कहं कहेज्जा। किं कारणं ? आत-पर-समुत्था दोसा भवंतित्ति काउं। —वही, चूर्णि, पृ. २९०

(घ) तत्थ जतिच्छोवगताण वि नारीणं सिंगारातिगं विसेसेण ण कधे कहं। को पुण निवंधो, जं विवित्तलय-णत्थितेणावि कहंचि उपगताण नारीण कहा ण कथनीया ? भण्णति। वत्स ! न णु चरित्तवतो महाभयमिदं इत्थी-णाम कहं। —अग. चूर्णि, पृ. १९८

(ङ) बितियं-नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता। —प्रश्न. संवरद्वा ४

(च) नो स्त्रीणां कथाः कथयिता भवतीति। समवा. वृत्ति, पत्र १५

(छ) स्त्रीणां केवलानामिति गम्यते, कथां धर्मदेशनादि-लक्षणवाक्-प्रतिबन्धरूपां। यदि वा 'कर्णाटी सुरतोप-चारकुशला,' इत्यादि प्रागुक्तां वा जात्यादिचातुर्यरूपां कथां कथयिता·······। —ठा. ९।३ वृ.

(ज) गिहिसंथवं—गृहिपरिचयं न कुर्यात्। तत्स्नेहादिदोषसंभवात्। कुर्यात् साधुभिः संस्तवं-परिचयं, कल्याणमित्रयोगेन, कुशलपक्षवृद्धिभावतः। —हारि. वृत्ति, पत्र २३७

(झ) विग्गहो सरीरं भण्णइ। आह—इत्थीओ भयंति भाणियव्वे ता किमत्थं विग्गहग्गहणं कयं ? भण्णति; न केवलं सज्जीवइत्थिसमीवाओ भयं किन्तु ववगतजीवाए वि सरीरं, ततो वि भयं भवई। अओ विग्गह-गहणं कयं ति। —जिन. चूर्णि, पृ. २९१

(ञ) दशवै. (संतबालजी) पृ. ११५

(ट) अवि सद्दो संभावणे वट्टइ। किं संभावयति ? जहा—जइ हत्थादिविच्छिन्ना वि वाससयजीवी दूरओ परिवज्जणिज्जा, किं पुण जा अपलिच्छिन्ना वयत्था वा ? एयं संभावयति। —जिन. चूर्णि, पृ. २९१

जन्ममरणरूप संसारपरिभ्रमण, आदि आत्मा के लिए अहित हैं तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, स्वभाव-रमण आदि आत्मा के लिए हित हैं। जो अहितों से आत्मा को मुक्त करना और हितों में आत्मा को व्यापृत करना चाहता है, वही आत्मगवेषी है।[६४]

विसं तालउडं जहा—तालपुट विष का अर्थ है—ताल (हथेली) संपुटित (बंद) हो, उतने समय में जो विष भक्षणकर्ता को मार डाले ऐसा तत्काल प्राणनाशक विष।[६५]

अंग-पच्चंग-संठाणं—अंग-प्रत्यंग-संस्थान—अंग (हाथ, पैर आदि शरीर के मुख्य अवयव), प्रत्यंग (आँख, दांत आदि शरीर के गौण अवयव) और संस्थान (शरीर की आकृति, सौष्ठव, डीलडौल, सौन्दर्य या रूप) एवं अंग और प्रत्यंगों का संस्थान—विन्यासविशेष।[६६]

पोग्गलाणं परिणामं—पुद्‍गलों का परिणमन—इन्द्रियों के पांचों विषय पुद्‍गलों के परिणाम हैं। परिणाम का अर्थ है—वर्तमान पर्याय को छोड़ कर दूसरी पर्याय में जाना—अवस्थान्तरित होना। शब्दादि इन्द्रिय-विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों रूप में परिवर्तित होते रहते हैं। जो आज मनोज्ञ या सुन्दर हैं, वे कालान्तर में अमनोज्ञ या असुन्दर हो सकते हैं, जो अमनोज्ञ या असुन्दर हैं, वे मनोज्ञ या सुन्दर या विशेष अमनोज्ञ हो सकते हैं। यही इनका अनित्य रूप है, जिसका चिन्तन करके ब्रह्मचारी को विषय के प्रति राग-द्वेष से दूर रहना चाहिए। प्रेम और राग एकार्थक हैं।[६७]

कामरागविवड्ढणं : तात्पर्य—स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, हावभाव, सौन्दर्य, चालढाल, अंग-चेष्टा आदि को गौर से देखने से कामराग की वृद्धि होती है।[६८]

सीईभूएण अप्पणा : विशेषार्थ—शीतीभूत का अर्थ है—क्रोधादि अग्नि के शान्त हो जाने से उपशान्त।[६९]

---

६४. (क) 'अत्तगवेसिणा' आत्महितान्वेषणपरस्य।' —हारि. वृ., पत्र २३७
(ख) अप्पहितगवेसणेण अप्पा गविट्ठो भवति। —अ. चू., पृ. १९९
(ग) ....अहवा मरणभयभीतस्स अत्तणो उवायगणवेसितेण अत्ता सुट्ठु वा गवेसिणो, ज एएहिंतो अप्पाणं विमोएई। —जि. चूर्णि, पृ. २९२

६५. तालपुडं नाम जेणंतरेण ताला संपुडिज्जंति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं। जहा जीवियाकंखिणो न तालपुट-विसभक्खणं सुहावहं भवति, तहा धम्मकामिणो नो विभूसाईणि सुहावहाणि भवंतीत्ति।
—जिन. चूर्णि, पृ. २९२

६६. अगस्त्यचूर्णि, पृ. २९२

६७. (क) जि. चू., २९२-२९३
(ख) "पेमंति वा रागोत्ति वा एगट्ठा।"

६८. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८१९

६९. शीतीभूतेन क्रोधाद्यग्न्यपगमात् प्रशान्तेन। —हारि. वृत्ति, पत्र २३८

प्रव्रज्याकालिक श्रद्धा अन्त तक सुरक्षित रखे

४४८. जाए सद्धाए निक्खंतो परियायठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालेज्जा गुणे आयरियसम्मए ॥६०॥

[४४८] जिस (वैराग्यभावपूर्ण) श्रद्धा से घर (अथवा संसार) से निकला और उत्तम पर्यायस्थान (प्रव्रज्या-स्थान) को स्वीकार किया, उसी (त्यागवैराग्यपूर्ण) श्रद्धा से आचार्य-सम्मत गुणों (मूल-गुणों) का अनुपालन करे ॥ ६० ॥

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में साधु के आचार-सर्वस्व-मूलगुण-उत्तरगुणों का पालन उसी श्रद्धा से हो जिस श्रद्धा से (उत्कृष्ट वैराग्यभाव) से प्रव्रज्या अंगीकार की है, यह प्रतिपादन किया गया है।

अणुपालेज्जा—निरन्तर पालन करे।

गुणे—उत्तम गुणों में मूलगुणों और उत्तरगुणों का समावेश होता है। जिसका विस्तृत वर्णन पूर्व में किया गया है।

सद्धाए : श्रद्धा से—व्युत्पत्ति के अनुसार श्रद्धा का अर्थ होता है—श्रत्—सत्य को जो धारण करती है, वह श्रद्धा है। × निष्कर्ष है—त्याग, वैराग्य आदि (साधुजीवन के परमसत्यों को मनोभाव से धारण करना श्रद्धा है। 'जाए' श्रद्धा का विशेषण है। अर्थ होता है—जिस (प्रव्रजित होने के समय की) श्रद्धा से। आचारांगसूत्र में भी ऐसा ही पाठ मिलता है।[७०]

आचार-प्रणिधि का फल

४४९. तवं चिमं संजमजोगयं च सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाइ+ समत्तमाउहे अलमप्पणो होई अलं परेसिं ॥६१॥

४५०. सज्झाय-सज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झइ जं से※ मलं पुरेकडं समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥६२॥

---

७०. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ.
(ख) दशवै. (संतबालजी), पृ. ११७
(ग) सद्धा धम्मे आयरो। —अ. चू., पृ. २००
(घ) सद्धा परिणामो भवई। —जि. चू., पृ. २९३

× श्रत् सत्यं दधातीति श्रद्धा।
(ङ) श्रद्धया-प्रधानगुणस्वीकरणरूपया। —हारि. वृत्ति, पत्र २३८
(च) तं सद्धं पव्वज्जासमकालिणिं अणुपालेज्जा। —अ. चू., पृ. २००
(छ) तमेव परियायट्ठाणमुत्तमं। —जि. चू., पृ. २९३
(ज) आचारांग १।३५

पाठान्तर—+ सेणाए। ※ जंसि।

४५१. से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे ।
विरायइ कम्मघणम्मि अवगए, कसिणऽब्भपुडावगमे व चंदिमा ॥६३॥
—त्ति बेमि ॥

अट्ठमं : आयारप्पणिहि-अज्झयणं समत्तं ॥८॥

[४४९] (जो मुनि) इस (सूत्रोक्त) (बाह्याभ्यन्तर) तप, संयमयोग और स्वाध्याय-योग में सदा निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर समग्र आयुधों (शस्त्रास्त्रों) से सुसज्जित शूरवीर ॥६१॥

[४५०] स्वाध्याय और सद्ध्यान में रत, त्राता, निष्पापभाव वाले (तथा) तपश्चरण में रत मुनि का पूर्वकृत (कर्म) मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है, जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए रूप्य (सोने और चांदी) का मल ॥ ६२ ॥

[४५१] जो (पूर्वोक्त) गुणों से युक्त है, दुःखों (परीषहों) को (समभावपूर्वक) सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुत (शास्त्रज्ञान) से युक्त है, ममत्वरहित और अकिंचन (निष्परिग्रह) है; वह कर्मरूपी मेघों के दूर होने पर, उसी प्रकार सुशोभित होता है, जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्र-पटल से विमुक्त चन्द्रमा ॥ ६३ ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—इहलौकिक और पारलौकिक उपलब्धियाँ—प्रस्तुत तीन गाथाओं (४४९ से ४५१ तक) में इस अध्ययन में उक्त आचार-प्रणिधि के सूत्रानुसार संयमी जीवनयापन करने वाले मुनि को प्राप्त होने वाली इहलौकिक, पारलौकिक उपलब्धियों का वर्णन किया गया है ।

तीन उपलब्धियाँ—(१) कषाय-विषय आदि से अपनी रक्षा करने और कर्मशत्रुओं को हटाने में समर्थ हो जाता है, (२) अग्नितप्तस्वर्ण की तरह पूर्वकृत कर्ममल से रहित हो जाता है, और (३) अभ्रपटलमुक्त चन्द्रमा की तरह कर्मपटलमुक्त सिद्ध आत्मा बन जाता है ।[७१]

सूरे व सेणाई० पंक्ति का आशय—जो साधु तप, संयम एवं स्वाध्याययोग में रत रहता है, वह इन्द्रियों और कषायों की सेना से घिरा होने पर तप आदि खड्ग प्रभृति समग्र शस्त्रास्त्रों से अपनी आत्मरक्षा करने में और कर्म आदि शत्रुओं को परास्त करके खदेड़ने में उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार समग्र शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित योद्धा शत्रु की चतुरंगिणी विशाल सेना से घिरा होने पर अपनी रक्षा करने और शत्रुओं को खदेड़ने में समर्थ होता है । अथवा जिस प्रकार शस्त्रों से सुसज्जित वीर चतुरंगिणी सेना से घिर जाने पर अपना और दूसरों का संरक्षण करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार जो मुनि तप, संयम, स्वाध्यायादि गुणों से सम्पन्न होता है, वह इन्द्रिय और कषायरूप सेना से घिर जाने पर अपनी आत्मा की और संघ के अन्य साधुओं के आत्मा की पापों

---

७१. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ६१

से रक्षा करने में समर्थ होता है ।[७२]

तीन योगों में निष्ठावान्—तपयोग, संयमयोग, स्वाध्याययोग में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त होने वाला ही स्वपररक्षा में समर्थ हो सकता है ।

तपोयोग का अर्थ है—बारह प्रकार के तप में मनवचनकाया के योग से प्रवृत्त रहना । **संयमयोग** का अर्थ है—जीवकायसंयम, इन्द्रियसंयम, मनःसंयम आदि १७ प्रकार के संयम के निरन्तर समाचरण और **स्वाध्याय-योग** का अर्थ है—वाचना आदि पांच अंगों वाले स्वाध्याय में रत रहना । **एक प्रश्न : समाधान**—तप का ग्रहण करने से १२ प्रकार के तपों में स्वाध्याय का समावेश हो ही जाता है, फिर स्वाध्याय को पृथक् ग्रहण करने का क्या कारण है ? इसका समाधान अगस्त्यचूर्णि में इस प्रकार किया गया है—स्वाध्याय १२ प्रकार के तपों में मुख्य तप है, इस मान्यता को परिपुष्ट करने हेतु स्वाध्याय का पृथक् ग्रहण किया गया है ।[७३]

अहिट्ठए-अहिट्ठिए : दो रूप, दो अर्थ—(१) **अधिष्ठाता**—निष्ठावान्, किन्तु 'अहिट्ठए' का यहाँ क्रियापरकरूप **'अधिष्ठेत्'** मानकर अर्थ किया है—प्रवृत्त (जुटा) रहता है । (२) **अधिष्ठित**—निष्ठापूर्वक स्थित हो जाता है ।[७४]

समत्तमाउहे : समस्तायुध : अर्थ—समग्र आयुधों (पंचविध शस्त्रास्त्रों) से सुसज्जित । **मलं**—पापमल या कर्ममल ।

दुक्खसहे—शारीरिक-मानसिक दुःखों को सहने वाला, परीषहविजेता ।

अममे अकिंचणे—अमम का अर्थ होता है—जिसके ममता—मेरापन नहीं होता, जबकि

---

७२. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार, पृ. ८२५

(ख) 'जहा कोई पुरिसो चउरंगबलसमन्नागताए सेणाए अभिरुद्धो संपन्नाउहो अलं (सूरो अ) सो अप्पाणं परं च ताओ संगामाओ नित्थारेउं ति, अलं नाम समत्थो, तहा सो एवंगुणजुत्तो अलं अप्पाणं परं च इंदिय-कसायसेणाए अभिरुद्धं नित्थारेउं ति ॥' जिन. चूर्णि, पृ. २९३

(ग) अहवा अलं परेसिं, परसद्दो एत्थ सत्तूसु वट्टति, अलं सद्दो विधारणे । सो अलं परेसिं धारणसमत्थो सत्तूण । —अगस्त्यचूर्णि, पृ. २००

७३. (क) सत्तरस विधं संजम जोगं । —अ. चू., पृ. २००

(ख) संयमयोगं-पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं ।

(ग) इह च तपोऽभिधानात् तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाऽभिधानम् ।
—हारि. वृत्ति, पत्र २३८

(घ) बारसविहम्मि वि तवे, सब्भितरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
न वि अत्थि, न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥ —कल्प भाष्य, गा. ११६९

७४. (क) अधिष्ठाता-तपः प्रभृतीनां कर्ता । —हा. वृ., पत्र २३८

(ख) दसवेयालियं (मु. नथ.) पृ. ६८२

अकिंचन का अर्थ होता है—जो हिरण्य आदि द्रव्यकिंचन और मिथ्यात्वादि भावकिंचन से रहित होता है।

अब्भपुडावगमे : अभ्रपुट से वियुक्त होने पर। बादल आदि का दूर होना, या हिम, रज, तुषार, कुहासा आदि सब अभ्रपुटों से वियुक्त होना।[७५]

॥ अष्टम अध्ययन : आचार-प्रणिधि समाप्त ॥

---

७५. पंचवि आउधाणि सुविदिताणि जस्स सो समत्तमायुधो।

(ख) स्योमलो पावमुच्यते। दुक्खं सारीर-माणसं सहतीति दुक्खसहो। णिमम्मते अममे। अब्भस्स पुडं बलाहतादि, अब्भपुडस्स अवगमो—हिम-रजो-तुसार-धूमिकादीण त्रि अवगमो। —अ. चू., पृ. २०१

(ग) दुक्खसहः परिषहजेता। —हा. वृ., प. २३८

नवमं अज्झयणं : विणयसमाही

नौवाँ अध्ययन : विनय-समाधि

प्राथमिक

※ दशवैकालिकसूत्र का यह नौवाँ अध्ययन विनय-समाधि है। विनय में समाधि किन-किन उपायों से एवं किस-किस प्रकार के आचरण से प्राप्त होती है? यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।[1] नौवें पूर्व की तृतीय वस्तु से यह अध्ययन उद्धृत हुआ है।

※ जिस प्रकार वृक्ष, रथ आदि के योग्य होता है, तथा सोना, कड़ा-कुण्डल आदि बनाने के योग्य होता है, ठीक इसी प्रकार आत्मा भी विनयधर्म से समाधि के योग्य होता है।[2]

※ विनय का अर्थ केवल नमन करना, झुक जाना, वाणी से नम्रता दिखाना ही नहीं है, क्योंकि कई लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, दूसरों को धोखा देने या ठगने के लिए भी नमते-झुकते हैं, या मीठे-मीठे वचन बोल कर नम्रता दिखाते हैं। विनयवादी भी एकान्तरूप से कायिक विनय को ही कल्याण का साधन मानकर पापी, उद्दण्ड आदि सभी मनुष्यों को ही नहीं, कुत्ते, घोड़े, सिंह, सर्प आदि को भी नमन करते हैं। लौकिक लाभ की दृष्टि से विनय के मुख्यतया चार भेद हैं—(१) लोकोपचारविनय, (२) अर्थविनय, (३) कामविनय और (४) भयविनय। **लोकोपचार-विनय**—लौकिक लाभ या फल के लिए नानाप्रकार से विनय, भक्ति, सेवाशुश्रूषा आदि करना। **अर्थविनय**—धनप्राप्ति के लिए राजा, सेठ, मंत्री या ग्राहक आदि का विनय करना। **कामविनय**—कामसुख के लिए या भोगसामग्री प्राप्त करने के लिए कुलटा स्त्रियों आदि के समक्ष नम्रता दिखाना, धनादि द्वारा सत्कार करना, सेवा करना। **भयविनय**—किसी भी प्रकार के भयवश वेतनभोगी नौकर, दास, दुर्बल या निर्धन आदि द्वारा अपने स्वामी (मालिक) या सेठ अथवा जबर्दस्त व्यक्ति आदि की विनय करना। ये चारों प्रकार लौकिक विनय के हैं।[3]

※ **लोकोत्तरविनय अथवा मोक्षविनय**—लोकोत्तरविनय के सम्बन्ध में जैनधर्म का दृष्टिकोण केवल गुरु के प्रति नम्रता के अर्थ में परिसीमित नहीं है। वह लोकोत्तरविनय को धर्म का मूल और उसका परम (उत्कृष्ट) फल मोक्ष को मानता है।[4] इसका फलितार्थ यह है कि जो आचरण या व्यवहार कर्मों के बन्धन से आंशिक या सर्वथा रूप से मुक्त (मोक्ष) होने का हेतु हो, उसे मोक्ष या लोकोत्तर विनय कहते हैं। जैनधर्म में विनय एक आभ्यन्तरतप है और तप कर्मनिर्जरा

---

१. दशवै. निर्युक्ति गा. १७

२. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८३२

३. वही, पृ. ८३३

४. एवं धम्मस्स विणओ, मूलं, परमो से मोक्खो। —दश. ९।२।२

का उत्तम साधन होने से धर्म है। धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है और ये तीनों ही मिलकर मोक्षमार्ग हैं। इसलिए मोक्षरूप लक्ष्य को पाने के लिए विनय को सर्वांगीणरूप से जानना और आचरित करना आवश्यक है।

※ ज्ञातासूत्र के अनुसार सुदर्शन ने थावच्चापुत्र अनगार से पूछा—आपके धर्म का मूल क्या है? थावच्चापुत्र ने कहा—हमारे धर्म का मूल विनय है। वह दो प्रकार का है—अगारविनय और अनगारविनय। पांच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत और ११ उपासक प्रतिमाएँ अगारविनय और पांच महाव्रत, १८ पापस्थान-विरति, रात्रिभोजन-विरमण, दशविध-प्रत्याख्यान और १२ भिक्षुप्रतिमाएँ, यह अनगार-विनय है।[५] इसके अतिरिक्त देव, गुरु, धर्म, शास्त्र और आचारवान् के प्रति मोक्ष-लक्ष्यप्राप्ति के उद्देश्य से नम्रता का प्रयोग भी लोकोत्तर विनय के अन्तर्गत है।

※ इसी दृष्टि से औपपातिकसूत्र में लोकोत्तर विनय के ७ प्रकार बताए गए हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वाणी और काया तथा सातवां उपचार विनय है।[६] केवल महाव्रती गुरु के प्रति आदर-सत्कार, सम्मान-बहुमान, सेवा-शुश्रूषा करना उनके आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, भक्ति करना, अनुशासन में रहना, आज्ञापालन करना, उनके प्रति मन, वचन, काया से नम्र, अनुद्धत रहना आदि ही विनय नहीं है।[७] परन्तु प्रस्तुत अध्ययन तथा उत्तराध्ययन-सूत्र के प्रथम 'विनयश्रुत' अध्ययन के परिशीलन से स्पष्ट है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति अनुद्धत रहना, इनकी तथा ज्ञानवान्, दर्शनवान् चारित्रवान् की आशातना न करना भी विनय है।+ लोकोत्तर विनय के इन सब प्रकारों में ज्ञानादि पंच आचार की प्रधानता है।

※ प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक हैं, इन चारों में प्रतिपादित विषय को देखते हुए इनके शीर्षक इस प्रकार हो सकते हैं—(१) गुरु की आशातना के दुष्परिणाम, गुरु की महिमा और विनयभक्ति का निर्देश, (२) विनय के द्वारा प्राप्त उपलब्धि एवं विनयविधि तथा अविनीत-सुविनीत का लक्षण, (३) आचारप्रधान विनयधर्म का आराधक ही लोकपूज्य, (४) विनय-समाधि की परिपूर्णता।

※ प्रथम उद्देशक में सर्वप्रथम ११ गाथाओं में विविध उपमाओं के द्वारा आचार्य या गुरु (चाहे वह अल्पवयस्क या अल्पप्रज्ञ हो) की अविनय, अवज्ञा, अवहेलना या आशातना करने के दुष्परिणामों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि गुरु के प्रति विनय, सत्कार, नमस्कार, हाथ जोड़ना, सेवा-शुश्रूषा करना तथा मन-वचन-काया से आदर आदि क्यों करना चाहिए? अन्त में गुरुविनय के उत्कृष्टफल—अनुत्तर ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति,

---

५. ज्ञातासूत्र ५ अ.

६. औपपातिकसूत्र

७. उत्त. ३०।३२

+ विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो। —प्रश्न. ३, सं. द्वार

कर्म-निर्जरा, समाधियोग, श्रुतशीलसम्पन्नता, बौद्धिक वैभव, मोक्ष एवं अनुत्तरसिद्धि आदि बताए हैं।[८]

※ द्वितीय उद्देशक में विनय को धर्मरूपी वृक्ष का मूल बता कर उसका परमफल मोक्ष बताया गया है। अविनीत को संसारस्रोतपतित, ज्ञान-दर्शनादि दिव्यलक्ष्मी से वंचित अविनीत अश्वादि की तरह दुःखानुभवकर्ता, विविधप्रकार से यातना पाने वाला, विपत्तिभाजन आदि और सुविनीत को ऋद्धि-यश पाकर सुखानुभवकर्ता, ग्रहण-आसेवन शिक्षा से पुष्पित-फलित एवं शिक्षाकाल में कठोर अनुशासन को भी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारकर्ता और गुरुवचनपालक बताया है। तत्पश्चात् गुरु के प्रति कायिक, वाचिक एवं मानसिक विनय की विधि का निर्देश किया है। ग्रहण-आसेवन शिक्षा को प्राप्त करने का अधिकारी सुविनीत ही होता है। अन्त में अविनीत, उद्धत, चण्ड, गर्विष्ठ, पिशुन, साहसिक, आज्ञा को भंग करने वाला, अदृष्टधर्मा, विनय में अनिपुण एवं असंविभागी को मोक्ष की अप्राप्ति और आज्ञाकारी, गीतार्थ और विनयकोविद को सर्वदा कर्मक्षय करके संसारसागर को पार करके उत्तम गति की प्राप्ति बताई है।[९]

※ तृतीय उद्देशक में बताया गया है कि पूज्य वह होता है, जो अग्निहोत्री के समान गुरु की सेवा-शुश्रूषा में सतत जागरूक रह कर उनकी आराधना करता है, गुरु के उपदेशानुसार आचरण करता है, अल्पवयस्क किन्तु दीक्षा में ज्येष्ठ साधु को पूजनीय मान कर विनयभक्ति करता है। जो नम्र है, सत्यवादी है, गुरुसेवा में रत है, अज्ञात-भिक्षाचर्या करता है, अलाभ में खिन्न और लाभ में स्वप्रशंसापरायण नहीं होता, जो अल्पेच्छ, यथा-लाभ-सन्तुष्ट, कण्टकसम कठोरवचन-सहिष्णु, जितेन्द्रिय एवं अवर्णवाद-विमुख होता है, निषिद्ध भाषा का प्रयोग नहीं करता, जो रसलोलुप, चमत्कारप्रदर्शक, पिशुन, दीनभाव से याचक, आत्मश्लाघाकर्ता नहीं है, जो अकुतूहली है, गुणों से साधु है, सब जीवों को आत्मवत् मानता है, किसी को तिरस्कृत नहीं करता, गर्व एवं क्रोध से दूर है, योग्यमार्गदर्शक है, पंचमहाव्रतों में रत है, त्रिगुप्त, कषायविजयी तथा जिनागमनिपुण है।[१०]

※ चतुर्थ उद्देशक में विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा विनयसमाधि के चार स्थानों का विशद निरूपण किया गया है। अंत में चारों समाधियों के ज्ञाता और आचरणकर्ता को जन्म-मरण से सर्वथा मुक्ति अथवा दिव्यलोकप्राप्ति बताई है।[११]

---

८. दसवेयालियं सुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) ९।१।

९. वही, ९।२

१०. वही ९।३

११. वही, ९।४

नवमं अज्झयणं : विणय-समाही

नौवाँ अध्ययन : विनय-समाधि

पढमो उद्देसो : प्रथम उद्देशक

अविनीत साधक द्वारा की गई गुरु-आशातना के दुष्परिणाम

४५२. थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥१॥

४५३. जे यावि मंदेत्ति* गुरुं विइत्ता डहरे इमे +अप्पसुए त्ति नच्चा ।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूणं ॥२॥

४५४. पगईए मंदा वि भवंति एगे डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया ।
आयारमंता गुणसुट्ठियप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥३॥

४५५. जे यावि नागं डहरे= त्ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ ।
एवाऽऽयरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मंदे ॥४॥

४५६. आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो किं जीवनासाओ卐 परं नु कुज्जा ?
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहि-आसायण नत्थि मोक्खो ॥५॥

४५७. जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥६॥

४५८. सिया हु से पावय नो डहेज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विसं हालहलं न मारे, न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥७॥

४५९. जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा ।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥८॥

४६०. सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे, सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्गं, न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥९॥

४६१. आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहि-आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाह-सुहाभिकंखी गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥१०॥

पाठान्तर—* मंदत्ति । +अप्पसुअ त्ति । =डहरं ति । 卐 नासाउ ।

[४५२] (जो साधक) गर्व, क्रोध, माया और प्रमादवश गुरुदेव के समीप विनय नहीं सीखता, (उसके) वे (अहंकारादि दुर्गुण) ही वस्तुतः उस (साधु) के ज्ञानादि वैभव के (उसी प्रकार) विनाश लिए होते हैं, जिस प्रकार वांस का फल उसी के विनाश के लिए होता है ।।१।।

[४५३] जो (अविनीत साधु) गुरु की 'ये मन्द (मन्दबुद्धि) हैं, ये अल्पवयस्क हैं तथा अल्पश्रुत हैं' ऐसा जान कर हीलना करते हैं, वे मिथ्यात्व को प्राप्त करके गुरुओं की आशातना करते हैं ।।२।।

[४५४] कई (वयोवृद्ध आचार्य) स्वभाव (प्रकृति) से ही मन्द होते हैं और कोई अल्पवयस्क (होते हुए) भी श्रुत (शास्त्रज्ञान) और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं । वे आचारवान् और गुणों में सुस्थितात्मा (आचार्य चाहे मन्द हों या प्राज्ञ) अवज्ञा (हीलना) किये जाने पर (गुणराशि को उसी प्रकार) भस्म कर डालते हैं, जिस प्रकार इन्धनराशि को अग्नि ।।३।।

[४५५] जो कोई (अज्ञ साधक) सर्प को 'छोटा बच्चा है' यह जान कर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है, इसी प्रकार (अल्पवयस्क) आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्दबुद्धि भी संसार में जन्म-मरण (या एकेन्द्रियादि जाति) के पथ पर गमन (परिभ्रमण) करता है ।।४।।

[४५६] अत्यन्त क्रुद्ध हुआ भी आशीविष सर्प जीवन-नाश से अधिक और क्या कर सकता है ? परन्तु अप्रसन्न हुए पूज्यपाद आचार्य तो अबोधि के कारण बनते हैं, (जिससे आचार्य की) आशा-तना से मोक्ष नहीं मिलता ।।५।।

[४५७] जो प्रज्वलित अग्नि को (पैरों से) लांघता-मसलता है, अथवा आशीविष सर्प को (छेड़कर) कुपित करता है, या जीवितार्थी (जीवित रहने का अभिलाषी) होकर (भी) जो विष-भक्षण करता है, ये सब उपमाएँ गुरुओं की आशातना के साथ (घटित होती हैं) ।।६।।

[४५८] कदाचित् वह (प्रचण्ड) अग्नि (उस पर पैर रख कर चलने वाले को) न जलाए, अथवा कुपित हुआ आशीविष सर्प भी (छेड़खानी करने वाले को) न डसे, इसी प्रकार कदाचित् वह हलाहल (नामक तीव्र विष) भी (खाने वाले को) न मारे; किन्तु गुरु की अवहेलना से (कदापि) मोक्ष सम्भव नहीं है ।।७।।

[४५९] जो (मदान्ध) पर्वत को सिर से फोड़ना चाहता है, अथवा सोये हुए सिंह को जगाता है, या जो शक्ति (भाले) की नोक पर (हाथ-पैर आदि से) प्रहार करता है, गुरुओं की आशातना करने वाला भी इनके तुल्य है ।।८।।

[४६०] सम्भव है, कोई अपने सिर से पर्वत का भी भेदन कर दे, कदाचित् कुपित हुआ सिंह भी (उस जगाने वाले को) न खाए, अथवा सम्भव है भाले की नोंक भी (उस पर प्रहार करने वाले का) भेदन न करे; किन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष (कदापि) सम्भव नहीं है ।।९।।

[४६१] आचार्यप्रवर के अप्रसन्न होने पर बोधिलाभ नहीं होता तथा (उनकी) आशातना से मोक्ष नहीं मिलता । इसलिए निराबाध (मोक्ष) सुख चाहने वाला साधु गुरु की प्रसन्नता (कृपा) के अभिमुख होकर प्रयत्नशील रहे ।।१०।।

विवेचन—गुरु की आशातना के फल का निरूपण—प्रस्तुत १० गाथाओं (४५२ से ४६१) में गुरुओं की आशातना के दुष्परिणामों का विविध उपमाओं द्वारा निरूपण किया गया है।

विणयं न सिक्खे : व्याख्या—गुरुदेव के समीप रह कर विनय नहीं सीखता अर्थात्—विनय का शिक्षण या अभ्यास नहीं करता। जिनदासचूर्णि में विनय के दो भेद किये गए हैं—ग्रहणविनय और आसेवनविनय। अगस्त्यचूर्णि एवं हारि. वृत्ति में 'ग्रहण' के बदले 'शिक्षा' शब्द मिलता है। ग्रहणविनय का अर्थ है—शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना, साधु समाचारी, श्रमण धर्म आदि का शिक्षण लेना। आसेवनाविनय का अर्थ है—साध्वाचार एवं प्रतिलेखन-स्वाध्याय-ध्यान आदि धर्मक्रिया का प्रशिक्षण या अभ्यास करना। व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो दशाश्रुतस्कन्ध आदि में विनय का अर्थ—आदर, बहुमान, नम्रता, अनुशासन, मर्यादा, विशिष्टनीति (कर्तव्यनिष्ठा) अनाशातना, संयम और आचार आदि हैं।[1]

'थंभा' आदि पदों के अर्थ—थंभा-स्तम्भ से—गर्व से। **मयप्पमाया**—माया और प्रमाद (मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा असावधानी आलस्य आदि) वश। **अभूइभावो : अभूतिभाव**—भूति का अर्थ है वैभव या ऋद्धि, भूति का अभाव अभूतिभाव है, जिसका पर्यायवाची शब्द विनाशभाव है। **कीयस्स वहाय**—हवा चलने से जो आवाज करता है, उस बांस को कीचक कहते हैं। वह फल लगते ही सूख जाता है और नष्ट हो जाता है। अतः कीचक बांस का फल उसके विनाश के लिए होता है, उसी प्रकार अहंकार आदि दुर्गुण ज्ञान-दर्शन आदि गुणों, आत्मशक्तियों के विनाश (विकसित न होने देने) के लिए होते हैं।[2]

विनयधर्म को ग्रहण न करने वाले कौन-कौन ?—प्रस्तुत गाथा (४५२) में बताया गया है कि जो जाति, कुल, बल, रूप आदि का अहंकार करते हैं, जो क्रोधी हैं, बात-बात में आगबबूला हो जाते हैं, गुरु से शिक्षा लेते समय जिनकी त्योरियाँ चढ़ जाती हैं; जो मायावी हैं, शिक्षा पाने के डर से—'आज मेरे पेट में दर्द है' या 'मस्तक दुख रहा है,' इत्यादि—छल-कपट करके बेकार बैठे

---

१. (क) जिनदासचूर्णि, पृ. ३०२ : विनयेन न तिष्ठति, नासेवत इत्यर्थः। विणये दुविहे-गहणविणए, आसेवणाविणए।
   (ख) विनयं आसेवना—शिक्षाभेदभिन्नम्। —हारि. वृत्ति, २४२ पत्र
   (ग) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ४
   (घ) दसवेयालियं (मु. नथमलजी) पृ. ४३०
   (ङ) दशवै. (संतबालजी) पृ. ११९

२. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामाजी म.) पृ. ८३२
   (ख) मायातो निकृतिरूपायाः। —हारि. वृत्ति, पत्र २४२
   (ग) प्रमादग्रहणेन—निद्दाविकहादिपमादट्ठाणा गहिया। अभूतिभावो नाम अभूतिभावो त्ति वा विणासभावो त्ति वा एगट्ठा। —जिन. चूर्णि, पृ. ३०२
   (घ) भूतिभावो ऋद्धी, भूतीए अभावो अभूतिभावो—असंपद्भाव इत्यर्थः। कीयो वंसो, सो य फलेण सुक्खति। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. २०६
   (ङ) 'स्वनन् वातात् स कीचकः।' —अभिधानचिन्तामणि, ४-२१९

रहने, गपशप करने या सोते रहने में राजी रहते हैं, इसी तरह जो प्रमादी हैं, जिन्हें पढ़ने-लिखने या सेवा करने में अरुचि होती है, ऐसे दुर्गुणों वाले साधक विनयधर्म की शिक्षा ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हो सकते ।[3]

आशातना : स्वरूप, प्रकार, कारण तथा दुष्परिणाम—आशातना का अर्थ—सब ओर से विनाश करना या कदर्थना करना है। गुरु की अवहेलना, अवज्ञा या लघुता करने का प्रयत्न आशातना है। गुरु की आशातना अपने ही सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन की आशातना है। आशातना शब्द के विभिन्न अर्थ विभिन्न स्थलों में मिलते हैं—गुरु, आचार्य आदि के प्रतिकूल आचरण, उद्दण्डता, उद्धतता, विनयमर्यादारहित व्यवहार, गुरुवचन न मानना आदि। गुरुजनों की अवज्ञा अविनीत शिष्य दो प्रकार से करते हैं—सूया और असूया से। सूया रीति वह है, जो ऊपर से तो स्तुतिरूप मालूम होती है परन्तु उसके गर्भ में निन्दारूप विषाक्त नदी बहती है। यथा—'गुरुजी विद्या में तो बृहस्पति से भी श्रेष्ठतर हैं, सभी शास्त्रों में इनकी अबाधगति है, इनके अनुभवों का तो कहना ही क्या ? पूर्ण वयोवृद्ध जो हैं। ये हमसे सभी प्रकार से बड़े हैं, आदि-आदि। **असूयारीति** वह है, जिसमें गुरु की प्रत्यक्ष रूप में निन्दा की जाती है। यथा—तुम्हें क्या आता है ! तुम से तो हम ही अच्छे, जो थोड़ा-बहुत शास्त्रीयज्ञान रखते हैं। अवस्था भी कितनी छोटी है ! हमें तो इन से अध्ययन करते लज्जा आती है,' आदि ।[4]

(१) इस प्रकार जो गुरु की हीलना—अवज्ञा करते हैं, वे गुरु की आशातना करते हैं, वे मिथ्यात्व को प्राप्त करते हैं।

(२) कई साधु वयोवृद्ध होते हुए भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की कमी के कारण स्वभाव से ही अल्पप्रज्ञाशील होते हैं, इसके विपरीत कई साधु अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और प्रज्ञा से सम्पन्न होते हैं। किन्तु ज्ञान में भले ही न्यूनाधिक हों, आचारवान् और सद्गुणों में सुदृढ़ ऐसे गुरुओं की अवज्ञा (आशातना) सद्गुणों को उसी तरह भस्म कर देती है, जिस प्रकार अग्नि क्षणमात्र में इन्धन के विशाल ढेर को भस्म कर देती है।

(३) सर्प के छोटे-से बच्चे को छेड़ने वाला अपना अहित कर बैठता है। उसी प्रकार आचार्य को अल्पवयस्क समझ कर जो उनकी आशातना करता है, वह एकेन्द्रियादि जातियों में जन्म-मरण करता रहता है। कदाचित् मंत्रादिबल से अग्नि पैर आदि को न जलाए, मंत्रादिबल से वश किया सांप भी कदाचित् डस न सके, मंत्रादिप्रयोग से तीव्र विष भी कदाचित् न मारे, किन्तु गुरु की की हुई आशातना के अशुभ फल से कभी छुटकारा नहीं हो सकता। उसके अशुभ फल भोगे विना कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता।

(४) गुरु की आशातना पर्वत से अपना सिर टकराना है, सोये हुए सिंह को छेड़कर जगाना है, या भाले की नोक पर हथेली से प्रहार करना है। पर्वत से टकराने वाले का सिर चकनाचूर हो

---

३. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ८३४

४. (क) दसवेयालियं (मुनि नथ.), पृ. ४३१

(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मा.) पृ. ८३६-८३७

जाता है, सिंह को जगाने वाला स्वयं काल-कवलित हो जाता है और भाले की नोक पर प्रहार करने वाले के अपने हाथ-पैर से रक्तधारा बहने लगती है। इसी प्रकार गुरु की आशातना करने वाला अविवेकी अपना ही अहित करता है। इहलोक-परलोक दोनों में अतीव दुःख पाता है। इसलिए अनाबाध सुखरूप मोक्ष के अभिलाषी साधक को सदैव गुरु की सेवा-शुश्रूषा एवं भक्ति करके उन्हें प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह इन गाथाओं का तात्पर्य है।[५]

पगईए मंदा—क्षयोपशम की विचित्रता के कारण कई स्वभाव से शास्त्रीययुक्तिपूर्वक व्याख्या करने में असमर्थ होते हैं, कई स्वभाव से मंद-अल्पप्रज्ञ होते हुए भी अतिवाचाल नहीं होते, उपशान्त होते हैं।

निअच्छई जाइपहं—एकेन्द्रियादि योनियों में चिरकाल तक भ्रमण करता है, अथवा जाति यानी जन्म, वध यानी मरण—अर्थात् चिरकाल तक जन्म-मरण को पाता है, या जातिमार्ग अर्थात्—संसार में आवागमन—परिभ्रमण करता है।[६]

गुरु (आचार्य) के प्रति विविध रूपों में विनय का प्रयोग

४६२. जहाऽऽहियग्गी जलणं नमंसे नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं।
एवाऽऽयरियं उवचिट्ठएज्जा अणंतणाणोवगओ वि संतो ॥११॥

४६३. जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ कायग्गिरा भो! मणसा य निच्चं ॥१२॥

४६४. लज्जा दया संजम बंभचेरं कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति, ते हं गुरू सययं पूययामि ॥१३॥

[४६२] जिस प्रकार आहिताग्नि (अग्निपूजक) ब्राह्मण नाना प्रकार की आहुतियों और मंत्रपदों से अभिषिक्त की हुई अग्नि को नमस्कार करता है, उसी प्रकार शिष्य अनन्तज्ञान-सम्पन्न हो जाने पर भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा-भक्ति करे ॥ ११ ॥

[४६३] जिसके पास धर्म-(शास्त्रों के) पदों का शिक्षण ले, हे शिष्य! उसके प्रति विनय (-भक्ति) का प्रयोग करो। सिर से नमन करके, हाथों को जोड़ कर तथा काया, वाणी और मन से सदैव सत्कार करो ॥ १२ ॥

---

५ दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ८३७ से ८५०

६. (क) क्षयोपशमवैचित्र्यात् तंत्रयुक्त्याऽऽलोचनाऽसमर्थः सत्प्रज्ञाविकल इति। जातिपन्थानं-द्वीन्द्रियादि जातिमार्गम्। —हारि. वृत्ति, पत्र २४४

(ख) 'पगइ' त्ति सूत्रं—प्रकृत्या स्वभावेन, कर्मवैचित्र्यात् मंदा अपि सद्बुद्धिरहिता अपि एके—केचन वयोवृद्धा अपि। —हारि. वृत्ति, पत्र २४४

(ग) स्वभावो—पगती, तीए मंदा वि णातिवायाला उवसंता। "जातीं—समुप्पत्ती वधो-मरणं, जन्ममरणाणि, अथवा जातिपधं—जातिमग्गं—संसारः।" —अगस्त्यचूर्णि, पृ. २०७

[४६४] कल्याणभागी (साधु) के लिए लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य; ये विशोधि-(कर्म-मल-निवारण करने) के स्थान हैं। अतः जो गुरु मुझे (इस सद्गुणों की) निरन्तर शिक्षा देते हैं, उनकी मैं सतत पूजा करूं, (शिष्य सदा यह भाव रखे।) ॥ १३ ॥

विवेचन—प्रत्येक परिस्थिति में विनय करना अनिवार्य—प्रस्तुत तीन गाथाओं (४६२ से ४६४ तक) में ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए शिष्य को भी गुरुदेव की विनय-भक्ति, सेवा, पूजा, सिर से नमन, वाणी, काया और मन से सत्कार और हाथ जोड़कर वन्दन आदि करने का युक्तिपूर्वक विधान किया गया है।

विनय की अनिवार्यता—यहाँ तीन गाथाओं में तीन उक्तियों से विनय की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है—(१) जैसे अग्निहोत्री बनने के लिए ब्राह्मण विविध वेदमंत्रों और घृत-मधु-प्रक्षेपादि आहुतियों से अभिषिक्त एवं अपने घर में स्थापित अग्नि की नमस्कार आदि से पूजाभक्ति करता है, उसी प्रकार अनन्तज्ञानसम्पन्न (केवलज्ञानी) हो जाने पर भी गुरु की सविनय उपासना करे, (२) जिन से आत्मगुणविकासकर धर्मसिद्धान्त-वाक्यों का कल्याणकारी शिक्षण लिया है, उन परम-उपकारी गुरु की हर प्रकार से विनय करना चाहिए। (३) विशुद्धिस्थानरूप लज्जा, दया आदि सद्गुणों का जिन गुरुओं ने मुझे बारबार शिक्षण देकर कल्याणभागी बनाया है, उनकी सतत पूजा-भक्ति करनी उचित है।[७] (ऐसा विचार करना चाहिए)।

'आहियग्गी' आदि पदों के विशेषार्थ :—आहियग्गी—आहिताग्नि—जो ब्राह्मण अग्निहोत्री बनने के लिए अपने घर में अग्नि सतत प्रज्वलित रखता है, उसकी पूजा विविध मंत्रों और आहुतियों से करता है, वह आहिताग्नि कहलाता है। **मंतपय—मंत्रपदों से**—'अग्नये स्वाहा' इत्यादि मंत्रवाक्यों से। **आहुई—आहुतियों से**—मंत्र पढ़कर अग्नि में घृत, मधु आदि को डालना आहुति है। **धम्मपयाइं**—धर्म-बोधरूप फल वाले सिद्धान्तवाक्य धर्मपद हैं।[८]

विनयभक्ति के प्रकार—प्रथम विनयभक्ति—नमस्कार से होती है, यह नमन सिर झुका कर किया जाता है। अपना अहं दूर करने के लिए सर्वप्रथम अंग नमस्कार है। नमस्कार जिसको किया जाता है, उसकी गुरुता का और अपनी लघुता का द्योतक है। जब मनुष्य स्वयं को लघु समझेगा, तभी वह गुरुता की ओर बढ़ेगा।

दूसरी विनयभक्ति—करयुगल जोड़ना है। दोनों हाथ जोड़ कर गुरु को वन्दना की जाती है। **'सिरसा पंजलीओ'** इन दोनों पदों से चूर्णिकार **'पंचांगवन्दन'**-विधि सूचित करते हैं। 'सिरसा पंजलीओ, का फलितार्थ है—वे पंचांगवन्दन करते हैं। यथा—दोनों घुटनों को भूमि पर टिका कर, दोनों हाथों को भूमि पर रख कर, उन पर पांचवाँ अंग सिर रखकर नमाना पंचांगवन्दन है।

तीसरी विनयभक्ति—काया द्वारा सेवा-शुश्रूषा करने से होती है। यथा—गुरु के पधारने पर

---

७. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८५२

८. (क) आहिताग्निः कृतावसथादिर्ब्राह्मणः। आहुतयो-घृतप्रक्षेपादिलक्षणाः। मंत्रपदानि—'अग्नये स्वाहेत्यवमादीनि।' धर्मपदानि-धर्मफलानि सिद्धान्तफलानि। —हारि. वृत्ति, पत्र २४५

(ख) नाणाविहेण घयादिणा मंतं उच्चारेऊण आहुयं दलयइ। —जिन. चूर्णि, पृ. ३०६

खड़े होना, उठकर सामने जाना, उनका पैर पोंछना, उन्हें आहार-पानी ला कर देना, रुग्णावस्था में उनकी सेवा करना, (पगचंपी करना, दवा लाना) इत्यादि ।

चौथी विनयभक्ति—वचन से सत्कार करने से होती है । यथा—कहीं आते-जाते विनयपूर्वक 'मत्थएण वंदामि' कहना प्रसंगोपात्त गुरु के गुणगान, स्तुति, प्रशंसा आदि करना, गुरु द्वारा किसी कार्य की आज्ञा मिलने पर या गुरु द्वारा कोई शिक्षावचन कहे जाने पर 'तहत्ति' कह कर स्वीकार करना आदि ।

पांचवीं विनयभक्ति—मन से होती है । यथा—गुरु के प्रति अपने हृदय में पूर्ण अविचल श्रद्धा एवं भक्तिभावना रखना, गुरु को सर्वोपरि पूज्य मानना, उनको अपने व्यवहार से किसी भी प्रकार का क्लेश न हो, इसका ध्यान रखना । 'नित्य' शब्द यहाँ इसलिए दिया गया है कि यह गुरु-भक्ति केवल शास्त्राध्ययन के समय में ही न हो, किन्तु सदैव, प्रत्येक परिस्थिति में करनी चाहिए ।[९]

लज्जा, दया आदि विशोधिस्थान क्यों?—कल्याणभागी साधक के लिए लज्जा आदि आत्मा की विशुद्धि के स्थान इसलिए हैं कि लज्जा अर्थात्—अकरणीय या अपवाद का भय रहता है तो व्यक्ति पापकर्म करने से रुक जाता है, प्राणियों के प्रति दया के कारण भी हिंसा आदि में प्रवृत्त नहीं होता, १७ प्रकार के संयम से जीवों की रक्षा करता है, आत्मभावों में रमणरूप ब्रह्मचर्य से परभाव या विभाव में प्रवृत्त होने से रुक जाता है । अतः ये सब कर्ममल को दूर करके आत्मा को विशुद्ध बनाने के कारण हैं ।[१०]

जे मे गुरू सययमणुसासयंति : इन (आत्मविशुद्धिकर गुणों) की गुरु मुझे सतत शिक्षा देते हैं, या जो गुरु मुझे सदैव हितशिक्षा देते हैं ।[११] अनुशास्ता (गुरु) की इच्छा शिष्य को सदैव योग्य बनाने की होती है, इसलिए अनुशासन करने (शिक्षा देने) वाले गुरुओं की सदैव पूजा—विनयभक्ति करनी चाहिए ।

गुरु (आचार्य) की महिमा

४६५. जहा निसंते तवणऽच्चिमाली पभासई केवलभारहं तु ।
एवाऽऽयरियो सुय-सील-बुद्धिए विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥१४॥

---

९. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८५४
(ख) सिरसा पंजलीओ त्ति—एतेण पंचंगितस्स वंदणं गहणं । —अ. चू., पृ. २०८
(ग) पंचंगीएण वंदणिएण तं जहा—जाणुदुगं भूमीए निवडिण, हत्थदुएण भूमीए अवट्ठंभिय, ततो सिरं पंचमं निवाएज्जा । —जिन. चूर्णि, पृ. ३०६

१०. (क) अकरणिज्ज-संकणं लज्जा । —अ. चू., पृ. २०८
(ख) अपवादभयं—लज्जा । —जि. चू., पृ. ३०६
(ग) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८५६

११. (क) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ४२९
(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८५६

४६६. जहा ससी कोमुइजोगजुत्ते नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के, एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥१५॥

[४६५] जैसे रात्रि के अन्त (दिवस के प्रारम्भ) में प्रदीप्त होता हुआ (जाज्वल्यमान) सूर्य (अपनी किरणों से) सम्पूर्ण भारत (भारतवर्ष—भरतक्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही आचार्य श्रुत, शील और प्रज्ञा से (विश्व के समस्त जड़-चैतन्य पदार्थों के) भावों को प्रकाशित करते हैं तथा जिस प्रकार देवों के बीच इन्द्र सुशोभित होता है, उसी प्रकार आचार्य भी साधुओं के मध्य में सुशोभित होते हैं ॥ १४ ॥

[४६६] जैसे मेघों से मुक्त अत्यन्त निर्मल आकाश में कौमुदी के योग से युक्त, नक्षत्र और तारागण से परिवृत चन्द्रमा सुशोभित होता है, उसी प्रकार गणी (आचार्य) भी भिक्षुओं के बीच सुशोभित होते हैं ॥ १५ ॥

विवेचन—साधुगण के मध्य आचार्य की शोभा—प्रस्तुत दो गाथाओं में आचार्य अतीव पूजनीय हैं, यह तथ्य तीन उपमाओं द्वारा बतलाया गया है।

निसंते-निशान्ते : भावार्थ—रात्रि का अन्त (व्यतीत) होने पर प्रभात के समय। कौमुदी-योगयुक्त कार्तिकी पूर्णिमा का चन्द्रमा।[१२]

प्रथम उपमा—रात्रि के व्यतीत होने पर प्रभात के समय देदीप्यमान सूर्य उदयाचल पर उदय होकर समग्र भरतखण्ड को प्रकाशित कर देता है, सोते हुए लोगों को जगाकर अपने-अपने कार्यों में उत्साहपूर्वक लगा देता है। उसी प्रकार श्रुत, (आगमज्ञान) से, शील (परद्रोहविरतिरूप संयम) से तथा (तर्कणारूप) प्रज्ञा से सम्पन्न आचार्य स्पष्ट उपदेश द्वारा जड़-चेतन पदार्थों के भावों को प्रकाशित करते हैं और शिष्यों को प्रबोधित कर आत्मशुद्धि के कार्य में पूर्ण उत्साह के साथ जुटा देते हैं। **द्वितीय उपमा**—देवलोक में सभी देवों के बीच रत्नासनासीन इन्द्र सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यलोक में छोटे-बड़े सभी साधुओं के बीच पट्ट पर विराजमान संघनायक आचार्य सुशोभित होते हैं। **तृतीय उपमा**—जिस प्रकार कार्तिकपूर्णिमा या शरद्पूर्णिमा की विमल रात्रि में मेघमुक्त निर्मल आकाश में नक्षत्र और तारागण से घिरा हुआ चन्द्रमा सुशोभित होता है, वह अपनी अतिशुभ्र किरणों द्वारा अन्धकाराच्छन्न वस्तुओं को प्रकाशित करता है, दर्शकों के चित्त को आह्लादित करता है, इसी प्रकार गणाधिपति आचार्य भी साधुओं के बीच विराजमान होते हुए दर्शकों के चित्त को आह्लादित करते हैं तथा विशुद्ध श्रुतज्ञान द्वारा गूढ भावों को प्रकाशित करते हैं।[१३]

गुरु की आराधना का निर्देश और फल

४६७. महागरा आयरिया महेसी समाहिजोगे सुय-सील-बुद्धिए।
संपाविउकामे अणुत्तराइं आराहए तोसए धम्मकामी ॥१६॥

---

१२. 'कौमुदीयोगयुक्तः कार्तिकपौर्णमास्यामुदितः।' —हारि. वृत्ति, पत्र २४६

१३. दशवैकालिक. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८५८-८६०

४६८. सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं सुस्सूसए आयरिएऽप्पमत्तो।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे, से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥१७॥
—त्ति बेमि ॥

विणयसमाहीए पढमो उद्देसो समत्तो ॥९-१॥

[४६७] अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि गुणरत्नों) की सम्प्राप्ति का इच्छुक तथा धर्मकामी (निर्जराधर्माभिलाषी) साधु (ज्ञानादि रत्नों के) महान् आकर (खान), समाधियोग तथा श्रुत, शील, और प्रज्ञा से सम्पन्न महर्षि आचार्यों की आराधना करे तथा उनको (विनयभक्ति से सदा) प्रसन्न रखे ॥ १६ ॥

[४६८] मेधावी साधु (पूर्वोक्त) सुभाषित वचनों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना करके अनुत्तर (सर्वोत्तम) सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥ —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—आचार्यों की आराधना की विधि और फलश्रुति—प्रस्तुत दो गाथाओं (४६७-४६८) में महागुणसम्पन्न आचार्यों की आराधना साधक को क्यों और कैसे करनी चाहिए? यह बताकर उक्त आराधना के महाफल का प्रतिपादन किया गया है।

महागरा० आदि : व्याख्या—प्रस्तुत पंक्ति में आचार्यों की विशिष्टगुणसम्पन्नता का उल्लेख किया गया है। यहाँ आचार्यों के छह विशेषण प्रयुक्त हैं—**(१) महागरा : महाकर** अर्थात्—आचार्य ज्ञानादि भावरत्नों के महान् आकर (खान) हैं, (२ से ५) तथा **समाहिजोग**—समाधियोग से अर्थात् विशिष्ट ध्यान से, **सुय-सीलबुद्धिए**—श्रुत, शील और प्रज्ञा से, श्रुत अर्थात्—द्वादशांगी के अभ्यास से, शील अर्थात् परद्रोहविरतिरूप शील से और बुद्धि सद्-असद्-विवेकशालिनी प्रज्ञा से अथवा औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों से संयुक्त हैं और **(६) महेसी : दो रूप : दो अर्थ**—(१) महर्षि—महान् ऋषि, (२) **महेषी**—मोक्षैषी—मोक्षाभिलाषी हैं।[14]

ऐसे महान् आचार्यों की आराधना क्यों करनी चाहिए? इस विषय में इन दोनों गाथाओं में साधु के जो विशेषण दिये गए हैं, वे ही कारण हैं—(१) क्योंकि साधु सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि भावरत्नों को प्राप्त करने का इच्छुक है, (२) क्योंकि वह कर्मक्षयरूप निर्जराधर्म का आकांक्षी है, (३) क्योंकि वह मेधावी है, अर्थात्—मर्यादाशील है, अथवा स्वपरहित-बुद्धि से सम्पन्न है।[15]

---

१४. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मा.) पृ. ८६१
(ख) महागरा समाधिजोगाणं सुत्तस्सवारसंगस्स, सीलस्स य बुद्धिए य अथवा सुत-सील-बुद्धीए समाधिजोगाणं महागरा। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. २०८
(ग) 'महैषिणो मोक्षैषिणः, कथम् महैषिण? इत्याह—समाधियोग-श्रुत-शील-बुद्धिभिः। समाधियोगैः—ध्यानविशेषैः, श्रुतेन—द्वादशांगाभ्यासेन, शीलेन—परद्रोहविरतिरूपेण, बुद्धया च औत्पतिक्यादिरूपया।' —हारि. वृत्ति, पत्र २४६

१५. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार, पृ. ८६१, ८६३

महान् आचार्यों की आराधना कैसे करे ? इसके लिए गाथा में प्रयुक्त ये शब्द विशेष मननीय हैं—(१) आराहए, (२) तोसइ, (३) सुच्चाण, सुभासियाइं, सुस्सूसए, (४) अप्पमत्तो। इनका भावार्थ क्रमशः इस प्रकार है—(१) पूर्वगाथाओं के विवेचन में कथित विनयभक्ति के सभी प्रकारों द्वारा आराधना करे, (२) उन्हें अपने विनयव्यवहार से तथा ज्ञानादि की आराधना करके तुष्ट—प्रसन्न करे, (३) पूर्वगाथाओं में उक्त विनयधर्म के सुभाषितों को अथवा आचार्य के सुवचनों को अवधानपूर्वक सुन कर उनकी सेवा-शुश्रूषा करे, (४) निद्रादि प्रमादों को छोड़कर अप्रमत्तभाव से आचार्यश्री की आज्ञा का पालन करे।[१६]

तीन फलश्रुति—आचार्यश्री की आराधना से तीन फल उपलब्ध होते हैं—(१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि अनेक सद्गुणों की आराधना होती है, (२) या तो उसी भव में सर्वोत्कृष्ट सिद्धि-मुक्ति प्राप्त हो जाती है, (३) या अनुत्तरविमान तक पहुंचकर सुकुलादि में जन्म लेकर क्रमशः मोक्षप्राप्ति होती है।[१७]

॥ नवम अध्ययन : विनय-समाधि : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१६. दशवै. (आचार्य आत्मारामजी म.), पत्राकार पृ. ८६१ से ८६३ तक

१७. वही, पत्राकार पृ. ८६१, ८६३

नवमं अज्झयणं : विणय-समाही

नौवाँ अध्ययन : विनय-समाधि

बीओ उद्देसो : द्वितीय उद्देशक

वृक्ष की उपमा से विनय के माहात्म्य और फल का निरूपण

४६९. मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥१॥

४७०. एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

[४६९-४७०] वृक्ष के मूल से (सर्वप्रथम) स्कन्ध उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् स्कन्ध से शाखाएँ उगती हैं और शाखाओं में से प्रशाखाएँ निकलती हैं। तदनन्तर उस (वृक्ष) के पत्र, पुष्प, (फिर) फल और रस उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

इसी प्रकार धर्म (-रूप वृक्ष) का मूल विनय है, और उस (धर्मरूपी वृक्ष) का परम (अन्तिम अथवा उत्कृष्ट रसयुक्त फल) मोक्ष है। उस (विनय) के द्वारा (विनयी श्रमण) कीर्ति, श्रुत और निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विवेचन—धर्म के मूल, अन्तिम फल तथा मध्यवर्ती फल सम्बन्धी अवस्थाएँ—प्रस्तुत गाथाद्वय में वृक्ष की उपमा द्वारा विनय का माहात्म्य व्यक्त करते हुए उसे उपमा में धर्म का मूल बताकर उसकी परम और अपरम अवस्थाओं का फल के सन्दर्भ में उल्लेख किया गया है। उपमेय में केवल मूल और परम का उल्लेख है। जिस प्रकार वृक्ष की अपरम अवस्थाएँ हैं—स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल, रस आदि, उसी प्रकार धर्म का परम फल मोक्ष है, जो विनय से प्राप्त होता है और अपरम फल है—देवलोक-प्राप्ति, सुकुल में जन्म, तथा क्षीरास्रव, मधुरास्रव आदि लब्धियों का प्राप्त होना इत्यादि।[1]

सिग्घं-सग्घं—दो रूप : दो विशेषार्थ—(१) श्लाघ्यं—श्रुत का विशेषण—प्रशंसनीय श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) को (२) श्लाघा—प्रशंसा।[2]

---

१. (क) "अपरमाणि उ खंधो साहा-पत्त-पुप्फ-फलाणि त्ति, एवं धम्मस्स परमो मोक्खो, अपरमाणि उ देवलोग-सुकुलपच्चायायादीणि खीरासवमधुरासवादीणि त्ति।" —जिन. चूर्णि, पृ. २०९
(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.)

२. (क) सुतं च सग्घं-साघणीयमधिगच्छति। —अगस्त्यचूर्णि
(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८६६

निस्सेसं : दो रूप : दो अर्थ—(१) निःश्रेयस—मोक्ष। (२) निःशेष—समस्त।[3] ये सब विनय के इहलौकिक फल हैं। अथवा निःशेष श्लाघा का विशेषण है।

अविनीत और सुविनीत के दोष-गुण तथा कुफल-सुफल का निरूपण

४७१. जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
वुब्भई से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ॥३॥

४७२. विणयं पि जो उवाएण चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंतिं दंडेण पडिसेहए ॥४॥

४७३. तहेव अविणीयप्पा उववज्झा हया गया।
दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ॥५॥

४७४. तहेव सुविणीयप्पा उववज्झा हया गया।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥६॥

४७५. तहेव अविणीयप्पा लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति दुहमेहंता छाया ते विगलिंदिया ॥७॥

४७६. दंड-सत्थ-परिजुण्णा असब्भवयणेहि य।
कलुणा विवन्नछंदा, खुप्पिवासाए परिगया ॥८॥

४७७. तहेव सुविणीयप्पा लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥९॥

४७८. तहेव अविणीयप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ॥१०॥

४७९. तहेव सुविणीयप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥११॥

[४७१] जो क्रोधी (चण्ड) है, मृग-पशुसम अज्ञ है, अहंकारी है, दुर्वादी (कठोरभाषी) है, कपटी और शठ है; वह अविनीतात्मा संसारस्रोत (जलप्रवाह) में वैसे ही प्रवाहित होता रहता है, जैसे जल के प्रबल स्रोत में पड़ा हुआ काष्ठ ॥३॥

[४७२] (किसी भी) उपाय से विनय (-धर्म) में प्रेरित किया हुआ जो मनुष्य कुपित हो जाता है, वह आती हुई दिव्यलक्ष्मी को डंडे से रोकता (हटाता) है ॥४॥

---

३. (क) 'णिस्सेयसं च मोक्खमधिगच्छति।' —अगस्त्यचूर्णि

(ख) 'श्रुतम्—अंगप्रविष्टादि, श्लाघ्यं-प्रशंसास्पदभूतं, निःशेषं-सम्पूर्णं अधिगच्छति।'

—हारि. वृत्ति, पत्र २४७

[४७३] इसी प्रकार जो औपवाह्य हाथी और घोड़े अविनीत होते हैं, वे (सेवाकाल में) दुःख भोगते हुए तथा भार-वहन आदि निम्न कार्यों में जुटाये हुए देखे जाते हैं ॥५॥

[४७४] उसी प्रकार जो औपवाह्य हाथी और घोड़े सुविनीत होते हैं, वे (सेवाकाल में) सुख का अनुभव करते हुए महान् यश और ऋद्धि को प्राप्त करते देखे जाते हैं ॥६॥

[४७५-४७६] उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार इस लोक में जो नर-नारी अविनीत होते हैं, वे चाबुक आदि के प्रहार से घायल (क्षत-विक्षत), (कान, नाक आदि के छेदन से) इन्द्रियविकल, दण्ड और शस्त्र से जर्जरित, असभ्य वचनों से ताड़ित (डांट-फटकार पाते हुए), करुण (दयनीय), पराधीन, भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ॥७-८॥

[४७७] इसी प्रकार लोक में जो नर-नारी सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि को प्राप्त कर महायशस्वी बने हुए सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ॥९॥

[४७८] इसी प्रकार (अविनीत मनुष्यों की तरह) जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं, वे पराधीनता-दासता को प्राप्त होकर दुःख भोगते हुए देखे जाते हैं ॥१०॥

[४७९] इसके विपरीत जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को प्राप्त कर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ॥११॥

विवेचन—अविनीत और सुविनीत को इसी लोक में मिलने वाले फल—प्रस्तुत ११ गाथाओं (४७१ से ४७९ तक) में अविनीत और सुविनीत की होने वाली प्रत्यक्ष दशा का वर्णन किया गया है।

अविनीत के लक्षण—गाथा ४७१ में अविनीत के ५ लक्षण दिये गए हैं—जो अत्यन्त क्रोधी हो, जो अपना हिताहित न समझने वाले पशु के समान जड़बुद्धि हो, अहंकारी हो, कपटी हो, कुटिल या धूर्त्त (शठ) हो और विनय की ओर प्रेरित करने पर जिसका कोप भड़क उठता हो, वह अविनीत कहलाता है।

सुविनीत के लक्षण—इसके विपरीत जो क्षमावान् हो, गम्भीर और दीर्घदर्शी हो, हिताहित-विवेकी हो, नम्र हो, सरल एवं निश्छल हो, जो अहर्निश गुरुशिक्षा को ग्रहण करने के लिए लालायित रहता हो, गुरु द्वारा विनयभक्ति में प्रेरित करने पर उस प्रेरणा को जो सविनय शिरोधार्य कर लेता हो, वह सुविनीत कहलाता है।

अविनीत को मिलने वाला प्रत्यक्ष फल—(१) अविनीत संसारसमुद्र में इधर से उधर थपेड़े खाता रहता है, (२) आती हुई विनयरूपी लक्ष्मी को ठुकरा देता है, (३) दासवृत्ति में लगे हुए दुःखानुभव करते हैं, (४) अविनीत स्त्री-पुरुष क्षतविक्षत, इन्द्रियविकल, दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों द्वारा प्रताडित, करुण, परवश और भूख-प्यास से पीड़ित होकर दुःखानुभव करते देखे जाते हैं, (५) अविनीत देव, यक्ष और गुह्यक भी नीच कार्यों में लगाये हुए दासभाव में रहकर दुःखानुभव करते देखे जाते हैं।

सुविनीत को मिलने वाले प्रत्यक्षफल—(१) सुविनीत घोड़े-हाथी महान् यश और ऋद्धि को पाकर सेवाकाल में सुखानुभव करते देखे जाते हैं, (२) इसी प्रकार सुविनीत स्त्री-पुरुष भी ऋद्धि और

महायश को पाकर सुखानुभव करते देखे जाते हैं, (३) सुविनीत देव, यक्ष और गुह्यक भी ऋद्धि और यश को पाकर सुखानुभूति करते देखे जाते हैं।[४] यहाँ देव शब्द ज्योतिष और वैमानिक देवों का वाचक है, यक्ष व्यन्तर देवों का और गुह्यक भवनपति देवों का वाचक है।

'उववज्झा' आदि शब्दों के विशेषार्थ—उववज्झा : दो रूप, दो अर्थ—(१) उपवाह्य—सवारी के काम में आने वाले वाहन—हाथी या घोड़ा, (२) **औपवाह्य**—राजा आदि के प्रिय कर्मचारियों की सवारी के काम में आने वाले। **छाया विगलिंदिया : विगलितिंदिया : दो अर्थ**—(१) छाया—क्षत-विक्षत, घायल, अथवा शोभाविकलित एवं इन्द्रियविकल, (२) इन्द्रियाँ विषयग्रहण में असमर्थ हों, अथवा नाक, हाथ, पैर आदि कटे हुए हों वे विकलितेन्द्रिय कहलाते हैं।[५] **आभियोग्य**—अभियोगी—दास, आभियोग्य—दासता। दास का कार्य केवल आज्ञापालन होता है।

लौकिकविनय की तरह लोकोत्तरविनय की अनिवार्यता

४८०. जे आयरिय-उवज्झायणं सुस्सूसा वयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति जलसित्ता इव पायवा ॥१२॥

४८१. अप्पणट्ठा परट्ठा वा सिप्पा णेउणियाणि य।
गिहिणो उवभोगट्ठा इहलोगस्स कारणा ॥१३॥

४८२. जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं।
सिक्खमाणा नियच्छंति जुत्ता ते ललिइंदिया ॥१४॥

४८३. ते वि तं गुरुं पूयंति तस्स सिप्पस्स कारणा।
सक्कारंति नमंसंति तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥१५॥

४८४. किं पुण जे सुयग्गाही अणंतहियकामए।
आयरिया जं वए भिक्खू तम्हा ते नाइवत्तए ॥१६॥

[४८०] जो साधक आचार्य और उपाध्याय की सेवा-शुश्रूषा करते हैं, उनके वचनों का पालन (आज्ञापालन) करते हैं, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार जल से (भलीभांति) सींचे हुए वृक्ष बढ़ते हैं ॥१२॥

---

४. (क) दसवेयालियं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ६४
(ख) दशवै. (आ. आत्मा.), पृ. ८६८ से ८८०

५. (क) "उपवाह्यानां राजादिवल्लभानामेते कर्मकरा, इत्यौपवाह्याः।" —हारि. वृत्ति, पत्र २४८
(ख) छाया सोभा सा पुण सरूवता, सविसयगहणसामत्थं वा। छायातो विकलेंदियाणि जेसिं ते। छाया-विगलेंदिया विगलितेन्द्रियाः अपनीतनासिकादीन्द्रियाः।
(ग) छाताः-कसघातव्रणांकितशरीराः। —हा. टी., पृ. २४८
(घ) अभियोगः आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीति अभियोगी, तद्भावः आभियोग्यं कर्मकरत्वमित्यर्थः।
—दशवै. (आ. आत्मा.), पृ. ८७९

[४८१-४८२] जो गृहस्थ लोग इस लोक (में आजीविका) के निमित्त, (अथवा लौकिक) सुखोपभोग के लिए, अपने या दूसरों के लिए; (कलागुरु से) शिल्पकलाएँ या नैपुण्यकलाएँ सीखते हैं।

(कलाओं को सीखने में) लगे हुए, ललितेन्द्रिय (सुकुमार राजकुमार आदि) व्यक्ति भी कला सीखते समय (शिक्षक द्वारा) घोर वन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं ।।१३-१४।।

[४८३] फिर भी वे (राजकुमार आदि) गुरु के निर्देश के अनुसार चलने वाले (छात्र) उस शिल्प के लिए प्रसन्नतापूर्वक उस शिक्षकगुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते हैं, नमस्कार करते हैं ।।१५।।

[४८४] तब फिर जो साधु आगमज्ञान (श्रुत) को पाने के लिए उद्यत है और अनन्त-हित (मोक्ष) का इच्छुक है, उसका तो कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो भी कहें, भिक्षु उसका उल्लंघन न करे ।।१६।।

विवेचन—लोकोत्तर विनय की अनिवार्यता : मोक्षकामी के लिए—प्रस्तुत ५ गाथाओं (४८० से ४८४ तक) में लौकिक लाभार्थ शिल्प, कला आदि में निपुणता के लिए कलाचार्य का दृष्टान्त देकर मोक्षकामी के द्वारा शास्त्रीय ज्ञान में नैपुण्य के लिए विनयभक्ति की अनिवार्यता सिद्ध की गई है।

आचार्य और उपाध्याय के लक्षण—आचार्य के चार लक्षण—(१) सूत्र-अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरुपद पर स्थापित हो, वह आचार्य है, (२) सूत्र-अर्थ का ज्ञाता किन्तु अपने गुरु द्वारा गुरुपद पर स्थापित न हो, वह भी आचार्य कहलाता है। वृत्ति के अनुसार सूत्रार्थदाता अथवा गुरु-स्थानीय ज्येष्ठ आर्य 'आचार्य' कहलाता है। इन सबका फलितार्थ यह है कि गुरुपद पर स्थापित या अस्थापित जो सूत्र और अर्थ-प्रदाता है, वह आचार्य है। ओघनिर्युक्ति के अनुसार 'अत्थं वाएइ आयरिओ सुत्तं वाएइ उवज्झाओ।' अर्थात्—सूत्रवाचनाप्रदाता उपाध्याय होते हैं और अर्थवाचनाप्रदाता आचार्य होते हैं।[६]

सिक्खा : शिक्षा—गुरु के समीप रह कर प्राप्त किया जाने वाला शिक्षण। यह शिक्षा दो प्रकार की होती है—(१) ग्रहणशिक्षा (शास्त्र-ज्ञान का ग्रहण करना) और (२) आसेवनशिक्षा (उस ज्ञान को आचार में क्रियान्वित करने का अभ्यास सीखना)।[७]

सिप्पा णेउणियाणि : शिल्पानि नैपुण्यानि—शिल्प शब्द कुम्भकार, लोहार, सुनार आदि के

---

६. (क) सुत्तत्थतदुभयादिगुणसम्पन्नो अप्पणो गुरूहिं गुरुपदे त्थावितो आयरिओ। —अ. चूर्णि, पृ. ९।३।१

(ख) 'आगरिओ सुत्तत्थतदुभअविऊ, जो वा अन्नोऽपि सुत्तत्थतदुभयगुणेहि अ उववेओ गुरुपए ण ठाविओ, सोऽवि आयरिओ चेव।' —जिन. चूर्णि, पृ. ३१८

(ग) 'आचार्यं सूत्रार्थप्रदं, तत्स्थानीयं वाऽन्यं ज्येष्ठार्यम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र २५२

(घ) 'अत्थं वाएइ आयरिओ, सुत्तं वाएइ उवज्झाओ।' —'सूत्रप्रदा उपाध्यायाः, अर्थप्रदा आचार्याः।' —ओघनिर्युक्ति वृत्ति.

७. "सिक्खा दुविहा-गहणसिक्खा आसेवणसिक्खा य।" —जिन. चूर्णि, पृ. ३१३

कर्म (कारीगरी) से सम्बन्धित है और नैपुण्य शब्द चित्रकार, वादक, गायक आदि के कला-कौशल से ।[८]

उस युग की अध्यापनपद्धति—गाथा संख्या ४८२ से उस युग की अध्यापनपद्धति का पता लगता है, जब अध्यापक अपने सुकोमल शरीर वाले शिक्षणार्थी को सांकल या रस्से से बांधते थे, चाबुक आदि से बेरहमी से मारते-पीटते थे और कठोर वचनों से डांटते-फटकारते और तरह-तरह से दारुण परिताप देते थे । वे अकारण ही ऐसा दण्ड नहीं देते थे, परन्तु जब शिक्षणार्थी शिल्प या कला सीखने में लापरवाही करता, बार-बार पढ़ाने या सिखाने पर भी भूल जाता, अपने उद्देश्य से स्खलित हो जाता, तभी शिक्षक का पुण्य-प्रकोप शिक्षणार्थी पर बरसता था और अध्यापक कलादि शिक्षण में उन्हें दृढ़ करते व सन्मार्ग पर लाते थे । शिक्षणार्थी भी शिक्षक का अपने पर महान् उपकार समझ कर उस दण्ड को सविनय स्वीकारता था ।[९]

'ललितेंदिया' आदि पदों के विशेषार्थ—**ललितेंदिया-ललितेन्द्रिय**—जिनकी इन्द्रियां सुख से लालित (लाड-प्यार में पली हुई) होती हैं, अथवा जिनकी इन्द्रियां रमणीय (ललित) या क्रीड़ाशील होती हैं, वे । **नियच्छंति**—प्राप्त करते हैं । **सक्कारेंति नमंसंति**—सत्कार करते हैं, नमस्कार करते हैं; गुरुजन के आने पर उठना, हाथ जोड़ना, आदि नमस्कार कहलाता है और उन्हें भोजन-वस्त्रादि से सम्मानित करना सत्कार कहलाता है । नमंसति के बदले अगस्त्यचूर्णि में 'समणेंति' पाठ है, जिसका अर्थ है—स्तुतिवचन, चरणस्पर्श आदि करते हैं । **तुट्ठा निद्देसवत्तिणो**—सन्तुष्ट होकर उनके निर्देशों (आदेशों) का पालन करते हैं ।[१०]

गुरु-विनय करने की विधि

४८५. नीयं सेज्जं* गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य ।
नीयं च पाए वंदेज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥१७॥

४८६. संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि ।
'खमेह अवराहं मे' वएज्ज 'न पुणो' त्ति □ य ॥१८॥

४८७. दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहई रहं ।
एवं दुब्बुद्धि किच्चाणं वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥१९॥

---

८. शिल्पानि-कुम्भकारक्रियादीनि, नैपुण्यानि-आलेख्यादि-कला-लक्षणानि । —हारि. वृत्ति, पत्र. २४९

९. तत्थ निगलादीहि वंधं पावेंति, वेत्तासयादिहि य वधं घोरं पावेंति, तओ तेहिं बंधेहिं वधेहि य परितावो सुदारुणो भवइ त्ति; अहवा परितावो निट्ठुरचोयण-तज्जियस्स जो मण-संतावो सो परितावो भण्णइ । —जिन. चूर्णि, ३१३-३१४

१०. (क) लालितेंदिया वा सुहेहिं, लकारस्स ह्रस्सादेसो । ललिताणि नाडगातिसुखसमुदिताणि इंदियाणि जेसिं रायपुत्तप्पभीतीण ते ललितेंदिया । सक्कारो भोजणाच्छादणादि संपादणओ भवइ । थुतिवयण-पादोवफरिसं समयक्करणादीहि य समाणेंति । —अगस्त्यचूर्णि

(ख) 'नमंसणा अब्भुट्ठाणंजलिपग्गहादी ।' —जि. चूर्णि, पृ. १४३

पाठान्तर— * सिज्जं । □ 'न पुणु' त्ति ।

×[आलवंते लवंते वा न निसिज्जाइ पडिस्सुणे।
मुत्तूणं आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥]

४८८. कालं छंदोवयारं च पडिलेहित्ताण हेउहिं।
तेण तेण उवाएणं, तं तं संपडिवायए ॥२०॥

[४८५] (साधु आचार्य से) नीची शय्या करे, नीची गति करे, नीचे स्थान में खड़ा रहे, नीचा आसन करे तथा नीचा होकर (सम्यक् प्रकार से विनत होकर आचार्यश्री के) चरणों में वन्दन करे और नीचा होकर अंजलि करे (हाथ जोड़ कर नमस्कार करे) ॥१७॥

[४८६] (कदाचित् असावधानी से गुरुदेव या आचार्य के) शरीर (चरण आदि शरीर के अवयवों) का अथवा (उनके) उपकरणों का भी स्पर्श (संघट्टा) हो जाए तो (तत्काल उनसे) कहे— '(भगवन् !) मेरा अपराध क्षमा करें, फिर ऐसा नहीं होगा' ॥१८॥

[४८७] जिस प्रकार दुष्ट बैल (अयोग्य गलिया बैल) चाबुक से (बार-बार) प्रेरित किये जाने पर (ही) रथ को वहन करता है, उसी प्रकार दुर्बुद्धि शिष्य (भी) आचार्यों (गुरुओं) के बार-बार कहने पर (कार्य) करता है ॥१९॥

[गुरु के एक बार बुलाने पर अथवा बार-बार बुलाने पर बुद्धिमान् शिष्य (उनकी बात सुन कर अपने) आसन पर से ही उत्तर न दे, (किन्तु शीघ्र ही) आसन छोड़ कर शुश्रूषा के साथ (उनकी बात सुन कर समुचित रूप से) स्वीकार करे ॥]

[४८८] (शीतादि) काल को, गुरु के अभिप्राय (छन्द) को और (सेवा करने के) उपचारों (विधियों) को तथा देश आदि को (तर्क-वितर्करूप) हेतुओं से भलीभांति जानकर उस-उस (तदनुकूल) उपाय से उस-उस योग्य कार्य को सम्पादित (पूरा) करे ॥ २०॥

विवेचन—सर्वक्रियाओं में गुरुओं के प्रति नम्रभाव : विनय का प्रथम पाठ—प्रस्तुत चार गाथाओं (४८५ से ४८८ तक) में गुरुओं के प्रति लोकोत्तर उपचारविनय की विधि बताई गई है। ४८७ वीं गाथा में दुर्विनीत शिष्य की दुष्ट बैल से उपमा देकर उसकी वृत्ति का परिचय दिया गया है।

'दुग्गओ' आदि पदों के विशेषार्थ—दुग्गओ-दुर्गवो—दुष्ट-गलिया बैल। **किच्चाणं—कृत्यानां,** कृत्य का अर्थ वन्दनीय या पूज्य है। आचार्य, उपाध्यायादि पूज्यवर वन्द्य गुरुजन कृत्य कहलाते हैं। 'किच्चाइं' पाठान्तर है, वहाँ अर्थ होगा—[११] आचार्यादि के अभीष्ट कृत्य—कार्य। **'नीयं सेज्जं' आदि**

अधिकपाठ— × इस निशान वाली गाथा कई प्रतियों में मिलती है। —सं.

११. (क) दुग्गओ-दुर्गवः दुष्टबलीवर्द इत्यर्थः।
(ख) कृत्यानामाचार्यादीनां वन्दनीय-पूजनीयानामित्यर्थः। कृत्यानि वा-तदभिरुचितकार्याणि।
—हारि. वृत्ति, पृ. २५०
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ४४६

पदों की व्याख्या—नीयं सेज्जं—आचार्य या गुरु की शय्या से अपनी शय्या (बिस्तर) नीचे स्थान में करना। **गइं**—नीची गति करे, अर्थात्—साधु आचार्य या गुरु के आगे या पीठ पीछे न चले, न ही अतिदूर और अतिनिकट चले। अतिनिकट चलने से धूल उड़ कर आचार्य पर लगती है और अतिदूर चलने, जल्दी जल्दी आगे चलने से प्रत्यनीकता या आशातना होती है। **ठाणं**—नीचे स्थान में खड़ा रहे। आचार्य खड़े हों, उनसे नीचे स्थान में खड़ा रहे। उनके आगे या पार्श्वभाग में सट कर खड़ा न हो। **नीयं च आसणाणि—दो अर्थ**—(१) आचार्य के आसन (पट्टा, चौकी आदि) से अपना आसन नीचा करे, (२) आचार्य से अपना आसन लघुतर करे। **नीयं च पाए वंदेज्जा**—नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे। आचार्य आसन पर बैठे हों तो शिष्य नीचे (निम्न) भूभाग पर खड़ा हो, फिर भी खड़ा-खड़ा ही वन्दना न करके सिर से चरणस्पर्श कर सके उतना झुक कर वन्दना करे। **नीयं कुज्जा य अंजलिं**—नीचा होकर अंजलि करे—करबद्ध हो। अर्थात्—नमस्कार करने के लिए सीधा खड़ा-खड़ा हाथ जोड़ कर न रह जाए, किन्तु सिर झुका कर करबद्ध होकर नमस्कार करे।[१२]

'कालं' आदि पदों की व्याख्या—कालं—काल को देखकर, अर्थात्—यह कौन-सी ऋतु है ?, रात है या दिन ? कैसी परिस्थिति है गुरुजी की ? उपयुक्त अवसर है या नहीं ? इत्यादि सब जाने। यथा—शरद् आदि ऋतुओं के अनुकूल भोजन, शय्या, आसन आदि लाए। **छंदं**—गुरु के अभिप्राय, (इच्छा, चेष्टा, इंगित, आकार आदि) को जाने कि गुरुजी इस समय क्या चाहते हैं ? इन्हें इस समय किस वस्तु की आवश्यकता है ? किस कार्यसिद्धि के लिए इनके हृदय में विचार-प्रवाह बह रहा है ? देश-काल के अनुसार रुचियां भी विभिन्न होती हैं। जैसे—किसी को ग्रीष्म ऋतु में छाछ प्रिय होती है, किसी को सत्तू आदि। क्षेत्र के आधार पर भी रुचि-परिवर्तन होता है—जैसे—ठंडे प्रदेश में गर्म पेय और गर्म प्रदेश में शीतल पेय अभीष्ट होता है। **उवयारं : उपचार : तीन अर्थ**—(१) विधि (सेवा की विधियां), (२) आराधना के प्रकार, अथवा (३) आज्ञा क्या है, इसे जान कर। **हेउहिं**—हेतुओं से—अर्थात्—नानाविध हेतुओं—तर्क-वितर्कों, ऊहापोहों, अनुमानों, स्वयं स्फुरणाओं आदि से देश, काल, अभिप्राय एवं सेवा के प्रकारों को जाने। तात्पर्य यह है कि गुरुमहाराज के कहे बिना ही उनके

---

१२. (क) नीचां 'शय्यां'—संस्तारकलक्षणामाचार्यशय्यायाः सकाशात् कुर्यादिति योगः। नीचां गतिमाचार्यगतेः, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुतं यायादित्यर्थः। नीचं स्थानमाचार्यस्थानात्, यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमिति भावः। नीचानि वा लघुतराणि। नीचं च सम्यगवनतोत्तमांगः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत, नावज्ञया। नीचं नम्रकायं कुर्यात्—संपादयेच्चाञ्जलिं, न तु स्थाणुवत् स्तब्ध एवेति। —हारि. वृत्ति, पत्र २५०

(ख) 'णीयां गइं' णाम ण आयरियाण पिट्ठओ गंतव्वं, तमिवि णो अच्चासन्नं न वा अतिदूरेण गंतव्वं। अच्चासन्ने ताव पादरेणुणा आयरियसंघट्टण-दोसो भवई, अइदूरे पडिणीय-आसायणादि बहवे दोसा भवंतीति। तहा नीययरे पीढगाइंमि आसणे आयरिअणुन्नाए उवविसेज्जा। जइ आयरिओ आसणे, इतरो भूमिए नीययरे भूमिप्पदेसे वंदमाणो उवट्ठिओ न वंदेज्जा, किंतु जाव सिरेण फुसे पादे तावणीयं वंदेज्जा। तहा अंजलिमवि कुव्वमाणेण णो पहाणम्मि उवविट्ठेण अंजली कायव्वा, किन्तु ईसिअवणएण कायव्वा। —जिन. चूर्णि, पृ. ३१५

शरीर की दशा आदि से जान ले। यथा—कफ का प्रकोप देखे तो कफनाशक पदार्थों का सेवन कराए, इसी प्रकार वात या पित्त का प्रकोप देखे तो वातनाशक या पित्तनाशक पदार्थों का सेवन कराए।[13]

अविनीत और विनीत को सम्पत्ति, मुक्ति आदि की अप्राप्ति एवं प्राप्ति का निरूपण

४८९. विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छई ॥२१॥

४९०. जेयावि चंडे मइइड्ढि-गारवे पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥२२॥

४९१. निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥२३॥
—त्ति बेमि

विणय-समाहीए बीओ उद्देसओ समत्तो ॥ ९-२ ॥

[४८९] अविनीत (व्यक्ति) को विपत्ति और विनीत को सम्पत्ति (प्राप्त) होती है, जिसको ये (उक्त) दोनों प्रकार से (विपत्ति और सम्पत्ति) ज्ञात है, वही (इस कल्याणकारिणी) शिक्षा को प्राप्त होता है ॥२१॥

[४९०] जो मनुष्य चण्ड (क्रोधी) है, जिसे अपनी बुद्धि और ऋद्धि का गर्व (अथवा जिसकी बुद्धि आदि गौरव में निमग्न) है. जो पिशुन (चुगलखोर) है, जो (अयोग्यकार्य करने में) साहसिक है, जो गुरु-आज्ञा-पालन से हीन (पिछड़ा हुआ) है, जो (अपने श्रमण-) धर्म से अदृष्ट (अनभिज्ञ) है, जो विनय में निपुण नहीं है, जो संविभागी नहीं है, उसे (कदापि) मोक्ष (प्राप्त) नहीं होता ॥२२॥

[४९१] किन्तु जो (साधक) गुरुओं की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं, जो (श्रुतार्थ-धर्म-विज्ञ) गीतार्थ हैं तथा विनय में कोविद (-निपुण) हैं; वे इस दुस्तर संसार-सागर (के प्रवाह) को तैर कर कर्मों का क्षय करके सर्वोत्कृष्ट गति में गए हैं, (जाते हैं और जाएंगे) ॥२३॥
—ऐसा मैं कहता हूँ

विवेचन—शिक्षा-प्राप्ति के अयोग्य : कौन और कैसे?—प्रस्तुत गाथा ४८९ में '**विवत्ती अविणीयस्स**' इत्यादि पंक्ति का भावार्थ यह है कि जो व्यक्ति अपने पूज्यवर गुरुजनों की विनय-भक्ति नहीं करता, इतना ही नहीं, बल्कि वह उद्धत होकर उनकी आशातना करता है, उसके सम्यग्दर्शन,

---

१३. (क) 'जधा कालं जोग्गं भोजणासणादि उवणेयं।' —अगस्त्य चूर्णि
(ख) जिनदास चूर्णि : तत्थ सरदि वात-पित्तहराणि दव्वाणि आहरिज्जा······'छंदो नाम इच्छा भण्णइ'····। 'उवयार' णाम विधी भण्णइ। —जिन. चूर्णि, पृ. ३१६
(ग) 'उवयारो आणा को ति आणत्तिआए तूसति।' —अगस्त्य चूर्णि
(घ) उपचारं आराधना-प्रकारम्। —हारि. वृत्ति, पत्र २५०
(ङ) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार पृ. ८९५-८९६

सम्यग्ज्ञान आदि सद्गुणों की विनष्टि (विपत्ति) हो जाती है और पूर्वोक्त विनयगुणों से सम्पन्न सुविनीत पुरुष, जो अपने से स्थविर वन्दनीय पूज्य गुरुजनों की सभी प्रकार से भक्तिभाव से यथोचित विनय करता है, उसके 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि सद्गुणों की सम्यक् वृद्धि (सम्पत्ति) होती है। उक्त दोनों प्रकार से हानि और वृद्धि जिसे ज्ञात है, अर्थात्—अविनय हेय है, विनय पूर्णतः उपादेय है, इस बात को जो जान चुका है, वही गुरुजनों के सान्निध्य में रह कर उनकी कृपापूर्ण दृष्टि से ग्रहण और आसेवन, दोनों प्रकार की कल्याणकारिणी मोक्ष सुखदायिनी शिक्षा को प्राप्त करने के योग्य होता है।[१४]

मोक्ष के लिए अयोग्य—पूर्व गाथा में उक्त शिक्षा के लिए अयोग्य अविनीत व्यक्ति के अतिरिक्त गाथा ४९० में बताया गया है कि जो साधक साधुजीवन में क्रोध की प्रचण्ड अग्नि में धधकता रहता है, जो अपने ऋद्धि और बुद्धि के गौरव (गर्व) में अन्धा होकर रहता है, जो अनाचार-सेवन में साहसिक होता है तथा जो अपने गुरु की हितशिक्षाकारी आज्ञाओं के पालन करने में टालमटोल करता है, आज्ञा लोप करने में स्वयं को धन्य समझता है, जो धर्म-कर्म की बातों से अनभिज्ञ है, उन्हें निकम्मी समझकर उनकी खिल्ली उड़ाता है, जो विनय की विधियों से भी अपरिचित है, जिसे विनय व्यर्थ का भार मालूम होता है, जो प्राप्त अन्न, वस्त्र आदि अपने साथी साधुओं में वितरित नहीं करता. न ही उन्हें देता है, संविभाग (ठीक बंटवारा) नहीं करता, ऐसे दुर्गुणी व्यक्ति को मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती। यही इस गाथा का आशय है।[१५]

मोक्षप्राप्ति के योग्य—गाथा ४९१ के अनुसार—जो साधक अपने स्वार्थों की परवाह न करके प्राणप्रण से सद्गुरुओं की आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं, जो श्रुतधर्म के सिद्धान्तों के सूक्ष्म रहस्यों के ज्ञाता (गीतार्थ) होते हैं तथा विनयधर्म के विधि-विधानों के विषय में दक्ष होते हैं, वे इस दुःखमय संसार-सागर को सुखपूर्वक तैर कर तथा कर्मशत्रुओं के दलबल को समूल नष्ट करके अनुपम सिद्धि-गति को प्राप्त होते हैं, हुए हैं और होंगे। यही इस गाथा का आशय है।[१६]

'विवत्ति' आदि शब्दों के विशेषार्थ—विवत्ति-विपत्ति, इसका विशेष अर्थ है सद्गुणों—सम्यग्ज्ञानादि सद्गुणों का नष्ट होना। **संपत्ति-सम्पत्ति**—अर्थ होता है, सम्पदा। परन्तु यहाँ भौतिक सम्पत्ति नहीं, सम्यग्दर्शनादि आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त होती है, विनीत व्यक्ति को। **दुहओ**—दोनों प्रकार से हानि-वृद्धि को जो ज्ञात कर चुका है। अर्थात्—वह भलीभांति जानता है कि विनय से ही सद्गुणों की सम्प्राप्ति एवं वृद्धि होती है। अतः यही पूर्णतः उपादेय है तथा अविनय से दुर्गुणों की प्राप्ति और सद्गुणों की हानि होती है। अतः वह सर्वथा हेय है। **मइइड्ढिगारवे : तीन अर्थ**—(१) जो ऋद्धि-गौरव में अभिनिविष्ट है। (२) जो मति द्वारा ऋद्धिगौरव वहन करता है। (३) जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है। **साहस**—विना सोचे-समझे आवेश में आकर कार्य (अकृत्य कार्य) करने में तत्पर रहता है। **हीणपेसणे—हीनप्रेषण**—प्रेषण के अर्थ हैं—आज्ञा, नियोजन, या कार्य में प्रवृत्ति

---

१४. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८९७

१५. वही, पृ. ८९९

१६. वही, पृ. ९०१

करना आदि। गुरु-आज्ञा को हीन (हेय समझ कर टालमटोल) करने वाला, यथासमय पालन न करने वाला। **सुयत्थधम्मा : भावार्थ**—(१) गीतार्थ, या (२) जिसने अर्थ और धर्म अथवा धर्म का अर्थ सुना है।[१७]

॥ नवम अध्ययन : विनय-समाधि : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१७. (क) दशवै. (आ. आत्मा.), पृ. ८९७

(ख) ऋद्धिगौरवमतिः—ऋद्धिगौरवाभिनिविष्टः। —हारि. वृत्ति, पत्र २५१

(ग) 'जो मतीए इड्ढि-गारवमुव्वहति।' —अगस्त्यचूर्णि

(घ) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ४४७

(ङ) साहसिकः—अकृत्यकरणपरः। —हारि. वृत्ति, पत्र २५१

(च) 'रभसेणाकिच्चकारी साधसो। पेसणं जधाकालमुपपादयितुमसत्तो हीणपेसणो। सुतो अत्थो धम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा।' —अगस्त्यचूर्णि

(छ) हीनप्रेषणः हीनगुर्वाज्ञापरः। श्रुतधर्मार्था गीतार्था इत्यर्थः। —हारि. वृत्ति, पत्र २५१

नवमं अज्झयणं : विणय-समाही

नवम अध्ययन : विनय-समाधि

तइओ उद्देसो : तृतीय उद्देशक

विनीत साधक की पूज्यता

४९२. आयरियऽग्गिमिवाऽऽहियग्गी,
सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा।
आलोइयं इंगियमेव णच्चा,
जो छंदमाराहयई, स पुज्जो ॥ १ ॥

४९३. आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो *परिगिज्झ वक्कं।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नाऽऽसाययई, स पुज्जो ॥ २ ॥

४९४. राइणिएसु विणयं पउंजे,
डहरा वि य जे परियायजेट्ठा।
=नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई,
×ओवायवं वक्ककरे, स पुज्जो ॥ ३ ॥

४९५. अन्नाय-उंछं चरई विसुद्धं,
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धुं न विकत्थयई□ स पुज्जो ॥ ४ ॥

४९६. संथार⊖ सेज्जाऽऽसण-भत्त-पाणे,
अप्पिच्छया अइलाभे वि संते।
जो एवमप्पाणऽभितोसएज्जा,
संतोसपाहन्न-रए, स पुज्जो ॥ ५ ॥

पाठान्तर— * पडिगिज्झ। = नीअत्तणे। × उवायवं। □ विकत्थइ, विकंथयई। ⊖ सिज्जाऽऽसण।

४९७. सक्का सहेउं आसाए+ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे, स पुज्जो ॥ ६ ॥

४९८. मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया,
अओमया, ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ७ ॥

४९९. समावयंता वयणाभिघाया,
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
॥ धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइंदिए जो सहई, स पुज्जो ॥ ८ ॥

५००. अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया, स पुज्जो ॥ ९ ॥

५०१. अलोलुए अक्कुहए⊖ अमायी,
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए, नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया, स पुज्जो ॥ १० ॥

५०२. गुणेहिं साहू, अगुणेहऽसाहू,
गेण्हाहि† साहूगुण, मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो, स पुज्जो ॥ ११ ॥

५०३. तहेव डहरं व महल्लगं वा,
×इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा।
नो हीलए, नो वि य खिंसएज्जा,
थंभं च कोहं च चए, स पुज्जो ॥ १२ ॥

+ आसाइ। ॥ धम्मु त्ति। ⊖ अकुहए। † गिण्हाहि। × इत्थि।

५०४. जे माणिया सययं माणयंति,
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी,
जिइंदिए सच्चरए, स पुज्जो ॥ १३ ॥

५०५. तेसिं गुरूणं गुणसागराणं,*
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए, स पुज्जो ॥ १४ ॥

[४९२] जिस प्रकार आहिताग्नि (अग्निहोत्री ब्राह्मण) अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जाग्रत (सावधान) रहता है; उसी प्रकार जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जाग्रत रहता है तथा जो आचार्य के आलोकित (दृष्टि या चेहरे) एवं इंगित (चेष्टा) को जान कर उनके अभिप्राय की आराधना करता है, वही (शिष्य) पूज्य होता है ॥१॥

[४९३] जो (शिष्य) आचार के लिए विनय (गुरुविनय-भक्ति) का प्रयोग करता है, जो (आचार्य के वचनों को) सुनने की इच्छा रखता हुआ (उनके) वचन को ग्रहण करके, उपदेश के अनुसार कार्य (या आचरण) करना चाहता है और जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य होता है ॥ २ ॥

[४९४] अल्पवयस्क होते हुए भी (दीक्षा) पर्याय में जो ज्येष्ठ हैं, (उन सब पूजनीय) रत्नाधिकों के प्रति जो (साधु) विनय का प्रयोग करता है, (जो सर्वथा) नम्र हो कर रहता है, सत्यवादी है, गुरु की सेवा में रहता है, (या उन्हें प्रणिपात करता है) और जो गुरु के वचनों (आदेशों) का पालन करता है, वह पूज्य होता है ॥ ३ ॥

[४९५] जो [साधक] संयमयात्रा के निर्वाह (या जीवन-यापन) के लिए सदा विशुद्ध सामुदायिक (तथा) अज्ञात (अपरिचित कुलों से) उञ्छ (भिक्षा) चर्या करता है, जो (आहारादि) न मिलने पर (मन में) विषाद नहीं करता और मिलने पर श्लाघा नहीं करता, वह पूजनीय है ॥ ४ ॥

[४९६] जो (साधु) संस्तारक (बिछौना), शय्या, आसन, भक्त (भोजन) और पानी का अतिलाभ होने पर भी (इनके विषय में) अल्प इच्छा रखने वाला है, इस प्रकार जो अपने आप को (थोड़े में ही) सन्तुष्ट रखता है तथा जो सन्तोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है ॥ ५ ॥

[४९७] मनुष्य (धन आदि के लाभ की) आशा से लोहे के (लोहमय) कांटों को उत्साहपूर्वक सहन कर सकता है किन्तु जो (किसी भौतिक लाभ की) आशा के विना कानों में प्रविष्ट होने वाले तीक्ष्ण वचनमय कांटों को सहन कर लेता है, वही पूज्य होता है ॥ ६ ॥

पाठान्तर— * सायराणं ।

[४९८] लोहमय कांटे तो केवल मुहूर्त्तभर (अल्पकाल तक) दुःखदायी होते हैं; फिर वे भी (जिस अंग में लगे हैं) उस (अंग) में से सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं। किन्तु वाणी से निकले हुए दुर्वचनरूपी कांटे कठिनता से निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा बढ़ाने वाले और महाभयकारी होते हैं ।। ७ ।।

[४९९] (एक साथ एकत्र हो कर सामने से) आते हुए कटुवचनों के आघात (प्रहार) कानों में पहुँचते ही दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं; (परन्तु) जो वीर-पुरुषों का परम अग्रणी जितेन्द्रिय पुरुष 'यह मेरा धर्म है' ऐसा मान कर (उन्हें समभाव से) सहन कर लेता है, वही पूज्य होता है ।। ८ ।।

[५००] जो मुनि पीठ पीछे कदापि किसी का अवर्णवाद (निन्दावचन) नहीं बोलता तथा प्रत्यक्ष में (सामने में) विरोधी (शत्रुताजनक) भाषा नहीं बोलता एवं जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा (भी) नहीं बोलता, वह पूज्य होता है ।। ९ ।।

[५०१] जो (रसादि का) लोलुप (लोभी) नहीं होता, इन्द्रजालिक (यंत्र-मंत्र-तंत्रादि के) चमत्कार-प्रदर्शन नहीं करता, माया का सेवन नहीं करता, (किसी की) चुगली नहीं खाता, (संकट में घबरा कर या सरस आहारादि पाने के लाभ से किसी के सामने) दीनवृत्ति (दीनतापूर्वक याचना) नहीं करता, दूसरों से अपनी प्रशंसा (श्लाघा) नहीं करवाता और न स्वयं (अपने मुंह से) अपनी प्रशंसा करता है तथा जो कुतूहल (खेल-तमाशे दिखा कर कौतुक) नहीं करता, वह पूज्य है ।। १० ।।

[५०२] (मनुष्य) गुणों से साधु होता है, अगुणों (दुर्गुणों) से असाधु। इसलिए (हे साधक ! तू) साधु के योग्य गुणों को ग्रहण कर और असाधु-गुणों (असाधुता) को छोड़। आत्मा को आत्मा से जान कर जो राग-द्वेष (राग-द्वेष के प्रसंगों) में सम (मध्यस्थ) रहता है, वही पूज्य होता है ।। ११ ।।

[५०३] इसी प्रकार अल्पवयस्क (बालक) या वृद्ध (बड़ी उम्र का) को, स्त्री या पुरुष को, अथवा प्रव्रजित (दीक्षित) अथवा गृहस्थ को उसके दुश्चरित को याद दिला कर जो साधक न तो उसकी हीलना (निन्दा या अवज्ञा) करता है और न ही (उसे) झिड़कता है तथा जो अहंकार और क्रोध का त्याग करता है, वही पूज्य होता है ।। १२ ।।

[५०४] (अभ्युत्थान आदि विनय-भक्ति द्वारा) सम्मानित किये गए आचार्य उन साधकों को सतत सम्मानित (शास्त्राध्ययन के लिए प्रोत्साहित एवं प्रशंसित) करते हैं, जैसे—(पिता अपनी कन्याओं को) यत्नपूर्वक योग्य कुल में स्थापित करते हैं, वैसे ही (जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य स्थान, पद या सुपथ में) स्थापित करते हैं; उन सम्मानार्ह, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यपरायण आचार्यों का जो सम्मान करता है, वह पूज्य होता है ।। १३ ।।

[५०५] जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुओं के सुभाषित (शिक्षावचन) सुनकर, तदनुसार आचरण करता है; जो पंच (महाव्रतों में) रत, (मन-वचन-काया की) तीन (गुप्तियों से) गुप्त (हो कर) चारों कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) से रहित हो जाता है, वह पूज्य होता है ।। १४ ।।

विवेचन—पूज्यत्व की अर्हताएँ—प्रस्तुत चौदह गाथाओं (४९२ से ५०५ तक) में लोकपूज्य बनने वाले साधु के पूज्यत्व की अर्हताएँ दी गई हैं।

लोकपूज्य बनने वाले साधक की तीस अर्हताएँ—साधु की पूजा-प्रतिष्ठा केवल वेष या क्रिया-काण्डों के आधार पर नहीं होती। वह होती है गुणों के आधार पर। वे गुण या वे अर्हताएँ निम्नोक्त हैं, जिनके आधार पर साधु को पूज्यता प्राप्त होती है—(१) आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहे, (२) उनकी दृष्टि और चेष्टाओं को जान कर अभिप्रायों के अनुरूप आराधना करे, (३) आचारप्राप्ति के लिए विनय-प्रयोग करे, (४) आचार्य के वचनों को सुनकर स्वीकार करे और तदनुसार अभीष्ट कार्य सम्पादित करे, (५) गुरु की आशातना न करे, (६) दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ एवं रत्नाधिक साधुओं का विनय करे, (७) सत्यवादी हो, (८) आचार्य की सेवा में रहे, (९) आचार्य की आज्ञा का पालन करे, (१०) नम्र होकर रहे, (११) अज्ञातकुल में सामुदायिक विशुद्ध भिक्षाचरी करे, (१२) आहार प्राप्त न हो तो खेद न करे, प्राप्त होने पर श्लाघा न करे, (१३) संस्तारक, शय्या, आसनादि अत्यधिक मिलने लगे तो भी अल्पेच्छा रखे, थोड़े में सन्तुष्ट हो, संतोष में रत रहे, (१४) बिना किसी भौतिक लाभ की आशा से कर्णकटु वचनों को समभावपूर्वक सहन करे, (१५) परोक्ष में किसी का अवर्णवाद न करे, (१६) प्रत्यक्ष में वैरविरोध बढ़ाने वाली, निश्चयकारी तथा अप्रियकारी भाषा न बोले, (१७) जिह्वालोलुपता आदि से दूर हो, (१८) मंत्र-तंत्रादि ऐन्द्र-जालिक प्रपंचों से दूर रहे, (१९) माया एवं पैशुन्य से दूर रहे, (२०) दीनवृत्ति न करे, (२१) न तो दूसरों से अपनी स्तुति कराए और न स्वयं अपनी स्तुति करे, (२२) खेलतमाशे आदि कुतूहलवर्द्धक प्रवृत्तियों से दूर रहे, (२३) साधुगुणों को ग्रहण करे और असाधुगुणों को त्यागे, (२४) अपनी आत्मा को आत्मा से समझने वाला हो, (२५) रागद्वेष के प्रसंगों में सम रहे, (२६) किसी की भी अवहेलना, निन्दा एवं भर्त्सना न करे, (२७) अहंकार और क्रोध का त्याग करे, (२८) सम्मानार्ह तपस्वी, जितेन्द्रिय, सत्यवादी साधु पुरुषों का सम्मान करे, (२९) पंचमहाव्रतपालक, त्रिगुप्तिधारक और कषायचतुष्टयरहित हो, (३०) गुणसमुद्र गुरुओं के सुवचनों को सुनकर तदनुसार आचरण करे।[1]

'छंदमाराहयई : व्याख्या—'छंदमाराहयई'—छंद अर्थात् गुरु के अभिप्राय को समझ कर तदनुसार समयोचित कार्य करता है। यहाँ गुरु के अभिप्राय को समझने के लिए दो शब्द दिये हैं—**'आलोकित'** और **'इंगित'**। उनका तात्पर्य है कि शिष्य गुरु के निरीक्षण और अंगचेष्टा से उनका अभिप्राय जाने और तदनुसार उनकी आराधना करे। **निरीक्षण से अभिप्राय जानना**—जैसे कि गुरु ने कंबल की ओर देखा, उसे देख कर शिष्य ने तुरंत भांप लिया कि गुरुजी को ठंड लग रही है, उन्हें कंबल की आवश्यकता है। **अंगचेष्टा से अभिप्राय जानना**—यथा—गुरुजी को कफ का प्रकोप हो रहा है। बार-बार खांसते हैं। शिष्य ने उनकी इस अंगचेष्टा को जानकर सोंठ आदि औषध ला कर सेवन करने को दी। अभिप्राय जानने के और भी साधन हैं, जिन्हें एक श्लोक में दिया है—"आकृति, इंगित (इशारा), गति (चाल), चेष्टा, भाषण, आँख और मुंह के विकारों से किसी के आन्तरिक मनोभावों को जाना जा सकता है।[2]

---

१. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार, पृ. ९०४ से ९२८ तक का सार।

२. (क) यथा शीते पतति प्रावरणावलोकने तदानयने।
 (ख) इंगिते वा निष्ठीवनादिलक्षणे शुण्ठ्यानयनेन। —हारि. वृत्ति, पत्र २५२
 (ग) 'आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
 नेत्र-वक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥' —हितोपदेश

विनय-प्रयोग का मुख्य प्रयोजन : आचारप्राप्ति—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, इन पंचाचारों की प्राप्ति के लिए गुरु आदि के प्रति विनय करना चाहिए, अन्य किसी लौकिक प्रयोजन, अर्थलाभ, पूजा-प्रतिष्ठा आदि के लिए नहीं। इसीलिए यहाँ कहा गया है—**'आयारमट्ठा विणयं पउंजे।'**[3]

'परियायजेट्ठा' आदि पदों की व्याख्या—'ज्येष्ठ' यहाँ स्थविर के अर्थ में प्रतीत होता है। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—जाति-(वयः) स्थविर, श्रुतस्थविर और पर्याय—(दीक्षा) स्थविर। जाति और श्रुत से ज्येष्ठ न होने पर भी पर्याय से ज्येष्ठ हो, उसके प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। **ओवाय : दो रूप : दो अर्थ**—(१) **उपपात**—समीप अथवा आज्ञा। (२) **अवपात**—वन्दन और सेवा आदि। **जवणट्ठया—यापनार्थ**—संयमभार को वहन करने वाले शरीर को पालन करने के लिए, अथवा जीवनयापन करने के लिए। जैसे यात्रा के लिए गाड़ी के पहिये में तेल दिया जाता है, वैसे ही संयमयात्रा के निर्वाह के लिए आहार करना चाहिए। **अन्नाय-उंछं : अज्ञात-उंछ : दो अर्थ**—(१) अज्ञात—अपरिचित कुलों का उंछ (भिक्षाचर्या) और (२) अपना पूर्व (मातृपितृपक्षीय) परिचय और पश्चात् (श्वसुरपक्षीय) परिचय दिये बिना प्राप्त (अज्ञात) उंछा। **परिदेवएज्जा**—परिदेवन करना, खेद या विलाप करना, कोसना। जैसे—मैं कितना मंदभागी हूँ कि आज भिक्षा ही न मिली। या इस गाँव के लोग अच्छे नहीं हैं। **विकत्थयइ**—विकत्थन करना—श्लाघा करना, अपनी डींग हांकना कि 'मैं कितना भाग्यशाली हूँ, मेरे पुण्य से ऐसा आहार मिला है।' **अप्पिच्छया—अल्पेच्छता : दो अर्थ**—(१) प्राप्त होने वाले पदार्थों पर मूर्च्छा न करना, (२) आवश्यकता से अधिक लेने की इच्छा न करना। **कण्णसरे : दो अर्थ**—(१) कानों में प्रवेश करने वाले, या (२) कानों में चुभने वाले बाण जैसे तीखे। **सुउद्धरा**—जो सुखपूर्वक निकाले जा सकें। **वेराणुबंधीणि—वैरानुबंधी**—अनुबन्ध कहते हैं—परम्परा या सातत्य को। कटुवाणी वैर-परम्परा को आगे से आगे बढ़ाने वाली है, इसलिए इसे वैरानुबन्धिनी कहते हैं। **अलोलुए : अलोलुप**—आहार, वस्त्र आदि पर लुब्ध न होने वाला, स्वशरीर में भी प्रतिबद्ध न रहने वाला। **अक्कुहए**—यंत्र, मंत्र, तंत्र आदि ऐन्द्रजालिक प्रपंचों में न पड़ने वाला। **अदीणवित्ती**—जिसमें दीनवृत्ति न हो, दीनवृत्ति के दो अर्थ हैं—(१) अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग होने पर दीन हो जाना, (२) दीनभाव से गिड़गिड़ा कर याचना करना। **नो भावए नो विअ भावियप्पा**—(१) न भावयेत् नाऽपि च भावितात्मा—जो न तो दूसरे को अकुशल भावों से भावित-वासित करे और न ही स्वयं अकुशल भावों से भावित हो। भावार्थ—जो दूसरों से श्लाघा नहीं करवाता, न स्वयं आत्म-श्लाघा करता है। अथवा (२) **नो भापयेद् नोऽपि च भापितात्मा**—न तो दूसरों को डराए और न स्वयं दूसरों से डरे। **अकोउहल्ले—अकौतूहल**—कुतूहल के मुख्यतया तीन अर्थ होते हैं—(१) उत्सुकता या आश्चर्यमग्नता, (२) क्रीड़ा करना—खेल-तमाशे दिखाना, अथवा (३) किसी आश्चर्यजनक वस्तु या व्यक्ति को देखने की उत्कट अभिलाषा। जो कुतूहलवृत्ति से रहित हो, वह अकुतूहल है। **डहरं**—अल्पवयस्क। **महल्लगं**—बड़ी उम्र का, वृद्ध। **नो हीलाए नो वि अ खिंसइज्जा**—हीलना और खिंसना, ये दोनों शब्द एकार्थक होते हुए भी यहाँ दोनों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गए हैं। **हीलना** का अर्थ किया गया है—दूसरे को उसके पूर्व दुश्चरित्र का स्मरण करा कर उसे लज्जित करना, उसकी निन्दा करना और खिंसना है—ईर्ष्या या असूयावश दूसरे को दुर्वचन कहकर पीड़ित करना, झिड़कना।

---

३. पंचविधस्स णाणाइ-आयारस्स अट्ठाए, साधु आयरियस्स विणयं पउंजेज्जा। —जि. चू., पृ. ३१८

अथवा—किसी व्यक्ति को दुर्वचन से एक बार लज्जित करना, दुष्ट कहना या निन्दित करना हीलना है और बार-बार दुर्वचन कह कर लज्जित करना, दुष्ट कहना या निन्दित करना खिसना है। माणिआ : भावार्थ—जो शिष्यों द्वारा विनयभक्ति आदि से सम्मानित होते हैं। निवेसयंति—श्रेष्ठ स्थान में स्थापित करते हैं। चरे—तदनुसार आचरण करते हैं।[४]

विनीत साधक को क्रमशः मुक्ति की उपलब्धि

५०६. गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी,
जिणवयनिउणे अभिगम कुसले।
धुणियरयमलं पुरेकडं,
भासुरमउलं गइं गय॥ १५॥
—त्ति बेमि

विणय-समाहीए तइओ उद्देसो समत्तो॥ ९-३॥

४. (क) जाति-सुत-थेरभूमीहिंतो परियागथेरभूमिमुक्करिसेंतेहिं विसेसिज्जति, डहरा वि जो वयसा परियायजेट्ठा पव्वज्जामहल्ला। उवातो नाम आणानिद्देसो। —अगस्त्य चू., पृ.
(ख) 'अवपातवान्'—वंदनशीलो निकटवर्ती वा। यापनार्थं संयमभारोद्वाहि-शरीरपालनाय, नाऽन्यथा। —हारि. वृत्ति, पत्र २५३
(ग) जवणट्ठया णाम जहा सगडस्स अब्भंगो जत्तत्थं कीरइ, तहा संजमजत्तानिव्वहणत्थं आहारेयव्वंति। —जिन. चूर्णि, पृ. ३१९
(घ) अन्नातं-जं न मित्त-सयणादि (णातं)। तमेव समुदाणं पुव्व-पच्छा-संथवादीहिं ण उप्पादियमिति······ अन्नातउंछं। भावुंछं अन्नातमेसणासुद्धमुपपातियं। —अगस्त्यचूर्णि
(ङ) 'अज्ञातोञ्छं'—परिचयाकरणेनाज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्धरितादि। हारि. वृत्ति, पत्र २५३
(च) परिदेवयेत्-खेदं यायात् यथा—मन्दभाग्योऽहम्, अशोभनो वाऽयं देश इति। विकत्थते-श्लाघां करोति—सपुण्योऽहं, शोभनो वाऽयं देश इति। अल्पेच्छता-अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताऽग्रहणम् वा। —हारि. वृत्ति, पत्र २५३
(छ) कण्णं सरंति पावंति कण्णसरा, अधवा सरीरस्स दुस्सहमायुधं सरो तहा ते कण्णस्स एवं कण्णसरा। —अ. चूर्णि
(ज) कर्णसरान्—कर्णगामिनः। सूद्धराः सुखेनैवोद्ध्रियंते वर्णपरिकर्म च क्रियते। तथाश्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति। —हारि. वृत्ति, पत्र २५३
(झ) उक्कोसेसु आहारादिसु अलुद्धो भवइ, अहवा जो अप्पणो वि देहे अपडिबद्धो सो अलोलुओ भण्णइ। कुहगं इंदजालादीयं न करेइत्ति अक्कुहए त्ति। अदीणवित्ती नाम आहारोवहिमाइसु अलब्भमाणेसु णो दीणभावं गच्छइ, तेसु विरूवेसु लद्धेसु वि अदीणभावो भवइत्ति। —जिन. चूर्णि, पृ. ३२२
(ञ) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ४५९
'घरत्थेण अण्णतित्थिएण वा मए लोगमज्झे गुणमत्तं भावेज्जासि त्ति एवं णो भावयेदेतेसिं वा कंचि अप्पणा णो भावये, अहमेवंगुण इति अप्पणा वि ण भावितप्पा। —अगस्त्यचूर्णि
(ट) तहा नडनट्टगादिसु णो कूउहलं करेइ। —जिन. चूर्णि, पृ. ३२२
(ठ) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार, पृ. ९२५ से ९२७

[५०६] जिन-(प्ररूपित) धर्म-सिद्धान्त (आगम) में निपुण, अभिगम (अतिथि साधुओं की सेवा अथवा विनयप्रतिपत्ति) में कुशल मुनि इस लोक में सतत गुरु की परिचर्या (सेवा) करके पूर्वकृत (कर्म) रज और मल को क्षय कर भास्वर (प्रकाशमयी) अतुल (अनुपम) सिद्धि गति को प्राप्त करता है ।। १५ ।। —ऐसा मैं कहता हूँ ।।

विवेचन—फलश्रुति—इस उपसंहारात्मक गाथा में विनयवान् साधु को क्रमशः सिद्धि गति-प्राप्ति रूप फलश्रुति बताई गई है ।

'पडियरिय' आदि पदों के विशेषार्थ—पडियरिय—परिचर्य—विधिपूर्वक आराधना, सेवा-शुश्रूषा या भक्ति करके । **अभिगमकुसले**—अतिथि साधुओं तथा आचार्यों का आदर-सम्मान व सेवा-भक्ति करने में दक्ष । **रयमलं**—रजोमलं—आश्रवकाल में कर्म 'रज' कहलाता है और बद्ध, स्पृष्ट और निकाचित काल में 'मल' कहलाता है ।

।। नवम अध्ययन : विनय-समाधि : तृतीय उद्देशक समाप्त ।। □□

---

५. (क) 'परिचर्य'—विधिना आराध्य । 'अभिगमकुशलो' लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्षः ।

—हारि. वृत्ति, पत्र २५५

(ख) 'जधा जोगं सुस्सूसिऊण पडियरिय ।' आश्रवकाले रयो, वद्ध-पुट्ठ-निकाइयं कम्मं मलो ।

—अगस्त्यचूर्णि

(ग) जिणोवइट्ठेण विणएण आराहेऊणं । अभिगमो नाम साधूणमायरियाणं जा विणयपडिवत्ती सो अभिगमो भण्णइ, तंमि कुसले । —जिनदासचूर्णि, पृ. ३२४

नवमं अज्झयणं : विणय-समाही

नवम अध्ययन : विनय-समाधि

चउत्थो उद्देसो : चतुर्थ उद्देशक

विनय-समाधि और उसके चार स्थान

५०७. सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं–इह खलु थेरेहिं भगवंतेहि चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता ॥ १ ॥

५०८ प्र. कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता ? ॥ २ ॥

५०९ उ. इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता; तं जहा— विणयसमाही १, सुयसमाही २, तवसमाही ३, आयारसमाही ४ ॥३॥

५१०. विणए १ सुए २ तवे ३ य आयारे निच्चं *पंडिया ।
अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया ॥४॥

[५०७] [गुरु—] आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उन भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य प्रभवस्वामी) ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—इस (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) में स्थविर भगवंतों ने विनयसमाधि के चार स्थानों का प्रज्ञापन किया है ॥ १ ॥

[५०८ प्र.] [शिष्य—] स्थविर भगवन्तों ने विनयसमाधि के वे चार स्थान कौन-से प्ररूपित किये हैं ? ॥ २ ॥

[५०९ उ.] [गुरु—] वे विनयसमाधि के चार स्थान ये हैं जिनका स्थविर भगवन्तों ने प्रज्ञापन किया है; जैसे—(१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तपःसमाधि, और (४) आचार-समाधि ॥ ३ ॥

[५१०] जो जितेन्द्रिय होते हैं, वे पण्डित (मुनिवर) अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार (इन चार प्रकार के समाधि-स्थानों) में निरत रखते हैं ॥ ४ ॥

विवेचन—विनयसमाधि के सूत्र—पूर्वोक्त तीन उद्देशकों में विनय का माहात्म्य, अविनय से होने वाली हानि, विनय से प्राप्त होने वाली फलश्रुति आदि का स्फुट निरूपण करने के पश्चात् प्रस्तुत उद्देशक में शास्त्रकार विनयसमाधि के प्रमुख सूत्रों का स्पष्ट प्रतिपादन प्रश्नोत्तर-शैली में प्रस्तुत कर रहे हैं ।

पाठान्तर— * सया ।

समाधि और विनयसमाधि आदि—समाधि का शब्दशः अर्थ होता है—समाधान, अर्थात्—मन का एकाग्रतापूर्वक सम्यक् प्रकार से स्थित हो जाना। समाधि का परमार्थ है—वास्तविक रूप से आत्मा का हित, सुख, अथवा स्वस्थता। अथवा विनयादि उक्त चारों प्रकार की क्रियाओं में अत्यधिक तल्लीनता हो जाना भी समाधि है। तात्पर्य यह है कि विनय, श्रुत, तप और आचार में प्रवृत्त होने, तल्लीन होने से आत्मा का हित होता है, आत्मा को सुख-शान्ति प्राप्त होती है और आत्मा परभावों की ओर न जाकर स्वभाव में ही प्रायः स्थित हो जाता है। इसलिए इन्हें विनयसमाधि आदि कहा गया है। इनसे आत्मा में उत्कट समभाव उत्पन्न होता है। वस्तुतः ये चारों गुण आत्मा में समाहित—स्थापित हो जाते हैं; इसलिए इन्हें समाधिस्थान—समाधि के कारण कहते हैं।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—**इह**—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में, अथवा इस क्षेत्रलोक में। **थेरेहिं**—**स्थविरों के द्वारा**—स्थविर शब्द से यहाँ गणधरों का ग्रहण किया गया है। **तेण भगवया**—उन भगवान् ने। यहाँ 'भगवान्' शब्द से शास्त्रकार का आशय प्रज्ञापक आचार्य प्रभवस्वामी से है, जो दशवैकालिकसूत्र के रचयिता आचार्य शय्यंभव के गुरु थे। **अभिरामयंति**—लीन करते हैं, विनयादि गुणों में स्थिर करते हैं, जुट जाते हैं।[1]

चारों समाधिस्थानों में तल्लीन होने योग्य कौन ?—गाथा ५१० में समाधिस्थानों के पात्रों के लिए दो मापदण्ड निर्धारित किये हैं—(१) **जितेन्द्रिय** हों और (२) **पण्डित**—(जिनकी बुद्धि सद्-असद् विवेकशालिनी) हों, केवल शास्त्रों के पढ़ लेने मात्र से ही कोई पण्डित नहीं हो जाता और न वंशपरम्परा से वपौती में यह पद मिलता है।[2]

विनयसमाधि के चार प्रकार

५११. चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ। तं जहा—अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ १, सम्मं संपडिवज्जइ २, वेयमाराहइ ३, न य भवइ अत्तसंपग्गहिए। चउत्थं पयं भवइ ४ ॥५॥

५१२. भवइ य एत्थ सिलोगो—

> **पेहेइ हियाणुसासणं १ सुस्सूसई २ तं च पुणो अहिट्ठए ३।**
> **न य माणमएण मज्जइ ४ विणयसमाही आययट्ठिए १ ॥ ६ ॥**

[५११] विनयसमाधि चार प्रकार की होती है। जैसे—

---

१. (क) इहक्षेत्रे—प्रवचने वा।
(ख) समाधानं समाधिः—परमार्थतः आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यं। —हारि. वृत्ति. पत्र २५६
(ग) "जं विणयसमारोवणं, विणयेण वा जं गुणाण समाधाणं, एस विणयसमाधी भवतीति।" —अगस्त्यचूर्णि
(घ) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ९३५
(ङ) थेरग्गहणेण गणहराणं गहणं कयं। —जिन. चूर्णि, पृ. ३२५
(च) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ४६५

२. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ६१

(१) [आचार्य या गुरु द्वारा] अनुशासित किया हुआ (शिष्य) उनके अनुशासन-वचनों को सुनना चाहता है; (२)—अनुशासन (शिक्षा) को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करता है; (३)—वेद (शास्त्रज्ञान) की आराधना करता है; (अथवा आचार्य के वचन के अनुसार आचरण कर उनकी वाणी को सार्थक करता है) और (४)—वह (गर्व से) आत्म-प्रशंसक (आत्मोत्कर्षकर्ता) नहीं होता; यह चतुर्थ पद है। ॥५॥

[५१२] इस (विषय) में श्लोक भी है—

(१) आत्मार्थी (या मोक्षार्थी) मुनि हितानुशासन सुनने की इच्छा करता है; (२) शुश्रूषा करता है—गुरु के अनुशासन को सम्यक्रूप से ग्रहण करता है; (३) उस (अनुशासन) के अनुकूल आचरण करता है; (४) (मैं) विनयसमाधि में (प्रवीण हूँ, इस प्रकार के) अभिमान के उन्माद से उन्मत्त नहीं होता।

विवेचन—विनयसमाधि के सूत्र—प्रस्तुत दो सूत्रों (५११-५१२) में विनयसमाधि को जीवन में रमाने वाले साधक के चार सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है।

'सुस्सूसइ' आदि पदों के विशेषार्थ—सुस्सूसइ—शुश्रूषा करता है—सुनने की इच्छा करता है, अथवा सेवा करता है, या सम्यक्रूप से ग्रहण करता है। **वेयं**—वेद—श्रुतज्ञान या ज्ञान। **आराहइ**-शास्त्र में जिस प्रकार कहा है, तदनुकूल आचरण-आराधन करता है। **आययट्ठिए : आयतार्थिक**—मोक्षार्थी, मोक्षाकांक्षी।

न य माणमएण मज्जइ—गर्व के उन्माद से मत्त नहीं होता। **अत्तसंपग्गहिए**—जिसकी आत्मा गर्व से संप्रगृहीत (अक्खड़ या अवलिप्त) हो।[3]

श्रुतसमाधि के प्रकार

५१३. चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ। तं जहा—'सुयं मे भविस्सइ' त्ति अज्झाइयव्वं भवइ १, 'एगग्ग चित्तो भविस्सामि' त्ति अज्झाइयव्वं भवइ २, 'अप्पाणं ठावइस्सामि' त्ति अज्झाइयव्वं भवइ ३, 'ठिओ परं ठावइस्सामि' त्ति अज्झाइयव्वं भवइ चउत्थं पयं भवइ ४ ॥७॥

५१४. भवइ य एत्थ सिलोगो—

नाण १ मेगग्गचित्तो २ य ठिओ ३ ठावयई परं ४।
सुयाणि य अहिज्जित्ता रओ सुयसमाहिए ॥८॥

---

३. (क) आयरिय-उवज्झायादओ य आदरेण हिओवदेसगत्ति काऊण सुस्सूसइ। वेदो नाणं भण्णइ। तत्थ णं जहा भणितं तहेव कुव्वमाणो तमाराहयइ त्ति। —जिन. चूर्णि, पृ. ३२७

(ख) शुश्रूषतीत्यनेकार्थत्वाद् यथाविषयमवबुध्यते। वेद्यतेऽनेनेति वेदः-श्रुतज्ञानम्। आराधयति…… …यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति। —हारि. वृत्ति, पत्र २५६

(ग) संपग्गहीतो गव्वेण जस्स अप्पा सो अत्तसंपग्गहितो। —अगस्त्यचूर्णि
अत्तुक्करिसं करेइ त्ति, जहा विणीयो (हं) जहुत्तकारी य एवमादि। —जिन. चूर्णि, पृ. ३२६

[५१३] श्रुतसमाधि चार प्रकार की होती है; जैसे कि—

(१) 'मुझे श्रुत (आचारांगादि शास्त्रज्ञान) प्राप्त होगा,' इसलिए अध्ययन करना उचित है। (२) (शास्त्रज्ञान से) 'मैं एकाग्रचित्त हो जाऊँगा,' इसलिए अध्ययन करना चाहिए। (३) (एकाग्रचित्ता से) मैं अपनी आत्मा को (आत्मधर्म में—स्व-भाव में) स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए। (४) एवं (स्वधर्म में स्थित होकर) मैं दूसरों को (उसमें) स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए; यह चतुर्थ पद है ॥७॥

[५१४] इस (श्रुतसमाधि के विषय) में एक श्लोक है—(प्रतिदिन शास्त्राध्ययन के द्वारा सम्यक्) ज्ञान होता है, चित्त एकाग्र हो जाता है, (अपने आत्मधर्म में) स्थिति होती है और दूसरों को (उसमें) स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत (शास्त्रों) का अध्ययन कर श्रुतसमाधि में रत हो जाता है ॥८॥

विवेचन—श्रुतसमाधि के सूत्र—प्रस्तुत दो सूत्रों (५१३-५१४) में शास्त्र-अध्ययन करने के चार महत्त्वपूर्ण उद्देश्य बताते हुए श्रुतसमाधि के चार सूत्रों का निरूपण किया गया है।

शास्त्राध्ययन के चार प्रयोजन—(१) शास्त्रों का प्रतिदिन अध्ययन करते रहने से सैद्धान्तिक ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का ज्ञान परिपक्व और अस्खलित हो जाता है। शास्त्रीय अध्ययन के बिना साधु-साध्वीगण जैनधर्म के सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान और आचार-व्यवहार की बातें भलीभांति समझ नहीं सकते। बल्कि कभी-कभी शास्त्रज्ञान की अज्ञता के कारण भौतिक सुख-सुविधावादी पुस्तकें पढ़-सुन कर स्वयं विपरीत मार्ग पर चल पड़ते हैं और दूसरों को भी उसी उन्मार्ग पर ले जाते हैं। (२) शास्त्र-अध्ययन के बिना साधक का चित्त इधर-उधर विषयवासना की बातें सुनकर चंचल हो उठता है, परन्तु शास्त्रीय अध्ययन से उसका चित्त अपने ध्येय में एकाग्र हो जाता है। वह इधर-उधर भटकता नहीं। (३) शास्त्रीय अध्ययन करने से ही साधु-साध्वी अपने स्वधर्म में, आत्मिक गुणों में, अहिंसा-सत्यादि धर्मों में स्थिर रह सकते हैं। आकस्मिक विपत्ति, भय या प्रलोभन अथवा प्रतिष्ठा आदि का लोभ आने पर उनका चित्त स्वधर्म और धैर्य से च्युत हो जाता है, वह पापवृत्ति की ओर झुक जाते हैं। (४) अध्ययन न करने वाला जब स्वयं स्वधर्म से भ्रष्ट-पतित हो जाता है, अनेक क्रियाकाण्ड करते हुए भी धर्म में स्थिर नहीं रहता, तब वह दूसरों को धर्म में कैसे स्थिर कर सकता है? किन्तु जो स्वाध्यायशील होता है, वह ज्ञानबल से स्वयं स्वधर्म में स्थिर होता है, इसलिए धर्म से डिगते हुए अन्य साधकों को भी वह उसमें स्थिर कर देता है। इन चार कारणों से साधु-साध्वीगण अनेक प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन करके श्रुतसमाधि में लीन हो जाते हैं। फलितार्थ यह है कि साधु-साध्वी को इन्हीं शुभ उद्देश्यों को लेकर शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए, प्रसिद्धि, पद-प्रतिष्ठा, प्रशंसा या अन्य किसी भौतिक स्वार्थसिद्धि के उद्देश्य से नहीं।[५]

तपःसमाधि के चार प्रकार

५१५. चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ। तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए □तवमहिट्ठेज्जा १, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा २, नो कित्ति-वण्णसद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा ३, नऽन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ ४ ॥९॥

५. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ९४३-९४४

पाठान्तर— □ तवमहिट्ठिज्जा।

५१६. भवइ य *एत्थ सिलोगो—

विविहगुण-तवोरए य निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥१०॥

[५१५] तपःसमाधि चार प्रकार की होती है। यथा—

(१) इहलोक (वर्त्तमान जीवन के भौतिक लाभ या तुच्छ विषयभोगों की वाञ्छा) के प्रयोजन से तप नहीं करना चाहिए।

(२) परलोक (पारलौकिक भौतिक सुखों या भोगासक्ति-विषयक लाभों) के लिए तप नहीं करना चाहिए।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नहीं करना चाहिए।

(४) (कर्म—) निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए, यह चतुर्थ पद है ॥९॥

[५१६] सदैव विविध गुणों वाले तप में (जो साधक) रत रहता है, (जो इहलौकिक, पारलौकिक, किसी भी भौतिक-पौद्गलिक प्रतिफल की) आशा नहीं रखता; (जो केवल) कर्म-निर्जरार्थी होता हैं; वह तप के द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षय कर डालता है और सदैव तपःसमाधि से युक्त रहता है ॥१०॥

विवेचन—तपःसमाधि संबंधी सूत्र—प्रस्तुत दो सूत्रों (५१५-५१६) में तपःसमाधि को प्राप्त करने के लिए भौतिक प्रयोजनवश तपश्चरण का निषेध करते हुए एकान्त कर्मक्षय के उद्देश्य से तपश्चरण का विधान किया गया है।

तपश्चरण के लिए निषिद्ध उद्देश्य—इहलोगट्ठयाए—परलोगट्ठयाए—तपस्या का उद्देश्य इहलौकिक या पारलौकिक नहीं होना चाहिए। साधक को ऐहिक या पारलौकिक सुखसमृद्धि, भोगोपभोग या किसी सांसारिक स्वार्थसिद्धि की आशा से तप नहीं करना चाहिए। यथा—इस तप से मुझे तेजोलेश्या तथा आमर्षौषधि आदि लब्धि या भौतिकसिद्धि, वचनसिद्धि प्राप्त हो जाएगी, अथवा आगामी जन्म में मुझे देवलोक के दिव्य सुखों, देवांगनाओं अथवा सांसारिक ऋद्धि प्राप्त हो जाएगी। **कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए**—तपस्या का उद्देश्य कीर्ति आदि भी नहीं होना चाहिए। **कीर्ति**—दूसरों के द्वारा गुणकीर्त्तन, अथवा सर्वदिग्व्यापी यशोवाद, **वर्ण**—लोकव्यापी या एकदिग्व्यापी यशोवाद; **शब्द**—लोकप्रसिद्धि अथवा अर्द्ध दिग्व्यापी यश, **श्लोक**—ख्याति अथवा उसी स्थान पर होने वाला यश अथवा प्रशंसा। तात्पर्य यह है कि पद, प्रतिष्ठा, पदोन्नति, कीर्ति, प्रसिद्धि एवं प्रशंसा, स्तुति, प्रशस्ति आदि की दृष्टि से साधक को तपश्चर्या नहीं करनी चाहिए। कर्मक्षय करके आत्म-शुद्धि की दृष्टि से ही बारह प्रकार की तपश्चर्या करनी चाहिए। जो लोग किसी सांसारिक आशा-आकांक्षा से प्रेरित होकर तप करते हैं, उनकी वे लौकिक-भौतिक कामनाएँ कदाचित् पूर्ण हो जाएँ किन्तु उन्हें कर्मों से सर्वथा मुक्तिरूप निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं होती। उनकी दशा प्रायः ब्रह्मदत्त

पाठान्तर— * इत्थ।

चक्रवर्ती के समान होती है, जिसने तपोबल के साथ फलाकांक्षा को जोड़ कर भौतिक सुखसमृद्धि एवं भोगसामग्री तो बहुत प्राप्त की, किन्तु धर्म का बोध तथा धर्माचरण न हो सकने से अन्त में, नरक का मेहमान बनना पड़ा। अतः भगवान् महावीर ने कहा—**निज्जरट्ठाए तवमहिट्ठेज्जा**—अर्थात्—कर्मनिर्जरा के लिए ही तप करना चाहिए।[६]

'अन्नत्थ' आदि पदों के विशेषार्थ—अन्नत्थ—अन्यत्र,—छोड़ कर या अतिरिक्त। **निरासए—**पौद्गलिक प्रतिफल की आशा-आकांक्षा से रहित।[७]

आचारसमाधि के चार प्रकार

५१७. चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ। तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा १, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा २, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा ३, नऽन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ ४ ॥ ११ ॥

५१८. भवइ य एत्थ सिलोगो—

जिणवयणरए अतिंतिणे पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयार-समाहि-संवुडे भवइ य दंते भावसंधए ४॥ १२ ॥

[५१७] आचारसमाधि चार प्रकार की है; यथा—(१) इहलोक के लिए आचार का पालन नहीं करना चाहिए, (२) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए, (३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए भी आचार का पालन नहीं करना चाहिए, (४) आर्हत-हेतुओं के सिवाय अन्य किसी भी हेतु (उद्देश्य) को लेकर आचार का पालन नहीं करना चाहिए, यह चतुर्थ पद है ॥११॥

[५१८] यहाँ आचार-समाधि के विषय में एक श्लोक है—

'जो जिनवचन में रत होता है, जो क्रोध से नहीं भन्नाता, जो (सूत्रार्थ-ज्ञान से) परिपूर्ण है और जो अतिशय मोक्षार्थी है, वह मन और इन्द्रियों का दमन करने वाला (दान्त) मुनि आचार-समाधि द्वारा संवृत होकर (आस्रवनिरोध करके अपनी आत्मा को) मोक्ष के अत्यन्त निकट करने वाला होता है ॥१२॥

विवेचन—आचार-समाधि के सूत्र—प्रस्तुत दो सूत्रों (५१७-५१८) में आचार-समाधि को प्राप्त करने के लिए विभिन्न भौतिक प्रयोजनवश आचार-पालन का निषेध करते हुए एकमात्र आर्हत-हेतुओं (आर्हत्-वीतराग-पद-प्राप्ति के उद्देश्य) से आचार-पालन का विधान किया गया है।

---

६. 'परेहि गुणसंसद्दणं कित्ती, लोकव्यापी जसो वण्णो, लोके विदितया सद्दे, परेहिं पूर (य) णं सिलोगो।' —अगस्त्यचूर्णि

"सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्तिः, एकदिग्व्यापी वर्णः, अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थान एव श्लाघा। निराशो—निष्प्रत्याश इहलोकादिषु।" —हारि. वृत्ति, पत्र २५७

७. अन्नत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ। 'निग्गता आसा अप्पसत्था जस्स सो निरासए।' —जिन. चूर्णि, पृ. ३२८

आचार : दो स्वरूप—(१) मोक्षप्राप्ति में हेतुभूत ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचाररूप पंचाचार; (२) सम्यक्चारित्र मूलगुण-उत्तरगुणमय आचार।[८]

आरहंतेहिं हेउहिं—(१) अर्हन्तों ने मोक्षसाधना के लिए अनास्रवत्व (संवर) और निर्जरा आदि जिन गुणों का उपदेश दिया है या आचरण किया है, उन हेतुओं—उद्देश्यों से अथवा (२) अर्हत्प्रणीत शास्त्रों में जिन आचारों द्वारा जीव का आस्रवरहित होना बताया है, उन आस्रव-निरोधादि हेतुओं से अथवा (३) अर्हत्पद की प्राप्ति के उद्देश्यों से।[९]

'पडिपुण्णाययं' आदि पदों के विशेषार्थ : परिपूर्णायत : दो अर्थ—(१) सूत्रार्थों से अत्यन्त आयत—प्रतिपूर्ण, अथवा (२) जिसका आयत (आगामीकाल—भविष्य) प्रतिपूर्ण है। दंते—दान्त, इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय (मन) का दमन करने वाला।

भावसंधए : भावसन्धक—भाव का अर्थ है—मोक्ष, उसका सन्धक-अर्थात्—मोक्ष को आत्मा के निकट करने वाला अथवा दूरस्थ मोक्ष (भाव) को अपने साथ सम्बद्ध करने वाला।[१०]

चतुर्विध-समाधि-फल-निरूपण

५१९. अभिगम चउरो समाहिओ,
सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउल-हिय+सुहावहं पुणो,
कुव्वइ सो पयखेममप्पणो॥ १३॥

५२०. जाई-मरणाओ मुच्चई,
इत्थंथं च चएइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ* सासए,
देवे वा अप्परए †महिड्ढिए॥ १४॥ —त्ति बेमि॥

विणय-समाहीए चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ ९-४॥

नवमं अज्झयणं : विणयसमाही समत्तं ॥९॥

---

८. (क) 'पंचविधस्स णाणाइ-आयारस्स.......।' —जिन. चूर्णि, पृ. ३१८
(ख) 'आचारं—मूलगुणोत्तरगुणमय.......।' —हारि. वृत्ति, पत्र २५८

९. (क) 'जे अरहंतेहिं अणासवत्त-कम्मणिज्जरणादयो गुणा भणिता आयिण्णा वा, ते आरहंतिआ हेतवो कारणाणि।' —अगस्त्यचूर्णि
(ख) आर्हतैः—अर्हत्-सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिः। —हारि. वृत्ति, पत्र २५८
(ग) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पत्राकार पृ. ९५१

१०. (क) ....सुत्तत्थेहिं पडिपुण्णो, आयया अच्चत्थं (अत्यन्तं)। —जिन. चूर्णि, पृ. ३२९
(ख) पडिपुण्णं आयतं आगामिकालं सव्व-आगामिणं कालं पडिपुण्णायतं। —अगस्त्यचूर्णि
(ग) दान्त-इन्द्रिय-नोइन्द्रिय-दमाभ्याम्। भाव-सन्धकः—भावो मोक्षस्तत्सन्धक आत्मनो मोक्षासन्नकारी। —हा. वृ., पृ. २५८
(घ) भावो-मोक्खो तं दूरत्थमप्पणा सह संबंधए। —जि. चू., पृ. ३२९

पाठान्तर—+हिअं। * हवइ। † महड्ढिए।

[५१९] परम-विशुद्ध (निर्मलचित्त) और (संयम में) अपने को भलीभांति सुसमाहित रखने वाला जो साधु है, वह चारों समाधियों को जान कर अपने लिए विपुल हितकर, सुखावह एवं कल्याण (क्षेम)-कर मोक्षपद (स्थान) को प्राप्त कर लेता है ।।१३।।

[५२०] (पूर्वोक्त गुणसम्पन्न साधु) जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है, नरक आदि सब पर्यायों (अवस्थाओं) को सर्वथा त्याग देता है । (ऐसा साधक) या तो शाश्वत (अजर-अमर) सिद्ध (मुक्त) हो जाता है, अथवा (यदि कुछ कर्म शेष रह जाएँ तो वह अल्पकर्मवाला महर्द्धिक देव होता है ।।१४।।

विवेचन—चतुर्विध विनय-समाधि की फलश्रुति—प्रस्तुत दो गाथाओं (५१९-५२०) में विनय-समाधि के अनन्तर और परम्पर फल का निरूपण किया गया है ।

समाधि की फल-प्राप्ति के योग्य—जो सुविशुद्ध हो, सुसमाहितात्मा हो तथा चारों समाधियों का सुविज्ञ हो, वही चतुर्विध समाधि के फल को पाने के योग्य है ।

फलश्रुति—उसे निम्नोक्त फल प्राप्त होते हैं—(१) वह विपुल हितकर, सुखकर और क्षेम-कर मोक्षपद प्राप्त करता है, (२) जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है, (३) नरकादि अवस्थाओं से सर्वथा बच जाता है, (४) शाश्वतसिद्ध होता है, अथवा (५) अल्पकर्म वाला महर्द्धिक देव बनता है ।[११]

'पयं' आदि शब्दों के अर्थ—पयं—पद अर्थात् मोक्षपद । **जाइ-मरणाओ**—जन्म और मरण से, अथवा जन्म-मरणरूप संसार से । **इत्थं यं**—इत्थं का अर्थ है—इस प्रकार प्राप्त हुआ, जो इस प्रकार स्थित हो, जिसके लिए 'यह ऐसा है,' इस तरह का व्यपदेश किया जाए उसे इत्थंस्थ कहा जाता है । नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, ये ४ गतियाँ, शरीर, वर्ण, संस्थान इत्यादि सब जीवों के व्यपदेश के हेतु हैं । जो इत्थंस्थ को त्याग देता है अर्थात् अमुक प्रकार के विकारी रूप को त्याग देता है । **अल्परए : दो रूप : दो अर्थ**—(१) **अल्परजा**—थोड़े कर्म वाला और (२) अल्परत—अल्प-आसक्त ।[१२]

।। नवम अध्ययन : विनय-समाधि—चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।९-४।।

।। नवम अध्ययन सम्पूर्ण ।।९।।

---

११. दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. ९५२-५३

१२. (क) अगस्त्यचूर्णि

(ख) जि. चू., पृ. ३२९

(ग) हारि. वृत्ति, पृ. २५८

दसमं अज्झयणं : स-भिक्खु

दसवां अध्ययन : स-भिक्षु

प्राथमिक

※ दशवैकालिकसूत्र के इस दसवें अध्ययन का नाम 'स-भिक्खु' है, संस्कृत में इसके दो रूपान्तर होते हैं—सभिक्षु और सद्भिक्षु। आधुनिक युग की भाषा में 'सच्चा भिक्षु' या 'आदर्श भिक्षु' कहा जा सकता है।

※ भिक्षु का अर्थ—भिक्षाजीवी या भिक्षाशील होता है। अर्थात्—जो किसी भी वस्तु को खरीद कर या अग्नि आदि में पकाकर सेवन नहीं करता, किन्तु भिक्षा के द्वारा ही जीवननिर्वाह करता है, भिक्षा करके ही खाता है या अन्य उपकरण प्राप्त करता है।

※ परन्तु इस अर्थ पर से आदर्श या सच्चे भिक्षु की पहचान नहीं हो सकती। इस अर्थ की परिधि में तो वे लोग भी आ जाते हैं, जो भीख मांग कर खाते हैं, भिखारी हैं, जो लोगों से गिड़गिड़ा-कर, दीनता और दयनीयता का स्वांग करके भीख मांगते हैं। इसके अतिरिक्त कई अन्य सम्प्रदायों के भिक्षु या साधु भी आ जाते हैं जो—(१) भीख मांगकर तो खाते हैं, परन्तु स्त्री-पुत्र वाले हैं, आरम्भरत हैं। (२) भिक्षा करके तो खाते हैं, पर हैं, मिथ्यादृष्टि, तथा त्रस-स्थावर जीवों का वध करने-कराने में जिन्हें संकोच नहीं है। (३) भिक्षा मांग कर खाते हैं, पर संचय करते हैं, परिग्रह में त्रिकरण-त्रियोग से आसक्त हैं। (४) भिक्षा मांग कर खाते हैं, परन्तु सचित्तभोजी हैं, खाद्यवस्तुएँ मांग कर लाते हैं, स्वयं पकाते हैं, अथवा उद्दिष्टभोजी हैं। (५) भिक्षा करके लाते हैं, परन्तु त्रिकरण-त्रियोग से स्व-पर-उभय के लिए सावद्य-प्रवृत्ति करते हैं, सार्थक-अनर्थकदण्ड में प्रवृत्त हैं। इन और ऐसे ही भिक्षुकों को, जो कि याचक तो हैं, परन्तु अविरत हैं, सैद्धान्तिक दृष्टि से 'द्रव्यभिक्षु' कहा जा सकता है, 'भावभिक्षु' नहीं। ※

※ नाम और रूप से एक सरीखा प्रतीत होने पर भी जैसे असली सोना, अपने गुणों के कारण नकली सोने से सदा पृथक् होता है, वैसे ही सद्भिक्षु अपने गुणों से पृथक् होता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—गुणों से जो साधु हो, उसे ही साधु कहा जा सकता है। जैसे कसौटी पर कसे जाने पर जो खरा उतरता है, वही खरा सोना कहलाता है, वैसे ही नाम, रूप या वेष से अथवा बाह्य क्रिया से सदृश होने पर भी सद्भिक्षु के अन्य गुणों की कसौटी पर कसने से जो गुणों की दृष्टि से खरा नहीं उतरता वह असद्भिक्षु कहलाता है।

※ भिक्षु के वे गुण कौन-से हैं, जिनके कारण सद्भिक्षु और असद्भिक्षु का अन्तर जाना जा सके? इसी अध्ययन में इस प्रश्न का उत्तर अंकित है। दशवैकालिक सूत्र के इस अन्तिम अध्ययन में

※ 'जे भिक्खू गुणरहिओ भिक्खं गिण्हइ न होइ सो भिक्खू।' —दशवै. निर्युक्ति, गा. ३५६

गुणों की दृष्टि से सद्भिक्षु के लक्षण दिये गए हैं। निर्युक्तिकार ने संक्षेप में एक गाथा में भिक्षु (आदर्श भिक्षु) का लक्षण बताया है कि पूर्ववर्ती ९ अध्ययनों में प्रतिपादित आचार-निधि का पालन करने के लिए जो भिक्षा करता है, वही सद्भिक्षु है। यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है।||

※ प्रस्तुत अध्ययन में सद्भिक्षु के लक्षण इस प्रकार बताए हैं—जो तीर्थंकर के वचनों में समाहित-चित्त हो, स्त्रियों में आसक्ति से तथा त्यक्त विषय-भोगों से विरत हो। जो षट्कायिक जीवों की किसी भी प्रकार से विराधना नहीं करता—कराता; जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् मानता है, जो पंच महाव्रत एवं पंच संवर का पालन करता है, जो कषायविजयी है, परिग्रह-वृत्ति तथा गृहस्थ-प्रपंचों से दूर है; जो खाद्य-पदार्थों का संचय नहीं करता, जो लाया हुआ आहार सार्धमिकों को संविभक्त और आमंत्रित करके खाता है, जो कलहकथा, कोप आदि नहीं करता, जो इन्द्रियविजयी, संयम में ध्रुवयोगी एवं उपशान्त है, जो कठोर एवं भयावह शब्दों को समभावपूर्वक सहता है, जो सुख-दुःख में समभावी, अभय, तपश्चरण एवं विविध-गुणों में रत, शरीरनिरपेक्ष, सर्वांग-संयत, अनिदान, कायोत्सर्गी, परीषह-विजेता, श्रमणभाव में रत, उपधि में अनासक्त है; जो अज्ञातकुलों में भिक्षा करने वाला, क्रय-विक्रय तथा सन्निधि से विरत, सर्वसंग-रहित, असंयमी जीवन का अनाकांक्षी, वैभव, आडम्बर, सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा आदि में बिलकुल निःस्पृह है, जो स्थितप्रज्ञ है, आत्मशक्ति के विकास के लिए तत्पर है, जो समिति-गुप्ति का भलीभांति पालक है; अष्टविध मद से दूर एवं धर्मध्यान आदि में रत है, स्वधर्म में स्थिर है, शाश्वत हित में सुस्थित, देहाध्यास-त्यागी और क्षुद्र हास्यचेष्टाओं से विरत है।※

※ अतः प्रस्तुत अध्ययन में भिक्षुचर्या तथा भिक्षु के स्वधर्म एवं सद्गुणों से सम्बन्धित समग्र चिन्तन में विशुद्धरूप से अंकित किया है।

※ उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम भी 'सभिक्खुयं' है और वहाँ भी इस अध्ययन की तरह प्रत्येक गाथा के अन्त में 'सभिक्खू' शब्द प्रयुक्त किया गया है, उक्त अध्ययन के विषय और पदों से बहुत-कुछ साम्य है। सम्भव है आचार्य शय्यंभव ने इस अध्ययन की रचना में उसे आधार माना हो। +

|| 'जे भावा दसवेयालियम्मि करणिज्ज वण्णिअं जिणेहिं।
तेसिं समाणणंमि जो भिक्खू, इति भवति सभिक्खू ।।दशवै. निर्युक्ति गा. ३३०

※ दशवैयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ७५ से ७८ तक

+ देखिये—उत्तराध्ययनसूत्र का १५ वाँ सभिखुयं अध्ययन।

दसमं अज्झयणं : स-भिक्खु

दसवाँ अध्ययन : स-भिक्षु

सद्भिक्षु : षट्कायरक्षक एवं पंचमहाव्रती आदि सद्गुणसम्पन्न

५२१. निक्खम्ममाणाय+ बुद्धवयणे,
निच्चं चित्तसमाहिओ भवेज्जा※ ।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे,
वंतं नो × पडियावियति जे, स भिक्खू ॥१॥

५२२. पुढविं न खणे, न खणावए,
सीओदगं न पिए, न पियावए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले, न जलावए जे, स भिक्खू ॥२॥

५२३. अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे, न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाऽऽहारए जे, स भिक्खू ॥३॥

५२४. वहणं तस-थावराण होइ,
पुढवि-तण-कट्ठ-निस्सियाणं ।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे,
नो वि पए, न पयावए जे, स भिक्खू ॥४॥

५२५. रोइय नायपुत्तवयणं,
अत्तसमे= मन्नेज्ज छप्पिकाए ।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पंचासवसंवरए जे, स भिक्खू ॥५॥

[५२१] जो तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से निष्क्रमण कर (प्रव्रजित होकर) निर्ग्रन्थ-प्रवचन (सर्वज्ञ-वचन) में सदा समाहितचित्त रहता है, जो स्त्रियों के वशीभूत नहीं होता, जो वमन किये (त्यागे) हुए (विषयभोगों) को पुनः नहीं सेवन करता; वह सद्भिक्षु होता है ॥१॥

पाठान्तर— +आणाइ, आणाय । ※हविज्जा । × पडिआयइ । =अत्तसमं ।

[५२२] जो (सचित्त) पृथ्वी को नहीं खोदता तथा दूसरों से नहीं खुदवाता, शीत (सचित्त) जल नहीं पीता और न पिलाता है, (खड्ग आदि) शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है, वह भिक्षु है ।।२।।

[५२३] जो वायुव्यंजक (पंखे आदि) से हवा नहीं करता और न दूसरों से करवाता है, जो हरित (हरी वनस्पति) का छेदन नहीं करता और न दूसरों से कराता है, जो बीजों (बीज आदि) का सदा विवर्जन करता हुआ (उनके स्पर्श से दूर रहता हुआ) सचित्त (पदार्थ) का आहार नहीं करता, वह भिक्षु है ।।३।।

[५२४] (भोजन बनाने में) पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रित रहे हुए त्रस और स्थावर जीवों का वध होता है। इसलिए जो औद्देशिक (आदि दोषों से युक्त आहार) का उपभोग नहीं करता तथा जो (अन्नादि) स्वयं नहीं पकाता और न दूसरों से पकवाता है, वह सद्भिक्षु है ।।४।।

[५२५] जो ज्ञातपुत्र (श्रमण भगवान् महावीर) के वचनों में रुचि (श्रद्धा) रख कर षट्कायिक जीवों (सर्वजीवों) को आत्मवत् मानता है, जो पांच महाव्रतों का पालन करता है, जो पांच (हिंसादि) आस्रवों का संवरण (निरोध) करता है ,वह सद्भिक्षु है ।।५।।

विवेचन—सद्भिक्षु की परिभाषा—जो विधिवत् गृहस्थाश्रम का त्याग कर षट्जीवनिकाय का त्राता एवं पंचमहाव्रती बनता है, वही वास्तविक भिक्षु है, यही इन ५ गाथाओं में बताया गया है।

निक्खम्ममाणाए : व्याख्या—आणाए : आज्ञा से—तीर्थंकर एवं गणधर की आज्ञा, आगम, उपदेश, सन्देश या वचन से। निक्खम्म: निष्क्रम्य अर्थात् (१) द्रव्यगृह और भावगृह से निकल कर, प्रव्रजित होकर। (२) सर्वसंगपरित्याग करके, अथवा गृह या गृहस्थभाव से निकल कर द्विपद आदि का त्याग कर। द्रव्यगृह अर्थात् घर और भावगृह यानी गृहस्थभाव, गृहस्थ-सम्बन्धी प्रपंच या सम्बन्ध। (३) आरम्भ-समारम्भ से दूर हो कर।[1]

बुद्धवयणे चित्तसमाहिओ : अर्थ—बुद्धवचन में समाहितचित्त, इसका भावार्थ है—बुद्ध अर्थात्—तीर्थंकर या गणधर के वचन अर्थात्—प्रवचन में जिसका चित्त भलीभांति आहित—लीन होता है।[2]

---

१. (क) आणा वा आणत्ति नाम उववायोत्ति वा उवदेमोत्ति वा आगमो त्ति वा एगट्ठा। निष्क्रम्य—तीर्थंकर-गणधराज्ञया निष्क्रम्य—सर्वसंगपरित्यागं कृत्वेत्यर्थः ········ निक्खम्म नाम गिहाओ गिहत्यभावाओ वा दुपदादीणि चइऊण। —जिन. चूर्णि., पृ. ३३८

(ख) आणा वयणं संदेसो वा। निक्खम्म-निग्गच्छिऊण गिहातो आरंभातो वा। —अ. चूर्णि.

२. (क) बुद्धवचने—अवगततत्त्वतीर्थंकर-गणधरवचने।
चित्तसमाहितः—चित्तेनातिप्रसन्नो भवेत्, प्रवचन एवाभियुक्त इति गर्भः। —हा. वृ., पत्र २६५

(ख) बुद्धा जाणणा तेसिं वयणं—बुद्धवयणं दुवालसंगं गणिपिडगं।

इत्थीण वसं न यावि गच्छे : अभिप्रायः—चित्तसमाधि में सबसे बड़ा विघ्न है स्त्रीसंग—अर्थात्—तत्सम्बन्धी कामभोगों की अभिलाषा। इसलिए समाधिस्थ चित्त वाले भिक्षु के लिए गुण बताया है कि सर्वाधिक दुर्जेय स्त्रीसम्बन्धी कामभोगाभिलाषा के वशीभूत नहीं होता।[3]

वंतं नो पडियायइ—वान्त अर्थात्—वमन किये (त्यागे हुए) विषयभोगों को **नो प्रत्यापिबति**—पुनः नहीं पीता या **नो प्रत्यादत्ते**—पुनः ग्रहण—सेवन नहीं करता।[4]

कठिन शब्दार्थ—**सुनिसियं : सुनिशितं**—सुतीक्ष्ण। **रोइय**—रुचि—श्रद्धा रख कर। **पंचासवसंवरे**—पांच इन्द्रियां पंचास्रवद्वार हैं, अथवा हिंसादि पांच आस्रव हैं, उन पांच आस्रवों को रोकता है। **अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए**—छहकाय के जीवों को आत्मवत् मानता है, अर्थात्—उनके सुख-दुःख, जीवन-मरण को अपने समान समझता है। **पंचमहव्वयाइं फासे**—पांच महाव्रतों का स्पर्श—पालन करता है। **अनिलेण**—पंखे आदि वायुव्यंजक साधन से।[5]

पुढवि न खणे० इत्यादि का आशय—सचित्त पृथ्वी में जीव है, इसी प्रकार सचित्त जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति में जीव है, इनकी हिंसा विविध प्रकार से हो जाती है, जिसका विस्तृत वर्णन चतुर्थ अध्ययन में किया गया है। यहाँ पृथ्वी को न खोदे, सचित्त जल न पीए, अग्नि न जलाए, पंखे आदि से हवा न करे, हरी वनस्पति को न छेदे, इत्यादि इन पांच स्थावरों (एकेन्द्रिय जीवों) की हिंसा करने-कराने के एक-एक प्रकार का निषेध किया गया है। अर्थात्—यहाँ पृथ्वी आदि प्रत्येक स्थावर जीव के साथ उसके एक प्रकार का और एक ही क्रिया से हिंसा-निषेध का संकेत किया गया है। शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकायादि जीवों से सम्बन्धित कोई भी ऐसी क्रिया न करनी-करानी चाहिए, जिससे उनका वध हो।[6]

सद्भिक्षु : श्रमणचर्या में सदा जागरूक

५२६. चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जाय-रूव-रयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे, स भिक्खू ॥६॥

---

३. चित्त-समाधाण-विग्घभूता विसया तत्थवि पाहण्णेण इत्थिगतत्ति भणति इत्थीण वसं। —अगस्त्यचूर्णि.

४. पडियायई-प्रत्यापिबति, प्रत्यादत्ते—दसवेयालियं (न. मु.) पृ. ४७९

५. (क) जधा खग्ग-परसु-छुरिगादि-सत्थमणुधारं छेदगं तथा समंततो दहणरूवं। 'पंचासवदाराणि इंदियाणि ताणि आसवा चेव तानि संवरे।' —अ. चू.

(ग) पंचाश्रवसंवृतश्च द्रव्यतो पंचेन्द्रियसंवृतश्च।—हा. वृ., प. २६५
सेवते महाव्रतानि।'—हा. वृ., प. २६५

(घ) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. ४८७

(ङ) अनिलेन = अनिलहेतुना चेलकर्णादिना। —हा. वृ., प. २६५

६. (क) पुढवी चित्तमंतमक्खाया. इत्यादि पाठ। —दशवै. अ. ४

(ख) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ ४८५-४८६

(ग) सचित्तग्गहणेण सव्वस्स पत्तेय-साहारणस्स सभेदस्स वणप्फइकायस्स गहणं कयं, तं सचित्तं नो आहारेज्जा। —जिन. चूर्णि., पृ. ३४१

५२७. सम्मदिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
तवसा धुणई पुराण-पावगं,
मण-वय-काय-सुसंवुडे जे, स भिक्खू ॥७॥

५२८. तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमं साइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा,
तं न निहे, न निहावए जे, स भिक्खू ॥८॥

५२९. तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमं साइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे,
भोच्चा सज्झायरए य जे, स भिक्खू ॥९॥

५३०. न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा,
न य कुप्पे, निहुइंदिए पसंते।
संयम-धुव-जोगजुत्ते उवसंते,
अविहेडए जे, स भिक्खू ॥१०॥

[५२६] जो चार कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) का वमन (परित्याग) करता है, जो तीर्थंकरों (बुद्धों) के प्रवचनों में सदा ध्रुवयोगी रहता है, जो अधन (अकिंचन) है तथा सोने और चाँदी से स्वयं मुक्त है, जो गृहस्थों का योग (अधिक संसर्ग या व्यापार) नहीं करता, वही सद्भिक्षु है ॥६॥

[५२७] जिसकी दृष्टि सम्यक् है, जो सदा अमूढ है, जो ज्ञान, तप और संयम में आस्थावान् है तथा जो तपस्या से पुराने (पूर्वकृत) पाप कर्मों को प्रकम्पित (नष्ट) करता है और जो मन-वचन-काया से सुसंवृत है, वही सच्चा भिक्षु है ॥७॥

[५२८] पूर्वोक्त एषणाविधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर—'यह कल या परसों के लिए काम आएगा,' इस विचार से जो उस आहार को न तो (संचित) करता है और न कराता है, वह भिक्षु है ॥८॥

[५२९] पूर्वोक्त प्रकार से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आहार को पाकर जो अपने साधर्मिक साधुओं को निमन्त्रित करके खाता है तथा भोजन करके स्वाध्याय में रत रहता है, वही सच्चा भिक्षु है ॥९॥

[५३०] जो कलह उत्पन्न करने वाली कथा (वार्ता) नहीं करता और न कोप करता है,

जिसकी इन्द्रियां निभृत (अनुत्तेजित) रहती हैं, जो प्रशान्त रहता है। जो संयम में ध्रुवयोगी है, जो उपशान्त रहता है और जो उचित कार्य का अनादर नहीं करता, वही भिक्षु है ॥१०॥

विवेचन—सच्चे भिक्षु का जीवन—प्रस्तुत ५ गाथाओं (५२६ से ५३० तक) में बताया गया है कि सच्चे भिक्षु का निर्ग्रन्थ धर्म की दृष्टि से जीवन कैसा होता है ? उसकी चर्या कैसी होती है ? वह स्वधर्म का आचरण किस प्रकार करता है ?

ध्रुवयोगी : विभिन्न परिभाषाएँ—(१) जो प्रतिक्षण, लव और मुहूर्त्त प्रबुद्धता—जागृति आदि गुणों से युक्त हो, (२) प्रतिलेखन आदि संयमचर्या में नियमित रूप से संलग्न हो तथा (३) मन, वचन, काया से की जाने वाली प्रवृत्तियों में सदा उपयोग-(सावधानी) पूर्वक जुटा रहता हो, (४) तीर्थंकर-प्रवचन (द्वादशांगी रूप) में निश्चल योग वाला हो और (५) श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) में सदा उपयोगयुक्त रहता हो, वह ध्रुवयोगी है। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार (१) जो तीर्थंकर-वचनानुसार मन-वचन-काया से प्रवृत्ति करता हो, (२) प्रतिलेखनादि जो भी अवश्यकरणोय कार्य हों, उन्हें सदैव समय पर उपयोगपूर्वक करने वाला हो, वह ध्रुवयोगी है। कहा भी है—

जिन शासन में, तीर्थंकरवचनरूप द्वादशांगी गणिपिटक में जो निश्चल योग-युक्त हो तथा पांच प्रकार के स्वाध्याय में रत हो, वह ध्रुवयोगी है।[७]

'गिहिजोगं' आदि पदों का विशेषार्थ—गिहिजोगं—गृहस्थयोग—अर्थात्—(१) गृहस्थों से ममत्वयुक्त संसर्ग या सम्बन्ध रखना या (२) गृहस्थों का क्रय-विक्रय, पचन-पाचन आदि व्यापार स्वयं करना। **सम्मदिट्ठी-सम्यग्दृष्टि**—जिनप्ररूपित जीव, अजीव आदि तत्त्वों (सद्भावों) पर जिसकी सम्यक् श्रद्धा है। **अमूढे : अमूढ**—(१) मिथ्यादृष्टियों (मिथ्या-विश्वासरत) का वैभवादि देख कर मूढता न लाने वाला, (२) देव, गुरु और धर्म, इस तत्त्वत्रयी में जिसे पक्का विश्वास हो, अथवा (३) देवमूढता, गुरुमूढता और शास्त्रमूढता से जो दूर हो। **'अत्थि हु नाणे०' इत्यादि : दो व्याख्याएँ**—(१) जिनशासन में सम्यक् ज्ञान है, उस ज्ञान का फल तप और संयम है और संयम का भी फल मोक्ष है। ये ज्ञान, तप और संयम जिनप्रवचन में ही सम्पूर्ण हैं, अन्य कुप्रावचनों में नहीं। (२) हेय, ज्ञेय और उपादेय पदार्थों का विज्ञापक ज्ञान है, कर्ममल को शुद्ध करने के लिए जल के समान बाह्याभ्यन्तर भेद वाला तप है और नवीन कर्मों के बन्ध का निरोध करने वाला संयम है, इस प्रकार जो अमूढभाव से मानता है। अर्थात्—ज्ञान, तप और संयम के अस्तित्व में दृढ़ आस्था रखता है। **मण-वय-काय-सुसंवुडे—मन-वचन-काय से सुसंवृत—मन से सुसंवृत**—अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उदीरणा करने वाला, **वचन से सुसंवृत**—अप्रशस्त वचन का निरोध और प्रशस्त वचनों की उदीरणा करने या मौन रखने वाला; **काय से सुसंवृत**—शास्त्रोक्त नियमानुसार शयनासन-आदान-निक्षेपादि कायचेष्टाएँ करने वाला, शेष अकरणीय क्रियाएँ न करने वाला।[८]

---

७. (क) जिन. चूर्णि, पृ. ३४९

८. (क) गिहिजोगो-जो तेसिं वायारो पयण-पयावणं तं। —अ. चूर्णि.

(ख) गृहियोगं-मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धम्। —हारि. वृत्ति., पत्र २६६

(ग) सब्भावं सद्दहणालक्खणा सम्म दिट्ठी जस्स सो सम्मदिट्ठी। परतित्थिविभवादीहिं अमूढे।—अगस्त्यचूर्णि

होही अट्ठो सुए परे वा० : व्याख्या—सुए का अर्थ है—श्वः—आगामी कल और परे—परश्वः का अर्थ है—परसों अथवा तीसरा, चौथा आदि दिन। **न निहे :** बासी नहीं रखता, स्थापित करके नहीं रखता, अर्थात् संचय नहीं करता। यह आहार कल या परसों या तीन चार दिन के लिए काम आएगा, इस विचार से जो रातबासी नहीं रखता या संचय करके नहीं रखता। जिस प्रकार पक्षी भूख लगने पर इधर-उधर घूम कर अपनी प्रकृति के योग्य भोजन पाकर पेट भर लेता है, वह भविष्य के लिए कुछ भी संग्रह करके नहीं रखता, उसी प्रकार भिक्षु भी भिक्षाटन से जो कुछ निर्दोष आहार मिलता है, उससे क्षुधा-निवृत्ति कर लेता है, भविष्य के लिए संग्रह करके नहीं रखता।[९]

साहम्मियाण छंदिय : व्याख्या—साधर्मिकों को इच्छाकारपूर्वक निमंत्रित कर। साधर्मिक का अर्थ—समानधर्मा साधु है। साधु भोजन के लिए उन्हीं को आमंत्रित कर सकता है, जिनका वेष, क्रिया, चर्या एवं नियमोपनियम समान हों। वह विषयभोगी (असमानधर्मा) साधु को या श्रावक को निमंत्रित नहीं कर सकता। जिनदासचूर्णि के अनुसार—'मुझ पर अनुग्रह करें' ऐसा मान कर साधु अपने साधर्मिक साधुओं को निमंत्रित करे अर्थात् आप अपनी इच्छानुसार इसमें से ग्रहण करें, इस प्रकार अपनी ओर से उन्हें लेने के लिए अनुरोध (मनुहार) करे। यदि किसी साधर्मी साधु की इच्छा हो तो उसे प्रदान कर स्वयं आहार करना चाहिए।[१०]

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा—वैग्रहिकी कथा वह है जिस कथा, चर्चा या वार्ता से विग्रह, (कलह, युद्ध या विवाद) उत्पन्न हो। कलह या झगड़े को प्रोत्साहन देने वाली बातें नहीं कहनी चाहिए। **न य कुप्पे**—'कोप न करे,' इसका आशय यह है कि कोई विवाद बढ़ाने वाली चर्चा छेड़े अथवा चर्चा करते हुए कोई मतवादी कुतर्क प्रस्तुत करे तो उसे सुन कर मुनि कोप न करे।[११]

(घ) 'अहवा सम्मद्दिट्ठिणा जो इदाणीं अत्थो भण्णइ तंमि अत्थि सया अमूढा दिट्ठी कायव्वा। ""जहा अत्थि हु जोगे नाणे य, तस्स नाणस्स फलं संजमे य, संजमस्स फलं, ताणि य इमंमि चेव जिणवयणे संपुण्णाणि, णो अण्णेसु कुप्पावयणेसुत्ति। ""मणवयणकायजोगे सुट्ठु संवुडेत्ति। तत्थ मणेणं ताव अकुसलमणणिरोधं करेइ, कुसलमणोदीरणं च, वायाएवि पसत्थाणि वायण-परियट्टयाईणि कुव्वइ, मोणं वा आसेवई, काएण सयणासण-आदाणणिक्खेवण-ट्ठाण-चंकमणाइसु कायचेट्ठाणियमं कुव्वति, सेसाणि य अकरणिज्जाणि य ण कुव्वइ। —जिन. चूर्णि., पृ. ३४२

(ङ) अमूढः—अविप्लुतः सन्नेवं मन्यते—अस्त्येव ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तरं कर्ममलापनयनजलकल्पं संयमश्च नवकर्मानुपादानरूपः। —हारि. वृ., पत्र २६६

९. (क) परश्वः। न निधत्ते, न स्थापयति। हारि. वृ., पत्र २६६

(ख) परग्गहणेण तइयं-चउत्थमादीण दिवसाण गहणं कयं। न निहे, न निहावए णाम न परिवासिज्जत्ति वुत्तं भवति। —जिन. चूर्णि., पृ., ३४२

१०. (ख) साधम्मिया—समाणधम्मिया साधुणो। छंदो इच्छा, इच्छाकारेणं जोयणं छंदणं, एवं छंदिय। —अग. चूर्णि।

(ख) दसवेयालियं—(मु. नथ.) पृ. ४९०

११. (क) न च वैग्रहिकीं कलहप्रतिवद्धां कथां कथयति। —हारि. वृ., पृ. २६६

(ख) जति वि परो कहेज्ज तधावि अम्हं रायाणं देसं वा णिंदसित्ति ण कुप्पेज्जा। वादादी सयमवि कहेज्जा विग्गहकहं, ण य पुण कुप्पेज्जा। —अ. चूर्णि।

(ग) दसवेयालियं (मु. न.), पृ. ४९०

'निहुइंदिए' आदि पदों के अर्थ—निहुइंदिए—निभृतेन्द्रिय—निभृत का अर्थ विनीत या निश्चल। जिसकी इन्द्रियां अनुद्धत या अचंचल हैं, वह निभृतेन्द्रिय है। जो इन्द्रियों पर कठोर नियंत्रण से संयम-सीमा से उन्हें बाहर नहीं जाने देता। **संजमधुवजोगजुत्ते—संयमध्रुवयोगयुक्त**—यहाँ ध्रुव का अर्थ है—अवश्यकरणीय या सदैव। योग का अर्थ है—मन-वचन-काय। अतः इस पंक्ति का अर्थ हुआ—जो संयम में सदैव (सर्वकाल) मन, वचन और काया से संयुक्त रहता है, अर्थात्—स्वीकृत संयम से मन-वचन-काया तीनों में से एक को भी न हटाने वाला। **उवसंते—उपशान्त**—अनाकुल, अव्याक्षिप्त अथवा काया की चपलता से रहित। **अविहेडए : अविहेठक**—(१) विग्रह, विकथा आदि प्रसंगों में समर्थ होने पर भी जो ताडना-तर्जना (डांट-फटकार) आदि द्वारा दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता, (२) उचित कार्य का अनादर न करने वाला अर्थात्—अवसर आने पर स्वयोग्य कार्य करने में आनाकानी न करने वाला, अथवा (३) क्रोध आदि का परिहार करने वाला।[१२]

सद्भिक्षु : आक्रोशादि परीषह-भय-कष्टसहिष्णु

५३१. जो सहइ उ गाम-कंटए,
अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य।
भय-भेरवसद्द संपहासे,
समसुह-दुक्खसहे य जे, स भिक्खू ॥११॥

५३२. पडिमं पडिवज्जिया मसाणे,
नो भायए भय-भेरवाइं दिस्स।
विविहगुणतवोरए य निच्चं,
न सरीरं चाभिकंखई जे, स भिक्खू ॥१२॥

५३३. असइं वोसट्ठचत्तदेहे,
अकुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढविसमे मुणी हवेज्जा,
अनियाणे अकोउहल्ले य जे, स भिक्खू ॥१३॥

५३४. अभिभूय काएण परीसहाइ,
समुद्धरे जाइपहाओ* अप्पयं।
विइत्तु जाइमरणं महब्भयं,
तवे+ रए सामणिए जे, स भिक्खू ॥१४॥

---

१२. (क) निभृतेन्द्रियः—अनुद्धतेन्द्रियः। ध्रुवं सर्वकालं। उपशान्तः अनाकुलः कायचापलादिरहितः। अविहेठकः—न क्वचिदुचितेऽनादरवान् क्रोधादीनां विश्लेषक इत्यन्ये। —हारि. वृ., पत्र २६६

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मा.) पृ. ९७२

(ग) संजमे सव्वकालं (ध्रुवं) तिविहेण जोगेण जुत्तो भवेज्जा। अविहेडए नाम जे परं अक्कोसतेप्पणादीहिं न विधेडयति एवं स अविहेडए। —जि. चूर्णि..

पाठान्तर— * जाइवहाओ। + भवे।

[५३१] जो (साधु) इन्द्रियों को कांटे के समान चुभने वाले आक्रोश-वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं और (वेताल आदि के) अतीव भयोत्पादक अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख-दुःख को समभावपूर्वक सहन कर लेता है; वही सुभिक्षु है ॥११॥

[५३२] जो (साधक) श्मशान में प्रतिमा अंगीकार करके (वहाँ के) अतिभयोत्पादक दृश्यों (या भूतपिशाचादि के रूपों) को देख कर भयभीत नहीं होता तथा जो विविध गुणों (मूल-उत्तर-गुणों) एवं तप में रत रहता है, जो शरीर की भी (ममत्वपूर्वक) आकांक्षा नहीं करता, वही (मुमुक्षु) भिक्षु होता है ॥१२॥

[५३३] जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और (ममत्व) त्याग करता है (अथवा शरीर को संस्कारित एवं आभूषणादि से विभूषित नहीं करता), जो किसी के द्वारा आक्रोश किये जाने, (डंडे आदि से) पीटे जाने अथवा (शस्त्रादि से) क्षत-विक्षत किये जाने पर भी पृथ्वी के समान (सर्वंसह—सब कुछ सहने वाला) क्षमाशील रहता है, जो (किसी प्रकार का) निदान (नियाण) नहीं करता तथा (नृत्य, खेल-तमाशे आदि) कौतुक नहीं करता (या उनमें अभिरुचि नहीं रखता), वही सद्भिक्षु है ॥१३॥

[५३४] जो (साधु अपने) शरीर से परीषहों को जीत कर जातिपथ (जन्म-मरणरूप संसार-मार्ग) से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्ममरण (-रूप संसार) को महाभय जान कर श्रमणवृत्ति के योग्य तपश्चर्या में रत रहता है, वही सद्भिक्षु है ॥१४॥

विवेचन—परीषहादि-विजेता साधुजीवन—प्रस्तुत चार गाथाओं (५३१ से ५३४ तक) में आक्रोश आदि परीषह, भय, इन्द्रियविषय, देहासक्ति आदि पर विजय प्राप्त करने वाले आदर्श भिक्षु का जीवनचित्र प्रस्तुत किया गया है।

'गामकंटए' आदि पदों के विशेषार्थ—गामकंटए : दो अर्थ—(१) ग्राम—इन्द्रियों के समूह के लिए कांटों के समान चुभने वाले, अथवा (२) ग्राम का अर्थ इन्द्रिय-विषयसमूह भी है, अतः कांटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयसमूह को। जिस प्रकार शरीर में लगे हुए कांटे पीड़ित करते हैं, उसी प्रकार अनिष्ट शब्द आदि विषय श्रोत्रादि इन्द्रियों में प्रविष्ट होने पर उन्हें (इन्द्रियों को) दुःखदायी लगते हैं।

अक्कोस-पहार-तज्जणाओ—आक्रोश—गाली देना, झिड़कना, आदि क्षुद्रवचन। प्रहार-चाबुक आदि से पीटना और तर्जना-त्यौरी चढ़ाकर अंगुलि या बेंत आदि दिखा कर झिड़कना अथवा ताने मारना। **भयभेरवसद्दसंपहासे**—भयभैरवशब्द का अर्थ है अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाले शब्द। संप्रहास का अर्थ है—प्रहास या अट्टहास सहित। अथवा वैताल आदि के भय-भैरव (अतिदारुण भयोत्पादक) अट्टहास आदि शब्द। **पडिमं पडिवज्जिया मसाणे**—प्रतिमा शब्द यहाँ मासिकी आदि भिक्षुप्रतिमा, विशिष्ट अभिग्रह (प्रतिज्ञा) अथवा कायोत्सर्ग अर्थ में है। कायोत्सर्गमुद्रा में स्थित होकर श्मशान में ध्यान करने और विशिष्ट प्रतिमा ग्रहण करने की परम्परा जैन साधुओं में रही है। **विविहगुण-तवोरए**—इस पंक्ति का आशय है कि श्मशान में रह कर न डरना ही कोई खास बात नहीं है, किन्तु साथ ही उसे विविध गुणों और तपस्याओं में सतत रत भी रहना चाहिए। ताकि घोरातिघोर उपसर्गों के होने पर भी शरीर पर किसी प्रकार का ममत्वभाव न रह सके। इसलिए

आगे कहा गया है—'सरीरं नाभिकंखए।' भिक्षुप्रतिमाओं का विशेष वर्णन दशाश्रुतस्कन्ध में है। असइं वोसट्टचत्तदेहे—व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह उसे कहते हैं, जिसने शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग किया हो। व्युत्सर्ग और त्याग दोनों समानार्थक होते हुए भी आगमों में ये शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त हैं। व्युत्सृष्टदेह का अर्थ है—अभिग्रह और प्रतिमा स्वीकार करके जिसने शारीरिक क्रिया का त्याग कर दिया है और त्यक्तदेह का अर्थ—शरीरिक परिकर्म (मर्दन, स्नान और विभूषा आदि) का जिसने परित्याग कर दिया है। व्युत्सृष्टदेह का अर्थ जिनदासचूर्णि में शारीरिक अस्थिरता से निवृत्त होने के लिए स्थान (कायोत्सर्ग), मौन और ध्यानपूर्वक शरीर का व्युत्सर्ग करना किया गया है। हरिभद्रसूरि ने अर्थ किया है—किसी प्रकार के प्रतिवन्ध के विना शरीर का विभूषादि परिकर्म जिसने छोड़ दिया है; वह। भिक्षु को वार-वार देह का व्युत्सर्ग करना चाहिए, इसका आशय है—उसे काया का स्थिरीकरण या कायोत्सर्ग और उपसर्ग सहने का अभिग्रह करते रहना चाहिए।[13]

पुढविसमे हविज्जा—जिस प्रकार पृथ्वी आक्रोश, हनन और तक्षण करने पर भी सब सह लेती है, तथैव मुनि को भी आक्रोश, हनन आदि को क्षमाभाव से सहना चाहिए। **अनियाणे :**

---

१३. (क) ग्रामो विषयशब्दाऽस्त्रभूतेन्द्रियगुणाद् व्रजे। —अभिधानचिन्तामणि ३।९५

(ख) गामग्गहणेण इंदियगहणं कयं। जहा कंटगा सरीरानुगता सरीरं पीडयंति तहा अणिट्ठा विसयकंटगा सोताइंदियगामे अणुप्पविट्ठा तमेव इंदियं पीडयंति। तज्जणाए जहा एते समणा किवणा कम्मभीता पव्वतिया, एवमादि। —जिन. चूर्णि, पृ. ३४३

(ग) ग्रामकण्टकान्-ग्रामा-इन्द्रियाणि, तद्दु:खहेतवः कण्टकास्तान् स्वरूपत एवाह—आक्रोशान् प्रहारान् (कशादिभिः) तर्जनाश्च। भैरवभया-अत्यन्तरौद्रभयजनकाः शब्दाः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते, तत्तया तस्मिन् वैतालादिकृताऽऽर्त्तनादाट्टहास इत्यर्थः। पतिमां-मासादिरूपां।

—हारि. वृत्ति, पत्र २६७

(घ) भयं पसिद्धं, भयं च भेरवं, न सव्वमेव भयं भेरवं, किन्तु तत्थवि जं अतीव दारुणं भयं तं भेरवं भण्णइ। वेतालगणादयो भयभेरवकायेण महता सद्देण जत्थ ठाणे पहसंति सप्पहासे, तं ठाणं भयभेरवसप्पहासं भण्णइ।

(ङ) "पच्चवायो—भयं रोद्दं भैरवं वैतालकालिवादीण सद्दो। भयभेरवसद्देहिं समेच्च पहसणं भयभेरवसद्द-संपहासो। तंमि समुवत्थिते।"

(च) जधा सक्कमिक्खूण एस उवदेसो मासाणिगेण भवितव्वं, ण य ते तम्मि बिभेंति, तम्मत-णिसेधणत्थं विसेसिज्जति। —अगस्त्यचूर्णि

※ दशाश्रुत स्कन्ध ७ दशा.

(छ) वोसट्ठो चत्तो य देहो जेण, सो वोसट्ठ-चत्तदेहो। वोसट्ठो पडिमादिसु विनिवृत्तक्रियो, ण्हाणु-मद्दणातिविभूषाविरहितो चत्तो। —अगस्त्यचूर्णि

(ज) ण य सरीरं तेहिं उवसग्गेहिं वाहिज्जमाणोऽवि अभिकंखइ, जहा—जइ मम एतं सरीरं न दुक्खा-विज्जेज्जा, ण वा विणिस्सिज्जेज्जा। वोसट्ठं ति वा वोसिरियं ति वा एगट्ठा।

—जिन. चूर्णि पृ. ३४४

(झ) ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि। —आवश्यक ४

(ञ) 'व्युत्सृष्टो भावप्रतिवन्धाभावेन त्यक्तो विभूषाकरणेन देहः।' —हारि. वृत्ति, २६७

अनिदान—निदान से रहित। जो साधक मनुष्यभव-प्राप्ति, ऋद्धि आदि के निमित्त तप-संयम नहीं करता अथवा जो भावी फलाशंसा से रहित होता है, वह अनिदान कहलाता है। **परीसहाइं** परीषह—कर्मनिर्जरा (आत्मशुद्धि) एवं श्रमणनिर्ग्रन्थमार्ग से च्युत न होने के लिए जो अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियां और मनोभाव सहे जाते हैं, उन्हें परीषह कहते हैं। वे क्षुधा आदि २२ हैं। **जाइपहाओ**—दो रूप : दो अर्थ—(१) जातिपथ—संसार। जाति—वध—जाति का अर्थ है—जन्म और वध का अर्थ है—मरण। **तवे रए सामणिए : भवे रए सामणिए : दो अर्थ**—(१) जो श्रमणसम्बन्धी तप में रत रहता है और (२) जो श्रामण्य (श्रमणभाव या श्रमणधर्म) में रत रहता है।[१४]

सद्भिक्षु : संयम, अमूर्च्छा, अगृद्धि आदि गुणों से समृद्ध

५३५. हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणई जे, स भिक्खू ॥१५॥*

५३६. उवहिम्मि अमुच्छिए अगढिए,+
अण्णाय-उंछं पुलनिप्पुलाए।
कय-विक्कय-सन्निहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे, स भिक्खू ॥१६॥

---

१४. (क) जहा पुढवी अक्कुस्समाणी हम्ममाणी भक्खिज्जमाणी च न य किंचि पओसं वहइ, तहा भिक्खुणावि सव्वफासविसहेण होयव्वं।
(ख) माणुस-रिद्धिनिमित्तं तव-संजमं न कुव्वइ, से अणियाणे। —जिन. चूर्णि, पृ. ३४५
(ग) अनिदानो—भाविफलाशंसारहितः। —हारि. वृत्ति, पत्र २६७
(घ) मार्गाऽच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। —तत्त्वार्थ. ९।८
(ङ) जातिग्गहणेण जम्मणस्स ...... वधग्गहणेण मरणस्स गहणं कयं। —अ. चू.
(च) जातिपथात्—संसारमार्गात्। तपसि रतः तपसि रक्तः। किम्भूत इत्याह-श्रामण्ये-श्रमणानां सम्बन्धिनि-शुद्धे इति भावः। —हारि. वृत्ति, पत्र २६७
(छ) 'भवे रते सामणिए'—'समणभावो सामणियं, तम्मि रतो भवे।' —अगस्त्यचूर्णि

* तुलना कीजिए— चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु, साधु जिह्वा य संवरो॥
कायेन संवरो साधु, साधु वाचा य संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सव्वत्थ संवरो॥
सव्वत्थ संवुतो भिक्खू, सव्वदुक्खा पमुच्चति।
—धम्मपद २५।१-२

पाठान्तर— + अगिद्धे।

५३७. अलोलो* भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च
चए, ठियप्पा अणिहे जे, स भिक्खू ॥१७॥

५३८. न परं वएज्जासि 'अयं कुसीले',
जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं* पुण्ण-पावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे, स भिक्खू ॥१८॥

५३९. न जाइमत्ते, न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता,
धम्मज्झाणरए य जे, स भिक्खू ॥१९॥

५४०. पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ, ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि□हस्सकुहए जे, स भिक्खू ॥२०॥

५४१. न देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्चहिय-ठियप्पा ।
छिंदित्तु जाई-मरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणरागमं+ गइं ॥२१॥
—त्ति बेमि ॥

दसमं स भिक्खू अज्झयणं समत्तं ॥१०॥

[५३५] जो (साधु) हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इन्द्रियों से संयत है, अध्यात्म में रत है, जिसकी आत्मा सम्यक् रूप से समाधिस्थ है और जो सूत्र तथा अर्थ को विशेष रूप से जानता है; वह भिक्षु है ॥१५॥

[५३६] जो (साधु वस्त्रादि) उपधि (उपकरण) में मूर्च्छित (आसक्त) नहीं है, जो अगृद्ध है, जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करता है, जो संयम को निस्सार कर देने वाले दोषों से

पाठान्तर— * अलोल । * पत्तेय । □ हासं कुहए, हासक्कुहए । + अपुणागमं ।

रहित है; जो क्रय-विक्रय और सन्निधि (संग्रहवृत्ति) से रहित है तथा सब प्रकार के संगों से मुक्त है, वही भिक्षु है ॥१६॥

[५३७] जो भिक्षु लोलुपता-रहित है, रसों में गृद्ध नहीं है, (आहारार्थ) अज्ञात कुलों में (थोड़ी-थोड़ी) भिक्षाचरी करता है, जो असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करता, जो ऋद्धि (लब्धि आदि), सत्कार और पूजा (की स्पृहा) का त्याग कर देता है, जो (ज्ञानादि में) स्थितात्मा है और (आसक्ति या) छल से रहित है, वही भिक्षु है ॥१७॥

[५३८] 'प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं,' ऐसा जान कर, जो दूसरे को (यह) नहीं कहता कि 'यह कुशील (दुराचारी) है।' तथा जिससे दूसरा कुपित हो, ऐसी बात भी नहीं कहता और जो अपनी आत्मा को सर्वोत्कृष्ट मान कर अहंकार नहीं करता, वह भिक्षु है ॥१८॥

[५३९] जो जाति का मद नहीं करता, न रूप का मद करता है, न लाभ का मद करता है और न श्रुत का मद करता है; जो सब मदों को त्याग कर (केवल) धर्मध्यान में रत रहता है, वही भिक्षु है ॥१९॥

[५४०] जो महामुनि (दूसरों के कल्याण के लिए) आर्य-(शुद्ध धर्म-) पद का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित (स्थिर) होकर दूसरे को भी धर्म में स्थापित (स्थिर) करता है, जो प्रव्रजित होकर कुशील-लिंग को छोड़ देता है तथा हास्य उत्पन्न करने वाली कुतूहलपूर्ण चेष्टाएँ नहीं करता, वह भिक्षु है ॥२०॥

[५४१] अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित में सुस्थित रखने वाला पूर्वोक्त भिक्षु इस अशुचि (अपवित्र) और अशाश्वत देहवास को सदा के लिए छोड़ देता है तथा जन्म-मरण के बन्धन को छेदन कर अपुनरागमन नामक गति (सिद्धगति) को प्राप्त कर लेता है ॥२१॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—संयम में निरत : सद्भिक्षु—प्रस्तुत ७ सूत्र गाथाओं (५३५ से ५४१) में साधु संयम में किस प्रकार तल्लीन रहता है और संयम के फलस्वरूप वह अपने जन्म-मरण के बन्धनों से सदा के लिए मुक्त होकर किस प्रकार अपुनरागमन स्थिति को प्राप्त करता है, यह बताया गया है।

हत्थसंजए० आदि शब्दों की व्याख्या—जो हाथ-पैरों को कछुए की तरह संगोपन करके रखता है, प्रयोजन होने पर प्रतिलेखन, प्रमार्जन करके सम्यक् प्रवृत्ति करता है, वह **हस्तसंयत** एवं **पादसंयत** कहलाता है। **वायसंजए—वाणी से संयत**—जो अकुशल वचन का निरोध और कुशल वचन की उदीरणा करता है, वह **वाक्संयत** है। **संजइंदिए**—जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त होने से रोकता है, प्रयोजनवश संयमकार्य में प्रवृत्त होने देता है तथा अनायास विषय प्राप्त होने पर उनके प्रति राग-द्वेष नहीं करता, उसे **इन्द्रिय-संयत** कहते हैं। **अज्झप्परए—अध्यात्मरत**—देहाध्यास या देहासक्ति से ऊपर जो आत्महित या आत्मगुणों या आत्मभावों के चिन्तन में रत रहता है, अथवा जो आर्त्त-रौद्र

ध्यान छोड़ कर धर्म-शुक्ल ध्यान में लीन रहता है, वह अध्यात्मरत कहलाता है।[15]

भिक्षु का सर्वांगीण संयमाचरण—साधु-साध्वियों के पास मन, वचन और काया रूप तीन साधनों के अतिरिक्त वस्त्र, पात्र, आहार, शय्या-आसन आदि संयमचर्या के लिए गृहस्थों से प्राप्त साधन होते हैं। शरीर के साथ ही जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत, वैभव (पद, प्रतिष्ठा ऋद्धि, सिद्धि, लब्धि आदि) भी सम्बद्ध होने से प्रकारान्तर से ये भी साधन ही हैं। सच्चा भिक्षुवर्ग इनके प्रति किस-किस प्रकार से संयम रखता है?, यह ५३६ वीं गाथा से लेकर ५४१ वीं गाथा तक में ध्वनित किया गया है। जैसे—मुनि मर्यादित वस्त्र रखता है, किन्तु उन पर ममता-मूर्च्छा और गृद्धि हो तो असंयम हो सकता है, अतः मुनि उन वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों पर भी अमूर्च्छा और अगृद्धि रखता है, यही उसका उपधिसंयम है। भिक्षा से प्राप्त निर्दोष आहार में भी मनोज्ञ आहार पर आसक्ति, लोलुपता, सरस आहार की लालसा नहीं रखता, न ही उनका संचय करके रखता है, न क्रय-विक्रय करता है तथा उसे सत्कार-सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा, लब्धि आदि पाने की लालसा या प्राप्त विभूतियों के प्रति भी कोई आसक्ति नहीं होती और न जाति, रूप, श्रुत आदि साधनों का मद करके वह असंयम की वृद्धि करता है। अपनी वाणी रूप साधन का उपयोग वह दूसरों की निन्दा, चुगली, अथवा किसी की भर्त्सना करने में नहीं करता, वह वाणी का निरोध करेगा, अथवा प्रयोजन होने पर वाणी से दूसरों को शुद्ध धर्म का उपदेश देता है, अथवा धर्म से डिगते हुए साधकों को धर्म में स्थिर करता है, किन्तु किसी प्रकार की हँसी-मजाक करने या हास्यकौतुक बताने में वाणी का उपयोग नहीं करता। शरीररूप महत्त्वपूर्ण साधन से जब तक धर्म-पालन, संयम-पालन होता है तब तक साधक उसका यतनापूर्वक सन्मार्ग में उपयोग करता है। किन्तु जब शरीर अत्यन्त अशक्त, रुग्ण एवं लाचार होकर धर्मपालन या संयमी जीवनयात्रा के लिए अयोग्य या अक्षम हो जाता है, तब उस पर ममत्व न रख कर शान्तिपूर्वक संलेखना एवं समाधिमरणपूर्वक उसे त्याग देने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता। यही आदर्श भिक्षु का सर्वांगीण—सर्व क्षेत्रीय संयमाचरण हैं।[16] ज्ञान का फल संयम और त्याग है। इस कारण ज्ञानी का प्रथम चिह्न है—संयम। संयमी स्वार्थ प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर आत्मभाव में ही लीन रहता है।

उवहिम्मि अमुच्छिए अगढिए : आशय—मूर्च्छा और गृद्धि एकार्थक होते हुए भी कुछ अन्तर बताते हुए जिनदास महत्तर कहते हैं—यहाँ मूर्च्छा मोहग्रस्तता के अर्थ में और गृद्धि प्रतिबद्धता के अर्थ में समझना चाहिए। उपधि आदि साधनों में मूर्च्छित रहने वाला साधक करणीय-अकरणीय का

---

१५. (क) "हत्थ-पाएहिं कुम्मो इव णिक्कारणे जो गुत्तो अच्छइ, कारणे पडिलेहिय पमज्जिय वावारं कुव्वइ, एवं कुव्वमाणो हत्थसंजओ पायसंजओ भवइ। वायाए वि संजओ, कहं? अकुसलवइनिरोधं कुव्वइ, कुसलवइ-उदीरणं च कज्जे कुव्वइ। संजइंदिए नाम इंदियविसयपयारनिरोधं कुव्वइ, विसयपत्तेसु इंदियत्थेसु रागद्दोसविणिग्गहं च कुव्वति त्ति। अज्झप्परए नाम सोभणज्झाणरए।"

—जिन. चूर्णि, पृ. ३४५

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ९८०

१६. (क) वही, पृ. ९८१ से ९९२ तक

(ख) दशवै. (संतबालजी) पृ. १४४

विवेक नहीं कर पाता और गृद्ध रहने वाला उनसे प्रतिबद्ध हो जाता है। अतः आदर्श भिक्षु उपधि में अमूच्छित और अगृद्ध रहता है। साथ ही वह किसी क्षेत्र या किसी गृहस्थ से प्रतिबद्ध नहीं होता।[१७]

अन्नाय-उंछं पुल निप्पुलाए : विशेषार्थ—अज्ञात उंछ का आशय है—जो अज्ञात कुलों से भिक्षा करता है तथा पुल निप्पुलाए पुलाक-निष्पुलाक का भावार्थ है—संयम को सारहीन कर देने वाले दोषों से रहित। अथवा मूलगुण-उत्तरगुण में दोष लगा कर संयम को निस्सार न करने वाला।[१८]

सव्वसंगावगए : सर्वसंगापगत—संग का अर्थ यहाँ 'इन्द्रियविषय' किया गया हैं। अतः सर्व-संग अर्थात् समस्त इन्द्रियविषयों से रहित।

अलोल—जो अप्राप्त रसों की लालसा नहीं करता, वह 'अलोल' है। सरस पदार्थों का त्याग करने के बाद भी अन्तर की गहराई में उन पदार्थों की वासना रह जाती है, जिसका त्याग करना ही वास्तविक त्याग है।

इड्ढि—ऋद्धि—ऋद्धि का अर्थ यहाँ योगजन्य विभूति अर्थात्—वैक्रियलब्धि आदि है। **ठियप्पा : स्थितात्मा**—जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में स्थित होती है।[१९]

'न परं वएज्जासि०' इत्यादि गाथा की व्याख्या—'पर' का अर्थ यहाँ गृहस्थ या वेषधारी है। क्योंकि प्रव्रजित का पर—अप्रव्रजित होता है। जो गृहस्थ या वेषधारी है। दूसरे को 'यह दुराचारी है' ऐसा कहने से उसे चोट लगती है, अप्रीति उत्पन्न होती है, इसलिए गृहस्थ हो या वेषधारी अव्यवस्थित आचार वाला साधु हो तो भी 'यह कुशील है' इस प्रकार का व्यक्तिगत आरोप करना, अहिंसक मुनि के लिए उचित नहीं है। क्योंकि सबके अपने-अपने पुण्य-पाप हैं। सब अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं,—जो अग्नि को हाथ में ग्रहण करता है, वही जलता है। यह जान कर आदर्श भिक्षु न तो दूसरे की अवहेलना करता है और न अपनी बड़ाई करता है। वस्तुतः परनिन्दा और

---

१७. मुच्छासद्दो गिद्धिसद्दो य दोऽवि एगट्ठा।·········अहवा मुच्छिय-गढियाण इमो विसेसो भण्णइ। तत्थ मुच्छासद्दो मोहे····गढियसद्दो पडिबंधे दट्ठव्वो। जहा—कोइ मुच्छिओ तेण मोहकारणेण कज्जाकज्जं न याणइ, तहा सोऽवि भिक्खू उवहिंमि अज्झोववण्णो मुच्छिओ किर कज्जाकज्जं न याणइ। तम्हा ण मुच्छिओ अमुच्छिओ, अगिद्धिओ अवद्धो (अपडिबद्धो) भण्णइ।········ —जिन. चूर्णि, पृ. ३४६

१८. (क) जेण मूलगुण-उत्तरगुणपदेण पडिसेविएण णिस्सारो संजमो भवति, सो भावपुलाओ। एत्थ भावपुलाएण अहिगारो।····· तेण भावपुलाएण निपुलाए भवेज्जा, णो तं कुवेज्जा, जेण पुलागो भवेज्ज त्ति। —जिन. चूर्णि, पृ. ३४६

(ख) "तं पुलएति—तमेसति एस अण्णायउंछपुलाए। मूलगुण-उत्तरगुणपडिसेवणाए निस्सारं संजमं करेंति, एस भावपुलाए तधा णिपुलाए।" —अगस्त्यचूर्णि

(ग) "पुलाक-निष्पुलाक' इति संयमासारतापाददोषरहितः।' —हारि. वृत्ति, पत्र २६८

१९. (क) "संगोत्ति वा इंदियत्थोत्ति वा एगट्ठा।"

(ख) 'इड्ढि-विउव्वणमादि।'

(ग) नाणदंसणचरित्तेसु ठिओ अप्पा जस्स सो ठियप्पा। —जिन. चूर्णि, पृ. ३४६

(घ) अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनपरः। —हारि. वृत्ति, पत्र २६८

आत्मश्लाघा, ये दोनों ही महादोष हैं। साधु-साध्वी को इन दोनों से बच कर मध्यमस्थ रहना चाहिए।[२०]

साधु को अपनी जाति, रूप, बल, श्रुत आदि का गर्व करना और दूसरों का उपहास करना अनुचित है।

अज्जपयं : अज्जवयं—दो रूप—दो अर्थ—(१) आर्यपद—श्रेष्ठ या शुद्ध धर्म-पद (उपदेश) (२) आर्जवता—ऋजुभाव,—अहिंसादिलक्षण धर्म।

वज्जिज्ज कुसीललिंगं : कुशीललिंग का वर्जन करे—(१) आचारहीन स्वतीर्थिक अथवा परतीर्थिक साधुओं का वेष धारण न करे, (२) जिस आचरण से कुशील होने का अनुमान (लिंग) हो, उसका वर्जन करे। (३) कुशीलों द्वारा चेष्टित आरम्भादि का त्याग करे।[२१]

न या वि हस्सकुहए : प्रासंगिक अर्थ—'कुहक' शब्द के अर्थ होते हैं—विस्मय उत्पन्न करने वाला, वञ्चक, ऐन्द्रजालिक आदि। यहाँ विस्मित करने के अर्थ में 'कुहक' शब्द प्रयुक्त है। 'हास्य' के साथ 'कुहक' शब्द होने से इस वाक्य का अर्थ होगा—हास्यपूर्ण कुतूहल न करने वाला या दूसरों को हंसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा न करने वाला।[२२]

अशुचि और अशाश्वत देहवास—इस अध्ययन की अन्तिम गाथा में देहवास को अशुचि अर्थात्—अशुचि से पूर्ण या अशुचि से उत्पन्न और अशाश्वत अर्थात्—अनित्य, विनाशशील या क्षणभंगुर बताया है। शरीर की अशुचिता के सम्बन्ध में सुत्तनिपात में बताया गया है—हड्डी और नस से युक्त, त्वचा और मांस का लेप चढ़े हुए तथा चर्म से ढके होने से यह शरीर जैसा है, वैसा दिखाई नहीं देता। इस शरीर के भीतर आंतें, उदर, यकृत, वस्ति, हृदय, फुप्फुस (फेफड़ा), तिल्ली (वृक), नासामल, लार, पसीना, मेद, रक्त, लसिका, पित्त और चर्बी है। इस शरीर के नौ द्वारों से

---

२०. (क) आह-किं कारणं परो न वत्तव्वो ? जहा—जो चेव अग्गिं गिण्हइ, सो चेव डज्झइ। एवं नाऊण पत्तेयं पत्तेयं पुण्णपावं, अत्ताणं ण समुक्कसइ, जहाऽहं सोभणो, एस असोभणो इत्यादि। जइ वि सो अप्पणो कम्मेसु अव्ववत्थिओ तहावि न वत्तव्वो, जहाऽयं कुत्थियसीलो त्ति, किं कारणं ? तत्थ अपत्तियमादि बहवे दोसा भवंति। —जिन. चूर्णि, पृ. ३४७

(ख) परो णाम गिहत्थो लिंगी वा। —जिन. चूर्णि, पृ. ३४७

(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ४९८

२१. (क) आर्यपदम्—शुद्धधर्मपदम्। —हारि. वृत्ति, पत्र २६९

(ख) अज्जवग्गहणेण अहिंसाइलक्खणस्स एयारिसस्स धम्मस्स गहणं कयं, तं आयरियं धम्मपदं गिहीणं साधूण य पवेदेज्जा। —जिन. चूर्णि, पृ. ३४८

(ग) कुसीलाणं पंडुरंगाईण लिंगं,""""अहवा जेण आयरिएण कुसीलो संभाविज्जति तं (कुसीललिंगं न रक्खए।) —जिन. चूर्णि, पृ. ३४८

(घ) कुसीललिंगं—आरम्भादि-कुसीलचेष्टितम्। —हारि. वृत्ति, पृ. २६९

२२. हस्समेव कुहगं, तं जस्स अत्थि सो हस्सकुहतो। तधा न भवे। हस्स-निमित्तं वा कुहगं तधा करेति, जधा परस्स हस्समुप्पज्जति। एवं ण यावि हस्सकुहए। —अगस्त्यचूर्णि

सदैव गन्दगी निकलती रहती है। यथा—आँख से आँख की और कान से कान की गन्दगी निकलती है। नाक से नासामल, मुख से पित्त और कफ तथा शरीर से पसीना और मैल निकलते हैं। इसके सिर की खोपड़ी गुदा से भरी है। अविद्या के कारण मूर्ख इसे शुभ मानता है। मृत्यु के बाद जब यह शरीर सूज कर नीला हो श्मशान में पड़ा रहता है तो बन्धु-बान्धव भी इसे छोड़ देते हैं। इसकी अशाश्वतता के सम्बन्ध में ज्ञाताधर्मकथा-सूत्र में कहा गया है—यह देह जल के फेन या बुलबुले की तरह अध्रुव है, बिजली की चमक की तरह अशाश्वत है, दर्भ की नोक पर स्थित जलबिन्दु की तरह अनित्य है।

देह जीवरूपी पक्षी का अस्थिरवास है। अन्ततः इसे छोड़े बिना कोई चारा नहीं। इसीलिए आदर्श भिक्षु देहवास को अशाश्वत और अशुचिपूर्ण मान कर छोड़ देता है।[२३]

दशमं स-भिक्खू अज्झयणं समत्तं ॥ १० ॥

॥ इति श्री दशवैकालिकसूत्रं समाप्तम् ॥

---

२३. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ९९३
(ख) सुत्तनिपात अ. ११
(ग) ज्ञाताधर्मकथा-सूत्र, पृ. ५९ (आगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर)

पढमा चूलिया : रइवक्का

प्रथम चूलिका : रतिवाक्या

[एक्कारसमं अज्झयणं : ग्यारहवाँ अध्ययन]

प्राथमिक

※ दशवैकालिक सूत्र की प्रथम चूलिका का नाम 'रतिवाक्या' है। कुछ आचार्य इसे रतिवाक्य नामक ग्यारहवाँ अध्ययन भी कहते हैं।

※ साधुजीवन गृहस्थजीवन की अपेक्षा त्याग, तप और संयम की दृष्टि से अनेकगुना उच्च और सात्त्विक है। महाव्रती साधकवर्ग की इतनी उच्च भूमिका होते हुए भी जब तक वह वीतरागता की स्थिति पर न पहुँच जाए, तब तक राग, द्वेष, मोह एवं विषय व कषाय की परिणतियाँ उसे बार-बार अपने व्रत, नियम, संयम एवं त्याग से विचलित कर देती हैं। कभी-कभी तो परीषहों और उपसर्गों का दौर आता है तो मोहनीयकर्मोदयवश उच्चकोटि का वह साधक जरा-से कष्ट, दुःख या ताप को सहन नहीं कर पाता। जिन विषयभोगों का उसने वर्षों पहले त्याग किया था, साधुधर्म के जिन नियमों, आचार-विचारों और महाव्रतों को वैराग्यपूर्वक सहर्ष अपनाया था, जो अपने उच्च चारित्र के कारण लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का पूज्य, वन्दनीय, मार्गदर्शक और प्रेरक बन गया था, वही मोहदशा के कारण जरा-सा दुःख, कष्ट या परीषह का निमित्त मिलते ही संयम से विचलित हो जाता है। उसका शिथिल और चंचल मन पामर बन कर उसे दुष्ट वृत्तियों की ओर ले जाता है। संयम के प्रति उसकी अरुचि, अप्रीति और अरति हो जाती है। ऐसे समय में उस साधक के भटकते मन पर अंकुश लगाकर संयम के प्रति रुचि, प्रीति और रति उत्पन्न करने वाले कुशल मार्गदर्शक एवं प्रेरक की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति करने वाली यह 'रतिवाक्या' चूला है,। इसके वाक्य श्रमणधर्म में रति उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए इस का नाम 'रतिवाक्या' रखा गया है।

※ साधक जब मोहदशावश विषयसुखरूप असंयम की ओर मुडने लगता है तब रतिवाक्य अध्ययन में वर्णित अठारह स्थान (सूत्र) घोड़े के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और नौका के लिए पताका (पाल) के समान उसके मन पर अंकुश लगाने और संयम में स्थिर करने वाले सिद्ध होते हैं।

※ यद्यपि एक बार के प्रयत्न से या प्रेरणा से अनादिकालीन मोह-रोग नहीं मिट जाता। इसे मिटाने के लिए कुशल चिकित्सक का होना अनिवार्य है, जो बार-बार प्रेरणा देकर मोह-रोग

× धर्मे-चारित्ररूपे रतिकारकाणि—रतिजनकानि तानि च वाक्यानि, येन कारणेन 'अस्यां चूडायां तेन निमित्तेन रतिवाक्यैषा चूडा।'—हारि. वृत्ति, पत्र २७०

को शान्त कर दे। अन्यथा, बीच-बीच में जरा-सा निमित्त या कुपथ्य का संयोग मिलते ही मोह-रोग (संयम में अरतिरूप व्याधि) फिर से उभर जाता है और साधक को फिर पूर्वस्थिति में जाने को विवश कर देता है,। अत: ये अठारह रतिवाक्यसूत्र मोह-रोगशमन करने के लिए अमोघ औषधरूप हैं।

※ वैदिकधर्मपरम्परा में सामाजिक जीवन-व्यवस्था के लिए विहित ४ आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सर्वज्येष्ठ बताया है, + किन्तु जैनधर्मपरम्परा में संन्यासाश्रम को आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ बताया है। त्याग और संयम द्वारा कर्मबन्धन एवं जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होने के लिए सर्वोत्तम मुनिपर्याय है। गृहस्थाश्रम (गृहवास) सामाजिक दृष्टि से धर्मप्रधान हो तो भले ही महत्त्वपूर्ण हो किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह प्राय: बन्धनकारक है। इसका अर्थ यह है कि कर्मबन्धन को पूर्णतया काटने में तथा आत्मा की पूर्ण स्वस्थता-स्वतंत्रता-मोहशून्य-दशा (वीतरागता) को प्राप्त कराने में मुनिपर्याय ही सक्षम है। □

※ गृहस्थजीवन में साधुजीवन जितने धर्म और संयम का पालन दुष्कर है। यह बात अनुभवसिद्ध है कि प्रारम्भ से जीवन-पर्यन्त स्वाभाविकरूप से गृहस्थाश्रम में रहने वाला व्यक्ति फिर भी गृहस्थोचितधर्म का पालन कर सकता है; किन्तु जो मुनि-पर्याय छोड़ कर पुन: गृहस्थजीवन में प्रविष्ट होता है, शुद्ध धर्म के प्रति विश्वास और आचरण में उसकी मन्दता आ जाती है। इसीलिए यहाँ बताए गए १८ स्थानों में पुनर्गृहवास स्वीकार करने को नारकीय, कष्टप्रद, अपमानास्पद, क्लेशयुक्त, प्रपंची, बन्धनकारक, सावद्य, मायाबहुल, आतंकयुक्त आदि बताया है तथा आगे की गाथाओं में गृहवास में होने वाले परितापों की परम्परा का विशद वर्णन किया गया है। सचमुच उत्प्रव्रजित का जीवन निस्तेज, निन्द्य, अपमानित, अपकीर्तियुक्त, दु:खपूर्ण गति का अधिकारी एवं दुर्लभबोधि हो जाता है; जबकि प्रव्रजित साधक का जीवन देवलोकसम सुखद, स्वर्ग-सम उत्कृष्ट सुखयुक्त, तेजस्वी, यशस्वी, पूज्य, वन्द्य एवं मोक्षगामी होता है। ×

※ प्रस्तुत चूलिका में कर्मवाद के सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट प्रेरणा दी गई है कि कर्मबन्धन को काटने के लिए मुनिपर्याय एक उत्तम अवसर था; उसे खो कर गृहवास में स्वयंकृत कर्मों को स्वयं भोगना होगा, उसमें समभाव न रहने से पूर्वकृत कर्मों को काटने की अपेक्षा नये अशुभ कर्मों का बन्ध अधिक होता जाएगा। उन पापकर्मों को भोगे विना तथा तपस्या से निर्वीर्य किये विना मुक्ति नहीं मिल सकती। +

※ अन्त में, १५-१६ वीं गाथा में कुछ चिन्तनसूत्र दिये गए हैं—नरक के अतिदीर्घकालीन दु:खों की अपेक्षा संयमीजीवन में सहे जाने वाले दु:ख अत्यल्प और अल्पावधिक हैं। भोग-पिपासा अशाश्वत है। ये चिन्तनसूत्र साधक को संयमीजीवन के कष्टों को सहने, भोग-पिपासा से विरक्त होने तथा संयम में स्थिर रहने की प्रेरणा देते हैं।

+ "तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।"

□ "बंधे गिहवासे, मोक्खे परियाए। सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परियाए।"—चू. १, स्थान. १२-१३

× चूलिका १ स्थान २, ३, ५, ६, ७, १०, से १४ तक तथा श्लोक १ से ८ तक तथा १० से १४ तक।

+ "पत्तेयं पुण्णपावं।"......"वेयइत्ता मोक्खा, नत्थि अवेयइत्ता।'—चू. १, स्थान १५, १८,

पढमा चूलिया : रइवक्का

प्रथमा चूलिका : रतिवाक्या

[एक्कारसमं अज्झयणं : ग्यारहवाँ अध्ययन]

संयम में शिथिल साधक के लिए अठारह आलोचनीय स्थान

५४२. इह खलु भो ! पव्वइएणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सि-गयंकुस-पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति । तं जहा—

१. हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी । २. लहुस्सगा इत्तिरिया गिहीणं कामभोगा । ३. भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा । ४. *इमं च मे दुक्खं न चिरकालोवट्ठाइ भविस्सइ । ५. ओमजणपुरक्कारे । ६. वंतस्स य पडियाइयणं +। ७. अहरगइवासोवसंपया । ८. दुल्लभे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं । ९. आयंके से वहाय होइ । १०. संकप्पे से वहाय होइ । ११. सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परियाए । १२. बंधे गिहवासे, मोक्खे परियाए । १३. सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परियाए । १४. बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा । १५. पत्तेयं पुण्ण-पावं । १६. अणिच्चे खलु भो ! मणुयाण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले । १७. बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं । १८. पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता, अट्ठारसमं पयं भवइ ॥ १ ॥

[५४२] हे मुमुक्षु साधको ! इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन (जिनशासन) में जो प्रव्रजित हुआ है, किन्तु कदाचित् दुःख उत्पन्न हो जाने से संयम में उसका चित्त अरतियुक्त हो गया । अतः वह संयम का परित्याग कर (गृहस्थाश्रम में चला) जाना चाहता है, किन्तु (अभी तक) संयम त्यागा नहीं है, उससे पूर्व इन (निम्नोक्त) अठारह स्थानों का सम्यक् प्रकार से आलोचन करना चाहिए । ये अठारह स्थान अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत (जहाज) के लिए पताका के समान हैं । (अठारह स्थान) इस प्रकार हैं—

(१) ओह ! इस दुष्षमा (दुःखबहुल पंचम) आरे में लोग अत्यन्त कठिनाई से जीते (या जीविका चलाते) हैं ।

(२) गृहस्थों के कामभोग असार (तुच्छ) हैं एवं अल्पकालिक हैं ।

(३) (इस काल में) मनुष्य प्रायः कपटबहुल हैं ।

पाठान्तर— * इमे अ मे दुक्खे । + पडियायणं । ॥ वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता ।

(४) मेरा यह (परीषहजनित) दुःख चिरकाल-स्थायी नहीं होगा।

(५) (संयम छोड़ देने पर गृहवास में) नीच जनों का पुरस्कार-सत्कार (करना पड़ेगा।)

(६) (संयम का त्याग कर पुनः गृहस्थवास में जाने का अर्थ है-) वमन किये हुए (विषय-भोगों) का वापिस पीना।

(७) संयम को छोड़ कर गृहवास में जाने का अर्थ है—नीच गतियों में निवास को चला कर स्वीकार (करना)।

(८) अहो ! गृहवास में रहते हुए गृहस्थों के लिए शुद्ध धर्म (का आचरण) निश्चय ही दुर्लभ है।

(९) वहाँ आतंक (विसूचिका आदि घातक व्याधि) उसके (धर्महीन गृहस्थ के) वध (घात) का कारण होता है।

(१०) वहाँ (प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग से उत्पन्न) संकल्प (-विकल्प) वध (विनाश) के लिए होता है।

(११) गृहवास (सचमुच) क्लेश-युक्त है, (जबकि) मुनिपर्याय (साधु-अवस्था) क्लेश-रहित है।

(१२) गृहवास बन्ध (कर्मबन्धजनक) है, (जबकि) श्रमणपर्याय मोक्ष (मोक्ष का स्रोत) है।

(१३) गृहवास सावद्य (पाप-युक्त) है, (जबकि) मुनिपर्याय अनवद्य (पाप-रहित) है।

(१४) गृहस्थों के कामभोग बहुजन-साधारण हैं।

(१५) प्रत्येक के पुण्य और पाप अपने-अपने हैं।

(१६) ओह ! मनुष्यों का जीवन कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चंचल है, इसलिए निश्चय ही अनित्य है।

(१७) ओह ! मैंने (इससे पूर्व) बहुत ही पापकर्म किये हैं।

(१८) ओह ! दुष्ट भावों से आचरित तथा दुष्पराक्रम से अर्जित पूर्वकृत पापकर्मों का फल भोग लेने पर ही मोक्ष होता है, विना, भोगे मोक्ष नहीं होता, अथवा तप के द्वारा (उन पूर्व कर्मों का) क्षय करने पर ही मोक्ष होता है। यह अठारहवां पद है।

विवेचन—संयम में अस्थिर चित्त के लिए अठारह प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत सूत्र में प्रव्रजित मुनि को किसी कारणवश संयम से विचलित हो जाने पर अस्थिरता-निवारणार्थ १८ प्रेरणासूत्र दिये गए हैं।

'उप्पन्नदुक्खेणं' आदि पदों के विशेषार्थ—उप्पन्नदुक्खेणं—जिसे शीत, उष्ण आदि परीषह रूप शारीरिक दुःख या कामभोग, सत्कार-पुरस्कार आदि मानसिक दुःख उत्पन्न हो गए हैं। **ओहाणुप्पेहिणा-अवधावनोत्प्रेक्षिणा**—अवधावन का अर्थ पीछे हटना या अतिक्रमण करना है। यहाँ अवधावन

का अर्थ है—संयम का परित्याग करके वापस गृहस्थाश्रम में चला जाना। अवधावन की अभिलाषा जिसके मन में उठी है, वह अवधावनोत्प्रेक्षी है। **अणोहाइएणं-अनवधावितेन**—परन्तु अभी तक संयम छोड़ कर गृहस्थवास में गया नहीं है। **पोय-पडागा-पोतपताका या पोतपटागार**—(१) जहाज की पताका अर्थात्—वस्त्र का बना हुआ पाल। जिसके तानने पर नौका लहरों से क्षुब्ध नहीं होती, उसे अभीष्ट स्थान की ओर ले जाया जा सकता है। **संपडिलेहियव्वाइं-सम्प्रतिलेखितव्यानि**—सम्यक् प्रकार से मननीय-विचारणीय हैं। तात्पर्य यह है कि इन अठारह स्वर्ण-सूत्रों का गहरा चिन्तन-मनन करने से संयम से अस्थिर हुआ मन स्थिर हो जाता है। **हे भो!**—हे और भो! ये दोनों शब्द वृत्तिकार के मतानुसार शिष्यों को आमंत्रित करने के लिए प्रयुक्त हैं, चूर्णिकार के मतानुसार दोनों आदरसूचक सम्बोधन हैं तथा अन्य व्याख्याकारों के अनुसार ये दोनों विस्मयसूचक या अपनी आत्मा के लिए सम्बोधन हैं। **दुप्पजीवी : दुष्प्रजीवी : दो अर्थ**—(१) जीविका बड़ी मुश्किल से चलाते हैं। तात्पर्य यह है कि समर्थ व्यक्तियों के लिए भी जीविका (जीने के साधन) जुटाना कठिन हैं। दूसरों की तो बात ही क्या? (२) दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। जिसके पास गृहस्थाश्रम योग्य कोई भी सामग्री नहीं है, उसे तो गृहस्थवास में विडम्बना और दुर्गति के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है? **लहुस्सगा इत्तरिया : लघुस्वका इत्वरिका : भावार्थ**—मानवीय कामभोग लघु अर्थात्—तुच्छ या असार हैं, अर्थात्—सर्वथा सारहीन हैं और इत्वरिक यानी अल्पकालिक हैं, देवों के समान वे चिर-स्थायी नहीं हैं।[1]

'साइबहुला' आदि पदों का तात्पर्य—साइबहुला-सातिबहुल : दो अर्थ—(१) मायाबहुल (२) अविश्वस्त प्रचुर। बहुत-से मानव इस काल में छली-कपटी एवं विश्वासघाती हैं, उन मनुष्यों में रह कर सुख कैसे मिल सकता है! वे तो प्रायः दुःख ही देते रहते हैं। **न चिरकालोवट्ठाइ-न चिरकालोप-स्थायि**—किसी कारणवश उत्पन्न हुए ये दुःख चिरस्थायी नहीं हैं। ये भी रथ के चक्र की तरह बदलते जाते हैं। फिर इस कष्ट को सहने से कर्मों की निर्जरा और शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी। नहीं सहन किया तो मरने के बाद नरकादि दुर्गतियों में जाना होगा, जहाँ इससे भी अनेकगुना कष्ट भोगना पड़ेगा। **ओमजणपुरक्कारे-अवमजन-पुरस्कार : आशय**—यहाँ संयमी जीवन में स्थिर रहने से तो

---

१. (क) दुक्खं दुविधं—शारीरं माणसं वा। तत्थ सारीरं सीउण्हदंसमसगाइ, माणसं इत्थी-निसीहियसक्कारपुरक्कारपरीसहादीणं। एवं दुविहं दुक्खं उप्पन्नं जस्स तेण उप्पण्णदुक्खेण :" अवहावणं—अवसप्पणं अतिक्कमणं, संजमातो अवक्कमणमवहावणं। जाणवत्तं—पोतो, तस्स पडागा—सीतपडो, पोतोऽवि सीतपडेण विततेण वीचिहिं ण खोभिज्जति, इच्छितं च देसं पाविज्जति। हं भोत्ति सम्बोधनद्वयमादराय। दुप्पजीवी नाम दुक्खेण प्रजीवणं, आजीविआ। —जिनदास. चूर्णि पृ. ३५३

(ख) हं भो—*शिष्यामंत्रणे*। दु.खेन-कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीला दुष्प्रजीविनः। —हारि. वृत्ति, पत्र २७२

(ग) जाणवत्तं पोतो, तस्स पडागारो—सीतपडो।……दुक्खं एत्थ पजीवसाधगाणि संपातिज्जंतीति ईसरेहिं किं पुण सेसेहिं? रायादियाण चिंताभरेहिं, वाणियाण भंडविणएहिं, सेसाण पेसणेहिं य जीवणसंपादणं दुक्खं। लहुसगा-इत्तरकाला कदलीगब्भवदसारगा जम्हा गिहत्थभोगे चतिऊण रतिं 'कुणइ धम्मे।' —अ. चू. पृ.

(घ) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. ९९९

राजा-महाराजा, धनाढ्य आदि मेरा सत्कार-सम्मान एवं भक्ति करते हैं, किन्तु गृहवास में जाने पर मुझे नीच मनुष्यों की सेवा, भक्ति, चापलूसी, खुशामद आदि करनी पड़ेगी, उनके असह्य वचन भी सहने पड़ेंगे। **वंतस्स पडिआइयणं**—जिन विषयभोगों का मैं वमन (त्याग) कर चुका हूँ, उनका गृहवास में जाकर पुन: आसेवन करना श्रेष्ठ जन का कार्य नहीं है। वमन किया हुआ तो कुत्ता, गीदड़ आदि नीच जीव ही ग्रहण करते हैं, प्रव्रजित होने से मैं श्रेष्ठ जन हूँ, अत: मेरे लिए त्यक्त विषय-भोगों का पुन: सेवन करना उचित नहीं है। **दुल्लहे गिहीणं धम्मे**—जो व्यक्ति पहले से गृहवास में रहते हैं, वे तो श्रद्धापूर्वक थोड़ा-सा धर्माचरण कर लेते हैं, किन्तु जो साधुजीवन छोड़ कर गृहवास में जाते हैं, वे न घर के रहते हैं न घाट के। उनकी श्रद्धा धर्म से हट जाती है, उनके लिए गृहस्थी में रह कर धर्माचरण करना तो और भी दुष्कर है। अथवा गृहस्थ में पुत्र-कलत्रादि का स्नेहबन्धन पाश है। उसमें फंसे हुए गृहस्थ से भी धर्माचरण होना दुष्कर है, प्रमादवश धर्मश्रवण भी दुर्लभ है। **आयंके से वहाय**—आतंक का अर्थ है—शीघ्रघाती रोग। गृहस्थवास में धर्मरहित व्यक्ति को या निर्धन व्यक्ति को ये हैजा आदि रोग बहुत जल्दी धर दबाते हैं और साधना एवं साधन के अभाव में तुरन्त ही ये जीवन का खेल खत्म कर देते हैं। **संकप्पे से वहाय**—आतंक शारीरिक रोग है और संकल्प मानसिक रोग। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से जो मानसिक आतंक होता है, उसे यहाँ संकल्प कहा गया है। क्षण-क्षण में होने वाली सुख-दु:खों की चोटों से मनुष्य गृहवास में सदा घायल, उदास एवं आहत रहता है। बुरा संकल्प भी एक दृष्टि से आध्यात्मिक मृत्यु है। शरीर छूटना तो भौतिक मरण है, दु:संकल्प-विकल्प से आत्मा का पतन होना भी वास्तव में आध्यात्मिक मरण है। **सोवक्केसे गिहवासे निरुवक्केसे परियाए : भावार्थ**—कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, आश्रितों का भरणपोषण, तेल-लवण-लकड़ी आदि जुटाने की नाना चिन्ताओं के कारण गृहवास क्लेशमय है, फिर आधि, व्याधि और उपाधि तथा आजीविका आदि का मानसिक सन्ताप होने के कारण गृहस्थवास उपक्लेशयुक्त है, जबकि मुनिपर्याय इन सभी चिन्ताओं और क्लेशों से दूर होने तथा निश्चिन्त होने से क्लेशमुक्त है। पर्याय का अर्थ यहाँ प्रव्रज्याकालीन अवस्था या दशा अथवा मुनिव्रत है। **'बंधे गिहवासे मोक्खे परियाए' : तात्पर्य**—गृहवास बन्धन रूप है, क्योंकि इसमें जीव मकड़ी की तरह स्वयं स्त्री पुत्र-परिवार आदि का मोहजाल बुनता है और स्वयं ही उसमें फँस जाता है, जबकि मुनिपर्याय कर्मक्षय करके मोक्षप्राप्ति करने और बन्धनों को काटने का सुस्रोत है। **सावज्जे गिहवासे अनवज्जे परियाए : भावार्थ**—गृहवास पापरूप है, क्योंकि इसमें हिंसा, झूठ, चोरी (करचोरी आदि), मैथुन और ममत्व-पूर्वक संग्रह, परिग्रह आदि सब पापमय कार्य करने पड़ते हैं। इसके विपरीत मुनिपर्याय में उक्त पापजनक कार्यों का सर्वथा त्याग किया जाता है। आरम्भ, परिग्रहादि को इसमें कोई स्थान ही नहीं है।

बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा—गृहस्थों के कामभोग बहुत ही साधारण हैं, इसका एक अर्थ यह भी है कि देवों के कामभोगों की अपेक्षा मानवगृहस्थों के कामभोग बहुत नगण्य हैं, सामान्य हैं। दूसरा अर्थ यह है कि गृहस्थों के कामभोग बहुजनसाधारण हैं, उनमें राजा, चोर, वेश्या, आदि लोगों का भी हिस्सा है। इसलिए सांसारिक कामभोग बहुत ही साधारण हैं। **पत्तेयं पुण्णपावं**—जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने-अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल स्वयं भोगते हैं। किसी के किये हुए कर्मों का फल कोई अन्य नहीं भोग सकता। स्त्रीपुत्रादि मेरे कर्मों के फल भोगने में हिस्सा नहीं बँटा सकते। फिर मुझे गृहवास में जाने से क्या प्रयोजन ?

मणुग्राण जीविए……चंचले—मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है। रोगादि उपद्रवों के कारण देखते ही देखते नष्ट हो जाता है, अतः क्षणविनाशी मानवीय जीवन के तुच्छभोगों के लिए मैं क्यों अपना साधुजीवन छोड़ कर गृहवास स्वीकार करू ? **बहुं मे पावकम्मं कडं : तात्पर्य**—मैंने बहुत ही पापकर्म किये हैं, जिनके उदय से मेरे शुद्ध हृदय में इस प्रकार के अपवित्र विचार उत्पन्न होते हैं। जो पुण्यशाली पुरुष होते हैं, उनके विचार तो चारित्र में सदैव स्थिर एवं दृढ़ रहते हैं। पापकर्मों के उदय से ही मनुष्य अधःपतन की ओर जाता है। **वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता**—प्रमाद, कषाय आदि के वशीभूत हो कर मैंने पूर्वजन्म में जो पापकर्म किये हैं, उन्हें भोगे बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। कृतकर्मों को भोगे बिना दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता, अतः क्यों न मैं इस आई हुई विपत्ति को भोगू ? इसे भोगने पर ही दुःखों से छुटकारा मिलेगा। जैन सिद्धान्त के अनुसार—बद्ध कर्म की मुक्ति के दो उपाय हैं—(१) स्थिति परिपाक होने पर उसे भोगने से, अथवा (२) तपस्या द्वारा कर्मों को क्षीणवीर्य करके नष्ट कर देने से। सामान्यतया कर्म अपनी स्थिति पकने पर फल देता है, परन्तु तप के द्वारा स्थिति पकने से पूर्व ही कर्मों की उदीरणा करके कर्मफल भोगा जा सकता है। इससे कर्म की फलशक्ति मन्द हो जाती है और वह फल प्रदान के बिना भी नष्ट हो जाता है। अतः उत्कृट तप द्वारा कर्म की स्थिति का परिपाक होने से पूर्व ही क्यों न मैं अपने पूर्वकृत कर्मों को क्षय कर दू और अक्षय मोक्षसुख का भागी बनू ! यह इस पंक्ति का रहस्य है।[२]

उत्प्रव्रजित के पश्चात्ताप के विविध विकल्प

भवइ य एत्थ सिलोगो—

५४३. जया य चयई धम्मं अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले आयइं नावबुज्झई ॥२॥

५४४. जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो स पच्छा परितप्पई ॥३॥

---

२. (क) साति कुडिलं। पुणो पुणो कुडिलहियया प्रायेण भुज्जो सातिबहुला मणुस्सा। —अ. चू.
(ख) न कदाचित् विश्रंभहेतवोऽमी, तद्रहितानां च कीदृक् सुखम् ? इति किं गृहाश्रमेण इति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति। —हारि. वृत्ति, पत्र २७२
(ग) आतंकः सद्योघाती विषूचिकादिरोगः। संकल्पः इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानस आतंकः। उपक्लेशाः—कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः पण्डितजनगर्हिताः शीतोष्णश्रमादयो घृतलवणचिन्तादयश्चेति। प्रव्रज्या पर्यायः। —हारि. वृ. प. २७३
(घ) आयंको सारीरं दुक्खं संकप्पो माणसं, तं च पियविप्पयोगमयं, संवाससोगभयविसादादिकमणेगहा संभवति। —जि. चू. पृ. ३५६
(ङ) परियातो समततो पुन्नागमणं, पव्वज्जा-सद्दस्सेव अवब्भंसो परियातो।
(च) दशवैकालिक. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.)। पृ. १००४ से १००८ तक

५४५. जया य वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुया ठाणा, स पच्छा परितप्पई ॥४॥

५४६. जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पई ॥५॥

५४७. जया य माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो ।
सेट्ठिव्व कब्बडे छूढो स पच्छा परितप्पई ॥६॥

५४८. जया य थेरओ होइ समइक्कंतजोव्वणो ।+
मच्छो व्व गलं गिलित्ता स पच्छा परितप्पई ॥७॥

[जया य कुकुडुंबस्स कुतत्तीहिं विहम्मई ।
हत्थी व बंधणे बद्धो स पच्छा परितप्पई ॥]

५४९. पुत्तदार-परिकिण्णो मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पई ॥८॥

[५४३] इस विषय में कुछ श्लोक हैं—जब अनार्य (साधु) भोगों के लिए (चारित्र-) धर्म को छोड़ता है, तब वह भोगों में मूच्छित बना हुआ अज्ञ (मूढ) अपने भविष्य को सम्यक्तया नहीं समझता ॥२॥

[५४४] जब (कोई साधु) उत्प्रव्रजित होता है (अर्थात् चारित्रधर्म त्याग कर गृहवास में प्रवेश करता है) तब वह (अहिंसादि) सभी धर्मों से परिभ्रष्ट हो कर वैसे ही पश्चात्ताप करता है, जैसे आयु पूर्ण होने पर देवलोक के वैभव से च्युत हो कर पृथ्वी पर पड़ा हुआ इन्द्र ॥३॥

[५४५] जब (साधु प्रव्रजित अवस्था में होता है, तब) वन्दनीय होता है, वही (अब संयम छोड़ने के) पश्चात् अवन्दनीय हो जाता है, तब वह उसी प्रकार पश्चात्ताप करता है, जिस प्रकार अपने स्थान से च्युत देवता ॥४॥

[५४६] प्रव्रजित अवस्था में साधु पूज्य होता है, वही (उत्प्रव्रजित हो कर गृहवास में प्रवेश करने के) पश्चात् जब अपूज्य हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है, जैसे राज्य से भ्रष्ट राजा ॥५॥

[५४७] (दीक्षित अवस्था में) साधु माननीय होता है, वही (उत्प्रव्रजित होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के) पश्चात् जब अमाननीय हो जाता है, तब वह वैसे ही पश्चात्ताप करता है, जैसे कर्बट (छोटे-से गंवारू गाँव) में अवरुद्ध (नजरबंद) किया हुआ (नगर-) सेठ ॥६॥

पाठान्तर—+ समइक्कंत जुव्वणो ।
अधिकपाठ— [ ] यह गाथा प्राचीन प्रतियों में उपलब्ध नहीं है । —सं.

[५४८] उत्प्रव्रजित (दीक्षा छोड़ कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट) व्यक्ति यौवनवय के व्यतीत हो जाने पर जब बूढ़ा हो जाता है, तब वैसे ही पश्चात्ताप करता है, जैसे कांटे को निगलने के पश्चात् मत्स्य ।।७।।

[जब संयम छोड़ा हुआ साधु दुष्ट कुटुम्ब की कुत्सित चिन्ताओं से प्रतिहत (आक्रान्त) होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है, जैसे (विषयलोलुपतावश) बन्धन में बद्ध हाथी ।]

[५४९] पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से व्याप्त वह दीक्षा छोड़ने के बाद (गृहवास में प्रविष्ट साधु) पंक में फंसे हुए हाथी के समान परिताप करता है ।।८।।

विवेचन—उत्प्रव्रजित साधु की पश्चात्ताप-परम्परा—प्रस्तुत सात गाथाओं (५४३ से ५४९ तक) में संयम को छोड़ कर गृहवास में प्रविष्ट (उत्प्रव्रजित) साधु को कैसी-कैसी आधि-व्याधि-उपाधियों का सामना करना पड़ता है, उस दुःस्थिति में वह किस-किस प्रकार पश्चात्ताप करता है, यह विविध उपमाओं द्वारा प्रतिपादित किया गया है ।

उत्प्रव्रजित के पश्चात्ताप करने के कारण—यहाँ आठ गाथाओं में दीक्षा छोड़ कर गृहवास में प्रवेश करने वाले साधु को होने वाले पश्चात्तापों के ८ कारण बताए हैं—(१) **भविष्य को भूल जाता है**—संयम को छोड़ने वाला व्यक्ति म्लेच्छों के समान चेष्टाएँ करने वाला अनार्य बन जाता है । वह शब्द-रूप आदि जिन विषयभोगों को पाने के लिए संयम छोड़ता है, उन वर्तमानकालीन क्षणस्थायी विषयसुखों में अतीव मूर्च्छित-मोहित होने पर उसे भविष्यत्काल का भान नहीं रहता । जिससे उसे भविष्य में भयंकर पश्चात्ताप करने का मौका आता है ।[3]

(२) **सर्वधर्म-परिभ्रष्ट हो जाने के कारण**—जैसे देवाधिपति इन्द्र आयुष्य क्षय होने पर देवलोक से च्युत होकर मनुष्यलोक में आता है, तब वह अत्यधिक शोक करता है कि—'हाय ! मेरा वह अनुपम वैभव नष्ट हो गया । अब तो मनुष्यलोक में मुझे अनेक कष्ट भोगने पड़ेंगे ।' इसी प्रकार उत्प्रव्रजित साधु भी जब अपने क्षमा, शील, सन्तोष या अहिंसा-सत्यादि सब धर्मों से भ्रष्ट हो जाता है, तब वह लोगों की नजरों में गिर जाता है, वह लोगों का श्रद्धाभाजन एवं गौरवास्पद नहीं रहता, तब वह सिर धुन-धुन कर पछताता है कि हाय मैंने कितना अनर्थ कर डाला ! अब तो मैं किसी दीन-दुनिया का नहीं रहा । मैंने लोक-परलोक दोनों बिगाड़ लिये ! पश्चात्ताप का कारण यह भी है कि जब व्यक्ति साधुधर्म से स्खलित होता है, तब तो उसके मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होता है, जिससे संभलना कठिन होता है, किन्तु बाद में जब एक के बाद एक भयंकर दुःख आ पड़ते हैं और मोहनीय कर्म का उदय मन्दभाव में आ जाता है, तब वह इन्द्र के समान शोक, विलाप और पश्चात्ताप करने लगता है ।[4]

(३) **अवन्दनीय हो जाने के कारण**—जब साधु अपने संयम में स्थिरचित्त रहता है, उसका भलीभांति पालन करता है, उस समय तो वह राजा, मंत्री, करोड़पति श्रेष्ठी आदि द्वारा वन्दनीय होता है, किन्तु जब संयमधर्म को छोड़ कर भोगी गृहस्थ हो जाता है, तब सत्कार करने वाले उन्हीं

३. दशवैकालिक (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. १०१०

४. वही, पृ. १०११-१०१२

मनुष्यों से वह असह्य तिरस्कार पाता है, अवन्दनीय हो जाता है, गलितकाय कुत्ते की तरह दुरदुराया जाता है। जिस तरह स्थानच्युत इन्द्रवर्जित देवी अपने पूर्वकालोन अखण्ड गौरव, देवियों द्वारा सेवाभक्ति, वन्दन आदि सुखों का स्मरण कर करके शोक करती है; उसी तरह संयमस्थान से च्युत[५] साधु भी अपने भूनपूर्व गौरव, पद, स्थान आदि को बार-बार याद करके मन में पश्चात्ताप करता है।

(४) **अपूज्य होने के कारण**—जब साधु अपने चारित्रधर्म में स्थिर रहता है, तब भावुक जन भावभक्तिपूर्वक भोजन, वस्त्र आदि से उसकी पूजा करते हैं, उसके चरण पूजते हैं, उसे प्रतिष्ठा देते हैं, किन्तु जब वह चारित्रधर्म को छोड़ कर गृहस्थ बन जाता है, तब सब लोगों के लिए अपूज्य हो जाता है। उसका कहीं भी भोजनवस्त्रादि से सत्कार नहीं होता। तब जिस प्रकार राज्य से भ्रष्ट हो जाने पर राजा को कोई नहीं पूछता, वह अपने पूर्व गौरव को याद करके भारी पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार चारित्रभ्रष्ट व्यक्ति भी अपनी पूर्वगौरवदशा का स्मरण करके मन में झूरता रहता है।[६]

(५) **अमान्य होने के कारण**—अपने शील और धर्म में जब साधु स्थिरचित्त होता है, तब तो वह अभ्युत्थान एवं आज्ञापालन आदि के रूप में सर्वमान्य होता है, किन्तु जब साधुधर्म से भ्रष्ट होकर गृहस्थ बन जाता है, तब उन्हीं सत्कार करने वाले लोगों द्वारा वह अमान्य हो जाता है, जिस प्रकार राजा के आदेश से किसी क्षुद्र गाँव में नजरबंद किया हुआ नगर सेठ पश्चात्ताप करता है कि हाय! कहाँ तो नगर में सब लोग मेरी आज्ञा मानते थे, मैं सम्मानित होता था कहाँ यह क्षुद्र गाँव, जहाँ कोई भी मुझे पूछता तक नहीं?' इसी प्रकार शीलधर्मभ्रष्ट साधु भी अमाननीय हो जाने के कारण शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से पीड़ित होता रहता है।[७]

(६) **बुढ़ापा आने पर**—सरस भोजन के लोभ से मछली धीवरों द्वारा पानी में डाले हुए लोहे के कांटे को निगल जाती है। जब वह कांटा गले में अटक जाता है, तब वह पछताती है। इसी प्रकार संयम से पतित एवं गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति भी जवानी बीत जाने पर जब बुढ़ापा झांकने लगता है तब पश्चात्ताप करता है, क्योंकि जिस प्रकार मछली के गले में अटका हुआ कांटा (बडिश) न तो गले के नीचे उतरता है और न गले से बाहर निकल सकता है, इसी प्रकार उत्प्रव्रजित भी न तो बुढ़ापे में भोगों को भोग सकता है और न उनसे मुक्त हो सकता है, क्योंकि वह स्त्रीपुत्रादि के जाल में फंस जाता है।[८]

(७) **कुकुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से घिरने पर**—संयम से पतित साधु को जब गृहवास में अनुकूल परिवार नहीं मिलता है, तब विभिन्न प्रतिकूल दुश्चिन्ताओं के कारण उसका हृदय दग्ध होने लगता है। फिर जिस प्रकार स्पर्शविषय का लोभ देकर बन्धनों से बांधा हुआ हाथी घोर दुःख

---

५. दशवैकालिक (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. १०१३
६. वही, पृ. १०१५
७. वही, पृ. १०१६
८. वही, पृ. १०१७

भोगता है, उसी प्रकार साधु भी विषयभोगरूपी बन्धनों से गृहवास में बंधा उत्प्रव्रजित भी घोर दुःख भोगता है। इष्टसंयोग न मिलने से उसके विषयभोगों में विघ्न पड़ता है, जिससे उसका मन कुत्सित चिन्ताओं के कारण संतप्त होता है। लोहे की सांकलों से बंधा हुआ हाथी घोर कष्ट भोगता है, वैसे ही विषय-भोगों के झूठे लालच में फंसकर गृहस्थवास की श्रृंखला से बंधा हुआ उत्प्रव्रजित भी घोर दुःख पाता है।[९]

(९) स्त्री-पुत्रों से घिर जाने के कारण—संयम छोड़कर गृहस्थवास में उत्प्रव्रजित व्यक्ति स्त्री-पुत्रादि से घिर जाता है। जिस प्रकार दल-दल में फंसा हुआ हाथी दुःख पाता है, उसी प्रकार उत्प्रव्रजित भी स्त्री-पुत्र आदि के मोहमय दल-दल में फंस कर घोर दुःख पाता है। उस समय हाथी की तरह वह उत्प्रव्रजित भी शोक करता है कि हाय! मैं पहले इस विषयभोग के दल-दल में न फंसता और संयम-क्रियाओं में दृढ़ रहता तो मेरी आज ऐसी दुर्दशा न होती! संयम छोड़कर मैंने क्या लाभ उठाया?[१०]

'आयइं' आदि शब्दों के विशेषार्थ—आयइ—आयति : तीन अर्थ—(१) भविष्यकाल, (२) आत्महित या (३) गौरव। कव्वडे : कर्वट—तीन प्रसिद्ध अर्थ—(१) बहुत छोटा सन्निवेश, या क्षुद्र गंवारू गांव, (२) कुनगर, जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो, (३) ऐसा कस्बा, जहाँ छोटा-सा बाजार हो। सेट्ठी—श्रेष्ठी—(१) जिस पर लक्ष्मी का चित्र छपा हो, ऐसी पगड़ी (वेष्टन) बांधने की जिसे राजाज्ञा प्राप्त हो। (२) वणिक्-ग्राम का प्रधान (३) राजमान्य नगरसेठ।[११] छमं—क्ष्मा—पृथ्वी।

संयमभ्रष्ट गृहवासिजनों की दुर्दशा : विभिन्न दृष्टियों से

५५०. अज्ज या हं गणी होंतो भावियप्पा बहुस्सुओ।
जइ हं रमंतो परियाए सामण्णे जिणदेसिए ॥९॥

५५१. देवलोगसमाणो उ परियाओ महेसिणं।
रयाणं, अरयाणं च महानिरय-सालिसो ॥१०॥

५५२. अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं,
रयाण परियाए, तहाऽरयाणं।
निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं,
रमेज्ज तम्हा परियाए पंडिए ॥११॥

---

९. दशवैकालिक (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. १०१८

१०. वही, पृष्ठ १०१९

११. (क) अगस्त्यचूर्णि
(ख) राजकुललद्धसम्माणो, समाविद्धवेट्ठणगो वणिग्गामहत्तरो य सेट्ठी। —अग. चूर्णि
(ग) जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति, तं वेट्टणगं जस्स रन्ना अणुन्नातं सो सेट्ठी भण्णइ। —निशीथचूर्णि

५५३. धम्माओ भट्ठं सिरिओ ववेयं,
जन्नग्गि विज्झायमिवऽप्पतेयं ।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला,
दाढुद्धियं घोरविसं व नागं ॥१२॥

५५४. इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती,
दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुयस्स धम्माओ अहम्मसेविणो,
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई ॥१३॥

५५५. भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेयसा
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं
बोही य से नो सुलभा पुणो पुणो ॥१४॥

[५५०] यदि मैं भावितात्मा और बहुश्रुत होकर जिनोपदिष्ट श्रामण्य-पर्याय में रमण करता तो आज मैं गणी (आचार्य) होता ॥९॥

[५५१] (संयम में) रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान (सुखद) (होता है) और जो संयम में रत नहीं होते, उनके लिए (यही मुनिपर्याय) महानरक के समान (दुःखद होता है।) ॥१०॥

[५५२] इसलिए मुनिपर्याय में रत रहने वालों का सुख देवों के समान उत्तम जान कर तथा मुनिपर्याय में रत नहीं रहने वालों का दुःख नरक के समान तीव्र जान कर पण्डितमुनि मुनिपर्याय में ही रमण करे ॥११॥

[५५३] जिसकी दाढें निकाल दी गई हों, उस घोर विषधर (सर्प) की साधारण अज्ञ जन भी अवहेलना करते हैं, वैसे ही धर्म से भ्रष्ट, श्रामण्य (या तप) रूपी लक्ष्मी से रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि के समान निस्तेज और दुर्विहित साधु की कुशील लोग भी निन्दा करते हैं ॥१२॥

[५५४] धर्म (श्रमणधर्म) से च्युत, अधर्मसेवी और (गृहीत) चारित्र को भंग करने वाला इसी लोक में अधर्मी (कहलाता) है, उसका अपयश और अपकीर्ति होती है, साधारण लोगों में भी वह दुर्नाम (बदनाम) हो जाता है और अन्त में उसकी अधोगति होती है ॥१३॥

[५५५] वह संयम-भ्रष्ट साधु आवेशपूर्ण चित्त से भोगों को भोग कर एवं तथाविध बहुत-से असंयम (कृत्यों) का सेवन करके दुःखपूर्ण अनिष्ट (नरकादि) गति में जाता है और उसे बार-बार (जन्म-मरण करने पर भी) बोधि सुलभ नहीं होती ॥१४॥

विवेचन—संयमभ्रष्ट को उभयलोक में दुर्गति—प्रस्तुत छह गाथाओं (५५० से ५५५ तक) में उत्प्रव्रजित का हार्दिक पश्चात्ताप तथा संयम में रति और अरति के सुखद-दुःखद परिणामों का निरूपण किया गया है।

हार्दिक पश्चात्ताप—उत्प्रव्रजित होकर गृहजंजाल में फंसा हुआ भूतपूर्व साधु हार्दिक पश्चात्ताप करता है कि 'यदि मैं भावितात्मा होता; (अर्थात्—ज्ञान-दर्शन-चारित्र और विविध अनित्यादि भावनाओं से मेरी आत्मा भावित-वासित होती) और मैं उभयलोकहितकारी द्वादशांगी का या अनेक शास्त्रों का ज्ञाता, (बहुश्रुत) होकर जिनेन्द्र-प्रतिपादित श्रमणभाव में ही रमण करता तो आज मैं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होता। किन्तु अफसोस! मैंने मूर्खतावश साधुजीवन छोड़ कर विषयभोग रूपी पंकपूर्ण जलविन्दु के लिए अद्वितीय आचार्यपद जैसे महागौरवरूपी क्षीरसिन्धु को छोड़ दिया।' यह ५५० वीं गाथा का आशय है।[१२]

संयम में रत और अरत की मनोदशा का विश्लेषण—जो साधु संयम में रत रहते हैं, उनके लिए मुनिपर्याय देवलोक के समान सुखप्रद होता है। जिस प्रकार देवता देवलोक में होने वाले नृत्य, गीत, वाद्य आदि देखने में तल्लीन रहते हैं और प्रसन्नता से सदैव समय व्यतीत करते हैं, ठीक उसी प्रकार संयम में रत मुनिगण भी स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, धर्मोपदेश आदि एवं योगादि क्रियाओं में निमग्न रह कर देवों से बढ़ कर सुखों का अनुभव करते हैं। किन्तु जो साधु संयम में रतिहीन होते हैं—जिन्हें संयमपर्याय अरुचिकर प्रतीत होता है, उन्हें यह मुनिपर्याय महारौरव नरक के समान दुःखप्रद बन जाता है। क्योंकि उनके चित्त में सदैव विषयसुखों की प्राप्ति की लालसा बनी रहती है, इसलिए वे अहर्निश अशान्त रहते हैं। भगवान् के वेष की वे विडम्बना करते हैं और असातावेदनीय के उदय के कारण उनकी आत्मा घोर मानसिक दुःखों का अनुभव करती है।

इसी गाथा (५५१) का उपसंहार द्वारा निगमन करते हुए शास्त्रकार ने ५५२ वीं गाथा में कहा है—पापभीरु विद्वान् मुनि दोनों के सुख-दुःख पर विचार करें, और निश्चित जान लें कि जो साधु संयमरत हैं, वे देवों के समान सुखानुभव करते हैं और जो संयम में रत नहीं हैं वे घोर नरकोपम दुःखानुभव करते हैं। अतएव शास्त्रज्ञ मुनि के लिए उचित है कि वह संयम में दृढ़चित्त होकर मुनिपर्याय में ही रमण करने का मार्ग अपनाए।[१३]

संयमभ्रष्ट व्यक्तियों की दुर्दशा का चित्रण—५५३-५५४ एवं ५५५ वीं गाथाओं में संयम-भ्रष्ट की दुर्दशा का स्पष्ट चित्रण करते हुए बताया गया है कि (१) जो मनुष्य संयमभ्रष्ट होकर विषयभोगों में फँस जाते हैं, वे अन्तर्जाज्वल्यमान तपोरूप अग्नि के अलौकिक तेज से हीन, तथा चारित्रश्री से क्षीण होकर प्रभावहीन बन जाते हैं और निन्द्य आचरण करने लगते हैं। आचारहीन नीच पुरुष भी उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे उनकी विडम्बना करते हैं। शास्त्रकार ने संयम-भ्रष्ट व्यक्ति की अवहेलना की उपमा बुझी हुई यज्ञ की अग्नि से, तथा उखाड़ी हुई दाढ़ वाले विषधर से दी है। उनका आशय यह है कि जिस प्रकार यज्ञ की अग्नि जब तक प्रज्वलित रहती है, तब तक

---

१२. दशवैकालिक, पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. १०२१

१३. वही, पृ. १०२३-१०२४

लोग उसमें मधु, घृत आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ आहुति के रूप में डालते रहते हैं और उसे हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हैं। किन्तु बुझ जाने के बाद भस्मीभूत हुई उसी यज्ञाग्नि को लोग बाहर फेंक देते हैं, पैरों तले रौंदते हुए चले जाते हैं। इसी प्रकार सर्प के मुंह में जब तक दाढ़ें रहती हैं, तब तक सब लोग उससे दूर भागते और डरते हैं, किन्तु मदारी द्वारा जब उसकी दाढ़ें निकाल दी जाती हैं तो उस सर्प से छोटे-छोटे बच्चे भी नहीं डरते हैं। उसके मुंह में लकड़ी ठूंसते हैं, उसे छेड़ते हैं। ऐसा ही लज्जाजनक तिरस्कार मुनिपदभ्रष्ट व्यक्तियों का होता है। (२) जो व्यक्ति सांसारिक भोग-विलासों के लोभ से श्रमणधर्म से भ्रष्ट एवं पतित होकर गृहीत व्रतों को खण्डित करता है, गृहवास में आकर अधार्मिक कृत्य करने लग जाता है, इस लोक में शुभ पराक्रम न होने से उसकी अपकीर्ति और बदनामी होती है, तथा प्राकृत श्रेणी के साधारण अज्ञ लोगों द्वारा भी वह धर्मभ्रष्ट, कायर, म्लेच्छ, पतित आदि नामों से चिढ़ाया जाता है। यह तो हुई इस लोक की दुर्दशा। परलोक में भी उसकी दुर्दशा कम नहीं होती। संयमभ्रष्ट व्यक्ति जब अपना जीवन दुःखपूर्वक समाप्त करके परलोक में जाता है तब उसकी अधर्म-भावना के कारण उसे अच्छा स्थान नहीं मिलता। उसे स्थान मिलता है— नरक और तिर्यञ्चगति में। नरक में तो उसे पलक झपकने तक को भी सुख नहीं मिलता। वह सतत हाय-हाय और मरा-मरा की करुण पुकार में समग्र जीवन बिताता है। (३) जिस मनुष्य ने श्रमणजीवन का परित्याग कर मुनिधर्म की अपेक्षा न रखते हुए अत्यासक्तिपूर्वक विषय-भोगों का सेवन किया है तथा अज्ञानतापूर्वक हिंसाकारी कृत्य किये हैं, वह असन्तुष्ट एवं अतृप्त होकर दुःखपूर्वक मर कर नरकादि दुर्गतियों में जाता है, जो स्वभावतः भयंकर एवं असह्य दुःखप्रद हैं। घोरातिघोर दुःखों से पीड़ित मनुष्य भी वहाँ जाना नहीं चाहता। फिर नरक के घोरातिघोर दुःख भोगने के बाद भी दुःखों से पिण्ड नहीं छूटता, क्योंकि दुःखों से छुटकारा दिलाने वाली जिनधर्मप्राप्तिरूप बोधि है, जो उसे मिथ्यात्वमोहनीय आदि अशुभकर्मोदयवश सरलता से प्राप्त नहीं हो सकती, यह प्रवचन-विराधना एवं संयमभ्रष्टता का कटुफल है। अतः थोड़े से क्षणिक विषयसुखों के लिए संयम-परित्याग करना कितनी भयंकर भूल है ?[१४]

कठिन शब्दों के अर्थ—सिरिओ—श्रियः—(१) श्रामण्य (चारित्र) रूपी लक्ष्मी या शोभा से अथवा (२) तपरूपी लक्ष्मी से। **अप्पतेयं**—अल्पतेज, निस्तेज। **दुव्विहियं : दुर्विहित**—जिसका आचरण या विधि-विधान दुष्ट होता है, अथवा सामाचारी का विधिवत् पालन न करने वाला भिक्षु। **हीलंति**—लज्जित करते हैं, कदर्थना करते हैं, अवहेलना करते हैं। **संभिन्नवित्तस्स-संभिन्नवृत्त**—जिसका शील या चारित्र खण्डित हो गया है। **अधम्मो—अधर्म**—अधर्मजनक। **अयसो-अयश**—अपयश होता है। जैसे—यह देखो—भूतपूर्व श्रमण है, धर्म से पतित है,—इस प्रकार व्यंगपूर्वक दोषकीर्तन करना अयश कहलाता है। यश का अर्थ संयम भी है, इसलिए संयम में पराक्रम की न्यूनता—मन्दता को भी अयश—अल्पयश कहा है। **पसज्झचेतसा—प्रसह्यचेतसा**—प्रसह्य शब्द के अनेक अर्थ हैं—हठात्, बलपूर्वक, प्रकट, वेगपूर्वक आदि। यहाँ भावार्थ होगा—विषयभोगों के लिए हिंसा, असत्यादि में मन को अभिनिविष्ट करके, प्रबल वेगपूर्ण चित्त से। **अणभिज्झियं—अनभिध्यातं**—अनिष्ट, अनभिलषित या अनिच्छनीय। **बोही**—अर्हद्धर्म की उपलब्धि, बोधि।[१५]

---

१४. दशवैकालिक, पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. १०२५ से १०३० तक

१५. हारि. वृत्ति, पत्र २७६-२७७; जिनदासचूर्णि, पृ. ३६४; अगस्त्यचूर्णि

श्रमणजीवन में दृढ़ता के लिए प्रेरणासूत्र

५५६. इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं किमंग ! पुण मज्झ इमं मणोदुहं ? ॥१५॥

५५७. न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई,
असासया भोग-पिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽवेस्सई,
अवेस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥ १६ ॥

५५८. जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
'चएज्ज देहं, न उ धम्मसासणं ।'
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया,
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥ १७ ॥

५५९. इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं वियाणिया ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठेज्जासि ॥ १८ ॥
—त्ति बेमि ॥

रइवक्कचूला नाम पढमा चूला समत्ता ।

[एक्कारसमं रइवक्कऽज्झयणं समत्तं]

[५५६] दुःख से युक्त और क्लेशमय मनोवृत्ति वाले इस (नारकीय) जीव की (नरक-सम्बन्धी) पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है, तो फिर हे जीव ! मेरा यह मनो-दुःख तो है ही क्या ? अर्थात्—कितने काल का है, (कुछ भी नहीं) ॥१५॥

[५५७] 'मेरा यह दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा, (क्योंकि) जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है । यदि वह इस शरीर से (शरीर के होते हुए) न मिटी, तो मेरे जीवन के अन्त (के समय) में तो वह अवश्य ही मिट जाएगी ॥१६॥

[५५८] जिसकी आत्मा इस (पूर्वोक्त) प्रकार से निश्चित (दृढ-संकल्पयुक्त) होती है वह शरीर को तो छोड़ सकता है, किन्तु धर्मशासन को नहीं छोड़ सकता । ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ साधु (या साध्वी) को इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं, जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावात सुदर्शनगिरि (मेरुपर्वत) को ॥१७॥

[५५९] बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रकार सम्यक् विचार कर तथा विविध प्रकार के (ज्ञानादि

के) लाभ और उनके (विनयादि) उपायों को विशेष रूप से जान कर काय, वाणी और मन, इन तीन गुप्तियों से गुप्त होकर जिनवचन (प्रवचन) का आश्रय ले ॥१८॥ —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रव्रज्यात्याग के विचार से विरति के चिन्तनसूत्र—प्रस्तुत ४ गाथाओं (५५६ से ५५९ तक) में संयमत्याग का विचार सम्यक् चिन्तनपूर्वक स्थगित रखने की प्रेरणा दी गई है।

संयम में दृढ़ता के विचार—(१) गाथा ५५६ का आशय यह है कि संयम पालते हुए किसी प्रकार का दुःख आ पड़ने पर उसके कारण संयम से विचलित होने की अपेक्षा उन दुःखों को सहन करने की शक्ति और संयम में दृढ़ता कैसे प्राप्त हो? इसके लिए इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए—इस जीव ने महादुःखपूर्ण एवं एकान्त क्लेशमय नरकगति में अनन्त वार जाकर वहाँ के शारीरिक-मानसिक दुःखों को पल्योपमों और सागरोपमों जितने दीर्घकाल पर्यन्त सहन किया है, तो फिर संयम-जीवन में उत्पन्न हुआ यह दुःख तो है ही कितना! यह तो सिन्धु में विन्दु के वराबर है। जिस प्रकार अनन्तकाल तक का वह दुःख भोग कर क्षय किया गया था, उसी प्रकार यह दुःख भी भोगने से क्षीण हो जाएगा। अतः मुझे संयम में दृढ़ता धारण करनी चाहिए, उसका परित्याग करना उचित नहीं। नरक के दुःखों का यह महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त साहस एवं धैर्य की हिलती हुई दीवार को अतीव सुदृढ़ बनाने वाला है।

(२) गाथा ५५७ का आशय यह है कि—यदि किसी कष्ट के कारण संयम में अरति उत्पन्न हो जाए तो साधु को इस प्रकार विचार करना चाहिए—मुझे जो यह दुःख हुआ है, वह चिरकाल तक नहीं रहेगा—कुछ ही दिनों में दूर हो जाएगा, क्योंकि दुःख के वाद सुख आता ही है। दूसरी बात यह है कि रह-रह कर जो भोग-पिपासा जागृत होती है, जिसके कारण मेरा मन संयम से विचलित हो जाता है, वह अशाश्वत है। इसकी अधिकता यौवन वय तक ही रहती है, उसके बाद तो यह स्वयमेव ढीली पड़ जाती है। अतः मैं इस क्षणिक भोग-पिपासा के चक्कर में क्यों पड़ूं! कदाचित् यह भी मान लें कि यह वृद्धावस्था तक पिण्ड नहीं छोड़ेगी; तब भी कोई बात नहीं। मृत्यु के समय तो इसे अवश्य ही हट जाना या मिट जाना पड़ेगा। आशय यह है कि जब शरीर ही अनित्य है तो भोग-पिपासा कैसे नित्य हो सकती है! ये वैषयिक सुख या संयमपालन में उत्पन्न होने वाले दुःख, दोनों ही अस्थिर-अनित्य हैं। अतः नश्वर भोग-पिपासाजनित वैषयिक सुख एवं संयमजनित दुःख के कारण अनन्त कल्याणकारी संयम का कथमपि त्याग नहीं करना चाहिए।

(३) तृतीय गाथा ५५८ में कहा गया है कि उपर्युक्त चिन्तन के आधार पर जब साधक की आत्मा ऐसा दृढ़ निश्चय (संकल्प) कर लेती है कि मेरा शरीर भले ही चला जाए, परन्तु मेरे सद्धर्म का अनुशासन (मौलिक नियम) नहीं जाना चाहिए, अथवा मेरा संयमी जीवन कदापि नहीं जाना चाहिए, क्योंकि शरीर (जीवन) छूट जाने पर जीर्ण शरीर के बदले नया सुन्दर शरीर मिल सकता है, परन्तु आध्यात्मिक जीवन की मृत्यु हो जाने के बाद उसे पुनः प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसे दृढ़निश्चयी मुनि को चंचल इन्द्रियाँ उसी प्रकार धर्मपथ से डिगा कर वैषयिक सुखों में लुभायमान नहीं कर सकतीं, जिस प्रकार प्रलयकाल की प्रचण्ड महावायु पर्वतराज सुमेरु को कम्पायमान नहीं कर सकती। अतः आत्मार्थी मुनि इस प्रकार का दृढ़ संकल्प करके श्रमणधर्म में दृढ़ता धारण करके स्वयं को विषयवासना के बीहड़ से अपनी आत्मा को पृथक् रखे।

(४) **चतुर्थ चिन्तन एवं प्रेरणा**—प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए ५५९ वीं गाथा में कहा गया है कि बुद्धिमान् साधक इस अध्ययन में उक्त वर्णन पर भलीभांति पूर्वापर विचार करके तथा उसकी ज्ञानादि प्राप्ति के उपायों (साधनों) को जान कर तीन गुप्तियों से गुप्त होकर जिनवचनों (अथवा जिनशासन) पर दृढ़ रहे अथवा अर्हन्तों के धर्मोपदेश द्वारा आत्मकल्याण करे। इसका अन्तिम फल मोक्ष-प्राप्ति है।

सारांश—इस अध्ययन में प्रतिपादित समग्र चिन्तन तथा पूर्वोक्त १८ स्थानों में प्रतिपादित विचार संयम से डिगते हुए जीवों को पुनः संयम में स्थिर करने वाले हैं।

'अविस्सई' आदि पदों के अर्थ—**अविस्सई**—*अपैष्यति*—अवश्य ही चली जाएगी। **जीविय-पज्जवेण**—**जीवितपर्यवेण**—जीवितपर्याय का यहाँ आशय है जीवन का अवसान (मरण)। **किलेस-वत्तिणो**—एकान्त क्लेशवृत्ति वाले। अथवा क्लेशमय जीवनवृत्त वाले।

उवेंत वाया—प्रवल वेगपूर्ण गति से आता हुआ प्रचण्ड महावायु।

आयं उवायं : आयं उपायं—*आय का अर्थ है—लाभ—सम्यक् ज्ञान, विज्ञान आदि की प्राप्ति,* और उपाय का अर्थ है—उन (ज्ञानादि) को प्राप्त करने के (विनय) आदि साधन। **जिणवयणमहि-ट्ठिज्जासि**—जिनवचनों का आश्रय ले। भावार्थ यह है कि जिनवचनानुकूल क्रिया करके स्वकार्य सिद्ध करे।

॥ रतिवाक्या : प्रथम चूलिका समाप्त ॥

[॥ ग्यारहवाँ रतिवाक्या नामक अध्ययन सम्पूर्ण ॥]

बिइया चूलिया : विवित्तचरिया

द्वितीय चूलिका : विविक्तचर्या

[बारसमं अज्झयणं : बारहवाँ अध्ययन]

प्राथमिक

※ दशवैकालिक सूत्र की इस द्वितीय चूलिका (चूडा) को दशवैकालिकसूत्र का बारहवाँ अध्ययन भी कुछ आचार्यों ने माना है।

※ विविक्त के कई अर्थ हैं—पृथक्, विवेकयुक्त, पवित्र (शुद्ध) स्त्री-पशु-नपुंसक से असंसक्त, विजन (जनसम्पर्क से शून्य), प्रच्छन्न (गुप्त), एकान्त आदि और चर्या का अर्थ है—आचरण, विचरण, व्यवहार, चारित्र, ज्ञानादि पंच-विध आचार। इस प्रकार 'विविक्तचर्या' शब्द अनेक अर्थों को अपने में समाए हुए है। प्रस्तुत चूलिका के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका मुख्य प्रतिपाद्य श्रमणनिर्ग्रन्थचर्या है। इसमें श्रमणनिर्ग्रन्थों की बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की चर्या का निरूपण किया गया है।

※ सर्वप्रथम चूलिका के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा के बाद दो गाथाओं में विविक्तचर्या के आन्तरिक स्वरूप, उसके अधिकारी तथा यह अतिकठिन एवं दुष्कर होते हुए भी मुमुक्षु के लिए उपादेय है, इसका भलीभांति निरूपण है।

※ विश्व का अधिकांश जनसमूह जिस विषयसुखभोग के प्रवाह में अविवेकपूर्वक बह रहा है, उस प्रवाह में अन्धानुकरणपूर्वक बहे जाना—अनुस्रोतगमन है। ऐसी गति (चर्या) में किसी प्रकार की जागृति, विवेक, विचार, बौद्धिक चिन्तन-मनन, हार्दिक अन्तर्निरीक्षण-परीक्षण, आत्मशक्ति के विकास या विज्ञान की खास आवश्यकता नहीं होती। अन्धा व्यक्ति या विवेकहीन व्यक्ति भी गतानुगतिक परम्परा के सहारे चल सकता है। ऐसे औघिक संज्ञा वाले जीवों की प्रायः सभी क्रियाएँ परम्परानुसार—अधिकांश जनों की देखादेखी—होती रहती हैं।

किन्तु कुछ आत्मार्थी जागृत एवं साधनाशील व्यक्ति होते हैं, जिनके आन्तरिक चक्षु खुल जाते हैं, जिनके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकासमार्ग में पड़े हुए आवरण दूर हो जाते हैं, ऐसे जागरूक साधक अपनी आत्मशक्ति का उपयोग अनुस्रोतगामी प्रवाह में बहाने के बदले प्रतिस्रोतगामी बन कर सांसारिक प्रवाह से विपरीत त्याग, तप, संवर, निर्जरा एवं कर्ममुक्ति के मार्ग में करते हैं। अनुस्रोतगामी विषयभोगों की ओर गति करते हैं, जबकि प्रतिस्रोतगामी विषयभोगों से विरक्त होकर संयम, त्याग, तप, वैराग्य आदि की ओर गति करते हैं। अनुस्रोतगमन संसारमार्ग है, प्रतिस्रोतगमन जन्ममरणमुक्ति रूप मोक्षमार्ग है। यही अनुस्रोत-गामियों से पृथक् उसकी आन्तरिक विविक्तचर्या है, जिसका इस चूलिका में उल्लेख है।

* वाह्यविविक्तचर्या में भी आहार, विहार, निवास, व्यवहार, भिक्षा, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग त्याग, तप, नियम आदि प्रवृत्तियों में सांसारिक जनों की प्रवृत्तियों से पृथक्, एकान्त-आत्महित-कारी, विवेकयुक्त तथा शास्त्रोक्त मार्ग-सम्मत चर्या का निर्देश किया है।

* प्रतिस्रोतगामी बनने के लिए बाह्य विविक्तचर्या के कुछ निषिद्ध आचरण भी बताए हैं, जैसे—गृहस्थों की वैयावृत्य, वन्दना, पूजा, अभिवादन, संसर्ग, सहनिवास न करना आदि।

* दोनों प्रकार की विविक्त चर्याओं का मुख्य उद्देश्य समस्त दुःखों से मुक्त होना है, जो आत्मा की सतत रक्षा करने से ही संभव है। इससे पूर्व आत्मरक्षा के उत्तम उपाय बताए हैं।

* कुल मिला कर प्रस्तुत चूलिका में विविक्तचर्या के सभी पहलुओं का सांगोपांग चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

* इस चूलिका को कोई श्रुतकेवलिभाषित, कोई केवलिभाषित और कोई विहरमान तीर्थंकर सीमंधरस्वामी से प्राप्त और एक साध्वी द्वारा श्रुत मानते हैं।

बिइया चूलिया : विवित्तचारिया

द्वितीय चूलिका : विविक्तचर्या

[बारसमं अज्झयणं : बारहवाँ अध्ययन]

चूलिका - प्रारम्भप्रतिज्ञा, रचयिता और श्रवणलाभ

५६०. चूलियं तु पवक्खामि, सुयं केवलिभासियं ।
जं सुणेत्तु सपुण्णाणं धम्मे उप्पज्जई मई ।। १ ।।

[५६०] मैं उस चूलिका को कहूँगा, जो श्रुत (श्रुतज्ञानरूप या सुनी हुई) है, केवली-भाषित है, जिसे सुन कर पुण्यशाली जीवों की धर्म में मति (श्रद्धा) उत्पन्न होती है ।।१।।

विवेचन—चूलिका का उद्गम—प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त चूलिका भावचूला का विशेषण माना गया है, जिसे 'तु' शब्द से ध्वनित किया गया है। अर्थात्—मैं भावचूलारूप चूलिका कहूँगा। इस चूलिका के उद्गम के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं—(१) वृद्धपरम्परा के अनुसार—यह चूलिका प्रथम विहरमान तीर्थंकर श्री सीमंधरस्वामी (केवली) द्वारा भाषित और एक साध्वी द्वारा श्रुत है। (२) चूर्णिद्वय के अनुसार—शास्त्र का गौरव बढ़ाने के लिए कहा गया है कि यह केवली भगवान् द्वारा कथित है। (३) टीकाकार के अनुसार—यह श्रुत—श्रुतज्ञानरूप है और केवलिभाषित है। (४) ऐतिहासिक कसौटी पर इसे कसा जाए तो यह संभावना अधिक पुष्ट होती है कि यह श्रुत-केवलीभाषित (श्रुतकेवली की रचना) है। **'सुयं केवलि-भासियं'** इस पाठ को **'सुय-केवलि-भासियं'** माना जाए तो यही अर्थ होता है। जो भी हो, 'तत्त्वं' केवलिगम्यम्।[1]

सपुण्णाणं—सुपुण्णाणं : दो रूप—(१) सपुण्यानाम्—पुण्यसहित जीवों की, (२) सुपुण्यानां—उत्तम अर्थात् पुण्यानुबन्धी पुण्य वाले जीवों की।[2]

सामान्यजनों से पृथक् चर्या के रूप में विविक्तचर्यानिर्देश—

५६१. अणुसोय-पट्ठिए+ बहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं ।। २ ।।

---

१. (क) तु शब्दविशेषितां भावचूडाम् । श्रूयते इति श्रुतं तं पुण सुतनाणं । केवलियं भासितमिति सत्थगोरव-मुप्पायणत्थं भगवता केवलिणा भणितं, न जेण केणति । —अ. चू., जि. चू., पृ. ३६८

(ख) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी) पृ. ५२४

२. (क) 'सहपुण्णेण सपुण्णो ।'—अ. चू., (ख) सुपुण्यानां कुशलानुबन्धिपुण्ययुक्तानां प्राणिनाम् ।
—हा. वृ., पृ. २७९

+ पाठान्तर—पट्ठिअ ।

५६२. अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसवो* सुविहियाणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥

५६३. तम्हा आयारपरक्कमेण संवर-समाहि-बहुलेणं ।
चरिया गुणा य नियमा य, होंति साहूण दट्ठव्वा ॥ ४ ॥

[५६१] (नदी के जलप्रवाह में गिर कर प्रवाह के वेग से समुद्र की ओर बहते हुए काष्ठ के समान) बहुत-से लोग अनुस्रोत (विषयप्रवाह के वेग से संसार-समुद्र) की ओर प्रस्थान कर रहे (बहे जा रहे) हैं, किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत (विषयभोगों के प्रवाह से विमुख-विपरीत होकर संयम के प्रवाह) में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है, उसे अपनी आत्मा को प्रतिस्रोत की ओर (सांसारिक विषयभोगों के स्रोत से प्रतिकूल) ले जाना चाहिए ॥२॥

[५६२] अनुस्रोत (विषयविकारों के अनुकूल प्रवाह) संसार (जन्म-मरण की परम्परा) है और प्रतिस्रोत उसका उत्तार (जन्ममरण के पार जाना) है । साधारण संसारीजन को अनुस्रोत चलने में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु सुविहित साधुओं के लिए प्रतिस्रोत आश्रव (इन्द्रिय-विजय) होता है ॥३॥

[५६३] इसलिए (प्रतिस्रोत की ओर गमन करने के लिए) आचार (-पालन) में पराक्रम करके तथा संवर में प्रचुर समाधियुक्त हो कर, साधुओं को अपनी चर्या, गुणों (मूल-उत्तरगुणों) तथा नियमों की ओर दृष्टिपात करना चाहिए ॥४॥

विवेचन—अनुस्रोत मार्ग और प्रतिस्रोत मार्ग : क्या, किसके लिए और कैसे ?—प्रस्तुत तीन गाथाओं (५६१ से ५६३ तक) में अनुस्रोतमार्ग की ओर गमन का निषेध और प्रतिस्रोतमार्ग-गमन का विधान करने के साथ ही दोनों का स्वरूप, उनके अधिकारी और प्रतिस्रोतमार्ग पर कैसे चला जाए ? इसका दिशानिर्देश किया गया है ।

अनस्रोत और प्रतिस्रोत—स्रोत अर्थात् जलप्रवाह । अनुस्रोत का अर्थ है—स्रोत के पीछे-पीछे, अथवा स्रोत के अनुकूल । जब जल का बहाव निम्न (नीचे) प्रदेश की ओर होता है, तब उसमें पड़ने वाली काठ आदि वस्तुएँ उसी बहाव के अनुकूल होकर बहती हैं । उसे अनुस्रोत-प्रस्थान कहते हैं । यह द्रव्य-अनुस्रोत है, प्रस्तुत में द्रव्य-अनुस्रोत की भांति भाव-अनुस्रोत बताया गया है । जैसे अनुस्रोतप्रस्थित काष्ठ की तरह जो सांसारिक जन इन्द्रियविषयों के स्रोत-प्रवाह में बहते जाते हैं, वे अनुस्रोतप्रस्थित हैं । प्रतिस्रोत का अर्थ है—प्रतिकूलप्रवाह, उलटी दिशा में बहना । प्रस्तुत में भाव-प्रतिस्रोत है—शब्दादिविषयों के प्रवाह के प्रतिकूल गमन करना अर्थात्—शब्दादिविषयों से निवृत्त होना । गाथा ५६२ में स्पष्ट बता दिया गया है कि अनुस्रोतगमन संसार का कारण है । यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके संसार के कारण को 'संसार' कहा गया है । **तस्स उत्तारो पडिसोओ**—उस संसार से पार होना अर्थात्—प्रतिस्रोतगमन मुक्ति का कारण है ।[3]

---

* पाठान्तर— आसमो ।

३. अगस्त्यचूर्णि, जिन. चूर्णि, पृ. ३६१

प्रतिस्रोत के अधिकारी—सुविहियाणं आसवो (आसमो) : पडिसोओ : आशय—सुविहित साधुओं के लिए इन्द्रियविजय (आश्रव) करना अथवा साधुदीक्षारूप आश्रय को स्वीकार करना प्रतिस्रोत है।

होउकामेण के दो अर्थ व्याख्याकारों ने किये हैं—(१) मुक्त होने की इच्छा वाला, अथवा (२) विषयभोगों से विरक्त होकर संयम की आराधना करना चाहने वाला। **'पडिसोअलद्धलक्खेणं'** का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार धनुर्वेद या बाणविद्या में दक्ष व्यक्ति बालाग्र जैसे सूक्ष्मतम लक्ष्य को बींध देता है, उसी प्रकार विषयभोगों को त्यागने वाला संयम के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[४]

अणुसोयसुहो लोओ : भावार्थ—जिस प्रकार काष्ठ नदी के अनुस्रोत में सरलता से चला जाता है, किन्तु प्रतिस्रोत में कठिनता से जाता है, उसी प्रकार संसारी जीवों को अनुस्रोतरूप विषयभोगों की ओर ढलना सुखावह लगता है, किन्तु वे इन्द्रियविजयरूप प्रतिस्रोत की ओर सुखपूर्वक गमन नहीं कर सकते।[५]

विविक्तचर्या का बाह्य रूप—गाथा ५६३ में विविक्तचर्या के बाह्य रूप की एक झांकी दी है—'चरिया गुणा य नियमा य।' **चरिया : चर्या** के दो अर्थ इस प्रकार हैं—(१) आगे कही जाने वाली श्रमणभाव-साधिका अनियतवासादिरूप शुद्ध श्रमणचर्या, अथवा (२) मूलोत्तरगुणरूप चारित्र। **गुणाः**—(१) मूलोत्तरगुण, (२) अथवा ज्ञानादि गुण, तथा (३) मूलोत्तरगुणों की रक्षा के लिए जो भावनाएँ हैं, वे। तथा **नियमाः**—नियम—प्रतिमा (द्वादशविध भिक्षुप्रतिमा) एवं विशिष्ट प्रकार के अभिग्रह (संकल्प या प्रतिज्ञा आदि)। चर्या, गुण और नियम, ये तीनों मिलकर विविक्तचर्या का बाह्य रूप बनता है।

विविक्तचर्या के पालन के तीन उपाय—प्रस्तुत बाह्य विविक्तचर्या के पालन के लिए शास्त्रकार ने तीन उपाय इसी गाथा में बताए हैं—(१) **आयारपरक्कमेण,** (२) **संवरसमाहिबहुलेण,** और (३) **हुंति साहूण दट्ठव्वा**। तीनों का आशय क्रमशः इस प्रकार है—(१) साधु-साध्वी द्वारा ज्ञानादि पंचाचारों में सतत पराक्रम करने से, अथवा आचार को सतत धारण करने का सामर्थ्य प्राप्त करने से, (२)प्रायः इन्द्रिय-मनःसंयमरूप संवरधर्म में चित्त को समाहित—अनाकुल या अप्रकम्प रखने से तथा विविक्तचर्या के पूर्वोक्त तीनों अंगों (चर्या, गुण एवं नियम) पर प्रतिक्षण दृष्टिपात करते रहने से अथवा इन तीनों को शास्त्रनिर्दिष्ट समय के अनुसार आचरण करने से (जिस समय जो क्रिया आसेवन करने योग्य हो, उस समय उसका अवश्य आसेवन करने से) अर्थात्—आगे पर न टालने से या उपेक्षा न करने से।[६]

---

४. णिव्वाणगमणारुहो 'भविउकामो' होउकामो तेण होउकामेण। आसवो णाम इंद्रियजओ।

—जि. चू., पृ.३६९

(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मा.) पृ. १०४१

(ग) 'भवितुकामेन'—संसारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना, न क्षुद्र-जनाचरितान्युदाहरणी-कृत्यासन्मार्ग-प्रवणचेतोऽपि कर्त्तव्यम्, अपित्वागमैकप्रवणेनैव भवितव्यम्। —हारि. वृ. पत्र

५. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. १०४१

६. जिन. चूर्णि, ३७ —हरि. टीका पृ. २७०

भिक्षा, विहार और निवास आदि के रूप में एकान्त और पवित्र विविक्तचर्या—

५६४. अणिएयवासो समुयाणचरिया,
अण्णाय-उंछं पइरिक्कया य।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य,
विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥ ५ ॥

५६५. आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा य,
उस्सन्नदिट्ठाहड - भत्तपाणे।
संसट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू,
तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा ॥ ६ ॥

५६६. अमज्ज-मंसासि अमच्छरीया,
अभिक्खणं +निव्विगईगया य।
अभिक्खणं काउसग्गकारी,
सज्झायजोगे पयओ हवेज्जा ॥ ७ ॥

५६७. न पडिण्णवेज्जा⊖ सयणाऽऽसणाइं,
सेज्जं निसेज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे,
ममत्तभावं न कहिंचि※ कुज्जा ॥ ८ ॥

५६८. गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा,
अभिवायणं वंदणं पूयणं वा।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा,
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ९ ॥

५६९. न या लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥

५७०. संवच्छरं वा वि परं पमाणं,
बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू,
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ११ ॥

पाठान्तर— + निव्विगइं गया। ⊖ पडिन्नविज्जा। ※ कहिं पि।

[५६४] अनिकेत-वास (अथवा अनियतवास), समुदान-चर्या, अज्ञातकुलों से भिक्षा-ग्रहण, एकान्त (विविक्त) स्थान में निवास, अल्प-उपधि और कलह-विवर्जन; यह विहारचर्या ऋषियों के लिए प्रशस्त है ।।५।।

[५६५] आकीर्ण और अवमान नामक भोज का विवर्जन एवं प्रायः दृष्टस्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण, (ऋषियों के लिए प्रशस्त है ।) भिक्षु संसृष्टकल्प (संसृष्ट हाथ और पात्र आदि) से ही भिक्षाचर्या करें । (दीयमान वस्तु से दाता के हाथ बर्तन आदि संसृष्ट हों तो) उसी संसृष्ट (हाथ और पात्र) से साधु भिक्षा लेने का यत्न करे ।।६।।

[५६६] साधु मद्य और मांस का अभोजी हो, अमत्सरी हो, बार-बार विकृतियों (दूध, दही आदि विगइयों) को सेवन न करने वाला हो, बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए (विहित तपरूप) योगोद्वहन में प्रयत्नशील हो ।।७।।

[५६७] (साधु मासकल्पादि की समाप्ति पर उस स्थान से विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी) प्रतिज्ञा न दिलाए कि यह शयन (संस्तारक-बिछौना या शयनीय पट्टा, चौकी आदि), आसन, शय्या (उपाश्रय या स्थानक आदि वसति), निषद्या (स्वाध्यायभूमि) तथा भक्त-पान (आहार-पानी) आदि (जब मैं लौट कर आऊँ, तब मुझे ही देना । अतएव साधु) किसी ग्राम, नगर, कुल या देश पर, (यहाँ तक कि) किसी भी स्थान पर ममत्वभाव न करे ।।८।।

[५६८] मुनि गृहस्थ का वैयावृत्य न करे (तथा गृहस्थ का) अभिवादन, वन्दन और पूजन भी न करे । मुनि संक्लेशरहित साधुओं के साथ रहे, जिससे (चारित्रादि गुणों की) हानि न हो ।।९।।

[५६९] कदाचित् (अपने से) गुणों में अधिक अथवा गुणों में समान निपुण सहायक (साथी) साधु न मिले तो पापकर्मों को वर्जित करता हुआ, कामभोगों में अनासक्त रहकर अकेला ही विहार (विचरण) करे ।।१०।।

[५७०] वर्षाकाल में चार मास और अन्य ऋतुओं में एक मास रहने का उत्कृष्ट प्रमाण है । (अतः जहाँ चातुर्मास—वर्षावास किया हो, अथवा मासकल्प किया हो) वहाँ दूसरे वर्ष (चातुर्मास अथवा दूसरे मासकल्प) नहीं रहना चाहिए । सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे, भिक्षु उसी प्रकार सूत्र के मार्ग से चले ।।११।।

विवेचन—आहार-विहार आदि की विवेकयुक्त चर्या के सूत्र—भिक्षाजीवी, अप्रतिबद्ध-विहारी, पंचमहाव्रती, अनासक्त एवं निर्ग्रन्थ साधु की आहार, विहार, भिक्षा, निवास, व्यवहार, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि से सम्बन्धित जितनी भी चर्याएँ हैं, वे पूर्णविवेक से युक्त एवं शास्त्रोक्त मर्यादा-पूर्वक हों, इस दृष्टि से इन सात गाथाओं (५६४ से ५७० तक) में प्रशस्त विहारचर्या का रूप प्रस्तुत किया गया है ।

प्रशस्त विहारचर्या के विभिन्न सूत्रों की व्याख्या—(१) अणिएयवासो : दो रूप, तीन अर्थ—अनिकेतवास—निकेत का अर्थ घर है । अर्थात्—भिक्षु को किसी गृहस्थ के घर में नहीं रहना चाहिए । इसका फलितार्थ यह है कि उसे स्त्री-पशु-नपुंसक आदि से युक्त गृहस्थ के घर में न रह कर

एकान्त, उद्यान, उपाश्रय, स्थानक या शून्यगृह आदि में रहना चाहिए। ब्रह्मचर्यसुगुप्ति की दृष्टि से भी 'विविक्तशय्या' आवश्यक है।

अनिकेतवास का अर्थ—गृहत्याग भी है। **अनियतवास**—बिना किसी रोगादि कारण के सदा एक ही नियतस्थान में नहीं रहना। एक ही स्थान पर अधिक रहने से ममत्वभाव का उदय होता है। (२) **समुयाणचरिया : आशय**—भिक्षाचर्या उच्च-नीच-मध्यम सभी कुलों से—अनेक घरों से सामुदायिक रूप से करनी चाहिए, क्योंकि एक ही घर से आहार-पानी लेने से औद्देशिक आदि दोष लगने की संभावना है। (३) **अन्नाय-उंछं**—पूर्वपरिचित पितृपक्ष और पश्चात्परिचित श्वसुरपक्ष आदि से भिक्षा न लेकर अपरिचित कुलों से प्राप्त भिक्षा। (४) **पाइरिक्कया-प्रतिरिक्तता**—एकान्तस्थान में निवास, आशय यह है—जहाँ स्त्री-पुरुष, पशु या नपुंसक रहते हों वहाँ या भीड़भाड़ वाले स्थान में न रहना। (५) **अप्पोवही—अल्प उपधि रखना**—वस्त्रादि धर्मोपकरण कम रखना। अल्प-उपधि से प्रतिलेखन करने में समय कम लगता है, ममत्वभाव भी घटता है और परिग्रहवृद्धि नहीं होती। (६) **कलह-विवज्जणा : कलहवर्जन**—कलह से शान्ति भंग होती है, रागद्वेषवृद्धि, कर्मबन्ध तथा लोगों में धर्म के प्रति घृणाभाव होता है। **विहारचर्या : भावार्थ**—विहारचर्या का अर्थ यहाँ टीका और जिनदासचूर्णि में मासकल्पादि पादविहार की चर्या किया है, किन्तु अगस्त्यचूर्णि के अनुसार विहारचर्या यहाँ समस्तचर्या—साधु की क्रिया मात्र का संग्राहक है। (७) **आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा—आकीर्ण-अवमान-विवर्जना** : आकीर्ण और अवमान, ये दो प्रकार के भोज हैं। आकीर्ण भोज वह है, जिसमें बहुत भीड़ हो। आकीर्ण भोज में अत्यधिक जनसमूह होने से साधु को धक्का-मुक्की होने के कारण हाथ-पैर आदि में चोट लगने की संभावना है। अनेक स्त्री-पुरुषों के यातायात से मार्ग खचाखच भरा होने से स्त्री आदि का संघट्टा हो सकता है। **अवमानभोज** वह है, जिसमें गणना से अधिक खाने वालों की उपस्थिति होने से भोजन कम पड़ जाए। अवमानभोज से भोजन लेने पर भोजकार को अतिथियों के लिए दुबारा भोजन बनाना पड़ता है, अथवा भोजकार साधु को भोजन देने से इन्कार कर देता है, अथवा स्वपरपक्ष की ओर से अपमान होने की सम्भावना है। अनेक दोषों की संभावना के कारण आकीर्ण और अवमान भोज में जाना साधु के लिए वर्जित है।[७] (८) **ओसन्न-दिट्ठाहड-भत्तपाणे—उत्सन्न-दृष्टाहृत-भक्तपान**—उत्सन्न का अर्थ है—प्राय:। दिट्ठाहड का अर्थ है—दृष्टस्थान से लाए हुए आहार-पानी को ग्रहण करना। इसकी मर्यादा यह है कि तीन घरों के अन्तर से लाया हुआ आहार-पानी हो, वह ग्रहण करे, उससे आगे का नहीं। जहाँ से आहार-पानी दाता द्वारा लाया जाता है, उसे देखने के दो प्रयोजन हैं—(१) गृहस्थ अपनी आवश्यकता की वस्तु तो नहीं दे रहा है? (२) वह आहार किसी दोष से युक्त तो नहीं है? (९) **संसट्ठकप्पेण-इत्यादि पंक्ति का भावार्थ**—अचित्त वस्तु से लिप्त हाथ और भाजन (बर्तन) से आहार लेना संसृष्टकल्प कहलाता है। क्योंकि यदि दाता सचित्त जल से हाथ और बर्तन को धोकर भिक्षा देता है, तो पुराकर्म दोष और यदि वह देने के तुरंत बाद बर्तन या हाथ धोता है तो पश्चात्कर्मदोष लगता है और सचित्त वस्तु से संसृष्ट हाथ और बर्तन से देता है तो जीव की विराधना का दोष लगता है। इसलिए आगे कहा गया है—हाथ और पात्र तज्जातसंसृष्ट हों उसी से आहार-पानी लेने का प्रयत्न करना चाहिए। तज्जात का अर्थ है—देयवस्तु के समानजातीय वस्तु से लिप्त।[८]

---

७. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. १०४४

८. (क) आइण्णमि अच्चत्थं आइन्नं राजकुल-संखडिमाइ, तत्थ महाजण-विमद्दो पविसमाणस्स हत्थपादादिलूसण-

उत्तरगुणरूप चारित्र की चर्या—(१) **अमज्जमंसासिणो—अमद्य-मांसाशी**—साधु मद्य और मांस का सेवन न करे, क्योंकि दोनों पदार्थ अनेक जीवों की उत्पत्ति और विनाश के कारण हैं तथा इनसे बुद्धि भ्रष्ट होती है। (२) **अमच्छरी—अमत्सरी**—किसी से मत्सर—डाह या ईर्ष्या न करने वाला हो। (३) **अभिक्खणं निव्विगइं गया**—बार-बार विकृतिकारक घी, दूध, मिष्टान्न आदि पौष्टिक पदार्थों के सेवन से मादकता, आलस्य, मतिमन्दता आदि की वृद्धि होती है, रसलोलुपता जागती है। (४) **अभिक्खणं काउसग्गकारी**—प्रतिदिन पुनः-पुनः कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग से शरीर के प्रति ममत्व घटता है, देहाध्यास घटाने का अभ्यास होता है, शरीर से सम्बन्धित चिन्ताएँ नहीं सतातीं। ध्यान से आत्मिक शक्ति, मनोबल एवं आत्मशुद्धि होती है। (५) **सज्झायजोगे पयओ-हवेज्जा**—स्वाध्याय और उसके योगोद्वहन में प्रयत्नशील हो। स्वाध्याय से ज्ञानवृद्धि, आत्मविकास एवं आत्मशुद्धि के लिए चिन्तन-मनन-आलोचन आदि की जागृति होती है। चित्त में स्थिरता, समता और वीतरागता का भाव जागता है। स्वाध्याय के साथ योग अर्थात् योगोद्वहन—आचाम्ल आदि का एक विशेष तपोऽनुष्ठान आवश्यक है। इससे बौद्धिक निर्मलता, आत्मशुद्धि और चित्त की स्थिरता बढ़ती है, इन्द्रियाँ दुर्विषयों की ओर प्रायः नहीं दौड़तीं।[९] (६) **ण पडिन्नविज्जा इत्यादि गाथा** का निष्कर्ष यह है कि साधु किसी भी खाद्यवस्तु, उपकरण, शय्या, आसन, स्थान, देश, नगर, ग्राम आदि में ममता-मूर्च्छा, आसक्ति या लालसा न रखे, अन्यथा ममत्व भाव से परिग्रहमहाव्रत भंग हो जाएगा।[१०] (७) **गिहिणो वेयावडियं आदि पंक्ति का रहस्य**—मुनि को किसी भी गृहस्थ का वैयावृत्य (प्रीतिजनक उपकार—उसका व्यापार आदि कार्य) करना, या उसकी सेवाभक्ति करना तथा अभिवादन, वन्दन, पूजन करना नहीं चाहिए। इससे गृहस्थ के साथ अत्यधिक संसर्ग बढ़ता है। (८) **असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा : आशय**—जो मुनि सब प्रकार से संक्लेशों से रहित हैं, उत्कृष्ट-चारित्री हैं, उन्हीं के साथ या संसर्ग में रहना चाहिए, जिससे ज्ञानादि गुणों की वृद्धि हो, हानि न हो।[११] (९) **निपुण साथी न मिलने पर एकाकी विहार का निर्देश**—प्रस्तुत गाथा (५६९) का तात्पर्य यह है कि कदाचित् काल-दोषवश अथवा गुरु या साथी साधु के वियोग के कारण संयमानुष्ठान में कुशल, परलोकसाधन में सहायक, अपने से ज्ञानादि गुणों में अधिक या समान कोई मुनि साथी के रूप में न मिले तो मुनि को अकेले विचरण करना उचित है, किन्तु भूल कर भी शिथिलाचारी, संक्लेशी,

---

भाणभेदाई दोसा।....ओमाण-विवज्जणं नाम अवमं-ऊणं अवमाणं, ओमो वा मोणा जत्थ संभवइ तं ओमाणं। —जि. चू., पृ. ३७१

(ख) अवमानं स्वपक्ष-परपक्षप्राभृत्यजं लोकाबहुमानादि....अवमाने अलाभाधाधाकर्मादिदोषात्। इदं चोतसन्न-दृष्टाहृतं यत्रोपयोगः शुद्धयति त्रिगृहान्तरादारात इत्यर्थः। —हा. वृ., पत्र २८

(ग) दशवै. (संतबालजी), पृ. १५९

(घ) तज्जायसंसट्ठमिति जातसद्दो प्रकारवाची, तज्जातं तथाप्रकारं। —अ. चू.

(ङ) तज्जातेन देयद्रव्याऽविरोधिना यत्संसृष्टं हस्तादि। —स्था. ५।१ वृत्ति।

(च) दसवेयालियं (मु. नथ.), पृ. ५२८

९. दशवैकालिक (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. १०४८

१०. वही, पृ. १०५०

११. वही, पृ. १०५१।

प्रपंची या भ्रष्टाचारी साधु के साथ नहीं रहना या विचरना चाहिए, क्योंकि शिथिलाचारी के साथ रहने से चारित्रधर्म की हानि, समाज में अप्रतीति, अप्रतिष्ठा, अश्रद्धा उत्पन्न होती है। अयोग्य साधु के साथ रहने से हानि ही हानि है। परन्तु एकाकी विचरण करने वाले मुनि के लिए दो बातें शास्त्रकारों ने अंकित की हैं—(१) कठिन से कठिन संकट-प्रसंग में भी पापकर्मों से दूर रहे, उनका स्पर्श न होने दे तथा (२) काम-भोगों के प्रति जरा भी आसक्ति न रखे। इस गाथा में आपवादिक स्थिति में अकेले विचरण की चर्चा है। जो साधु रसलोलुप, सुविधावादी, निरंकुश या अपनी उग्रप्रकृतिवश स्वच्छन्दाचारी होकर आचार्य के अनुशासन की अवहेलना करके अकेले विचरण करते हैं, उनके लिए शास्त्रकार अकेले विचरण की आज्ञा नहीं दे रहे हैं। एकाकी विचरण की कठिन शर्तों के साथ उसकी अवधि भी अल्प ही है, वह भी तब तक जब तक वैसा निपुण सहायक-साथी न मिले।[१२] (१०) **चातुर्मास एवं मासकल्प में निवास की चर्या**—प्रस्तुत ५७० वीं गाथा में चातुर्मास एवं मासकल्प की मर्यादा बताई है। मुनि के लिए वर्ष भर के काल को दो भागों में बाँटा गया है—चातुर्मास्यकाल एवं ऋतुबद्धकाल। इसीलिए यहाँ उसे 'संवच्छर' (संवत्सर) कहा गया है। मुनि चातुर्मास्यकाल में ४ मास और शेष ८ मास के ऋतुबद्धकाल में उत्कृष्ट १-१ मास तक एक स्थान पर रहता है। यहाँ बतलाया गया है कि जहाँ उत्कृष्ट काल तक वास किया हो, वहाँ दूसरी या तीसरी बार वास नहीं करना चाहिए। तीसरी बार का यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु 'चकार' के द्वारा यह अर्थ अध्याहृत होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ मुनि चातुर्मास करे, वहाँ दो चातुर्मास अन्यत्र किये बिना चातुर्मास न करे और जहाँ मुनि एक मास रहे, वहाँ दो मास अन्यत्र बिताए बिना न रहे।[१३] (११) **सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज०** इत्यादि। **पंक्ति का भावार्थ**—यहाँ तक सूत्रोक्त उत्सर्ग और अपवाद को दृष्टि में रख कर साधुवर्ग की विशिष्ट विविक्तचर्या का उल्लेख किया गया है। फिर भी अनेक चर्याओं का यहाँ उल्लेख नहीं है। उनके विषय में अतिदेश करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—शेष चर्याओं के विषय में सूत्र में उत्सर्ग और अपवादरूप अर्थ (चर्या) की जिस प्रकार से आज्ञा हो, उसी प्रकार से सूत्रोक्तमार्ग से चलना चाहिए, स्वच्छन्द वृत्ति के अनुसार नहीं, क्योंकि सूत्रोक्त मार्ग से चलने वाला साधु आज्ञा का आराधक होता है। सूत्र के भावों को सम्यक् प्रकार से सोच-समझ कर जो साधु-साध्वी चलते हैं,[१४] वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार मुख्य विविक्तचर्याओं के सम्बन्ध में यहां तक चर्चा की गई है।

एकान्त आत्मविचारणा के रूप में विविक्तचर्या

५७१. जो पुव्वरत्तावरत्तकाले,
संपेक्खई+ अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं, किं च मे किच्चसेसं?
किं सक्कणिज्जं न समायरामि? ॥ १२ ॥

---

१२. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. १०५३-५४ (ख) दसवे. (मु. नथ.), पृ. ५३०

१३. दसवे. (मुनि नथमलजी), पृ. ५३१

१४. दशवै. (आ. आत्माराजी म.), पृ. १०५५

+ पाठान्तर—संपेहए, संपेहइ, संपिक्खइ।

५७२. किं मे परो पासइ, किं* व अप्पा ?
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि ?
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ।। १३ ।।

५७३. जत्थेव पासे कई दुप्पउत्तं,
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा,+
आइन्नओ† खिप्पमिव क्खलीणं ।। १४ ।।

५७४. जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स,
धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी,
सो जीवइ☐ संजय-जीविएणं ।। १५ ।।

५७५. अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ।। १६ ।।
—त्ति बेमि ।।

विवित्तचरिया : बिइया चूलिया समत्ता

[बारसमं विवित्तचरिया णामऽज्झयणं समत्तं]

।। दसवेयालियं समत्तं ।।

[५७१-५७२] जो साधु रात्रि के प्रथम प्रहर और पिछले (अन्तिम) प्रहर में अपनी आत्मा का अपनी आत्मा द्वारा सम्प्रेक्षण (सम्यक् अन्तर्निरीक्षण) करता है कि—मैंने क्या (कौन-सा करने योग्य कृत्य) किया है ? मेरे लिए क्या (कौन-सा) कृत्य शेष रहा है ? वह कौन-सा कार्य है, जो मेरे द्वारा शक्य है, किन्तु मैं (प्रमादवश) नहीं कर रहा हूँ ? ।।१२।।

क्या मेरी स्खलना (भूल या प्रमाद) को दूसरा कोई देखता है ? अथवा क्या अपनी भूल को मैं स्वयं देखता हूँ ? अथवा कौन-सी स्खलना मैं नहीं त्याग रहा हूँ ? इस प्रकार आत्मा का सम्यक् अनुप्रेक्षण (अन्तर्निरीक्षण) करता हुआ मुनि अनागत (भविष्यकाल) में (किसी प्रकार का दोषात्मक) प्रतिबन्ध न करे ।।१३।।

पाठान्तर— * च । + पडिसाहरिज्जा । † आइण्णो । ☐ जीअइ ।

[५७३] जहाँ (प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि जिस क्रिया में) भी तन से, वाणी से अथवा मन से (अपने आपको) दुष्प्रयुक्त (प्रमादपूर्वक-प्रवृत्त) देखे, वहीं (उसी क्रिया में) धीर (साधक स्वयं शीघ्र) संभल जाए, जैसे जातिमान् अश्व लगाम खींचते ही शीघ्र संभल जाता है ।।१४।।

[५७४] जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग (मन-वचन-काया का योग) सदा इस प्रकार के रहते हैं, उसे लोक में प्रतिबुद्धजीवी कहते हैं। वह प्रतिबुद्धजीवी ही (वास्तव में) संयमी जीवनयापन करता है ।।१५।।

[५७५] समस्त इन्द्रियों को सुसमाहित करके आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए, (क्योंकि) अरक्षित आत्मा जातिपथ (जन्म-मरण-परम्परा) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।।१६।। —ऐसा मैं कहता हूँ ।।

विवेचन—आत्मानुशासन—चर्या के सूत्र—प्रस्तुत पांच गाथाओं (५७१ से ५७५ तक) में आत्मा का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने तथा अपने मन-वचन-काया को आत्मा के अनुशासन में रखने और आत्मा की सब प्रकार से सदैव सतत रक्षा करने का निर्देश किया गया है।

आत्मनिरीक्षण—आत्मार्थी मुनि शान्त चित्त से रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में अन्तर की गहराई में डूब कर एकान्त में, अकेले में, केवल अपनी आत्मा के साथ वार्तालाप करे—मैं कौन हूँ ? मैंने इस जीवन में अथवा आज कौन-कौन-से शुभकार्य किये हैं ? तप, जप, सेवा, ध्यान, आदि कौन-कौन-से कार्य करने बाकी हैं ? तथा ऐसे कौन-कौन-से शुभकार्य हैं, जिनके करने की मुझ में शक्ति तो है, किन्तु मैं प्रमादवश उन्हें क्रियान्वित नहीं कर रहा हूँ ? इसके पश्चात् एकाग्र होकर फिर विचार करे कि मैं अपने गृहीत व्रतों, नियमोपनियमों तथा संयमाचार की मर्यादाओं से स्खलित होता हूँ, तब स्व-पर-पक्ष के लोग मुझे किस दृष्टि से देखते हैं ? तथा इस आत्मकल्याण के पक्ष से स्खलित होने पर क्या मैं अपने आपका अन्तर्निरीक्षण करता हूँ ? यह कार्य करना मेरे लिए उचित नहीं है, क्या मैं इस प्रकार से विचार करता हूँ ? और अपनी भूल या स्खलना को छोड़ देता हूँ ? अथवा कौन-सी ऐसी स्खलना या त्रुटि है, जिसे मैं छोड़ नहीं रहा हूँ ? मेरी असमर्थता का क्या कारण है ? इस प्रकार से साधु-साध्वी प्रतिदिन नियमित रूप से अपना अन्तर्निरीक्षण करें। ऐसा करने से आत्मशक्ति एवं स्वकर्त्तव्य का भान होता है, भ्रम का पर्दा दूर होता है, आलस्य एवं प्रमाद के स्थान पर पुरुषार्थ एवं आत्मजागरण बढ़ता है तथा पाप-मल दूर होने से निजात्मा की शुद्धि होती है, आत्मशक्ति बढ़ती है और अन्त में संसार की जन्ममरणपरम्परा से मुक्ति मिलती है। आत्मनिरीक्षण करने के पश्चात् मनुष्य अपनी भूल को सुधारने के लिए भी प्रयत्नशील होता है। अत्यन्त सावधानी से अपनी सूक्ष्म से सूक्ष्म भूल का भी विचार करने से भविष्य में किसी प्रकार का दोष न लगाने या वैसी भूल न करने की सावधानी रखता है। अथवा '**अणागयं पडिबंधं न कुज्जा**' का भावार्थ यह भी हो सकता है कि वह अपने दोषों (भूलों) को तत्काल सुधारने में लग जाए, भविष्य पर न टाले कि मैं इस भूल को कल, परसों या महीने बाद सुधार लूंगा। यही 'अनागत प्रतिबन्ध न करे' का आशय प्रतीत होता है। जब कभी कोई भूल हो, उसे उसी दिन या शीघ्र ही स्मरण करके उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे तथा भविष्य में वैसी भूल न करने

के लिए सावधान रहे। स्खलित होना बुरा है किन्तु इससे भी बुरा है स्खलित होकर फिर संभलने की चेष्टा न करना। इसीलिए अगली गाथा (५७३) में इसी प्रकार की प्रेरणा दी गई है कि मन-वचन-काया से जिस किसी विषय में अपने-आप को कुमार्ग पर जाता हुआ देखे कि धैर्यवान् साधक तुरंत अपने-आप को पीछे हटा ले, शीघ्र ही स्वयं संभल जाए। जिस प्रकार जातिमान घोड़ा लगाम खींचते ही विपरीत मार्ग से पीछे हट जाता है, संभल कर सन्मार्ग पर चलने लगता है।[१५]

प्रतिबुद्धजीवी : लक्षण और उपाय—गाथा. ५७५ में यह बताया गया है कि जो स्पर्श आदि पांचों इन्द्रियों को अपने वश में करके जितेन्द्रिय बन गया है तथा हृदय में संयम के प्रति अदम्य धैर्य से युक्त है तथा जिसके मन, वचन और काययोग सदैव वश में रहते हैं, जो सतत अप्रमत्त रहकर अपने-आप को त्रियोग में से किसी योग से स्खलित होता हुआ देखता है तो शीघ्र ही संभल जाता है और उस दोष से अपने को पृथक् कर लेता है। यही प्रतिबुद्धजीवी का लक्षण है, जो भारण्डपक्षी की तरह सदैव अप्रमत्त रहता है तथा सदैव संयमी जीवन जीता है।[१६]

आत्म-रक्षाचर्या—गाथा ५७५ में आत्मा की सतत रक्षा करने का निर्देश किया है। कुछ लोग देहरक्षा को मुख्य मानते हैं। उनका मानना है कि आत्मा की परवाह न करके भी शरीर की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि शरीर आत्मसाधना करने का साधन है। किन्तु यहाँ इस मान्यता का खण्डन करके आत्मरक्षा को ही सर्वोपरि माना है। साधु-साध्वी को महाव्रत के ग्रहणकाल से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रतिक्षण प्रतिपल सावधानीपूर्वक सदैव आत्मरक्षा में लगे रहना चाहिये। प्रश्न हो सकता है—आत्मा तो कभी मरती नहीं, फिर उसकी रक्षा का विधान क्यों? इसका उत्तर आचार्यों ने स्पष्टतः दिया है कि यहाँ आत्मा से ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा का अथवा संयमात्मा (संयमीजीवन) का ग्रहण अभीष्ट है। ज्ञानात्मा आदि की, अथवा संयमात्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। संयमात्मा की रक्षा क्यों करनी चाहिए? इसका उत्तर है—सुरक्षित की हुई आत्मा ही शारीरिक एवं मानसिक समस्त दुःखों से मुक्त होकर अनन्त मोक्षसुख को प्राप्त होती है। इसके विपरीत जो आत्मा अरक्षित रहती है, वह एकेन्द्रिय आदि नानाविध जातियों (जन्म-मरण) के पथ की पथिक बनती है, जहाँ वह अनेकानेक असह्य दुःख भोगती है। आत्मरक्षा होती है—समस्त इन्द्रियों को सुसमाहित करने से अर्थात्—उनकी बहिर्मुखी (विषयोन्मुखी) वृत्ति को रोक कर, इन्द्रियों के विषय-विकारों से निवृत्त होकर आत्मा की परिचर्या में समाहित—एकाग्र करने से।[१७]

॥ विविक्तचर्या : द्वितीय चूलिका समाप्त ॥

[बारहवाँ : विविक्तचर्या नामक अध्ययन समाप्त]

॥ दशवैकालिक सूत्र सम्पूर्ण ॥

---

१५. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.) पृ. १०५७ से १०६० के आधार पर।

१६. वही, पृ. १०६१-१०६२

१७. (क) दसवेयालियं, (मुनि नथमलजी) पृ. (ख) दशवै. (आ. आत्मा.) पृ. १०६३

दशवैकालिकसूत्र का सूत्रानुक्रम

× इस चिह्न से अंकित सूत्र गद्य-पाठात्मक है।

+ ये गाथाएँ अधिकपाठात्मक हैं। —सं.

× इस चिह्न से अंकित सूत्र गद्य-पाठात्मक है।

× इस चिह्न से अंकित सूत्र गद्यपाठात्मक है।

※ इस चिह्न से अंकित सूत्र 'अधिक पाठ' के रूप में समझें। —सं.

* ऐसे चिह्न से अंकित सूत्र अधिक पाठात्मक है। —सं.

+ इस चिह्न से अंकित सूत्र अधिकपाठात्मक, तथा

× इस चिह्न से अंकित सूत्र गद्यपाठात्मक समझने चाहिये। —सं.

+ इस चिह्न से अंकित सूत्र अधिकपाठात्मक, तथा
× इस चिह्न से अंकित सूत्र गद्यपाठात्मक समझने चाहिए। —सं.

+ इस चिह्न से अंकित गद्यपाठात्मक समझें। —सं.

□

कथा, दृष्टान्त उदाहरण

(१) सहजनिष्पन्न भिक्षा से निर्वाह करेंगे

(वयं च वित्ति लब्भामो०)

एक श्रमण भिक्षा के लिए किसी नव-भक्त के घर पहुँचे। गृहस्वामी ने वन्दना करके आहारग्रहण करने की भक्तिभावपूर्वक प्रार्थना की। श्रमण ने पूछा—'यह भोजन हमारे लिए तो नहीं बनाया ?' गृहपति ने सहमते हुए कहा—'इससे आपको क्या ? आप तो भोजन ग्रहण कीजिए।' श्रमण ने कहा—'ऐसा नहीं हो सकता। हम अपने निमित्त बना हुआ (औद्देशिक) आहार ग्रहण नहीं कर सकते!'

गृहपति—'उद्दिष्ट आहार लेने में क्या हानि है ?'

श्रमण—'औद्देशिक आहार लेने से श्रमण त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के पाप का भागी होता है।'

गृहस्वामी—'तो फिर आप अपना जीवननिर्वाह कैसे करेंगे ?'

श्रमण—'हम गृहस्थ के यहाँ उसके अपने परिवार के उपभोग के लिए सहज निष्पन्न (यथाकृत) आहार लेंगे और उस निर्दोष भिक्षा से प्राप्त आहार से अपना निर्वाह करेंगे।'

—दशवै. अ. १, गा. ४ चूर्णि

(२) पद-पद पर विषादग्रस्त

(पए-पए विसीयंतो०)

कोंकणदेशीय एक वृद्ध साधु ने एक लड़के को दीक्षा दी। वृद्ध साधु का अपने शिष्य पर अतीव मोह था। एक दिन शिष्य उद्विग्न होते हुए कहने लगा—'गुरुजी ! बिना पगरखी के मुझ से चला नहीं जाता।' वृद्ध ने अनुकम्पावश उसे पगरखी पहनने की छूट दे दी। एक दिन शिष्य ने ठंड से पैर फटने की शिकायत की, तो वृद्ध ने मोजे पहनने की स्वीकृति दे दी। शिष्य की मांग हुई कि 'मेरा सिर गर्मी से तप जाता है, अतः सिर ढंकने के लिए वस्त्र चाहिए।' वृद्ध ने उसे सिर पर कपड़ा ढंकने की छूट दे दी। अब क्या था ? एक दिन वह बोला—'मेरे से भिक्षा के लिए घर-घर घूमा नहीं जाता!' वृद्ध स्वयं आहार लाकर देने लगा। फिर कहने लगा—'जमीन पर सोया नहीं जाता।' इस पर वृद्ध ने बिछौना बिछाने की छूट दे दी। तब बोला—'लोच मुझ से नहीं होगा और न मैं नहाए बिना रह सकूंगा!' वृद्ध ने उसे क्षुरमुण्डन कराने और प्रासुक पानी से नहाने की आज्ञा

दे दी । शिष्य गुरु के अत्यन्त स्नेहवश प्रत्येक बात में छूट मिलती देख एक दिन बोला—'गुरुजी ! अब मैं स्त्री के बिना नहीं रह सकता !' गुरु ने उसे अयोग्य और सुविधालोलुप जान कर अपने आश्रय से दूर कर दिया । सच है, कामनाओं के वशीभूत व्यक्ति बात-बात में शिथिल होकर सुकुमारतावश श्रमणत्व से भ्रष्ट हो जाता है ।

—दशवै. अ. २, गा. १, हारि. वृत्ति, पत्र ८९

(३) परवशतावश त्यागी, त्यागी नहीं

(अच्छंदा जे न भुंजंति०)

नन्द के अमात्य सुबन्धु ने चन्द्रगुप्त को प्रसन्न करने के लिए एक दिन अवसर देख कर कहा—'मैं धनलिप्सु नहीं, कर्त्तव्यपरायण हूँ, अतः आपके हित की दृष्टि से कहता हूँ कि आपकी मां को चाणक्य ने मार डाला है !' चन्द्रगुप्त ने अपनी धाय से पूछा तो उसने भी इसका समर्थन किया । जब चाणक्य चन्द्रगुप्त के पास आया तो उसने उपेक्षाभाव से देखा । चाणक्य समझ गया कि राजा मुझ पर अप्रसन्न है और सम्भव है, मुझे बुरी मौत मरवाए । चाणक्य ने घर आकर अपनी सारी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रों में बांट दी । तत्पश्चात् उसने गन्धचूर्ण एकत्रित करके एक पत्र लिखा । उसे एक के बाद एक क्रमशः चार मंजूषाओं में रखा । उक्त मंजूषाओं को गन्धप्रकोष्ठ में रख कर कीलों से जड़ दिया । तत्पश्चात् वन में जाकर इंगिनीमरण अनशन धारण कर लिया ।

राजा को यह बात विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुई तो वह पश्चात्ताप करने लगा । अन्तःपुर सहित राजा चाणक्य से क्षमा मांग कर उसे वापस राज्य में लौटा ले आने के लिए वन में पहुंचा । चाणक्य से निवेदन करने पर वह बोला—'अब मैं नहीं लौट सकता । मैंने धन-वैभव, आहारादि सभी कुछ त्याग दिया है ।'

चन्द्रगुप्त नृप से अवसर देखकर सुबन्धु बोला—'आपकी आज्ञा हो तो मैं इसकी पूजा करूं ?' राजा की स्वीकृति पाकर सुबन्धु ने चाणक्य की पूजा के बहाने धूप जलाया और उसे उपलों पर फेंक दिया, जिससे आग की लपटें उठीं और चाणक्य वहीं जल कर भस्म हो गया ।

सुबन्धु ने राजा को प्रसन्न कर चाणक्य का घर और गृहसामग्री मांग ली । चाणक्य के घर में गन्धप्रकोष्ठ में रखी हुई मंजूषा देखी । कुतूहलवश खोली, तो उसमें एक सुगन्धित पत्र मिला । उसमें लिखा था—"जो इस सुगन्धित चूर्ण को सूंघेगा, फिर स्नान करके वस्त्राभूषण धारण करेगा, शीतल जल पीएगा, गुदगुदी शय्या पर सोयेगा, यान पर चढ़ेगा, गन्धर्वगीत सुनेगा और इसी तरह विभिन्न मनोज्ञ विषयों का सेवन करेगा, साधु की तरह नहीं रहेगा, वह शीघ्र ही मरण-शरण होगा किन्तु जो इन सबसे विरत होकर साधु की तरह रहेगा, वह नहीं मरेगा ।" यह पढ़ कर सुबन्धु चौंका । उसने दूसरे मनुष्य को गन्धचूर्ण सुंघा कर तथा मनोज्ञ विषयभोग सामग्री का सेवन करा कर इस बात की यथार्थता की जांच की । सचमुच, वह भोगासक्त मनुष्य मर गया । अतः जीवनलालसावश सुबन्धु अनिच्छापूर्वक साधु की तरह रहने लगा ।

जैसे मृत्युभयवश अनिच्छापूर्वक भोगसामग्री त्याग कर साधु की तरह रहने वाला सुबन्धु त्यागी साधु नहीं कहा जा सकता, वैसे ही परवशता के कारण भोगों को न भोगने वाला भी त्यागी साधु नहीं कहा जा सकता ।

—दशवै. अ. २, गा. २, चूर्णिद्वय एवं हारि. वृत्ति

(४) 'कान्त' और 'प्रिय' का स्पष्टीकरण

(जे य कंते पिए भोए०)

इस विषय में गुरु-शिष्य का एक संवाद है—

शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव ! जो कान्त होते हैं, वे प्रिय होते ही हैं, फिर एक साथ यहाँ दो विशेषण क्यों ?'

गुरु—'आयुष्मन् ! (१) कोई पदार्थ कान्त होता है, पर प्रिय नहीं होता, (२) कोई प्रिय होता है, कान्त नहीं, (३) कोई पदार्थ प्रिय भी होता है और कान्त भी तथा (४) कोई पदार्थ न प्रिय होता है और न कान्त।'

शिष्य—'गुरुवर ! ऐसा होने का कारण क्या है ?'

गुरु—'शिष्य ! जो पदार्थ कान्त हो, वह प्रिय हो ही, ऐसा नियम नहीं है। किसी व्यक्ति को कान्त पदार्थ में प्रियबुद्धि होती है, किसी को अकान्त में भी प्रियबुद्धि उत्पन्न होती है। एक वस्तु एक व्यक्ति को कान्त लगती है, वही दूसरे को अकान्त लगती है। क्रोध, असहिष्णुता, अकृतज्ञता और मिथ्यात्वाभिनिवेश आदि कारणों से व्यक्ति किसी में विद्यमान गुणों को नहीं देख पाता, वह उसमें अविद्यमान दोषों को ढूंढने लगता है। इस प्रकार कान्त में उसकी अकान्तबुद्धि हो जाती है।

इसलिए 'कान्त' और 'प्रिय' भोग के ये दोनों विशेषण सार्थक हैं। कान्त का अर्थ रमणीय है और प्रिय का अर्थ है—इष्ट। अथवा कान्त का अर्थ है—सहज सुन्दर और प्रिय का अर्थ है—अभिप्रायकृत सुन्दर।'

—दशवै. अ. २, गा. ३, जिनदास चूर्णि

(५) स्वेच्छा से तीन साररत्नों का त्यागी भी त्यागी है

(साहीणे चयइ भोए०)

इस विषय में एक शंका प्रस्तुत करके आचार्यश्री एक दृष्टान्त द्वारा उसका समाधान करते हैं—

शिष्य ने पूछा—'पूज्यवर ! यदि भरत और जम्बू जैसे स्वाधीन भोगों का त्याग करने वाले ही त्यागी हैं, तो क्या निर्धन दशा में प्रव्रजित होकर अहिंसा आदि महाव्रतों तथा दशविध श्रमणधर्म का सम्यक् पालन करने वाले त्यागी नहीं हैं ?'

आचार्य—'ऐसे श्रमणधर्म में दीक्षित व्यक्ति भी दीन-हीन नहीं हैं, वे भी तीन सारभूतरत्नों का स्वेच्छा से परित्याग कर दीक्षा लेते हैं, अतः वे भी त्यागी हैं।'

शिष्य—'गुरुदेव ! वे तीन सारभूतरत्न कौन-से हैं ?'

आचार्य—'लोक में अग्नि, सचित्त जल और महिला, ये तीन साररत्न हैं। इनका स्वेच्छा से बिना किसी दबाव के परित्याग करके प्रव्रजित होना अतीव दुष्कर है। इन तीनों साररत्नों के त्यागी को, त्यागी न समझना भयंकर भूल है।'

शिष्य—'किसी उदाहरण द्वारा इसे समझाइए।'

गुरुदेव—'पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी के पास एक लकड़हारे ने राजगृही में दीक्षा ली। दीक्षित होकर वह साधु जब राजगृही में भिक्षा के लिए घूमता तो कुछ धनोन्मत्त लोग उसे ताने मारते—'देखोजी! यह वही लकड़हारा है, जो सुधर्मास्वामी के पास प्रव्रजित हो गया है। साधु बार-बार लोगों की व्यंग्योक्ति सुनकर तिलमिला उठा। उसने गणधर सुधर्मास्वामी से कहा—'अब मुझसे ये ताने नहीं सहे जाते। इसलिए अच्छा हो कि आप मुझे अन्यत्र ले पधारें।' आचार्यश्री ने अभयकुमार से कहा—'हमारा अन्यत्र विहार करने का भाव है।' अभयकुमार ने पूछा—'क्यों पूज्यवर! क्या यह क्षेत्र मासकल्पयोग्य नहीं, जो आप इतने शीघ्र ही यहाँ से अन्यत्र विहार करना चाहते हैं?' आचार्यश्री ने वह घटना आद्योपान्त सुनाई। उसे सुनकर अभयकुमार ने कहा—'आप निश्चिन्त होकर विराजें, मैं लोगों को युक्ति से समझा दूंगा।' आचार्यश्री वहीं विराजे।

बुद्धिमान् अभयकुमार ने दूसरे दिन एक सार्वजनिक स्थान पर तीन रत्नकोटि के ढेर लगवा कर नगर में घोषणा कराई—'अभयकुमार रत्नों का दान देना चाहते हैं।' घोषणा सुनकर घटनास्थल पर लोगों की भीड़ जमा हो गई। अभयकुमार ने एक ऊँचे स्थान पर खड़े होकर कहा—'मैं ये तीन रत्नकोटि के ढेर उस व्यक्ति को देना चाहता हूँ, जो अग्नि, सचित्त जल और स्त्री, इन तीनों चीजों को जीवन भर के लिए छोड़ देगा।' यह सुनते ही लोग बगलें झांकने लगे, बोले—'इन को छोड़कर कौन तीन रत्नकोटि लेना चाहेगा?' जब कोई भी इन तीनों साररत्नों का आजीवन त्याग करने को तैयार न हुआ तो अभयकुमार ने कहा—'तब क्यों ताना मारते हो कि यह निर्धन लकड़हारा प्रव्रजित हुआ है? इनके पास स्थूल धन भले ही न रहा हो, परन्तु इन्होंने तीन साररत्नकोटियों का जीवनभर के लिए त्याग किया है।' लोग निरुत्तर होकर बोले—'आपकी बात यथार्थ है, मंत्रिवर! अब हम कदापि इनके प्रति घृणा नहीं करेंगे। ये महान् त्यागी एवं पूज्य हैं।'

'हे शिष्य! इसी प्रकार तीन सार पदार्थ—अग्नि, सचित्त जल और कामिनी का जीवनभर के लिए स्वेच्छा से त्याग कर प्रव्रजित होने वाला निर्धन व्यक्ति भी श्रमणधर्म में स्थिर होने पर त्यागी ही कहलाएगा।'

—दशवै. अ. २, गा. ३, हारि. वृत्ति, पत्र ९३

(६) कदाचित् मन संयम से बाहर निकल जाए तो!

(सिया मणो निस्सरई बहिद्धा०)

एक राजकुमार बाहर उपस्थानशाला में खेल रहा था। एक दासी जल से भरा हुआ घड़ा लेकर पास से निकली। राजकुमार ने कंकर मार कर उसके घड़े में छिद्र कर दिया। दासी रोने लगी। उसे रोती देख राजकुमार ने फिर कंकर मारा। इस बार छेद कुछ बड़ा हो गया। दासी ने सोचा—'जब रक्षक ही भक्षक बन जाए तो कहाँ पुकार की जाए?' यह सोच कर उसने कीचड़ से सनी गीली मिट्टी ली और घड़े के छेद पर लगा दी। इस तरह घड़े का छिद्र बन्द करके वह घड़ा लेकर घर पहुंच गई।

इसी प्रकार संयमरूपी घट में रहते हुए, कदाचित् संयमी का मन संयमघट से, अप्रशस्त परिणामरूपी छिद्र द्वारा बाहर निकलने लगे तो अपनी दीन-हीनता एवं असमर्थता का रोना-धोना

छोड़ कर शुभसंकल्परूपी मिट्टी के लेप से उक्त छिद्र को तत्काल बन्द करके ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग पर चल पड़ना चाहिए। —दशवै. अ. २, गा. ४, जिनदास. चूर्णि

(७) न वह मेरी, न मैं उसका

(न सा महं, नो वि अहंपि तीसे)

मनोज्ञ वस्तु पर से रागभाव दूर करने के लिए रामबाण उपाय बताते हुए उसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

एक वणिक्पुत्र अपनी प्रियतमा को छोड़ कर प्रव्रजित हो गया। किन्तु यदा-कदा पूर्व संस्कारवश उस स्त्री की याद सताती थी। उसने गुरु महाराज से इस राग के निवारण का उपाय पूछा, तो उन्होंने एक मंत्र रटने के लिए दिया—"न वह मेरी, न मैं उसका।" बस, वह दिनरात इसी मंत्र का रटन करता रहता। एक दिन मोहोदयवश फिर विचार उठा—"वह तो मेरी ही है, मैं भी उसका हूँ, क्योंकि वह मुझ में अनुरक्त है।" इस अशुभ परिणाम के कारण वह अपने भण्डोपकरणों को ले उसी गाँव में पहुंचा, जहाँ उसकी गृहस्थाश्रम की पत्नी थी। उसका विचार था कि यदि पत्नी जीवित होगी तो दीक्षा छोड़ दूंगा, अन्यथा नहीं। पत्नी ने दूर से ही आते देख अपने भूतपूर्व पति को तथा उसके मनोभाव को जान लिया, परन्तु वह इसे नहीं पहचान सका। अतः उसने पूछा—'अमुक की पत्नी मर गई या जीवित है?' स्त्री ने सोचा—अगर इसने दीक्षा छोड़ दी और पुनः गृहवास स्वीकार कर लिया, तो हम दोनों ही संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे। अतः वह युक्तिपूर्वक बोली—'अब वह दूसरे की हो गई।'

यह सुन उसकी चिन्तनधारा ने पुनः नया मोड़ लिया—वास्तव में गुरुदेव का बताया हुआ मंत्र ठीक था—वह मेरी नहीं है, न मैं उसका हूँ। उसका रागभाव दूर हो गया। वह पुनः संयम में स्थिर हो गया। वह विरक्तिभावपूर्वक बोला—'तो मैं वापस जाता हूँ।'

इसी प्रकार यदि कभी किसी मनोज्ञ वस्तु के प्रति कामना या वासना जागृत हो जाए तो इसी चिन्तन-मंत्र से रागभाव दूर करके संयम में आत्मा को सुप्रतिष्ठित करना चाहिए।

—दशवै. अ. २, गा. ४ हारि. वृत्ति, पत्र ९४

८. महासती राजीमती के प्रखर उपदेश से संयम में पुनः प्रतिष्ठित रथनेमि

('तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासियं.')

सोरठ देश के अन्तर्गत बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी द्वारका नगरी में उस समय नौवें वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज राज्य करते थे। उनके पिता—वसुदेव के बड़े भाई समुद्रविजय थे। इनकी पटरानी शिवादेवी से भगवान् श्री अरिष्टनेमि का जन्म हुआ।

यौवनवय में पदार्पण करने पर श्रीकृष्ण महाराज की प्रबल इच्छा से उनका विवाह उग्रसेन राजा की पुत्री राजीमती के साथ होना निश्चित हुआ।

धूमधाम के साथ बरात लेकर जब वे विवाह के लिए श्वसुरगृह पधार रहे थे, तभी उन्होंने जूनागढ़ के पास बहुत पशुओं को बाड़े और पिंजरों में बंद देखा। उन पीड़ितों की करुण पुकार सुन कर श्री अरिष्टनेमि ने जानते हुए भी जनता को बोध देने हेतु सारथि से पूछा—ये पशु यहाँ किसलिए बंद किये गए हैं?' सारथि ने कहा—'भगवन्! ये पशु आपके विवाह में सम्मिलित मांसाहारी बरातियों के भोजनार्थ यहाँ लाये गए हैं।' यह सुनते ही उनका चित्त अत्यन्त उदासीन हुआ। सोचा—मेरे विवाह के लिए इतने पशुओं का वध हो, यह मुझे अभीष्ट नहीं है। उनका चित्त विवाह से हट गया। उन्होंने समस्त आभूषण उतार कर सारथि को प्रीतिदानस्वरूप दे दिये और उन पशुओं को बन्धनमुक्त करा कर वापस घर लौट आए। एक वर्ष तक आपने करोड़ों स्वर्णमुद्राओं का दान देकर एक सहस्र पुरुषों के साथ स्वयं साधुवृत्ति ग्रहण की।

तदनन्तर राजकन्या राजीमती भी अपने अविवाहित पति के वियोग के कारण संसार से विरक्त होकर उन्हीं के पदचिह्नों पर चलने के लिए तैयार हुई। राजीमती ने ७०० सहचरियों सहित उत्कट वैराग्यभाव से भागवती दीक्षा अंगीकार की।

एक बार वे भगवान् श्री अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ रैवतक पर्वत पर जा रही थीं। रास्ते में अकस्मात् भयंकर अन्धड़ और वर्षा होने के कारण सभी साध्वियां तितर-बितर हो गई। उस भयंकर वर्षा से राजीमती साध्वी के सब वस्त्र भीग गए थे। एक गुफा को एकान्त निरापद समझकर उसमें प्रवेश किया। निर्जन स्थान जान कर व्याकुलतावश साध्वी राजीमती ने अपने सब वस्त्र उतार कर भूमि पर सुखा दिये। उसी गुफा में भगवान् श्रीअरिष्टनेमि के छोटे भाई श्रीरथनेमि मुनि ध्यानस्थ खड़े थे। बिजली की चमक में उनकी दृष्टि श्रीराजीमती के निर्वस्त्र देह पर पड़ी। राजीमती का शरीरसौन्दर्य और एकान्तवास देख कर रथनेमि का चित्त कामभोगों की ओर आकर्षित हो गया। वे विमूढ़ होकर राजीमती से प्रार्थना करने लगे। इस पर विदुषी राजीमती ने विभिन्न युक्तिपूर्वक प्रबल वैराग्यपूर्ण उपदेश देकर श्रीरथनेमि को संयममार्ग में स्थिर किया।

श्री राजीमती के प्रेरक वचनरूप अंकुश से जैसे रथनेमि का कामविकार क्षणभर में उपशान्त हो गया, वैसे ही तत्त्वज्ञ संयमी साधु का मन कामविकारग्रस्त हो जाने पर उसे वीतरागवचनरूपी अंकुश लगाकर शीघ्र ही कामविकार से निवृत्त हो जाना चाहिए।

—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २२ बृहद्वृत्ति
—दशवैकालिकसूत्र, अ. २ हारि. वृत्ति

(९) अमूर्च्छित होकर भिक्षाचर्या करना

(संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ.)

भिक्षाचरी के समय साधु शब्दादि विषयों में आसक्त न होकर आहार की गवेषणा में रत रहे, इसके लिए जिनदासचूर्णि में गोवत्स और वणिक्वधू का एक दृष्टान्त है—

एक वणिक् के यहाँ गाय का छोटा-सा बछड़ा था। वह सबको अत्यन्त प्रिय था। घर के सभी लोग प्यार से उसकी सारसंभाल किया करते थे। एक दिन वणिक् के यहाँ कोई जीमणवार था।

सभी लोग उसमें व्यस्त थे। बछड़े को पानी पिलाने या घासचारा डालने का किसी को ध्यान न रहा। दोपहर हो गई। वह भूख-प्यास के मारे रंभाने लगा। वणिक् की युवती पुत्रवधू ने उसे सुना तो वह जैसे सुन्दर वस्त्राभूषणों से विभूषित थी, वैसे ही झटपट घास और पानी लेकर बछड़े के पास पहुँच गई। बछड़े की दृष्टि घास और पानी पर टिक गई। उसने कुलवधू के रंग, रूप, तथा वस्त्राभूषणों की साजसज्जा एवं शृंगार की ओर न तो देखा और न ही उसका विचार करके आसक्त और व्यग्र हुआ। ठीक इसी प्रकार साधुवर्ग भी आर्तध्यानादि से रहित होकर शब्दादि विषयों में तथा मनोज्ञ दृश्य आदि देखने में चंचलचित्त न होकर एक मात्र एषणासमिति से युक्त होकर भिक्षाचरी एवं आहार-गवेषणा में ही ध्यान रखे। —दशवै. अ. ५।१ जिनदासचूर्णि

(१०) अलेपकर आहार कब लेना, कब नहीं ?

(....दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे.)

पिण्डनिर्युक्ति में एक रोचक संवाद द्वारा बताया गया है कि असंसृष्ट (अलेपकर) आहार कब लेना चाहिए, कब नहीं ?

आचार्य ने शिष्य से कहा—मुनि को अलेपकर(असंसृष्ट) आहार लेना चाहिए, इससे पश्चात्-कर्म के दोष की संभावना नहीं रहती और रसलोलुपता भी अनायास ही मिट जाती है।' यह सुनकर शिष्य ने कहा—'यदि पश्चात्कर्म दोष से बचने के लिए अलेपकर आहार लिया जाना ठीक हो तो, फिर आहार ही न लिया जाए, जिससे किसी भी दोष का प्रसंग न आए।' आचार्य ने कहा—'वत्स ! सदा अनाहार रहने से चिरकाल तक होने वाले व्रत, तप, नियम और संयम की हानि होती है। इसलिए जीवनभर का उपवास करना ठीक नहीं।' शिष्य ने पुनः तर्क किया—'यदि ऐसा न हो सके लगातार छह-छह महीने के उपवास किये जाएँ और पारणे में अलेपकर आहार लिया जाए तो क्या हानि है ?' आचार्य ने कहा—'यदि ऐसा करते हुए संयमयात्रा चला जा सके तो कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु इस काल में शारीरिक बल सुदृढ़ नहीं है, इसलिए तप उतना ही करना चाहिए जिससे शरीर अपनी धर्मक्रिया (प्रतिलेखन-प्रतिक्रमणादि) ठीक तरह से कर सके, मन में दुर्ध्यान पैदा न हो।' निष्कर्ष यह है—साधु का आहार मुख्यतया अलेपकर होना चाहिए, किन्तु जहाँ पश्चात्कर्म दोष की संभावना हो तो तप संयम-योग की दृष्टि से शरीर की उचित आवश्यकतानुसार लेपकर आहार भी लिया जा सकता है। —पिण्डनिर्युक्ति गा. ६१३-२६

(११) मुधादायी दुर्लभ है

(दुल्लहाओ मुहादाई ...)

एक परिव्राजक संन्यासी घूमता-घामता किसी भागवत के यहाँ पहुँचा और बातचीत के सिलसिले में बोला—मैं तुम्हारे यहां चातुर्मास करना चाहता हूँ। तुम्हारा स्थान मुझे बहुत पसन्द है। यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मैं मैं यहाँ चातुर्मास कर सकता हूँ। आशा है, चातुर्मासिक सेवा का लाभ तुम अवश्य लोगे।

भागवत ने कहा—'भगवन् ! बड़ी कृपा होगी, यदि आप मेरे यहाँ चौमासा करें। आपकी सेवा यह दास सहर्ष करेगा। मेरा अहोभाग्य है कि आप जैसे त्यागी पुरुषों का मेरे यहाँ निवास होगा। परन्तु मेरी एक शर्त आपको स्वीकार करनी होगी। वह यह है कि आप मेरे यहाँ प्रसन्नता से और निःस्पृहभाव से रहें। मेरे घर और परिवार से सम्बन्धित कोई भी कार्य आप नहीं करेंगे। चाहे मेरा कोई भी कार्य बनता या बिगड़ता हो, आपको उसमें हस्तक्षेप नहीं करना होगा। मुझ पर आप किसी प्रकार का ममत्वभाव नहीं रखें।' परिव्राजक ने भागवत की शर्त स्वीकार करते हुए कहा—ठीक है, मैं ऐसा ही करूंगा। मुझे भला, तुम्हारे कार्यों में हस्तक्षेप करके अपना संन्यासीपन खोने से क्या लाभ ! मैं निःस्पृह, निर्लेप और निःसंग रहूँगा। संन्यासी ठहर गए। भागवत उनकी अशन-वसन आदि से खूब सेवा-भक्ति करने लगा। एक दिन रात्रि के समय भागवत के घर में चोर घुसे और उसका घोड़ा चुरा ले गए। प्रभात का समय हो जाने से चोरों ने उस घोड़े को नगर के बाहर तालाब पर एक पेड़ से बांध दिया, संन्यासीजी को पता लग गया। वे उस दिन बहुत जल्दी उठ गए और सीधे उसी तालाब पर स्नान करने पहुँच गए। वहाँ चोर उस घोड़े को बांध रहे थे। संन्यासीजी चोरों की करतूत समझ गए। फिर उन्हें भागवत की शर्त याद आ गई। सोचा—शर्त के अनुसार तो मुझे भागवत को कुछ भी नहीं कहना चाहिए, परन्तु हृदय मानता नहीं है। संन्यासीजी से रहा न गया। वे शीघ्रता से भागवत के पास पहुँचे और प्रतिज्ञा-भंग से बचते हुए बोले—मेरी बड़ी भूल हुई। मैं अपना वस्त्र तालाब पर भूल आया। भागवत ने अपने नौकर को भेजा। नौकर ने भागवत के घोड़े को वहाँ बंधा देखा तो संन्यासीजी का वस्त्र लेकर शीघ्र पहुँचा। भागवत से घोड़े के विषय में कहा। भागवत सारी बात समझ गया और संन्यासीजी से बोला—महात्मन् ! आपने अपनी प्रतिज्ञा भंग कर दी है। अब मुझ से आपकी सेवा नहीं हो सकती, क्योंकि जिस सेवा-दान का फल बहुत ही स्वल्प मिले, वह मुझे पसंद नहीं। किसी से सेवा की अपेक्षा रख कर सेवा करने का फल अत्यल्प होता है।

बेचारे संन्यासीजी अपना दण्ड-कमण्डलु उठा कर चल दिये। इसीलिए जिस दाता में सेवा आदि के रूप में दान का प्रतिफल पाने की इच्छा नहीं होती, जो निःस्पृहभाव से सेवा या दान करता है, ऐसा मुधादायी दुर्लभ है।

—दशवै. अ. ५ गा. २१३ (आचार्य श्री आत्मा.)

(१२) मुधाजीवी भी दुर्लभ है !

(मुहाजीवी वि दुल्लहा·······)

एक राजा अत्यन्त धर्मात्मा और प्रजाप्रिय था। एक दिन उसने विचार किया कि यों तो सभी धर्म वाले अपने-अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं और उसी के स्वीकार से मोक्ष प्राप्त होना बतलाते हैं। अतः धर्मगुरु से धर्म की परीक्षा करना चाहिए; क्योंकि धर्म के प्रवर्तक धर्मगुरु ही होते हैं। सच्चा धर्मगुरु वही है जो किसी प्रकार की आशा-आकांक्षा के निःस्वार्थभाव से, जैसा भी जो भी आहार-पानी मिला, उसे प्रसन्नता से ग्रहण करके सन्तुष्ट रहता है। उसी का धर्म सर्वश्रेष्ठ होगा। यह सोच कर राजा ने अपने सेवकों द्वारा घोषणा कराई कि मेरे देश में जितने भी भिक्षुक हैं, उन सबको मैं मोदक दान करना चाहता हूँ। सभी राजमहल के प्रांगण में पधारें। उनमें

बहुत-से भिक्षुक आए, जिनमें कार्पटिक, जटाधारी, जोगी, तापस संन्यासी, श्रमण, ब्राह्मण आदि सभी थे। नियत समय पर राजा ने आकर उनसे पूछा—'भिक्षुओ ! कृपा करके यह बतलाइए कि आप सब अपना जीवननिर्वाह कैसे करते हैं ?'

उपस्थित भिक्षुओं में से एक ने कहा—'मैं अपना निर्वाह मुख से करता हूँ।' दूसरे ने कहा—'मैं पैरों से निर्वाह करता हूँ।' तीसरे ने कहा—'मैं हाथों से अपना निर्वाह करता हूँ।' चौथे ने कहा—'मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूँ।' पांचवें ने कहा—'मेरे निर्वाह का क्या ! मैं तो मुधाजीवी हूँ।'

राजा ने सबकी बातें सुन कर कहा—"आप सब ने जो-जो उत्तर दिया, उसे मैं समझ नहीं सका। कृपया इसका स्पष्टीकरण कीजिए।" इस पर उत्तरदाताओं ने क्रमशः कहना प्रारम्भ किया—

प्रथम—'राजन् ! मैं भिक्षुक तो हो गया पर पेट वश में नहीं है। उदरपूर्ति के लिए मैं लोगों के सन्देश पहुँचाया करता हूँ। अतः मैंने कहा कि मैं मुख से निर्वाह करता हूँ।'

द्वितीय—'महाराज ! मैं साधु हूँ। पत्रवाहक का काम करता हूँ। गृहस्थ लोग, जहाँ भेजना होता है, वहाँ पत्र देकर मुझे भेज देते हैं और उपयुक्त पारिश्रमिक द्रव्य दे देते हैं, जिससे मैं अपनी आवश्यकताएँ पूरी करता हूँ। अतः मैं पैरों से निर्वाह करता हूँ।'

तृतीय—'नरेन्द्र ! मैं लेखक हूँ। मैं अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति लेखन-कार्य से करता हूँ। इसलिए मैंने कहा कि मैं अपना निर्वाह हाथों से करता हूँ।'

चतुर्थ—'महीपाल ! मैं परिव्राजक हूँ। मेरा कोई खास धंधा नहीं है, जिससे मेरा निर्वाह हो। परन्तु मैं आवश्यकताओं की पूर्ति लोगों के अनुग्रह से करता हूँ। अतः येन-केन-प्रकारेण लोगों को प्रसन्न रखना मेरा काम है—इसी से मेरा निर्वाह हो जाता है।'

पंचम—"आयुष्मन् देवानुप्रिय ! मेरे निर्वाह का क्या पूछते हैं ? मैं तो संसार से सर्वथा विरक्त निर्ग्रन्थ हूँ। मैं अपने निर्वाह के लिए किसी प्रकार का सांसारिक कार्य नहीं करता। केवल संयम-पालन के लिए गृहस्थों द्वारा निःस्वार्थ बुद्धि से दिया आहार आदि निःस्पृहभाव से ग्रहण करता हूँ। मैं सर्वथा स्वतन्त्र और अप्रतिबद्ध हूँ। मैं आहार आदि के बदले किसी गृहस्थ का कुछ भी सांसारिक कार्य नहीं करता, न किसी की खुशामद करता हूँ, और न किसी पर दबाव डालता हूँ। इसलिए मैंने कहा कि मैं मुधाजीवी हूँ। निष्काम भाव से जीता हूँ।

राजा ने सबकी बातें सुन कर निर्णय किया कि वास्तव में यही सच्चा धर्मगुरु-साधु मुधाजीवी है। इसी धर्म को तथा धर्मोपदेश को ग्रहण करना चाहिए। राजा ने मुधाजीवी निर्ग्रन्थ से धर्मोपदेश सुना। संसार से विरक्ति हो गई। प्रतिबुद्ध होकर राजा उन्हीं के पास प्रव्रजित हो गया और संयम-साधना करके मोक्ष का अधिकारी बना।

इस दृष्टान्त का निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार से जाति आदि के सहारे, किसी की प्रतिबद्धता,

अधीनता स्वीकार न करके, या किसी आशा-आकांक्षा से प्रेरित होकर दीनता या खुशामद न करने, तथा निःस्पृहभाव से जीने वाले निर्ग्रन्थ मुधाजीवी अत्यन्त दुर्लभ हैं।

—दशवै. अ. ५।१।२१३ (आचार्य श्री आत्मारामजी म.)

(१३) प्रज्ञप्तिधर : कथाकुशल कैसे होते हैं ?

(आयार-पन्नत्तिधरे ……)

व्यवहारसूत्रभाष्य में प्रज्ञप्तिधर का अर्थ कथाकुशल करके भाष्यकार एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

एक क्षुल्लकाचार्य प्रज्ञप्ति-कुशल (कथानिपुण) थे। एक दिन उनकी धर्मसभा में मुरुण्डराज उपदेश श्रवण कर रहे थे। प्रसंगवश मुरुण्डराज ने एक प्रश्न प्रस्तुत किया—'भगवन् ! देवता गतकाल को नहीं जानते, इसे सिद्ध कीजिए।'

राजा ने प्रश्न पूछा कि आचार्य सहसा खड़े हो गए। आचार्य को खड़ा होते देख मुरुण्डराज भी खड़ा हो गया। आचार्य को क्षीरास्रवलब्धि प्राप्त थी। वे उपदेश देने लगे। उनकी वाणी से दूध की-सी मधुरता टपक रही थी। मुरुण्डराज मन्त्रमुग्ध की तरह सुनता रहा। उसे पता ही न लगा कि कितना समय बीत गया है। आचार्य ने पूछा—'राजन् ! तुम्हें खड़े हुए कितना समय बीत गया ?' 'भगवन् ! मैं तो अभी-अभी खड़ा हुआ हूँ।' राजा ने कहा।

आचार्य ने कहा—'तुम्हें खड़े हुए एक पहर बीत चुका है। उपदेश-श्रवण में तुम इतने आनन्द-विभोर हो गए कि तुम्हें गतकाल का पता नहीं चल सका। इसी प्रकार देवता भी नृत्य, गीत, वाद्य आदि में इतने आनन्दमग्न हो जाते हैं कि वे भी गतकाल को नहीं जान पाते। यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है।'

—दशवै. अ. ८, गा, ४६
—व्यवहार भाष्य ४।३।१४५-१४६

(१४) स्त्री से ही नहीं, स्त्रीशरीर से भी भय !

(जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं०)

ब्रह्मचारी साधक को स्त्री से भय है, ऐसा न कह कर स्त्री-शरीर से भय है, इस सम्बन्ध में आचार्य जिनदास महत्तर ने एक संवाद प्रस्तुत किया है—

शिष्य ने पूछा—'भगवन् !' स्त्री से भय है, ऐसा न कह कर 'स्त्रीशरीर से भय है, ऐसा क्यों कहा ? ''आचार्य ने कहा—'आयुष्मन् ! ब्रह्मचारी को स्त्री के सजीव शरीर से ही नहीं, अपितु मृत शरीर से भी भय है, यह बताने के लिए ऐसा कहा गया है। शिष्य ने पुनः प्रश्न किया—'भगवन् ! विविक्त स्थान में स्थित मुनि के लिए किसी प्रकार दर्शनार्थ आई हुई केवल स्त्रियों को कथा कहने का निषेध करने का क्या कारण है ?'

आचार्य ने कहा—'वत्स, तुम यथार्थ समझो कि चारित्रवान् पुरुष के लिए केवल स्त्री, बहुत बड़ा खतरा है।' शिष्य ने पूछा—'यह कैसे भगवन् ?'

इसके उत्तर में आचार्य ने जो उत्तर दिया, वह इसी गाथा (४४१) में अंकित है। उसका भावार्थ यह है कि 'जिस प्रकार (जिसके पंख न आए हों ऐसे) मुर्गे के बच्चे को सदैव बिल्ली से भय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है।'

—दशवै. अ. ८ गा. ४४१, जिन. चूर्णि पृ. २९१

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

१. अनुयोगद्वारसूत्र (मलधारी हेमचन्द्रसूरि रचित टीका)
प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत

२. अनुयोगद्वारसूत्र
सम्पादक—स्व. आचार्यश्री आत्मारामजी
प्रकाशक—जैन शास्त्रोद्धार ग्रन्थमाला, लाहौर

३. अभिधानचिन्तामणि (कोष)
लेखक—आचार्य हेमचन्द्र
प्रकाशक—हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटण (उत्तर गुजरात)

४. आचारांगसूत्र (शीलांकवृत्ति)
प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत

५. आचारांग (विवेचन)
प्रधान सम्पादक—युवाचार्य श्री मधुकर मुनि
प्रकाशक—श्री आगम प्रकाशन समिति,
ब्यावर (राजस्थान)

६. आवश्यकसूत्र (मलयगिरि वृत्ति)
वृत्तिकार—आचार्य मलयगिरि
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई-सूरत

७. उत्तराध्ययनसूत्र
(वादिवैताल शान्तिसूरि विरचित बृहद्वृत्ति)
प्रकाशक—जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई

८. उत्तराध्ययनसूत्र
(आचार्य नेमिचन्द्र वृत्ति)
प्रकाशक—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी, जै. श्वे. संस्था, रतलाम

९. उत्तराध्ययनसूत्र (हिन्दी व्याख्या)
सम्पादक—आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज
प्रकाशक—आचार्यश्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैनस्थानक, लुधियाना (पंजाब)

१०. ऐतिहासिक नोंध
लेखक—वा. मो. शाह
प्रकाशक—श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम

११. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य स्वोपज्ञवृत्तिसहित
(आचार्य उमास्वातिविरचित)
सम्पादक—व्याकरणाचार्य पं. ठाकुरप्रसाद शर्मा
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई

१२. तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धि टीका)
टीकाकार—आचार्य पूज्यपाद, सम्पादक—पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी
तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन)
ले.—पं. सुखलालजी, प्रकाशक—जैन संस्कृति संशोधक मंडल, वाराणसी

१३. तन्दुलवेयालियं
(प्रकीर्णक (पइन्ना) ग्रन्थ)
प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत

१४. दशवैकालिक (गुजराती अनुवाद, टिप्पण)
सम्पादक—मुनिश्री संतबालजी
प्रकाशक— महावीर साहित्य प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद-४

१५. दसवेयालियं
सम्पादक और विवेचक—मुनिश्री नथमलजी
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)

१६. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त)
सम्पादक—स्व. मुनि श्री पुण्यविजयजी
पं.—अमृतलाल मोहनलाल भोजक
प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय
ओगस्टक्रान्ति मार्ग, बम्बई-४०००३६

१७. दशवैकालिकसूत्र (मूल, छाया, अनुवाद, हिन्दी टीका सहित)
टीकाकार—आचार्यश्री आत्मारामजी म.
सम्पादक—उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज
प्रकाशक—सेठ ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जैन जौहरी
महेन्द्रगढ़ (पटियाला)

१८. दशवैकालिकसूत्र (आचारमणिमंजूषा टीका सहित)
टीकाकार—आचार्य पूज्यश्री घासीलालजी म.
नियोजक—पं. मुनिश्री कन्हैयालालजी महाराज
प्रकाशक—अ. भा. श्वे. स्था. जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट

१९. दशवैकालिक (हरि. वृत्ति)
टीकाकार—आचार्य हरिभद्रसूरिजी
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डार, बम्बई

२०. दशवैकालिक (जिनदास. चूर्णि)
चूर्णिकार—आचार्य जिनदास महत्तर
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५

२१. दशवैकालिक (अगस्त्य. चूर्णि)
चूर्णिकार—अगस्त्यसिंह स्थविर
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ-परिषद्, वाराणसी-५

२२. दशवैकालिक निर्युक्ति
निर्युक्तिकार—आचार्यश्री भद्रबाहुस्वामी
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भंडार, बम्बई (१९१८)

२३. दशवैकालिकसूत्र (दीपिका)
प्रकाशक—श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी जैन श्वे. संस्था, रतलाम

२४. दशाश्रुतस्कन्ध
हिन्दी टीकाकार—आचार्यश्री आत्मारामजी
प्रकाशक—जैन शास्त्रोद्धार ग्रन्थमाला, लाहौर

२५. धम्मपद
सम्पादक—भिक्षु धर्मरक्षित
प्रकाशक—मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, कचौड़ी गली, वाराणसी (१९५३)

२६. नन्दीसूत्र
व्याख्याकार—जैनाचार्यश्री आत्मारामजी महाराज, सम्पादक—पं. फूलचन्दजी म. 'श्रमण'
प्रकाशक—आचार्यश्री आत्मारामजी जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना (पंजाब)

२७. निशीथचूर्णि सभाष्य
सम्पादक—उपाध्याय अमरमुनिजी एवं पं. मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा (उ.प्र)

२८. प्रश्नव्याकरण
व्याख्याकार—पं. हेमचन्द्रजी म.
सम्पादक—प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

२९. प्रवचनसारोद्धार
आ. नेमिचन्द्र (सिद्धसेन टीकासहित)
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डार, बम्बई

३०. प्रश्नोपनिषद्
सम्पादक—पं. द्वारिकादास शास्त्री
प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

३१. प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका)
टीकाकार—पूज्यश्री घासीलालजी म.
प्रकाशक—अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, अहमदाबाद

३२. पाइयसद्दमहण्णवो
आद्य सम्पादक—पं. हरगोविन्ददास शेठ
पुनः सम्पादन—पं. दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५ (द्वि. सं. सन् १९६३)

३३. बृहत्कल्पभाष्य
प्रकाशक—आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर

३४. भगवतीसूत्र (अभयदेवसूरि वृत्ति)
प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत

३५. व्यवहारसूत्रभाष्य
प्रकाशक—केशवलाल प्रेमचन्द
अहमदाबाद—(वि. सं. १९८२)

३६. स्थानांगसूत्र (अभय. वृत्ति)
टीकाकार—आचार्य अभयदेव सूरि
प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत—बम्बई

३७. ठाणं (स्थानांगसूत्र)
सम्पादक और विवेचक—मुनिश्री नथमलजी
प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

३८. सूत्रकृतांग
सम्पादक—पं. अम्बिकादत्तजी ओझा, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक—जैनोदय प्रकाशन समिति, राजकोट

३९. समवायांगसूत्र
टीकाकार—पूज्यश्री घासीलालजी म.
प्रकाशक—अ. भा. श्वे. स्था. जै. शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट

४०. पिण्डनिर्युक्ति (मलयगिरिविहितवृत्तियुक्त)
अनुवाद—हंससागर
प्रकाशक—I शासन कंटकोद्धार ज्ञानमन्दिर, मु. उलिया (भावनगर)
II देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई

४१. महाभारत
सम्पादक—टी. आर. कृष्णाचार्य
प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

४२. मनुस्मृति
सम्पादक—पं. जनार्दन झा
प्रकाशक—अ. भा. हिन्दी पुस्तकालय एजेंसी
हरिसन रोड, कलकत्ता (वि. सं. १९८३)

४३. सुत्तनिपात
(अनु.—भिक्षु धर्मरक्षित)
प्रकाशक—महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ (वाराणसी)

४४. हितोपदेश
(विष्णुशर्मारचित)
प्रकाशक—मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, कचौड़ी गली, वाराणसी

४५. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र
संयोजक एवं प्रधान सम्पादक—स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि
अनुवादक-विवेचक-सम्पादक—पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ
प्रकाशक—श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

४६. अमरकोष
सम्पादक—भानुजी दीक्षित
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

४७. यादवकोष

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिसका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—विजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्राय: ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—विना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी, मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से वे वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५ श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी महता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनादगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९ श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५ श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८ श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी
९५. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, बम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बेंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़